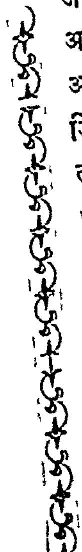
॥ श्री जैनग्रन्थप्रकाशकसभा प्रकाशित ग्रन्थाः ॥

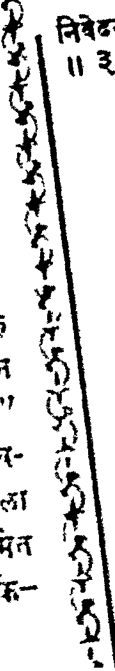
ॐ ह्रीं ॥ प्रकाशकीयं निवेदनम् ॥ अर्हं नमः ।

परमोपास्यचरण भगवान् महोपाध्यायजी श्रीमान् यशोविजयजीगणि महाराजना ग्रन्थोने अंगे काइपण निवेदन करवु ते उच्चकोटिजात्य सुवर्णने गिलेट लगाववा जेवु या सूर्यप्रकाशने आगलीथी बताववा जेवु छे. भगवान् उपाध्यायजीना जीवनवृत्तान्त माटे जे जे उल्लेखो करवा ते पण प्रायःचर्वित चर्वण या पिष्टपेषण तुल्य छे. तेओश्रीना निकटकालमा बनेल सुजसवेलीभास के जे अमोए उपाध्यायजी भगवते रचेला तत्त्वपूर्ण मोटा स्तवनादि तथा द्रव्यगुणपर्याय रास विगेरेनो सग्रह बहार पाड्यो छे तेना निवेदनान्तर्गत प्रकाशित कर्यो छे तेथी तेओश्रीना जीवनोदन्तनो झाखो अने स्वल्प पण सत्यस्वरूप प्रकाश पडे छे. भगवत उपाध्यायजीना वचनो एटले "प्रमाण-नय सप्तभंगी-सकलादेश-विकलादेश निक्षेप विगेरेना निष्कर्षरूप स्वरूप प्रदर्शन माथे पदार्थोना ऐदम्पर्यविचारप्रदर्शक दीवाओ, श्रीजिनेश्वरदेव प्रत्येनो अविहड भक्तिरस प्रकटावनार पीयूषना झराओ, बोधिबीजना अकूरो खीलवनार पुष्करावर्त मेघ, सुवर्णमुद्रामुद्रित टंकशाली अबाधित सिद्धान्तवाक्यो, सम्यग्दर्शन निर्मलता अने दृढता कराववा माथे प्रभावशालि प्रभुशासन उपरना असीम प्रेमभाव अने बहुमानने उत्तेजित करनार परमसाधनो, पदे पदे न्यायकोटिनी उच्च कक्षानु निष्कर्ष, प्रावचनिक-तार्किक-कार्मग्रन्थिक-सैद्धान्तिक आदि प्रभावक महापुरुषोना विचारोनो नयभेदे समन्वय करावनार परमपात्र, सिद्धान्त अने शास्त्रोना साक्षिरूप सवाद पाठोनुं मोटुं निधान, योगसाधनाना परमस्वरूप यावत् धर्ममेघ समाधि परममरस भाव अने प्रभु साथे समापत्तिरूप एकाग्रता प्राप्त करवानी सरणि, श्रुतकेवलि भगवतोना अगाध-अमाप-गंभीर श्रुत समुद्रनुं अवगाहन करवाने महानाव, आत्माने प्रभुधर्मथी रसवेधित ताम्रना सुवर्ण भावनी जेम अगर चोळमजीठ रंगथी रजित वस्त्रनी जेम तद्रूप बनावनार निर्मल रस-

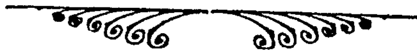
कूपिकाना रमनो भरो, मिथ्यात्वरूप दुर्गमपर्वतो भेदवा माटे वज्र, पदार्थ तत्त्वविषयक सन्देह–विपरीतज्ञान–अज्ञानादि महान्धकारने तोडनारा सूर्य, मित्रादि यावत्परा पर्यन्तनी योगदृष्टिओ-अध्यात्मादि योग भेदो-प्रणिधानादि शुभाशयो-खेदोद्वेगादि दोषो–प्रीत्यादि अनुष्ठान भेदो–अन्य रीतिए अमृतानुष्ठान पर्यन्तना भेदो–इच्छा–शास्त्र-सामर्थ्ययोगादि-योगावचकादि-इच्छायमादि-अनेकविध गहन तत्त्वोना उपनिषद् भाव बतावनार प्रकाशवंत दीपिकाओ, पूर्व श्रुतकेवलि भगवंतोनुं स्मरण करावनार अथाग प्रतिभावैभव" इत्यादि तेमना वचननुं सत्य गौरव माहात्म्य प्रकाशवु ते सूर्यना झळहळता तेजने प्रकाशमा लाववा प्रयत्न करता खद्योतनो उद्यम छे, समुद्रना विशाल प्रमाणने बताववा प्रयास करता बालकनी बाहुप्रसारणा छे. उंचा नालीयेरी वृक्षनी टोचे रहेला श्रीफलने ग्रहण करवा इच्छा राखता जमीन उपर ऊभेला वामनने उचा बाहु करवा तुल्य छे. उपाध्यायजी भगवतोना अनेक ग्रन्थो पैकी एकसो चार गाथात्मक धर्मपरीक्षा नामना आ लघु प्रकरण ग्रन्थनी गभीरार्थता अने तेने लइने जिज्ञासु विशिष्ट व्युत्पत्तिशालि मुमुक्षु भव्यात्माओने पण तेना ऐदम्पर्यार्थनी दुर्गमता विगेरे अनेक साक्षात्–परम्परा हेतुओने विचारी धर्म–तेनी परीक्षा अने तेनो अधिकारि कोण होइ शके विगेरे इन्द्रियागम्य–अगोचर पदार्थो तेमज तेना विचारनी अन्तर्गत साक्षात्–पारम्परिक के आनुषङ्गिक आवता अनेक तत्त्वोमा भिन्नभिन्न विचारसरणि उपर चढता तर्कवादोथी उद्भवेला तथा उद्भवता केटलाक साम्प्रदायिक मतभेदोनु निर्णयात्मक निवारण "अतीन्द्रियाणामर्थाना, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ आगमश्चोपपत्तिश्च, संपूर्ण दृष्टिलक्षणम् ॥१॥" "आगमेनानुमानेन, ध्यानाभ्यासरसेन च ॥ त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञा, लभते तत्त्वमुत्तमम् ॥ १ ॥" इत्यादि अनेक महर्षिओना वचनोथी निर्णीतज छे के आगम अने सत्तर्क (युक्ति)ज करी शके छे, हृदयमां अबाधित कोतराएल अने आत्मानी साथे तद्रूप बनेल आ निर्मल पवित्र विचारणाथी सवादपणे ग्रहण



करेला सेंकडो आगम तेमज आगम समकक्ष शास्त्रपाठोना समूहथी तेमज न्याययुक्त मस्तकोनी श्रेणिथी भरेल लगभग साडात्रणहजार
श्लोकप्रमाण विवरण पोतेज बनावी आ धर्मपरीक्षाप्रकरणने समलंकृत कर्युं छे. आ ग्रन्थनी सामान्य बालजीवोमा पण उपयोगिता
जाणी आपामर बालजीवोना हितनी खातर पूज्य ग्रन्थकार महोपाध्यायजी भगवंते पोतेज सविवरण आ धर्मपरीक्षा शास्त्ररूप
अमृत समुद्रमाथी सारस्वरूप उद्धार करी भाषावार्तिकरूपे समुद्रमांथी उद्भवेला बिन्दुनी जेम एक विचारबिन्दु ग्रन्थ लख्यो छे.
आ वात तेज विचारबिन्दु ग्रन्थना नीचे आपेला मंगल तथा प्रशस्ति श्लोकोथी सारी रीते व्यक्त थाय छे. "इन्द्रश्रेणिनतं नत्वा,
जिन तत्त्वार्थदेशिनम् ॥ कुर्वे धर्मपरीक्षार्थे, लेशोद्देशेन वार्तिकम् ॥ १ ॥" "एष बिन्दुरिह धर्मपरीक्षा-शास्त्रसुधामृतसमुद्रसमुत्थः ॥ नन्द-
तादिवपविकारविनाशी, व्योम यावदधितिष्ठति भानुः ॥ २ ॥" अर्थ—"इन्द्रोनी श्रेणीवडे नमस्कार करायेला अने तत्त्वभूत पदार्थ स्वरू-
पने देखाडनार श्रीजिनेश्वर भगवंतने नमस्कार करी धर्मपरीक्षाना अर्थमां लेशथी सामान्य स्वरूप कहेवारूप करी वार्तिक हुं करु
छु. १ धर्मपरीक्षाशास्त्ररूप अमृतसमुद्रमांथी उत्पन्न थयेल आ विचारबिन्दु ग्रन्थ पदार्थतत्त्वविषयक विपरीत ज्ञानरूप जेरविकारने
विनाश करतो छतो ज्यासुधी सूर्य आकाशनुं अधिष्ठान करे छे तेटला कालसुधी आ पवित्र श्रीवीतरागशासनमां समृद्धि पामतो रहो"
आ धर्मपरीक्षा विवरणमां आवता साक्षीभूत ग्रन्थोना प्राकृतपाठोनो तथा मूल धर्मपरीक्षा ग्रन्थनो संस्कृतानुवाद पण वाच-
कोनी सुगमता माटे साथे ने साथे आपवा प्रयास कर्यो छे. साक्षीभूत ग्रन्थोनी नामावलि अलग सूचिरूपे पण आपी छे. तेमज आवेला
पाठोनी सूचि पण साक्षिग्रन्थनाम तथा पृष्ठ पंक्ति क्रमांक साथे आपी छे. मूल गाथाओनी पण वर्णक्रमानुसार गाथांक पृष्ठांक समेत
अनुक्रमणिका आपवामा आवी छे. आ धर्मपरीक्षा ग्रन्थमा आवेला विषयनुं सरेख बतावता ग्रन्थकार भगवंतना शब्दो कहे छे के—



"स्वपरमा रहेल मैत्री–प्रमोदादि शुभाशयना अखंड प्रवाहवाला अन्तःकरणस्वरूप" अध्यात्मभावमां बाधकता न आवे तेवीरीते निर्णय माटे इच्छेला पदार्थोनो निर्णय करवो तेज धर्मवाद उत्तम पुरुषो माटे कर्त्तव्य अने सिद्धिनुं साधन स्वीकार्यो छे, आ धर्मपरीक्षा ग्रन्थ पण ते धर्मवादना मार्गनी दिशाए गुंथ्यो छे अने बीजाओने पण ते ज मार्गे चालवा उपदेश आपे छे. प्रान्ते श्रीजिनेश्वरदेवनी आज्ञा बतावे छेके 'सर्व दुःखोना बीजभूत संसारबन्धनना मूल रागद्वेषो जेम जेम विलय पामे तेम तेम प्रयत्न करवो एज श्रीजिनेश्वर भगवतनी आणा छे. भव्यात्माओने तत्त्वबोध माटे रचेलो आ धर्मपरीक्षा ग्रन्थ शोधवा माटे प्रमादतत्पर गीतार्थ भगवंतोनी प्रार्थना करी ग्रन्थ समाप्ति करी छे. आ धर्मपरीक्षा ग्रन्थ विवरणसमेत श्रीहेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली पाटण तरफथी घणा वर्षो अगाउ बुकाकार बहार पडेल छता हाल ते पुस्तक अलभ्य जेवु छे तेमज ते आवृत्तिमा रही गएल पाठोनी त्रुटि, गाथा तथा प्राकृतपाठोना संस्कृतानुवादनी त्रुटि तेमज प्रताकार होय तो वाचनारवर्गने अनुकूलता रहे विगेरे कारणो ध्यानमा लइ आ प्रयत्न कर्यो छे. बनता उपयोगे ग्रन्थशुद्धि माटे काळजी रखाइ छे शुद्धिपत्रक दाखल कर्या छतां प्रेसदोष–छद्मस्थता विगेरे कारणे प–ष, व–ब, म–भ. विगेरे प्रायः समाकृति वर्णोना फेरफार विगेरे अशुद्धि रही गइ होय तो ते सुधारी वाचवा. तथा शुद्धिपत्रक जोइ लेवा विनन्ति साथे रही गएल अशुद्धि माटे श्री श्रमणसंघ प्रत्ये क्षमाभ्यर्थना छे. शुभ भूयात् श्रीश्रमणसंघस्य.



धर्मपरीक्षावृत्तौ साक्षीकृता ग्रन्थाः

धर्मरत्नप्रकरण	स्याद्वादरत्नाकर	तत्त्वार्थभाष्य	योगबिन्दुवृत्ति	पुष्पमाला लघुवृत्ति
धर्मरत्नप्रकरणवृत्ति	हारिभद्राष्टक	तत्त्वार्थवृत्ति	योगशास्त्र	संस्कृतनवतत्त्व प्र०
अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका	आचारांगसूत्र	लोकतत्त्वनिर्णय	योगशास्त्रवृत्ति	ललितविस्तरा
महानिशीथसूत्र	आचारांगनिर्युक्ति	सम्मतितर्क	प्रवचनसारोद्धार	ललितविस्तरापंजिका
ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र	आचारांगवृत्ति	सम्मतितर्कवृत्ति	प्रवचनसा० वृत्ति	योगदृष्टिसमुच्चय
ज्ञातासूत्रवृत्ति	आचारांगचूर्णि	भगवतीसूत्र	उपदेशपद	योगदृष्टिसमु० वृत्ति
आवश्यकनिर्युक्ति	पंचसूत्र	भगवतीवृत्ति	उपदेशपदवृत्ति	पंचाशक
आवश्यकभाष्य	पंचसूत्रवृत्ति	सम्यक्त्वसित्तरी	विशेषणवती	पंचाशकवृत्ति
आवश्यकचूर्णि	उत्तराध्ययनसूत्र	गुणस्थानक्रमारोह	लघूपमितभवप्रपंच	तृतीयविंशिका
आवश्यकवृत्ति	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	गुणस्थानक्रमारोहवृत्ति	वृद्धोपमितभवप्रपंच	चतुर्थविंशिका
व्यवहारभाष्य	उत्तराध्ययनवृत्ति	कायस्थितिप्रकरण	समयसारप्रकरण	पंचमविंशिका
व्यवहारवृत्ति	दशवैकालिकसूत्र	पन्नवणासूत्र	समयसारवृत्ति	अष्टमविंशिका
गच्छाचारपयन्नो	दशवैकालिकनिर्युक्ति	पन्नवणावृत्ति	भवभावनावृत्ति	विशेषावश्यकभाष्य
त्रिषष्टि नेमिचरित्र	दशवैकालिकचूर्णि	संग्रहणिवृत्ति	श्राद्धदिनकृत्यवृत्ति	विशेषावश्यकवृत्ति
उत्सूत्रकन्दकुद्दाल	दशवैकालिकवृत्ति	भुवनभानुकेवलिचरित्र	पुष्पमाला प्रकरण	आउरपच्चक्खाण
चउसरणपयन्नो	तत्त्वार्थसूत्र	योगबिन्दु	पुष्पमाला बृहद्वृत्ति	आउरपच्चक्खाणवृत्ति
,, टीका				

महाभारत
षोडशक
सिद्धसेनीयद्वात्रिंशिका
धर्मबिन्दु
धर्मबिन्दुवृत्ति
षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति
बृहत्कल्पनिर्युक्ति
बृहत्कल्पभाष्य
बृहत्कल्पवृत्ति
धनपालपचाशिका
सूयगडांगसूत्र
सूयगडांगनिर्युक्ति
सूयगडांगचूर्णि
सूयगडांगवृत्ति

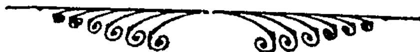
उपदेशमाला
उपदेशमालावृत्ति
उपदेशमालाकर्णिका
उपदेशमालादोघट्टी
उपदेशमालासिद्धर्षीया
उपदेशमालाहेयोपादेया
उपदेशमालालघुवृत्ति
पाक्षिकसूत्र
पाक्षिकसूत्रचूर्णि
पाक्षिकसूत्रवृत्ति
अनुयोगद्वारसूत्र
अनुयोगद्वारमूलटीका
अनुयोगद्वारबृहद्वृत्ति
पिंडनियुक्ति

पिंडनियुक्तिवृत्ति
निशीथचूर्णि
दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि
कालिकाचार्यकथा
यतिजीतकल्पवृत्ति
पचनिर्ग्रन्थीप्रकरण
हितोपदेशमाला
हितोपदेशमालावृत्ति
प्रवचनपरीक्षा
प्रवचनपरीक्षावृत्ति
प्रश्नव्याकरण
शक्रस्तव
शक्रस्तववृत्ति
न्यायावतार

गडम्बाध
श्रावकप्रतिक्रमणवृत्ति
वन्दारुवृत्ति
पाक्षिकसित्तरी
पाक्षिकसित्तरीवृत्ति
प्रशमरति
प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार
श्राद्धजीतकल्पसूत्र
श्राद्धजीतकल्पवृत्ति
समवायांग
ओघनियुक्ति
ओघनिर्युक्तिवृत्ति
ठाणांगसूत्र
नंदीसूत्र

नंदीसूत्रवृत्ति
आराधनापताका
श्रावकप्रज्ञप्तिसूत्र
श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति
पचवस्तु
पचवस्तुवृत्ति
श्राद्धविधि
श्राद्धविधिवृत्ति
उपदेशरत्नाकर
श्राद्धप्रतिक्रमण
श्राद्धप्रतिक्रमणचूर्णि
श्राद्धप्रतिक्रमणवृत्ति
त्रिषष्टीयदशमपर्व
प्राकृतवीरचरित्र

॥ धर्मपरीक्षामूलगाथाकाराद्यनुक्रमः गाथाङ्कपृष्ठाङ्कसमन्वितः ॥



अथ धर्मपरीक्षा–तद्वृत्तिगतं च शुद्धिपत्रकम् ।

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति.
मगल है	मङ्गल है	६	५
ज्ञनके	जनिके	७	३
द्दिलो	हिलो	७	११
न्यस्त	रकान	७	१४
मानका	मानाध्यवहितोत्तरका	८	५
श्रग	श्रयण	९	१
व्याप्यम्	व्याप्यत्वम्	१०	१३
मुाव	त्वमु	११	७
युक्तो	युक्यो (मुक्तो)	१७	६
भवेद्	भवेद्	१८	०
वद्ध	वद्ध	१८	१३
यथा	गथा	१९	५
हद्भा	दृश्रा	१९	१२
रााग	भग	२०	४

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्ति.
वध्य	ध्यत्र	२०	६
कत्री	कर्त्र्यौ	२०	७
हयव	व्यव	२०	८
रिता	रिक्ते	२६	११
रूप	रूप	२६	१२
रपर्यावे	रपर्य	२६	१७
भिगता	भिमता	२८	६
सत्र	सर्व	२८	१२
भगद्व	भगवद्व	२९	११
दाता	देता	३०	१६
गांत्र	पंत्र	३१	२
अंम	सम	३३	८
रना	रतना	३६	१३
पुशे	पुद्देशे	३८	१५

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्ति
निगोद्	निगोदा	४१	६
स्पगहा	स्पगहा	४३	१३
रागद्ध	राग तू	४५	१
यत	यतो	४७	१६
णोसु	एगेसु	४८	१०
ते आइ	ते अ इ	४८	११
१०, ११	११, १२	४८	१२
था यथा इम	था जीवा यथा एक सूक्ष्म	४८	१२
द्वाद	द्वादश	४८	१२
पृथिव्य–ते	ते	४८	१२
से जो	सेजो	४८	१३
शा च	दाते च	४८	१४
मिसु	मिसु	६१	४

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पङ्क्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पङ्क्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पङ्क्ति
वत्तित	वर्तित	६८	२	स्सुकृतं	यस्सुकृत	१२४	१	नीयाम्यु	नीयामभ्यु	१९३	११
वभू	वम्भ	६८	६	सव्याफ	सव्यफ	१२४	८	मेव	मेत्र	२०६	१२
मपक्षे	मप्पक्खे	६८	६	युक्ति	भुक्ति	१२६	६	स्या अहा	स्याहा	२०८	१४
दुगळपरा	दुगल्परा	७२	१४	दुर	दूर	१२८	८	हेयेव,	हेयैव,	२११	११
भवा	भाव	७७	७	पुद्ग	अपार्धपुद्ग	१३१	५	अतथा	तथा	२५४	१
पुन	पुनर्बन्धक	८०	१४	ससउझाय	सउझाय	१३३	८	न'देवो	नच देवो	२६२	२
शदेना	देशना	९३	११	वट्टी	दिट्ठी	१३६	५	य पिण्डो	यस्पिण्डो	२८०	३
रतिष्य	रतिरष्य	१०३	५	तामिव	तामेव	१४४	१२	ननु वि	ननु कुवि	२८२	७
तदेवश्रु	तदेव शीलवानश्रु	१०४	११	न्तुस्सुत्र	न्तुस्सुत्र	१४५	३	वखेम	क्खेम	२८३	६
दृष्टव्यम्	द्रष्टव्यम्	११०	५	रन्तम	रन्त	१४७	४	किरीया	किरिया	२८३	३
पति,त	प्रतित	११४	१	मथ	मर्थं	१५०	३	नाइयानुवि	विनाइयानुवि	२८९	११
ठेर्न	देर्न स्फुटदोषत्व	११२	२	तिक्खिवि	तक्खिवि	१७३	५				
दनेन	नै न	१२२	३	वालित्त	वालितस्त	१८५	७				
वस्युदान	कत्युद्भावन	१२२	९	स्वस्यापि	स्वस्यापि	१९१	६				

सीसकाक्षरयोजकदोषादनुपयोगाद्वायदिकज्ञनाऽशुद्ध ष-भ, प-ष, म-स, ष-व प्रभृतिव्यत्यासादिक जात भवेत्तत्सर्वं विशोध्य शुद्धिपत्रकावलोकनेन पाठ शोधयित्वा च वाचनादिक विधेय विद्वद्भिरिति प्रार्थयाम ॥

॥ ॐ अर्हं नमः ॥

शासनसम्राट्-सर्वतंत्रस्वतंत्र-अनेकतीर्थोद्धारक-सूरिचक्रचक्रवर्ति-जगद्गुरु-तपागच्छाधिपति-भट्टारक
आचार्यमहाराजाधिराजश्रीमद्विजयनेमिसूरिभगवद्भ्यो नमः ॥

॥ न्यायविशारद-न्यायाचार्य-निजज्ञानचरणसंस्मारितातीतश्रुतकेवलिभगवन्महामहोपाध्याय-
श्रीमद्यशोविजयगणिप्रवरविनिर्मिता स्वोपज्ञवृत्तिसमलङ्कृता

॥ श्रीधर्मपरीक्षा. ॥

ऐन्द्रश्रेणिकिरीटकोटिरनिशं, यत्पादपद्मद्वये, हंसालिश्रियमादधाति, न च यो दोषैः कदापीक्षितः ।
यद्गीः कल्पलता शुभाशयभुवः सर्वप्रवादस्थिते-र्ज्ञानं यस्य च निर्मलं स जयति त्रैलोक्यनाथो जिनः ॥ १ ॥
यन्नाममात्रस्मरणाज्जनानां, प्रत्यूहकोटिः प्रलयं प्रयाति। अचिन्त्यचिन्तामणिकल्पमेनं, शङ्खेश्वरस्वामिनमाश्रयामः॥२॥

॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥ अथ टिप्पणम् ॥ ऐन्द्रश्रेणिपरं स्तौमि, श्रीमद्वीरजिनेश्वरम् । अबाधितागमसिद्धान्तं, विघ्नव्यूहविघातिनम् ॥ १ ॥ नत्वा श्रीनेमिसूरीशान् वर्तमानगणाधिपान् ॥ प्रवक्ष्ये टिप्पणं किञ्चित्, तेषां सेवानुभावतः ॥ २ ॥

तत्र तावत् प्रारिप्सितप्रबन्धपूर्णताविरोधिविघ्नव्यूहविध्वंसनविचक्षणस्येश्वरनिर्देशरूपस्य मङ्गलस्य शिष्या अप्येवं कुर्युरिति शिष्यशिक्षायै निबध्नाति-ऐन्द्रेत्यादि-ऐन्द्रश्रेणीत्यादिना भगवतः पूजातिशयो दर्शित इति, न चेत्यादिना अपायापगमरूपातिशयो दर्शितो भवति, यद्गीरित्यादिना

नत्वा जिनान् गणधरान्, गिरं जैनीं गुरूनपि । स्वोपज्ञां विधिवद् धर्म-परीक्षां विवृणोम्यहम् ॥ ३ ॥

इह हि सर्वज्ञोपज्ञे प्रवचने प्रविततनयभङ्गप्रमाणगम्भीरे परममाध्यस्थ्यपवित्रितैः श्रीसिद्धसेन-हरिभद्रप्रभृतिसूरिभिर्विशदीकृतेऽपि दुःषमादोषानुभावात्केषाचिद् दुर्विदग्धोपदेशविप्रतारितानां भूयः शङ्कोदयः प्रादुर्भवतीति तन्निरासेन तन्मनोनैर्मल्यमाधातुं धर्मपरीक्षानामायं ग्रन्थः प्रारभ्यते, तस्य चेयमादिगाथा—

पणमिय पासजिणिंदं, धम्मपरिक्खाविहिं पवक्खामि । गुरुपरिवाडीसुद्धं, आगमजुत्तीहिं अविरुद्धं ॥ १ ॥

[प्रणम्य पार्श्वजिनेन्द्र, धर्मपरीक्षाविधिं प्रवक्ष्ये । गुरुपरिपाटीशुद्धम्, आगमयुक्तिभ्यामविरुद्धम् ॥ १ ॥]

[वृ०] पणमियत्ति । प्रणम्य-प्रकर्षेण भक्तिश्रद्धाऽतिशयलक्षणेन नत्वा, पार्श्वजिनेन्द्रम्, अनेन प्रारिप्सितप्रतिबन्धकदुरितनिरासार्थं शिष्टाचारपरिपालनार्थं च मङ्गलमाचरितम् । धर्मस्य धर्मत्वेनाभ्युपगतस्य, परीक्षाविधिम्-अयमित्थंभूतोऽनित्थंभूतो वेति विशेषनिर्द्धारणप्रकार, प्रवक्ष्ये । प्रेक्षावत्प्रवृत्त्युपयोगिविषयाभिधानप्रतिज्ञेयम् । प्रयोजनादयस्तु सामर्थ्यगम्याः धर्मप्रतिपादकस्यास्य ग्रन्थस्य धर्मशास्त्रप्रयोजनादिभिरेव प्रयोजनादिमत्त्वादिति । किंभूतं धर्मपरीक्षाविधिम्?गुरुपरिपाटीशुद्धम्-अविच्छिन्नपूर्वाचार्यपरम्परावचनानुसरणपवित्रम्, तथा, आगमयुक्तिभ्यां-सिद्धान्ततर्काभ्याम्, अविरुद्धमबाधितार्थम् । एतेनाभिनिवेशमूलकस्वकपोलकल्पनाशङ्का परिहृता भवति । इयं हि ज्ञानांशदुर्विदग्धानामैहिकार्थमात्रलुब्धाना महतेऽनर्थाय । यावानेव ह्यर्थः सुविनिश्चितस्तावानेवानेन

[टि०] तु वचनातिशयो दर्शित इति, ज्ञानमित्यादिना च ज्ञानातिशयो दर्शित इति शास्त्रादौ हि भगवतश्चत्वारोऽतिशया आवर्णनीया इति वाचकवर्या अपि तानाविश्चक्रिरे । अथ तस्यार्थस्त्वेव इन्द्राणा-इमा ऐन्द्र्य या श्रेणय, क्रमबद्धपङ्क्तय तासा किरीटाना मुकुटाना कोटि-अग्रभाग शतगुणलक्षप्रमाणः

निरूपणीयः, न तु कल्पनामात्रेण यत्तदसंबद्धप्रलापो विधेय इति मध्यस्थाः। अत एव चिरप्ररूढमप्यर्थं कल्पनादोषभीरवो नाहत्य दूषयन्ति गीतार्थाः। तदुक्तं धर्मरत्नप्रकरणे—

"[1]जं च ण सुत्ते विहियं, ण य पडिसिद्धं जणंमि चिररूढं। समइविगप्पिअदोसा, तं पि ण दूसंति गीयत्था॥१॥"

[१ यच्च न सूत्रे विहित न च प्रतिषिद्ध जने चिररूढम्। स्वमतिविकल्पितदोषात्तदपि न दूषयन्ति गीतार्था ॥१॥]

ततश्च माध्यस्थ्यमेव धर्मपरीक्षायां प्रकृष्टं (प्रधानं) कारणमिति फलितम् ॥ १ ॥ एतदेव आह—

सो धम्मो जो जीवं, धारेइ भवण्णवे निवडमाणं। तस्स परिक्खामूलं, मज्झत्थत्तं चिय जिणुत्तं ॥ २ ॥

[स धर्मो यो जीवं धारयति भवार्णवे निपतन्तम्। तस्य परीक्षामूल मध्यस्थत्वमेव जिनोक्तम् ॥ २ ॥]

[वृ०] सो धम्मोत्ति। यो भवार्णवे निपतन्तं जीवं क्षमादिगुणोपष्टम्भदानेन धारयति, स धर्मो भगवत्प्रणीतः श्रुतचारित्रलक्षणः, तस्य परीक्षामूल मध्यस्थत्वमेव जिनोक्तम्, अज्ञातविषये माध्यस्थ्यादेव हि गलितकुतर्कग्रहाणां धर्मवादेन तत्त्वोपलम्भप्रसिद्धेः। ननु सदसद्विषयं माध्यस्थ्यं प्रतिकूलमेव। तदुक्तम्—"सुनिश्चितं मत्सरिणो जनस्य, न नाथ ! मुद्रामतिशेरते ते। माध्यस्थ्यमास्थाय परीक्षका ये, मणौ च काचे च समानुबन्धाः ॥ १ ॥ इति कथं तद्वद्भिःपरीक्षानुकूलमुच्यते? इति चेत्। सत्यम्, प्रतीयमानस्फुटातिशयशालिपरविप्रतिपत्तिविषयपक्षद्वयान्यतरनिर्द्धारणानुकूलव्यापाराभावलक्षणस्य माध्यस्थ्यस्य परीक्षाप्रतिकूलत्वेऽपि

[टि०] सख्याविशेषो वा अनिश–सदा यस्य जिनेश्वरस्य पाद चरण तदेव पद्म कमल तस्य द्वय तस्मिन्, हसाना तद्गम्यपक्षिणा आलिः पङ्क्ति. तस्याः श्रिय शोभां आदधाति प्राप्नोति, ननु सर्वेषामपि प्राणिना दोषाश्रितत्वेन स्त्रजादस्यापि तथात्व स्यादिति चेत्, न, इत्याह न चेति, दोषे प्रसिद्धे रागद्वे-

स्वाभ्युपगमहानिभयप्रयोजकदृष्टिरागाभावलक्षणस्य माध्यस्थ्यस्य तदनुकूलत्वात् ॥२॥ अथ मध्यस्थः कीदृग्भवति? इति तल्लक्षणमाह–

मज्झत्थो अ अणिस्सिय–ववहारी तस्स होइ गुणपक्खो ॥ णो कुलगणाइणिस्सा, इय ववहारंमि सुपसिद्धं ॥ ३ ॥

[मध्यस्थश्चानिश्रितव्यवहारी तस्य भवति गुणपक्षः । नो कुलगणादिनिश्रा इति व्यवहारे सुप्रसिद्धम् ॥ ३ ॥]

(वृ०) मध्यस्थश्चानिश्रितव्यवहारी स्यात्, उपलक्षणत्वादनुपाश्रितव्यवहारी च । तत्र निश्रा रागः, उपश्रा च द्वेष इति राग-द्वेषरहितशास्त्रप्रसिद्धाभाव्यानाभाव्यसाधुत्वासाधुत्वादिपरीक्षारूपव्यवहारकारीत्यर्थः । अत एव, तस्य मध्यस्थस्य, गुणपक्षो 'गुणा एवादरणीयाः' इत्यभ्युपगमो, भवति, न तु कुलगणादिनिश्रा–निजकुलगणादिना तुल्यस्य सद्भूतदोषाच्छादनयाऽसद्भूतगुणोद्भावनया च पक्षपातरूपा । तथा कुलगुणादिना विसदृशस्यासद्भूतदोषोद्भावनया सद्भूतगुणाच्छादनयाऽपि चोपश्राऽपि न भवति इत्यपि द्रष्टव्यम्. इति एतद्, व्यवहारग्रन्थे सुप्रसिद्धम्, निश्रितोपाश्रितव्यवहारकारिणः सूत्रे महाप्रायश्चित्तोपदेशात् ॥ ३ ॥

इत्थं च मध्यस्थस्यानिश्रितव्यवहारित्वाद् यत्कस्यचिदभिनिविष्टस्य पक्षपातवचनं तन्मध्यस्थैर्नाङ्गीकरणीयमित्याह—

तुल्लेवि तेण दोसे, पक्खविसेसेण जा विसेसुत्ति ॥ सा णिस्सियत्ति सुत्तु–त्तिण्णं तं बिंति मज्झत्था ॥४॥

[तुल्येऽपि तेन दोषे, पक्षविशेषेण या विशेषोक्तिः ॥ सा निश्रितेति सूत्रोत्तीर्णां ता ब्रुवते मध्यस्थाः ॥ ४ ॥]

(वृ०) तुल्लेवित्ति । तेन–मध्यस्थस्य कुलादिपक्षपाताभावेन, तुल्येपि उत्सूत्रभाषणादिके, दोषे सति, पक्षविशेषेण या

[टि०] पादिदोषै कदापि त्रिकालेऽपि, न च नैव, ईक्षित अवलोकित, तदाश्रितत्वेन इति यावत्, यस्य जिनेशस्य, गी वाणी, कल्पलता यथाभीष्ट सा ददाति तथा चेयमपीति रूपक । यद्वा कल्पलता इव लुप्तोपमा अस्य भगवतो ज्ञान निर्मल केवल आवरणरहित अनन्त अप्रतिघ इति यावत्,

विशेषोक्तिः—'स्वपक्षपतितस्य यथाछन्दस्याप्यपरमार्गाश्रयणाभावान्न तथाविधदोषः, परपक्षपतितस्य तून्मार्गाश्रयणान्नियमेनानन्तसंसारित्वम्' इति, सा विशेषोक्तिः, निश्रिता पक्षपातगर्भा, इति तां सूत्रोत्तीर्णामागमबाधितां, ब्रुवते मध्यस्थाः आगमे

कीदृशस्य शुभ समीचीनो य आशयः अभिप्रायः "सर्वे जना एतादृशा एव भवन्तु" इत्येतद्रूप इति यावत्, तस्य मूलमुत्पत्तिस्थान तस्य, सर्वः समस्तः प्रकृष्टो वादः नय तस्य स्थिति —स्थीयतेऽस्मिन् बाहुलकादधिकरणे प्रत्यय अधिकरण मूलमिति यावत्, तस्य, यत्पदेन पूर्वमुक्तस्य तत्पदेन परामर्श इति न्यायात्, स पूर्वोक्तगुणविशिष्ट, त्रैलोक्यनाथ. त्रयाणा लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तत्र भवा त्रैलोक्यास्तेषां नाथ स्वामी, जिन रागद्वेषजेता, जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥१॥ ननु कार्यं प्रति प्रतिबन्धकाभावस्यापि कारणत्वात्, सति प्रतिबन्धके कार्यं कथं स्यादिति ग्रन्थकार आत्मन. परेषां श्रोतॄणां च जिनपतिस्वप्रसादेनापायापगमत्व सूचयाञ्चक्रे द्वितीयश्लोकेनेति । यन्नामेति । यस्य नाममात्रस्य स्मरणात् । जनानां भव्यजनानां सन्तृष्णा कोटि समुदाय. प्रलय नाश प्रयाति गच्छति, स क, शङ्खेश्वरस्वामी तमाश्रयामः । कीदृश अचिन्त्य चिन्तामणि मणिविशेष. तरकल्प सदृश, सन जगत्प्रसिद्धम् ॥२॥ ननु "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ॥ तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः" ॥१॥ इति लौकिकोक्त्या "अभिमतफलसिद्धेरभ्युपाय सुबोध प्रभवति स च शास्त्रात् तस्य चोत्पत्तिराप्तात्॥ इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादप्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति ॥१॥ इति लोकोत्तरशास्त्रप्रसिद्धोक्त्या परापरासप्रवाहनिबन्धन पर परापरशास्त्रप्रवाह इति अस्य शास्त्रस्य परापरशास्त्रमूलत्वेनादौ परापरासप्रवाहस्यापि स्मरणमवश्यकरणीयतयाऽऽह नत्वा जिनानित्यादिना । परापरासप्रवाह परापरशास्त्रप्रवाहस्य मुख्यकारण जैनी भारतीञ्च स्मरण प्रतिजानीते । जिनान् गणधरान् जैनीं जिनसम्बन्धिनीं वाचं गुरूनपि नत्वा निजान् गणधरान् इत्यत्रोभयत्र जात्येकवचनत्वेन सिद्धावप्यतिशयद्योतनार्थं बहुवचनान्तता । अत्र स्वोपज्ञा । धर्मपरीक्षा धर्मस्य परीक्षाम्, परमतनिराकरणपूर्वकस्वमतव्यवस्थापन, परमत परकीयमति तन्निराकरण तदप्रामाण्यज्ञापन अलिप्त्युद्भावन वा, तत्पूर्वक तदुत्तरकालीन यत्स्वमतव्यवस्थापन, स्वमत स्वकीयमति. तद्व्यवस्थापन तद्विषयकाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानानुकूलव्यापार इति यावत् । विधिवत् विध्यनुसारेण, विवृणोमि विवृतिं विदधामि ॥३॥ प्रारिप्सितप्रतिबन्धकनिरासार्थं शिष्टाचारपरिपालनार्थं चेति । अत्र चकारोऽनास्थायामिति । ननु मङ्गलस्य

ह्यविशेषेणैवान्यथावादिनामन्यथाकारिणां च महादोषः प्रदर्शितस्तत्कोऽयं विशेषो यत्परपक्षपतितस्यैवोत्सूत्रभाषिणोऽनन्तसंसारित्वनियमो न स्वपक्षपतितस्य यथाछन्दादेरिति ॥ ४ ॥ नन्वस्त्ययं विशेषो यत्परपक्षगतस्योत्सूत्रभाषिणो 'वयमेव जैना अन्ये तु जैनाभासाः'

'समाप्तिकामो मगलमाचरेदिति' वेदेनैव बोधितकर्तव्यताकत्वेन प्रारिप्सितप्रतिबन्धकनिरासार्थं शिष्टाचारपरिपालनार्थञ्चेति ग्रथकारोक्तिरसंगतेति- चेत्, न । अन्वयव्यतिरेकव्यभिचाराभ्या समाप्तिमात्रे मगलस्य हेतुत्वाभावेन तादृशवेदकल्पने प्रमाणाभावात् प्रत्यक्षत्वाभावाच्च । न च स्वसमसख्यविघ्नस्थलीयसमाप्तौ मंगलहेतु नास्तिकग्रन्थे च जन्मान्तरीयमगलादेव समाप्तिरिति वाच्यम्, स्वन्यूनसख्यविघ्नस्थले समाप्त्यभावप्रसगात्, न च स्वानधिकसख्यविघ्नस्थलीयत्व निवेश्यम्, यत्र दश विघ्ना पञ्च च प्रायश्चित्तेन नाशिता पञ्च च मङ्गलात् तत्र समाप्त्यभावप्रसगात् । न च प्रायश्चित्ताद्यनाश्यत्वमपि विशेषण देयमिति वाच्य, बलवतो विघ्नस्य बहुभिरपि मगलैरनाशात् । बलवता मगलेन च बहूनामपि विघ्नाना नाशाच्च । किञ्च विघ्न समाप्तौ विशेषण, उपलक्षण वा, नाद्य विघ्नस्यापि मङ्गलजन्यत्वापत्ते । नाऽन्त्यः नियतोपलक्ष्यतावच्छेदकाऽभावात् । उपलक्षणस्य नियतोपलक्ष्यतावच्छेदकत्वात् इति दिक् । आवश्यकत्वाद् विघ्नध्वस एव मङ्गलफल समाप्तिस्तु असति प्रतिबन्धके स्वकारणादेव भवति, कारीरीत इवाऽवग्रहनिवृत्तौ वृष्टि, निर्विघ्न परिसमाप्यता, इति कामनाऽपि " सविशेषणे हि वर्तमानौ विधिनिषेधौ सति विशेष्यबाधे विशेषणमुपसंक्रामत " इति न्यायाद् विघ्नध्वसमात्रावगाहिनी, इत्यपि न रमणीयम् । मगल विनापि विघ्नध्वसस्य प्रायश्चित्तादितो भावेन व्यभिचारात् । न च प्रायश्चित्ताद्यनाश्यविघ्नध्वसे मगलहेतुरतो न दोष इति वाच्य, प्रायश्चित्तादीनामपि मगलानाश्यविघ्नध्वस प्रति हेतुत्वेऽन्योऽन्याश्रयात् । ननु विघ्नो माभूदितिकामनया प्रवृत्तेर्विघ्नप्रागभाव एव मङ्गलफलमित्यपि न पेशल वचन, प्रागभावस्यानादित्वेन फलत्वायोगात् । न चागामिसमयविशेषेण प्रागभावसम्बन्धस्यानादित्वाऽभावेन तस्यैव मङ्गलफलत्वमिति वाच्यम्, स्वत आगन्तुकस्य समयविशेषेण तत्सम्बन्धरूपस्य तत्परिपालनस्यापि मङ्गलफलत्वायोगात् । शिष्टाचारपरिपालन मगलफलमित्यपि वार्तामात्रम्, तत्परिपालनस्यादृष्टद्वाराऽभीप्सितसिद्धिहेतुत्वे मगलस्यैवाऽदृष्टार्थत्वौचित्यात्, विघ्नमविनाश्य शिष्टाचारपरिपालनजन्यधर्मविशेषस्य समाप्त्यहेतुत्वे विघ्ननाशस्यैवावश्यकत्वाच्च । किञ्च शिष्टाचारेण विधि-

इत्येवं तीर्थोच्छेदाभिप्रायेण प्रवर्तमानस्य सन्मार्गनाशकत्वाभिप्रायेणानन्तसंसारित्वम्, स्वपक्षगतस्य तु कदाग्रहग्रस्तो मार्गपतितस्य नायमभिप्रायः सम्भवति, तत्कारणस्य जैनप्रवचनप्रतिपक्षभूतापरमार्गस्याङ्गीकारस्याभावात्, इत्यत आह—

बोधितकर्तव्यतामनुसार [illegible] ... [illegible]

॥ ७ ॥

तित्थुच्छेओ व्व मओ, सुत्तुच्छेओवि हंदि उम्मग्गो। संसारो अ अणंतो, भयणिज्जो तत्थ भाववसा ॥५॥

[तीर्थोच्छेद इव मतः सूत्रोच्छेदोऽपि हंदि उन्मार्गः। संसारश्चानन्तो भजनीयस्तत्र भाववशात् ॥ ५ ॥]

(वृ०) तित्थुच्छेओत्ति। तीर्थोच्छेद इव सूत्रोच्छेदोऽपि 'हंदि' इत्युपदर्शने उन्मार्ग एव मतः। तथा चोन्मार्गपतितानामुत्सूत्रभाषणं यदि तीर्थोच्छेदाभिप्रायेणैवेति भवतो मतं तदोत्सूत्राचरणप्ररूपणप्रवणानां व्यवहारतो मार्गपतितानां यथाछन्दादीनामु सूत्र-

वर्तमानकालीनस्वकर्तव्य ताप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापार। धर्मशास्त्रप्रयोजनादिभिरेवेति। आदिना सम्बन्धाधिकारिप्रभृतिपरिग्रहः, य एव प्रयोजनसम्बन्धाधिकारिप्रभृतयो धर्मशास्त्रस्यागमस्य त एवास्य ग्रन्थस्यापि तत्प्रतिपादितविषयाणामेव प्रतिपादकत्वात्। आगमयुक्तिभ्यामिति, नन्वत्रागमेनैवेत्येव वक्तुमुचित आगमेन युक्त्यैवार्थस्य प्रतिपादितत्वादिति चेन्न,आगमोक्तार्थस्य यस्तर्केणानुसधान कुरुते स एव धर्मं जानाति न त्वन्य इति॥ तथा चोक्त "परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्य मद्वचो न तु गौरवात्॥"अन्यैरपि भणित, "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर" इति तर्कानुसंधान विना तात्पर्यस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात्, इय हीति-स्वकपोलकल्पना हि। धर्मवादेनेति-तत्त्वबुभुत्सो कथारूपवादेन न तु जल्पवितण्डाभ्या ताभ्या च तत्त्वोपलम्भस्यासिद्धे। सुनिश्चितमिति-अत्रायमर्थ -हे नाथ ये परीक्षका स्वाभ्युपगमपरीक्षणविधौ दुर्विदग्धा पण्डित मन्या इति यावत्, माध्यस्थ्यमास्थाय-वय मध्यस्था इत्यभिमानेन न तु वस्तुगत्या सदसद्विषयकविप्रतिपत्तिविषयद्वयान्यतरस्त्राभ्युगमहानिभयप्रयोजकदृष्टिरागाभावरूप माध्यस्थ्य किन्तु पूर्वोक्तपक्षद्वयविषयकविप्रतिपत्तिविषयद्वयान्यतरनिर्द्धारणानुकूलव्यापाराभावरूपेऽवास्तविके तमारोप्य तमास्थाय स्वीकृत्य कीदृशा समानुबन्धा -समानोऽनुबन्धोभिप्रायो येषा ते, केषु मणौ चन्द्रकान्तादिरूपे काचे-काचाख्यप्रसिद्धद्रव्ये च,ते तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शार्थत्वेन पूर्वोक्ता जना, मत्सरिण -मत्सरो गुणेषु दोषाविष्करण असूया इति यावत्, स अस्यासीति-मत्सरी तस्य मत्सरिणो जनस्य, जातावेकवचन, मुद्रा स्वभाव प्रकृतिमिति यावत्, नातिशेरते नातिक्रामन्ति इति सुनिश्चितम्॥ न तु विप्रतिपत्तिविषयम्॥ जैनाभासा इति जैनवदाभासन्ते दुष्टजैना इति व्यवहारत इति-व्यवहारनयेन। यथाछन्दादीनामिति यथा छन्दोऽभिप्राय इच्छा तथैवाऽऽगमनिरपेक्षेण योऽवर्तते अथवा यथा कथचित् नागमपरतन्त्रतया छन्दोऽभिप्रायो बोधः प्रवचनार्थेषु यस्य स यथाछन्द। आदिना-पार्श्वस्थादिपरिग्रह।

भाषणमपि सूत्रोच्छेदाभिप्रायेणैव स्याद्, विरुद्धमार्गाश्रयणस्येव सूत्रविरुद्धाश्रयणस्यापि मार्गोच्छेदकारणस्याविशेषात्, तथा च द्वयोरप्युन्मार्गः समान एव । संसारस्त्वनन्तस्तत्र भावविशेषाद्भजनीयः, अध्यवसायविशेषं प्रतीत्य सङ्ख्यातासंख्यातानन्तभेदभिन्नस्य तस्या-र्हदाद्याशातनाकृतामप्यभिधानात् । तथा च महानिशीथसूत्रम्–"जे णं तित्थकरादीणं महतिं आसायणं कुज्जा, से णं अज्झवसायं पडुच्च जाव णं अणंतसंसारित्तण लभिज्जत्ति " ॥ (यस्तीर्थकरादीना महतीमाशातनां कुर्यात्, स अध्यवसायं प्रतीत्य यावदनन्तसंसारिकत्व लभेत ॥) इत्थ चोत्सूत्रभाषिणा नियमादनन्तः संसार इति नियमः परास्तः । किं च कालीदेवीप्रमुखाणां षष्ठाङ्गे "अहाछंदा अहाछंदविहारिणी(उ)त्ति " (यथाछन्दा यथाछन्दविहारिणी इति ॥) पाठेन यथाच्छन्दत्वभणनादुत्सूत्रभाषित्वं सिद्धम् । "उस्सुत्तमायरतो, उस्सुत्तं चेव पण्णवेमाणो । एसो उ अहाछंदो, इच्छा छंदुत्ति एगट्ठा ॥ १ ॥" (उत्सूत्रमाचरन् उत्सूत्र चैव प्रज्ञापयन् । एष तु यथाच्छन्द, इच्छा छन्द इत्येकार्थौ ॥) इत्यावश्यकनिर्युक्तिवचनात् । तासां चैकावतारित्वं प्रसिद्धमिति नायं नियमो युक्तः । यत्तून्मार्गमाश्रितानामाभोगवतामनाभोगवता नियमेनानन्तः संसारः, प्रतिसमयं तीर्थोच्छेदाभिप्रायेण

विरुद्धमार्गाश्रयणस्येति–जिनप्रवचनप्रतिपक्षभूतान्यमार्गाश्रयणस्य । मार्गोच्छेदकारणस्याविशेषादिति–मोक्षमार्गोच्छेदनियतपूर्वप्रवृत्तिकत्वभेदाभावात् तथा च मोक्षमार्गनाशकत्वाविशेषादिति भाव ॥ इत्थञ्चेति–अध्यवसायविशेषस्यैवानन्तसंसारहेतुत्वे सिद्धे सति । नाय नियमो युक्त इति–श्रीज्ञाताधर्मकथाया–अहाछंदेत्यादिना कालीदेवीप्रमुखाणां यथाछन्दत्वमुक्त तेन च तेषामुत्सूत्रभाषित्वमपि सिद्धम्, यथाछन्दस्योत्सूत्रभाषित्वव्याप्यत्वात् इत्येव तासामुत्सूत्र-भाषित्वे सिद्धेऽपि–तासामेकावतारित्वप्रसिद्धत्वाद् । प्रसिद्धत्वंतु—काली ण भंते ! देवी ताओ देवलोगाओ अणतरं उव्वट्टिता कहिं गच्छिहिति कहिं उव-वज्जिहिति ? गोयमा ? महाविदेहे वासे सिज्झिहितित्ति ज्ञाताधर्मकथाङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धप्रथमवर्गप्रथमाध्ययनसूत्रेणेति भाव ॥ तस्मात् उत्सूत्रभाषिणो नियमादनन्तसंसार इति नियमो न युक्त इति भाव ।

साम्यात्। यथाछन्दस्तु क्वचिदंशेऽनाभोगादेवोत्सूत्रभापी स्यात्, तस्यानाभोगोऽपि प्रायः सम्यगागमस्वरूपापरिणतेः, न चैतस्य तदुत्सूत्रभापणमनन्तसमारहेतुः,तीर्थोच्छेदाभिप्रायहेतुकस्यैव तस्यानन्तसंसारहेतुत्वादिति। तदसंवद्धम्,एतादृशनियमाभावाद्। न ह्युन्मार्गपतिताः सर्वेऽपि तीर्थोच्छेदपरिणामवन्त एव,सरलपरिणामानामपि केषाञ्चिद्दर्शनाद्। न च यथाछन्दादयोऽनाभोगादेवो-त्सूत्रभापिणः, जानतामपि तेपा बहूना सुविहितसाधुसमाचारप्रद्वेपदर्शनात्। यस्त्वाह—यथाछन्दत्वभवनहेतूना पार्श्वस्थत्वभवनहेतूनामिव नानात्वेनागमे भणितत्वाद् यथाछन्दमात्रस्योत्सूत्रभापित्वनियमोऽप्रामाणिक इति। तदरमणीयम्, आगम एव यथाछन्दस्योत्सूत्रप्ररूपणाया नियतव्यवस्थाप्रदर्शनात्। तदुक्त व्यवहारभाष्ये-अहछंदस्स परूवण,उस्सुत्ता दुविह होइ णायव्वा। चरणेसु गईसुं जा,तत्थ चरणे इमा होइ ॥१॥ पडिलेहणि–मुहपोत्तिय, रयहरण–निसिज्ज,पाय–मत्तए पट्टे। पडलाइ चोल, उण्णा–दसिआ,पडिलेहणापोत्तं ॥२॥ दंतच्छिन्नमलित्त, हरियट्ठिय पमज्जणा य णितस्स। अणुवाइ अणणुवाई–परूव चरणे गतीसुं पि॥३॥ अणुवाइत्ति नज्जइ, जुत्तीपडियं खु भासए एसो। जं पुण सुत्तावेयं तं होइ अणणुवाइत्ति॥४॥सागारिआइपलियंक–णिसिज्जासेवणा य गिहिपच्छमत्ते। णिग्गंथिचिट्ठणाइ,पडिसेहो मासकप्पस्स ॥५॥ चारे वेरज्जे वा, पढमसमोसरण तह णितिएसु। सुण्णे अकप्पिए अ,अणाउंछे य संभोगे ॥६॥ कि वा अकप्पिएणं, गहियं फासुंपि होइ उ अभोज्जं। अन्नाउंछं को वा, होइ गुणो कप्पिए गहिए ॥ ७ ॥ पंचमहव्वयधारी, समणा सव्वेवि किं ण

सुविहितसाधुसमाचारप्रद्वेपदर्शनादिति–यथाछन्दादिपु सुविहिसाधुसत्कसम्यगाचारविपयकाप्रीत्यवलोकनादितिभाव। यथाछन्दमात्रस्येति–यथाछन्दसामान्यस्य। उत्सूत्रभापित्वनियम इति–उत्सूत्रभापित्वव्याप्यम्। यथाछन्दस्येति–यथाछन्दत्वस्येतिभावप्रधाननिर्देशात्। उत्सूत्रप्ररूपणायानियतव्यवस्थादर्शनादिति–उत्सूत्रभापित्वव्यापकत्वव्यवस्थादर्शनात्।

भुंजंति । इय चरणवितथवादी, इत्तो वुच्छं गईसुं तु ॥ ८ ॥ खेत्तं गओ अडविं, इक्को संचिक्खए तहिं चेव । तित्थयरो पुण पियरो, खेत्तं पुण भावओ सिद्धित्ति ॥ ९ ॥ (यथाच्छन्दस्य प्ररूपणा उत्सूत्रा द्विविधा भवति ज्ञातव्या । चरणेषु गतिषु या तत्र चरणे इयं भवति ॥१॥ प्रतिलेखनी-मुखपोतिका रजोहरण-निषद्या, पात्रमात्रके पट्टे । पटलानि चोल (पट्टः) ऊर्णादशिका प्रतिलेखनापोतं ॥२॥ दन्तच्छिन्नमलिप्तं हरितास्थितं प्रमार्जना च उत्तरस । अनुपात्यननुपातिप्ररूपणं चरणे गतिष्वपि ॥३॥ अनुपातीति ज्ञायते सूक्तिपतितं खलु भापते एषः । यत्पुनः सूत्रापेतं तद् भवति अननुपातीति ॥४॥ सागारिकादिपर्यङ्कनिषद्यासेवना च गृहिपात्रे । निर्ग्रन्थीस्थानादि प्रतिषेधो मासकल्पस्य॥५॥चारे वैराज्ये वा प्रथमसमवसरणे तथा नित्येषु । शून्ये अकल्पिके चाज्ञातोञ्छे च संभोगे॥६॥किंचाकल्पिकेन गृहीतं प्रासुकमपि भवति त्वभोज्यम् । अज्ञातोञ्छं को वा भवति गुणो कल्पिकेन गृहिते ॥७॥ पञ्चमहाव्रतधारिणः श्रमणाः सर्वेऽपि किं न भुञ्जते? । इति चरणवितथवादी इतो वक्ष्ये गतिषु तु॥८॥क्षेत्रं गतोऽटवीमेकः संतिष्ठते तत्रैव । तीर्थकरः पुनः पिता क्षेत्रं पुनः भावतः सिद्धिरिति ॥९॥) एतासां गाथानामयं संक्षेपार्थः—अहाच्छंदस्सत्ति । यथाच्छन्दस्य प्ररूपणा उत्सूत्रा—सूत्राद्उत्तीर्णा द्विविधा भवति ज्ञातव्या । तद्यथा-चरणेषु चरणविषया, गतिषु गतिविषया ॥ तत्र या चरणे चरणविषया सा इयं वक्ष्य-माणा भवति ॥ १ ॥ तामेवाह-पडिलेहणित्ति । मुखपोतिका मुखवस्त्रिका सैव प्रतिलेखनी पात्रप्रत्युपेक्षिका पात्रकेसरिका, किं द्वयोः परिग्रहेण ? अतिरिक्तोपधिग्रहणदोषादेकयैव मुखपोतिकया कायभाजनोभयप्रत्युपेक्षणकार्यनिर्वाहेणापरिग्रहत्वात् । तथा रयहरणणिसिज्जत्ति । किं रजोहरणस्य द्वाभ्यां निषद्याभ्यां कर्तव्यम् ? एकैव निषद्याऽस्तु । पायमत्तएत्ति । एकं पात्रं एकं मात्रकं क्रियताम्, मात्रकं वा पात्रं क्रियताम्, किं द्वयोः परिग्रहेण ? एकेनैवान्यकार्यनिष्पत्तेः । भणितं च—"यो भिक्षुस्तरुणो बलवान्

गद्दिपण…
॥ श्रोप…
ग्रतिः ॥
गाथा—…
॥११॥

स एकं पात्रं गृह्णीयाद्'' इति । तथा पट्टएत्ति । य एव चोलपट्टकः स एव रात्रौ संस्तारकस्योत्तरपट्टः क्रियताम्, किं पृथगुत्तरपट्ट-ग्रहेण ? । तथा पडलाइं चोलत्ति । पटलानि किमिति पृथग् ध्रियन्ते ?, चोलपट्टक एव भिक्षार्थं हिण्डमानेन द्विगुणस्त्रिगुणो वा कृत्वा पटलस्थाने वा निवेश्यताम् । उण्णादसियत्ति । रजोहरणस्य दशाः किमित्यूर्णमय्यः क्रियन्ते, क्षौमिकाः क्रियन्ताम्, ता ह्यूर्ण-मयीभ्यो मृदुतरा भवन्ति । पडिलेहणापोत्तंति । प्रतिलेखनावेलायामेकं पोतं प्रस्तार्य तस्योपरि समस्तवस्त्रप्रत्युपेक्षणा कृत्वा तद-नन्तरमुपाश्रयाद् बहिः प्रत्युपेक्षणीयम्, एवं हि महती जीवदया कृता भवतीति ॥२॥ दंतच्छिन्नमिति । हस्तगताः पादगता वा नखाः प्रवृद्धा दन्तैश्छेत्तव्याः न नखरदनेन । नखरदनं हि ध्रियमाणमधिकरणं भवति । तथा अलित्तंति । पात्रमलिप्तं कर्तव्यम्, लेपे बहु-दोषसंभवान्न पात्रं लेपनीयमिति भावः । हरियट्ठियत्ति । हरितप्रतिष्ठितं भक्तपानादि डगलादि च ग्राह्यम्, तद्ग्रहणे हि तेषां हरि-तकायजीवाना भारापहारः कृतो भवति। पमज्जणा य णिंतस्सत्ति। यदि छन्ने जीवदयानिमित्तं प्रमार्जना क्रियते ततो बहिरच्छन्ने क्रियताम्, दयापरिणामाविशेषात् । ईदृशी यथाछन्दस्य प्ररूपणा चरणेषु, गतिषु चानुपातिन्यननुपातिनी च भवति ॥ ३ ॥ अनुपातिन्यननुपातिन्योः स्वरूपमाह--अणुवाइत्ति । यद् भाषमाणः स यथाछन्दो ज्ञायते, यथा खु निश्चित युक्तिपतितं युक्तिसङ्ग-मेव भाषते तदनुपातिप्ररूपणम्। यथा--यैव मुखपोतिका सैव प्रतिलेखनिकेत्यादि। यत्पुनर्भाष्यमाणं सूत्रापेतं प्रतिभासते तद्व्यत्य-ननुपाति । यथा चोलपट्टः पटलानि क्रियन्तामिति, षट्पदिकापतनसंभवेन सूत्रयुक्तिबाधात् । अथवा सर्वाण्येव पदान्यगीतार्थप्रति-भासापेक्षयाऽनुपातीनि, गीतार्थप्रतिभासापेक्षया त्वननुपातीनीति ॥ ४ ॥ इदं चान्यत्तत्प्ररूपणम्--सागारियाइत्ति । सागरिकः शय्यातरस्तद्विषये ब्रूते--शय्यातरपिण्डग्रहणे नास्ति दोषः, प्रत्युत शय्यातरस्य महालाभ इति । आदिशब्दात्स्थापनाकुलेष्वपि प्रविशतो

नास्ति दोषः;प्रत्युत भिक्षाशुद्धिरित्यादि ग्राह्यम्। पलिअंकत्ति। पर्यङ्कादिषु मत्कुणादिरहितेषु परिभुज्यमानेषु न कोऽपि दोषः, प्रत्युत भूमावुपविशतो लाघवादयो दोषाः। निसेज्जासेवणत्ति। गृहिनिषद्यायां न दोषः, प्रत्युत धर्मकथाश्रवणेन लाभ इति। गिहि-मत्तेत्ति। गृहिमात्रके भोजनं कस्मान्न क्रियते? न यत्र दोषः, प्रत्युत सुन्दरपात्रोपभोगात्प्रवचनानुपघातलक्षणोऽन्यपात्रभागवहन-लक्षणश्च गुण इति। निग्गंथिचेट्ठणाइत्ति। निर्ग्रन्थीनामुपाश्रयेऽवस्थानादौ को दोषः? यत्र तत्र स्थितेन शुभं मनः प्रवर्तव्यम्. तच्च स्वायत्तमिति। तथा मासकप्पस्स प्रतिषेधस्तेन[स न]क्रियते, यदि दोषो न विद्यते तदा परतोऽपि तत्र स्थेयमिति॥६॥ चारेत्ति। चारश्च चरणं गमनमित्यर्थस्तद्विषये ब्रूते-दृष्ट्यभावे चतुर्मासिकमध्येऽपि गच्छता को दोष इति?। तथा वेरज्जे वत्ति। वैराज्येऽपि ब्रूते साधवो विहारं कुर्वन्तु, परित्यक्तं हि तैः शरीरम्, सोढव्याः खलु साधुभिरुपसर्गा इति। पढमसमोसरणं ति। प्रथमसमवसरणं वर्षाकालस्तत्र ब्रूते—किमिति प्रथमसमवसरणे शुद्धं वस्त्रादि न ग्राह्यम्? द्वितीयसमवसरणेऽपि छुद्गमादिदोषशुद्धमिति गृह्यते, तत्को-ऽय विशेषः? इति। तह णिइएसुत्ति। तथा नित्येषु नित्यवासिषु प्ररूपयति—नित्यवासे न दोषः, प्रत्युत प्रभूतसूत्रार्थग्रहणादि-लक्षणो गुण इति। तथा सुन्नत्ति। यद्युपकरणं न केनापि ह्रियते ततः शून्याया वसतौ को दोषः?। अकप्पियेत्ति। अक-ल्पिकोऽगीतार्थस्तद्विषये ब्रूते-अकल्पिकेनानीतमज्ञातोञ्छं किं न भुज्यते?,तस्याज्ञातोञ्छतया विशेषतः परिभोगार्हत्वात्। संभोगत्ति। संभोगे ब्रूते—सर्वेऽपि पञ्चमहाव्रतधारित्वेन साधवः सांभोगिका इति। ॥३॥ अकप्पिए त्ति विशिष्य विवृणोति। किं वत्ति। किंवत्-केन प्रकारेणाकल्पिकेनागीतार्थेन गृहीतं प्रासुकमज्ञातोञ्छमपि अभोज्यमपरिभोक्तव्यं भवति। को वा कल्पिकेन अत्र गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे, गृहीते गुणो भवति? नैव कश्चिद् उभयत्रापि शुद्धत्वविशेषात् ॥ ७ ॥ संभोगत्ति व्याचष्टे—

पंचमहव्वयधारित्ति। पञ्चमहाव्रतधारिणः सर्वे श्रमणाः किं नैकत्र भुञ्जते? यदेके सांभोगिका अपरे चासांभोगिकाः क्रियन्ते
इति। इत्येवमुपदर्शितप्रकारेणानालोचितगुणदोषो यथाछन्दः,चरणे चरणविषये वितथवादी॥ अत उर्ध्वं तु गतिषु वितथवा-
दिनं वक्ष्यामि—खेत्तं गओ यत्ति। स यथाछन्दो गतिष्वेवं प्ररूपणां करोति—'एगो गाहावई तस्स तिण्णि पुत्ता। ते सव्वे वि
खित्तकम्मोवजीविणो पियरेण खित्तकम्मे णिओइया। तत्थेगो खित्तकम्मं जहाणत्तं करेइ। एगो अडविं गओ देसं देसेण हिंडइ इत्यर्थः,
एगो जिमिउं देवकुलादिसु अच्छति। कालंतरेण तेसि पिया मओ। तेहि सव्वंपि पितिसंतियं ति काउ समं विभत्तं। तेसिं जं एक्केण
उवज्जिअ तं सव्वेसि सामन्न जायं। एवं अम्हं पिया तित्थयरो तस्संतिओवदेसेणं सव्वे समणा कायकिलेसं कुव्वंति। अम्हे ण करेमो
जं तुब्भेहि कय तं अम्हं सामन्नं। जहा तुब्भे देवलोग सुकुलपच्चायाति वा सिद्धि वा गच्छह तहा अम्हे वि गच्छिस्सामोत्ति।"
[एको गाथापतिः। तस्य त्रयः पुत्राः।ते सर्वेऽपि क्षेत्रकर्मोपजीविनः पित्रा क्षेत्रकर्मणि नियोजिताः। तत्रैकः क्षेत्रकर्म यथाऽऽज्ञप्तं करोति।
एकोऽटवीं गतो देशदेशान्तरेषु भ्रमति। एको जिमित्वा देवकुलादिषु तिष्ठति। कालान्तरेण तेषां पिता मृतः। तैः सर्वमपि पितृसत्क-
मिति कृत्वा समं विभक्तम्। तेषां यदेकेनोपार्जित तत्सर्वेषां सामान्य जातम्। एवमस्माकं पिता तीर्थकरः,तत्सत्कोपदेशेन सर्वे श्रमणाः
कायक्लेशं कुर्वन्ति। वयं न कुर्मः। यद् युष्माभिः कृतं तदस्माकं सामान्यम्। यथा यूयं देवलोकं सुकुलप्रत्यायाति सिद्धिं वा गच्छथ,तथा
वयमपि गमिष्याम इति] एष गाथाभावार्थः। अक्षरयोजनिका त्वियम्-एकः पुत्रः क्षेत्रं गतः। एकोऽटवीं देशान्तरेषु
परिभ्रमतीत्यर्थः। अपर एकस्तत्रैव संतिष्ठते। पितरि च मृते धनं सर्वेषामपि समानम्। एवमत्रापि मातापितृस्थानीयस्तीर्थकरः,क्षेत्रं
क्षेत्रफलं धनं पुनर्भावतः परमार्थतः सिद्धिस्ता यूयमिव युष्मदुपार्जनेन वयमपि गमिष्याम इति। तदेव यथाछन्दस्याप्युत्सूत्रप्ररूपणा-

व्यवस्थादर्शनात्कथमेवमर्वाग्दृशा निर्णीयते–यदुत मार्गपतितस्य यथाछन्दस्य कस्यचिदनाभोगादेवोत्सूत्रभाषणम्, तच्च नानन्तसंसारकारणम्, उन्मार्गपतितानां तु सर्वेषामाभोगवतामनाभोगवतां वा तदनन्तसंसारकारणमेव, तीर्थोच्छेदाभिप्रायमूलत्वादिति, साध्वाचारोच्छेदाभिप्रायस्य यथाछन्देऽप्यविशेषात् । अथ—"उम्मग्गमग्गसंप–ट्ठिआण साहूण गोअमा नूणं (?) । संसारो अ अणंतो, होइ य सम्मग्गणासीण ॥" [उन्मार्गमार्गसंप्रस्थितानां साधूनां गौतम? नूनम्(?) । संसारश्चानन्तो भवति सन्मार्गनाशिनाम् ॥] इति गच्छाचारप्रकीर्णकवचनबलादुन्मार्गपतितानां निह्नवानामनन्त एव संसारो ज्ञायते न तु यथाछन्दानामपि, अपरमार्गाश्रयणाभावादिति चेद् । उन्मार्गपतितो निह्नव एवेति कथमुक्तस्यनिर्णयः? साक्षात्पदेन शाक्यादिष्वव्यवच्छेदेऽपि यथाछन्दादिष्वव्यवच्छेदस्य कर्तुमशक्यत्वात्, गुणभेदादिनेव क्रियादिविपर्यासमूलकदालम्बनप्ररूपणयाऽप्युन्मार्गभवनाविशेषाद् । न हि 'मार्गपतित' इत्येतावता शिष्टानाम्नाशको यथाछन्दादिरपि नोन्मार्गगामी । अथ यथाछन्दादीनामप्युन्मार्गगामित्वमिष्यत एव,न त्वनन्तसंसारनियमः, तन्नियमाभिधायकवचने उन्मार्गमार्गसंप्रस्थितपदेन तीर्थोच्छेदाभिप्रायवत एव ग्रहणादिति चेद् । अहो किञ्चिदपूर्वं युक्तिकौशलम् ! यदुक्तवचनबलात्तीर्थोच्छेदाभिप्रायवतां निह्नवानामनन्तसंसारनियमसिद्धौ पदविशेषतात्पर्यग्रहः, तस्मिंश्च सति तत्सिद्धिरित्यन्योन्याश्रयदोषमापतन्तं न वीक्षसे । संप्रदायादीदृशोऽर्थो गृहीत इति न दोष, इति चेद् । न, संप्रदायाद्व्यवसाय प्रतीत्य निह्नवानामपि संख्यातादिभेदभिन्नस्यैव संसारस्य सिद्धत्वाद्, उन्मार्गमार्गप्रस्थितानां तीव्राध्यवसायानामेव ग्रहणे बाहुल्याभिप्रायेण वा व्याख्याने दोषाभावाद् । न चेदेवं तदा 'वयमेव सृष्टिस्थित्यादिकारिणः' इत्याद्युत्सूत्रभाषिणोऽनवच्छिन्नमिथ्यात्वसन्तानपरमहेतोस्तीर्थोच्छेदाभिप्रायवतो बलभद्रजीवस्याप्यनन्तसंसारोत्पत्तिः प्रसज्येत । न चैतदशास्त्रीयं वचनम्, त्रिषष्टीयनेमिचरित्रे एवमुक्तत्वात् । तथाहि॥'प्रतिपद्य तथा रामो, जगाम भरतावनौ ।

तथैव कृत्वा ते रूपे, दर्शयामास सर्वतः ॥ १ ॥ एवमूचे च भो लोकाः !, कृत्वा नौ प्रतिमाः शुभाः । प्रकृष्टदेवताबुद्धया, यूयं पूजयतादरात् ॥ २ ॥ वयमेव यतः सृष्टि-स्थितिसंहारकारिणः । वयं दिव इहायामो, यामश्च स्वेच्छया दिवम् ॥ ३ ॥ निर्मिता द्वारकाऽस्माभिः, संहृता च चिकीर्षुभिः । कर्ता हर्ता च नान्योऽस्ति, स्वर्गदा वयमेव च ॥ ४ ॥ एवं तस्य गिरा लोकः, सर्वो ग्रामपुरादिषु । प्रतिमाः कृष्णहलिनोः, कारं कारमपूजयत् ॥ ५ ॥ प्रतिमाऽर्चनकर्तॄणां, महान्तमुदयं ददौ । स सुरस्तेन सर्वत्र, तद्भक्तोऽभूज्जनोऽखिलः" ॥ ६ ॥ इति ॥ ननु बलभद्रस्योत्सूत्रवचनमिदं न स्वारसिकमतो न नियतम्, नियतोत्सूत्र च निह्नवत्वकारणम्, अत एवापरापरोत्सूत्रभाषिणा यथाच्छन्दत्वमेव, नियतोत्सूत्रभाषिणा च निह्नवत्वमेव । तदुक्तमुत्सूत्रकन्दकुद्दालकृता—"तस्मादनियतोत्सूत्रं, यथाच्छन्दत्वमेषु न । तदवस्थितकोत्सूत्रं, [अनवस्थितकोत्सूत्र] निह्नवमुत्सपस्थितम् ॥१॥" इति ॥ एतदेव च नियमतोऽनन्तसंसारकारणम् । अत एव यः कश्चिद् मार्गपतितोऽप्युत्सूत्र भणित्वाऽभिमानादिवशेन स्वोक्तवचनं स्थिरीकर्तुं कुयुक्तिमुद्भावयति, न पुनरुत्सूत्रभयेन त्यजति, स ह्युन्मार्गपतित इवानन्तसंसारी, नियतोत्सूत्रभाषित्वात्, तस्यापरमार्गाश्रयणाभावेऽपि निह्नवस्येवासदाग्रहत्वादित्यस्मन्मतमित्याशङ्कायामाह—

णियउस्सुत्तणिमित्ता, संसाराणंतया ण सुत्तुत्ता । अज्झवसायाणुगओ, भिन्नो च्चिय कारणं तीसे ॥ ६ ॥

द्वितीयसमवसरणेऽपीति—ऋतुबद्धकालेऽपि । यथाछन्दस्येति—यथाछन्दसामान्यस्य । मार्गपतितस्येति—मार्गस्थितस्येत्यर्थः । तदिति—उत्सूत्रभाषणम् । तीर्थोच्छेदाभिप्रायमूलत्वादिति—तीर्थधरसविषयकेच्छामूलकत्वादिति भावः । यथाछन्दादिष्वव्यवच्छेदस्य कर्तुमशक्यत्वादिति—यथाछन्देष्वपि साधुलिङ्गस्य सत्त्वात् तीर्थोच्छेदाभिप्रायमूलत्वादिति—तीर्थधरसविषयकेच्छामूलकत्वादिति भावः । ८ तस्मिंश्च सतीति—तादृशतात्पर्यग्रहे च सति । तत्सिद्धिरिति—तन्नियमसिद्धिः ।

[नियतोत्सूत्रनिमित्ता संसारानन्तता न सूत्रोक्ता अध्यवसायोऽनुगतो भिन्न एव कारणं तस्याः ॥६॥]

णियउस्सुत्तत्ति । नियतोत्सूत्रं निमित्तं यस्यां सा तथा, संसारानन्तता न सूत्रोक्ता, नियतोत्सूत्रं विनाऽपि मैथुनप्रतिसेवाद्युन्मार्गसमाचरण—तद्वन्दनादिनाऽप्यनन्तसंसारार्जनेन व्यभिचारात्। न चोत्सूत्रभाषणजन्येऽनन्तसंसारार्जने नियतोत्सूत्रभाषणस्यैव हेतुत्वान्न दोषः, तादृशकार्यकारणभावबोधकनियतसूत्रानुपलम्भात्।'उस्सुत्तभासगाणं, बोहीणासो अणंतसंसारो'(उत्सूत्रभाषकाणां बोधिनाशोऽनन्तसंसारः॥) इत्यादिवचनाना सामान्यत एव कार्यकारणभावावगमकत्वात्। उत्तरकाल तत्र नियतत्वाख्यो विशेषः कल्प्यते इति चेद्, नैतदेवम्, तथा सति यथाच्छन्दस्य कस्याप्यनन्तसंसारानुपपत्तिप्रसक्तेः, तस्य स्वदभिप्रायेणापरापरभावेन गृहीतमुक्तोत्सूत्रस्य नियतोत्सूत्रभाषित्वाभावात् । तथा च—"सव्वपवयणसारं, मूलं संसारदुक्खमुक्खस्स । सम्मत्तं मइलित्ता, ते दुग्गइवड्ढया हुंति ॥ १ ॥" (सर्वप्रवचनसारं मूलं संसारदुःखमोक्षस्य । सम्यक्त्वं मलिनयित्वा ते दुर्गतिवर्द्धका भवन्ति ॥१॥) इत्यादि भाष्यवचनविरोधः । अथ यथाच्छन्दस्यापि यस्यानन्तसंसारार्जनं तस्य क्लिष्टाध्यवसायविशेषादेव, उन्मार्गपतितस्य निह्नवस्य तु नियतोत्सूत्रभाषणादेवेति न दोष इति चेद्। न, एवं सत्यनियतहेतुकत्वप्रसङ्गाद्।"अनियतहेतुकत्वं अहेतुकत्वं नाम" इति व्यक्तमाकरे । तथा च निष्प्रतिपक्ष उन्मार्गस्थोऽनन्तसंसारी, नियतोत्सूत्रभाषित्वाद्, इत्यत्राप्रयोजकत्वम्। किं तर्हि अनन्तसंसारितायामनुगतं नियामकमित्यत आह—तस्याः संसारानन्ततायाः, कारणं भिन्न एवानुगतोऽध्यवसायस्तीव्रत्वसंज्ञितः, केवलिना निश्चीयमानोऽस्तीति गम्यम्। एतस्य संग्रहादेशात्स्वातंत्र्येणैव तस्यामनुगत हेतुत्वम्, व्यवहारादेशाच्च क्रियाविशेषे सहकारित्व घटकत्वं वा । अत एव मात्रानुगततीव्राध्यवसायसहकृतायास्तत्प्रविकाया वा पापक्रियाया अनन्तसंसारहेतुत्वव्यवहारात् । स च तीव्राध्यवसाय आभोगवतामनाभोगवता वा आगमसालिन्य-

निमित्तप्रवृत्तिमतां रौद्रानुबन्धानां स्याद्, अनाभोगेनापि शासनमालिन्यप्रवृत्तौ महामिथ्यात्वार्जनोपदेशात्। तदुक्तमष्टकप्रकरणे–" यः शासनस्य मालिन्ये–ऽनाभोगेनापि वर्तते। स तन्मिथ्यात्वहेतुत्वा–दन्येषां प्राणिनां ध्रुवम् ॥१॥ बध्नात्यपि तदेवालं, परं संसारकारणम्। विपाकदारुणं घोरं, सर्वानर्थनिबन्धनम्॥२॥"(२३अ०)शासनमालिन्यनिमित्तप्रवृत्तिश्च निह्नवानामिव यथाछन्दादीनामप्यविशिष्टेति कोऽयं पक्षपातः? यदुत निह्नवानामनन्तसंसारनियम एव, यथाछन्दादीनां त्वनियम इति। अनाभोगेनापि विषयविशेषद्रोहस्य विषमविपाकहेतुत्वाद्, अनियतोत्सूत्रभाषणस्य निःशङ्कताऽभिव्यञ्जकतया सुतरां तथाभावात्। यथा ह्याभोगेनोत्सूत्रभाषिणा रागद्वेषोत्कर्षादतिसंक्लेशस्तथाऽनाभोगेनोत्सूत्रभाषिणामप्यप्रज्ञापनीयानां मोहोत्कर्षादयं भवन्ननिवारित एव। अत एव तेषां भावशुद्धिरप्यप्रमाणम्, मार्गाननुसारित्वात्। तदुक्तमष्टकप्रकरणे–"भावशुद्धिरपि ज्ञेया, यैषा मार्गानुसारिणी। प्रज्ञापनाप्रियाऽत्यर्थं, न पुनः स्वाग्रहात्मिका ॥ १ ॥ रागो द्वेषश्च मोहश्च, भावमालिन्यहेतवः। एतदुत्कर्षतो ज्ञेयो, हन्तोत्कर्षोऽस्य तत्त्वतः ॥२॥ तथोत्कृष्टे च सत्यस्मिन्, शुद्धिर्वै शब्दमात्रकम्। स्वबुद्धिकल्पनाशिल्प–निर्मितं नार्थवद् भवेद्॥३॥(२२अ०)इति" किं च–पार्श्वस्थादीनां नियतोत्सूत्रमप्युद्युक्तविहारिणामपवादलक्षणं द्वितीयबालतानियामकमस्त्येव। यदाचारसूत्रम्–"सीलमंता उवसंता संखाए रीयमाणा असीला अणुवयमाणस्स बितिया मन्दस्स बालया ॥ णिअट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खति नाणभट्ठा दंसणलूसिणोत्ति" एतद्वृत्तिर्यथा— शीलमष्टादशशीलाङ्गसहस्रसंख्यम्, यदि वा महाव्रतसमाधानं पञ्चेन्द्रियजयः कषायनिग्रहस्त्रिगुप्तिगुप्तता चेत्येतच्छीलं विद्यते येषां ते **शीलवन्तः** । **तथोपशान्ताः**, कषायोपशमाद्। अत्र शीलवद्ग्रहणेनैव गतार्थत्वात् 'उपशान्ताः' इत्येद्विशेषणं कषायनिग्रहप्राधान्यख्यापनार्थम्। सम्यक् ख्याप्यते प्रकाश्यतेऽनयेति **संख्या**–प्रज्ञा तया **रीयमाणाः**

संयमानुष्ठानेन पराक्रममाणाः कस्यचिद्विश्रान्तभागधेयतया ' अशीला एते ' इत्येवमनुवदतो अनु पश्चाद् वदतः पृष्ठतोऽपवदतः, अन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना कुशीलाः इत्येवमुक्तेऽनुवदतः पार्श्वस्थादेर्द्वितीयैषा मन्दस्याज्ञस्य बालता–मूर्खता। एकं तावत्स्वतश्चारित्रापगमः, पुनरपरानुद्युक्तविहारिणोऽपवदतीत्येषा द्वितीया बालता। यदि वा शीलवन्त एते, उपशान्ता वा ' इत्येवमन्येनाभिहिते 'क्वैषा प्रचुरोपकरणाना शीलवत्तोपशान्तता वा' इत्येवमनुवदतो हीनाचारस्य द्वितीया बालता भवतीति। अपरे तु वीर्यान्तरायोदयात्स्वतोऽवसीदन्तोऽप्यपरसाधुप्रशंसान्विता यथावस्थितमाचारगोचरमावेदयेयुरिति, एतद्दर्शयितुमाह–णिअट्टमाणा इत्यादि। एके कर्मोदयात्संयमान्निवर्तमाना लिङ्गाद्वा वाशब्दादनिवर्तमाना वा यथावस्थितमाचारगोचरमाचक्षते। 'वय तु कर्तुमसहिष्णवः, आचारस्त्वेवम्भूतः इत्येव वदतां तेषा द्वितीयबालता न भवत्येव। न पुनर्वदन्ति एवंभूत एव आचारो योऽस्माभिरनुष्ठीयते, साम्प्रतं दुःषमानुभावेन बलाद्यपगमान्मध्यमभूतैव वर्तिनी श्रेयसी नोत्सर्गावसर इति। उक्तं हि—"नात्यायतं न शिथिलं, यथा युञ्जीत सारथिः। तथा भद्रं वहन्त्यश्वा योगः सर्वत्र पूजितः ॥ १ ॥" अपि च—"जो जत्थ होइ भग्गो, ओगासं सो पर अविन्दतो। गंतुं तत्थ वयंतो, इमं पहाणति घोसेइ ॥२॥" इत्यादि (यो यत्र भवति भग्नोऽवकाश स परमविन्दमानः। गन्तु तत्र व्रजन् इदं प्रधानमिति घोषयति ॥) किंभूताः पुनः ? एतदेव समर्थयेयुरित्याह–नाणभट्ठा। सदसद्विवेको ज्ञान तस्माद्भ्रष्टा ज्ञानभ्रष्टाः। तथा दंसणलूसिणोत्ति। सम्यग्दर्शनविध्वंसिनोऽसदनुष्ठानेन स्वतो विनष्टाः, अपरानपि शङ्कोत्पादनेन सन्मार्गाच्च्यावयन्तीति ॥ तथा च संविग्नपाक्षिकातिरिक्तस्य पार्श्वस्थादेरपि द्वितीयबालतानियामकनियतोत्सूत्रसद्भावात्, तस्यानन्तसंसारानियमाभिन्नहवस्यापि तदनियम एव, भवभेदस्य भावभेदनियतत्वादिति प्रतिपत्तव्यम् ॥ ६ ॥

टि० सामान्यत एवेति-अनन्तसमारत्वोत्सूत्रभापणत्वसामान्ययोरेवेति, अत्र चैवकारेण विशेषकार्यकारणभावस्य व्यवच्छेदादिति भाव । तत्रेति-उत्सूत्र-
भापणे। अनियतहेतुकत्वप्रसङ्गादिति-उपलक्षण तेनानन्तससारत्वस्य कार्यमात्रवृत्तिजातितया तस्य कार्यतावच्छेदकत्वनियमेन "यद्विशेपयोः कार्यकारणभाव
तत्सामान्ययोरपि" इति न्यायात् तदवच्छिन्न प्रति कस्यचिदेकस्य कारणत्वकल्पनस्यावश्यकत्वादित्यर्थः । अप्रयोजकत्वमिति-नियतोत्सूत्रभापित्वमस्तु
अनन्तससारित्व तु मास्तु इति विपक्षे बाधकरूपप्रयोजकाभावात् ॥ न च निरुपाधित्वमेवप्रयोजकत्वमस्त्विति वाच्यम्, अध्यवसायविशेषस्यैवो-
पाधित्वात् । नियामक-कारणम् । ननु तीव्राध्यवसायसहकृतायास्तत्पूर्विकाया वा पापक्रियाया अनन्तससारहेतुत्वमुक्त, तन्नासत्, उभयपक्षेपि तादृशाध्य
वसायसहकृतपापक्रियाया पापक्रियासहकृततादृशाध्यवसायस्य वा तादृशाध्यवसायपूर्विकाया पापक्रियाया पापक्रियापूर्वकतादृशाध्यवसायस्य वा इत्यत्र
विनिगमनाविरहेण गुरुभूतद्वयहेतुत्वस्वीकारेण गौरवात् । इति चेन्न, वाकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थकस्वीकारेण तादृशाध्यवसायस्य पापक्रियायाश्च स्वातन्त्र्येणैव
हेतुत्वस्वीकारात् । ननु स तीव्राध्यवसाय केपा भवतीत्याह स चेति-शासनेत्यादीति-शासनस्य—जिनप्रवचनस्य मालिन्य लोकविरुद्धाचरणेनोपघात
तस्य निमित्तभूता या प्रवृत्ति सा च येपामस्ति तेपा। अनाभोगेनापि किंपुनराभोगेनेत्यर्थं । शासनमालिन्यप्रवृत्तौ-शासनमालिन्यप्रवृत्तिनिमित्तेति
महामिथ्यात्वार्जनेति-महामिथ्यात्वप्रासिरिति । तथा च शासनमालिन्यप्रवृत्तेर्महामिथ्यात्वहेतुत्वादिति भाव । उक्तार्थे पूर्वाचार्यसमतिमाह-तदुक्तमि-
त्यादिना-य इति-अयभाव -य कोपि श्रमणादि शासनस्य जिनप्रवचनस्य मालिन्ये लोकविरुद्धाचरणेनोपघातेऽनाभोगेनापि-अज्ञानेनापि किं पुनरा-
भोगेन वर्त्तते व्याप्रियते स पूर्वोक्त प्राणी तेन जिनशासनमालिन्येन करणभूतेन मिथ्यात्वहेतु-विपरितबोधजनक इति तन्मिथ्यात्वहेतु तस्य तत्वम्।
अथवा तस्मिन् जिनशासनविषयकमिथ्यात्वहेतुत्व मिथ्यात्वभावजनकत्व, तस्मात् तन्मिथ्यात्वहेतुत्वात्, केपा अन्येपां स्वात्मव्यतिरिक्ताना—ये हि
तस्यासदाचारेण परमपवित्र जिनशासन हीलयन्ति तेपाम्, प्राणिना जीवाना, ध्रुव अवश्यतया, बध्नात्यपि स्वात्मप्रदेशेपु सम्बन्धयत्यपि, न केवल
तेपा तज्जनयति तदेव मिथ्यात्वमोहनीय कर्मैव यदन्यप्राणिना जनित न त्वन्यच्छुभ कर्मान्तरम् । अल अत्यर्थं निकाचनादिरूपेण, पर ससारकारण
भवहेतु, विपाकदारुण विपाके विपाकविपये दारुण तीव्ररस, घोरं भयानक नाममात्रेणापि दुःखदायक, सर्वानर्थनिबन्धन निखिलप्रत्यूहजनक, सर्वान-
र्थविवर्धनमिति पाठे तु सर्वं प्रत्यूह विशेषेण वर्धयति निखिलप्रत्यूहाना परम्पराजनकमिति यावत्। ननु मिथ्यात्वप्रकृतेरेव मिथ्यात्वहेतुकत्वाद् सम्यग्दृष्टि

कथं मिथ्यात्वं बध्नाति ?, अत्रोच्यते, शासनमालिन्योत्पादनावसरे मिथ्यात्वोदयाग्निमिथ्यात्वरहितस्यासावतो मिथ्यात्वबन्ध इति । अभिन्त्यअकृतया-उत्पाद-कतया । तथाभावात् विषमविपाकहेतुत्वात् । अयमिति अतिसंक्लेश , अनिवारित एव-निवारयितुमशक्य एव । अत एव-मोहोत्कर्षादेव । उक्तार्थे पूर्वाचार्यसम्मतिमाह भावशुद्धीत्यादिना-अर्थस्त्वेव, भावशुद्धि मनसोऽसंक्लिश्यमानता या परैर्विरुद्धदानादौ धर्मव्याघातपरिहारनिबन्धनतया कल्पिता साऽपि न केवलं धर्मव्याघात एव ज्ञेय इति अपि शब्दार्थ , ज्ञेया ज्ञातव्या, या वक्ष्यमाणस्वरूपा नाम्ना, तामेवाह; मार्गं जिनोक्तं ज्ञानादिकं मोक्षपथमनुसरत्यनुगच्छत्येवं शीला मार्गानुसारिणी, अथ परो ब्रूयात्, सैषा ममेत्याह, प्रज्ञापना आगमार्थोपदेशन सा प्रिया वल्लभा यस्यां भावशुद्धौ सा प्रज्ञापनाप्रिया, अत्यर्थं अतिशयेन, उक्तस्यैवार्थस्य व्यतिरेकमाह, न नैव, पुनःशब्द पूर्वोक्तार्थापेक्षया प्रकृतार्थस्य विलक्षणताप्रतिपादनार्थं स्व., स्वकीयो न तु शास्त्रीय , स चासावाग्रहश्चार्थाभिनिवेश स्वाग्रह स एवात्मा स्वभावो यस्या सा स्वाग्रहात्मिकेति ॥१॥ अथ कस्मात् स्वाग्रहात्मिकापि भावशुद्धिर्न भवतीति ?, अत्रोच्यते, भावशुद्धिविपर्ययभूतभावमालिन्यरूपत्वात् स्वाग्रहस्येत्येतदेव दर्शयन्नाह, रागेत्यादिना-रागोऽभिष्वङ्गलक्षण', द्वेषोऽप्रीतिरूप , मोहश्च अज्ञानलक्षणश्च, चशब्दौ समुच्चयार्थौ, एते त्रयोऽपि भावमालिन्यहेतव आत्मपरिणामाशुद्धिनिबन्धनानि स्वाग्रहादिभावकारणानीति गर्भः, एतेषां रागादीनां, उत्कर्ष उपचय इति एतदुत्कर्ष., तस्माद् एतदुत्कर्षत , ज्ञेयो ज्ञातव्य , हन्त इति प्रत्यवधारणार्थ. कोमलामन्त्रणार्थो वा, उत्कर्ष उपचय., कस्येत्याह, भावमालिन्यस्य स्वाग्रहादिरूपस्य; तत्त्वत परमार्थवृत्त्येति ॥२॥ तत किमित्याह । तथा तेन प्रकारेण रागाद्युत्कर्षलक्षणेन, उत्कृष्टे उत्कटे, चशब्द. पुनरर्थ , सति भवति, अस्मिन् रागादिहेतुके स्वाग्रहादिरूपे भावमालिन्ये, शुद्धि' शुद्धत्वम्, भावस्येति गम्यते, वैशब्दो वाक्यालङ्कारार्थ , शब्द एवाभिधानमेव शब्दमात्र, तदेव कुत्सितमेव शब्दमात्रक निरभिधेयमित्यर्थ , मालिन्योत्कर्षे सति नास्ति भावशुद्धिर्मालिन्यस्य तद्विरुद्धरूपत्वादग्निसद्भावे शीतवदिति भावना । अथ मालिन्ये सत्यपि शुद्धिरिष्यते तत कथं शब्दमात्रत्वमस्या इत्यत्राह, स्वबुद्ध्या प्रमाणापरतन्त्रया मत्या, कल्पना क्लृप्ति , सैव शिल्प चित्रादिकौशल, तेन निर्मितं विरचित, स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मित, यच्छब्दरूप तदिति गम्यम्, न नैव, अर्थवत् साभिधेयम्, भवेत् जायेतेति । अपवादलक्षणमिति-अपवदतीत्येवस्वरूपम् । संविग्नपाक्षिकातिरिक्तस्येति विशेषणस्य स्वरूपोपधायकत्वम् । नियामकेति द्वितीयबालतानियतोत्सूत्रमद्भावात्, तस्य-तादृशपार्श्वस्थादेः, तदनियम एव अनन्तससारस्य नियमाभाव एव, अविशेषादिति शेष । भवभेदस्य सख्यासंख्यानन्तभवविशेषस्य । भावभेदनियतत्वात्-अध्यवसायविशेषव्याप्यत्वात् ॥ ६ ॥

ननु कर्म तावदुत्कर्षतोऽप्यसङ्ख्येयकालस्थितिकमेव बध्यते, तत्कथं तीव्राध्यवसायवतामप्युत्सूत्रभाषिणामनन्तसंसारित्वं स्याद्? इत्याशङ्कायामाह—

कम्मं बन्धइ पावं, जो खलु अणुवरयतिव्वपरिणामो । असुहाणुबन्धजोगा, अणंतसंसारिआ तस्स ॥७॥

[कर्म बध्नाति पाप यो खल्वनुपरततीव्रपरिणामः। अशुभानुबन्धयोगादनन्तसंसारिता तस्य ॥७॥]

कम्मंति । कर्म बन्धाति पापं यः खल्वनुपरततीव्रपरिणामः–अविच्छिन्नतथाविधसङ्क्लिष्टाध्यवसायः स्वेच्छानुरोधाभिनिविष्टतया नियताशुभप्रवृत्तो वाऽनियताशुभप्रवृत्तो वा नियतोत्सूत्रभाषी वाऽनियतोत्सूत्रभाषी वाऽप्राप्तानुशयः,तस्याशुभानां ज्ञानावरणीयादिपापप्रकृतीना,अनुबन्धस्य उत्तरोत्तरवृद्धिरूपस्य बध्यमानप्रकृतिषु तज्जननशक्तिरूपस्य वा योगात्सम्बन्धादनन्तसंसारिता भवति। ग्रन्थिभेदात्प्रागप्यनन्तसंसारार्जनेऽशुभानुबन्धस्यैव हेतुत्वात्प्राप्तसम्यग्दर्शनानामपि प्रतिपातेन तत एवानन्तसंसारसंभवात् । तदुक्तमुपदेशपदे "गंठीइ(ओ)आरओ वि हु, असई बंधो ण अन्नहा होइ। ता एसो वि हु एवं,णेओ असुहाणुबन्धो त्ति॥१॥"(ग्रन्थेरारतोऽपि खलु असकृद् बन्धो नान्यथा भवति। तत् एपोऽपि खल्वेवं ज्ञेयोऽशुभानुबन्ध इति ॥) ततश्च बन्धमात्रान्नानन्तसंसारिता, किन्त्वनुबन्धादिति स्थितम्। अत एवाभोगादनाभोगाद्वोत्सूत्रभाषिणामपीह जन्मनि जन्मान्तरे वाऽऽलोचितप्रतिक्रान्ततत्पातकानामनुबन्धविच्छेदान्नानन्तसंसारिता, केवलमनन्तभववेद्यनिरुपक्रमकर्मबन्धे तन्निःशेषतां यावत्प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरेव न स्याद्, अध्यवसायविशेषाद् । नियतोपक्रमणीयस्वभावकर्मबन्धे चेह जन्मनि जन्मान्तरे वा प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः स्यात् । अत एव जमालिशिष्यादीनां भगवत्समीपमुपगतानां तद्भव एवोत्सूत्रभाषणप्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः । कालीप्रभृतीनां च " तस्स ठाणस्स अणालोइअअपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा० " [तस्य

स्थानस्थानालोचिताप्रतिक्रान्ता कालमासे कालं कृत्वा० ।] इत्यादिवचनात् तद्भावानालोचितपार्श्वस्थत्वादिनिमित्तपापाना भवान्तर एव प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः। "कालीणं भंते! देवी ताओ देवलोगाओ अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छिहिति? कहिं उववज्जिहिति? । गोयमा! महाविदेहवासे सिज्झिहिति ॥" [काली भगवन् देवी तस्माद्देवलोकादनन्तरमुद्वृत्य कस्यां (गतौ) गमिष्यति, कस्यामुत्पत्स्यते ? । गौतम! महाविदेहवर्षे सेत्स्यतीति ॥] इत्यादिवचनात्तासां भवान्तर एव पूर्वभवाचीर्णपार्श्वस्थत्वादिजातपापकर्मप्रायश्चित्तभणनात् ।"सव्वा वि हु पव्वज्जा पायच्छित्तं भवंतरकडाणं पावाणं कम्माणं" [सर्वाऽपि खलु प्रव्रज्या प्रायश्चित्तं भवान्तरकृतानां पापानां कर्मणाम् ।] इत्यादिपूर्वाचार्यवचनात्प्रव्रज्याया एव भवान्तरकृतकर्मप्रायश्चित्तरूपत्वाद् । एतेन 'कृतस्य पापस्य प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिस्तस्मिन्नेव भवे भवति न पुनः जन्मान्तरेऽपि ' इति वदन् तत्र " जावाउ सावसेसं " इत्यादिसम्मतिमुद्भावयन् व्यक्तामसंलग्नकतामनवगच्छन्निरस्तो बोध्यः । अथ पूर्वभवकृतपापपरिज्ञानाभावात्कुतस्तदालोचनम् ? कुतस्तरां च तत्प्रायश्चित्तम् ? इति चेत् , न, एतद्भवकृतानामपि विस्मृतानामिव पूर्वभवकृतानामपि पापानां सामान्यज्ञानेनालोचनप्रायश्चित्तसम्भवात्, अत एव मिथ्यात्वहिंसादेः पारभविकस्यापि निन्दागर्हादिकम् ।" इहभवियमन्नभवियं, मिच्छत्तपवत्तणं जमहिगरणं । जिणपवयणपडिकुट्ठं, दुट्ठं गरिहामि तं पावं ॥१॥" [इहभविकमन्यभविकं मिथ्यात्वप्रवर्तनं यदधिकरणम् । जिनप्रवचनप्रतिकुष्टं दुष्टं गर्हे तत्पापम् ॥] " इह भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु पाणाइवाओ कओ वा काराविओ वा कीरंतो वा परेहिं समणुण्णाओ तं निंदामि गरिहामि " [इह भवे अन्येषु वा भवग्रहणेषु प्राणातिपातः कृतो वा कारितो वा क्रियमाणो वा परैः समनुज्ञातस्तं निन्दामि गर्हे ।] इत्यादि चतुःशरणप्रकीर्णकपाक्षिकसूत्रादावुक्तम्। पापप्रतिघातगुणबीजाधानसूत्रे हरिभद्रसूरिभिरप्येतद्भवसम्बन्धि भवान्तरसम्बन्धि वा पापं यत्तत्पदाभ्यां परामृश्य

मिथ्यादुष्कृतप्रायश्चित्तेन विशोधनीयमित्युक्तम्। तथाहि–"सरणमुवगओ अ एएसिं गरिहामि दुक्कडं। जण्णं अरहंतेसु वा सिद्धेसु वा आयरिएसु वा उवज्झाएसु वा साहूसु वा साहुणीसु वा अन्नेसु वा धम्मट्ठाणेसु माणणिज्जेसु पूअणिज्जेसु तहा माईसु वा पिईसु वा बन्धूसु वा मित्तेसु वा उवयारिसु वा ओहेण वा जीवेसु मग्गट्ठिएसु वा अमग्गट्ठिएसु वा मग्गसाहणेसु वा अमग्गसाहणेसु वा जं किंचि वितहमायरिअं अणायरिअव्वं अणिच्छिअव्वं पावं पावाणुबंधि सुहुमं वा बायरं वा मणेणं वा वायाए वा काएणं वा कयं वा काराविअं वा अणुमोइअं वा रागेण वा दोसेण वा मोहेण वा इत्थं वा जम्मे जम्मन्तरेसु वा गरहियमेयं दुक्कडमेयं उज्झियव्वमेअं वियाणिअं मए कल्लाणमित्त-गुरुभगवंतवयणाओ एवमेअंति रोइअं सद्धाए अरहंतसिद्धसमक्खं गरहामि अहमिणं दुक्कडमेअं उज्झियव्वमेअं इत्थ मिच्छामि दुक्कडं ३।"एतद्व्याख्या–यथा चतुःशरणगमनान्तरं दुष्कृतगर्होक्ता,तामाह–शरणमुपगतश्च सन्नेतेषामर्हदादीनां गर्हे दुष्कृतम्। किंविशिष्टम्? इत्याह–जण्णं अरहंतेसु वा इत्यादि। अर्हदादिविषयमोघेन वा जीवेषु मार्गस्थितेषु–सम्यग्दर्शनादियुक्तेषु, अमार्गस्थितेषु–एतद्विपरीतेषु, मार्गसाधनेषु–पुस्तकादिषु, अमार्गसाधनेषु–खड्गादिषु, यत्किंचिद्वितथमाचरितम्–अविधि-परिभोगादि, अनाचरितव्यं क्रियया, अनेष्टव्यं मनसा, पापम् पापकारणत्वेन, पापानुबन्धि तथाविपाकभावेन, गर्हितमेतद् कुत्साऽऽस्पदम्, दुष्कृतमेतद् धर्मबाह्यत्वेन, उज्झितव्यमेतद् हेयतया, विज्ञातं मया कल्याणमित्रगुरुभगवद्वचनाद्, एवमेतद् इति रोचितं श्रद्धया–तथाविधक्षयोपशमजया, अर्हत्सिद्धसमक्षं गर्हे, कथम्? इत्याह–दुष्कृतमेतद्, उज्झितव्यमेतद्। अत्र व्यतिकरे 'मिच्छामिदुक्कडं' वारत्रयं पाठः। अथ हिंसादिकस्य पापस्य पारभविकस्यापि प्रायश्चित्तप्रति-पत्तिः स्यात्, न तूत्सूत्रभाषणजनितस्य उत्सूत्रभाषिणो निह्नवस्य क्रियाबलाद्देवकिल्बिषिकत्वप्राप्तावपि तत्र निजकृतपापपरिज्ञानाभावेन

दुर्लभबोधित्वभणनात्। यदागमः-लद्धूण वि देवत्तं, उववन्नो देवकिब्बिसे। तत्थवि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं ॥१॥ तत्तो वि से चइत्ता ण, लब्भिही एलमूअगं। णरगं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥२॥ एतद्वृत्तिर्यथा-लद्धूण विति। लब्ध्वाऽपि देवत्वं तथाविधक्रियापालनवशेनोपपन्नो देवकिल्बिषनिकाये, तत्राप्यसौ न जानाति विशुद्धावध्यभावात्, किं मम कृत्वेदं फलं किल्बिषिकदेवत्वमिति। अस्य दोषान्तरमाह-तत्तो विति। ततोऽपि देवलोकादसौ च्युत्वा, लप्स्यते एडमूकताम्-अजभाषानुकारिमनुष्यत्वम्, तथा नरकं तिर्यग्योनिं वा पारम्पर्येण लप्स्यते। बोधिर्यत्र सुदुर्लभा-सकलसम्पत्तिनिबन्धना यत्र जिनधर्मप्राप्तिर्दुरापा। इह 'प्राप्नोत्येडमूकताम्' इति वाच्ये असकृद्दूरप्राप्तिख्यापनार्थं 'लप्स्यते' इति भविष्यत्कालनिर्देश इति चेत्, मैवम्, न हि तत्र निह्नव एवाधिकृतः किन्तु तपःस्तेनादिः "तवतेणे वयतेणे" इत्यादिपूर्वगाथैकवाक्यत्वात् तस्याप्युत्कृष्टफलप्रदर्शनमेतत्, न तु सर्वत्र सादृश्यनियमः, अध्यवसायवैचित्र्यात्। किं चैवम्—"इय से परस्स अट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण समूढे विप्परियासमुवेइ" [इति स परस्यार्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः तेन दुःखेन सम्मूढः विपर्यासमुपैति] इत्याचाराङ्गवचनात्क्रूराणि कर्माणि परस्यार्थाय कुर्वतो हिताहितबुद्ध्यादिविपर्यासवतो हिंसादिदोषस्यापि भवान्तरे प्रायश्चित्तानुपपत्तिरेव स्यात्। अथ सर्वस्यैव पापस्य प्रमादेन कृतस्य विपर्यासाधायकत्वाद्विपर्यासजलसिच्यमानानां क्लेशपादपानां चानुबन्धफलत्वाद् भवान्तरेऽपि तथाभव्यताविशेषात्कस्यचिद्विपर्यासनिवृत्त्यै वानुबन्धनिवृत्ते हिंसादिप्रायश्चित्तोपपत्तिरिति चेत्, तदिदमुत्सूत्रप्रायश्चित्तेऽपि तुल्यम्। न चैवमुत्सूत्रभाषिणामनन्तसंसारानियमनात्ततो भयानुपपत्तिरिति शङ्कनीयम्, एकान्ताभावेऽपि बाहुल्योक्तफलापेक्षया हिंसादेरिवोत्सूत्रादास्तिकस्य भयोपपत्तेः। आस्तिक्यं ह्यसत्प्रवृत्तिभयनिमित्त मितिदिग् ॥ ७ ॥

टि० तत्कथमिति–तस्मात्कथम् । तीव्राध्यवसायवतामपीति–अतीव्राध्यवसायवता तु न स्यादेवेत्यपिशब्दार्थ । स्वेच्छानुरोधादिति–उपरञ्जक तादृश-
सङ्क्लिष्टाध्यवसायवता तस्य नियमेन सत्त्वात् । बध्यमानप्रकृतिषु–बध्यमानकर्मपुद्गलविशेषेषु । तज्जननशक्तिरूपस्य–अनन्तसंसारजननशक्तिलक्षणस्य,
ग्रन्थिभेदादिति कर्मविशेषजनितो महानिनिडरागद्वेषपरिणाम कर्कशनिबिडचिरप्ररूढगुपिलवक्रग्रन्थिवद्दुर्भेद्योऽभिन्नपूर्वो ग्रन्थि, तस्य भेदो नाम समुल्लसि-
तप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरेण निशितकुठारधारयेव परमविशुद्धया समतिक्रमणम्, स च केनचिद् महानुभागेनासन्नपरमनिर्वृतिसुखेनैव कर्तुं शक्य इति तस्मात् ।
प्रागपि पूर्वकालेऽपि । प्रतिपातेन–नाशेन सम्यग्दर्शनस्येतिशेष । तत एवेति–क्लृप्तहेतुताकाशुभानुबन्धादेव । अनन्तसंसारसम्भवात्–अनन्तससा-
रप्राप्तिसम्भवात्, तथा च क्लृप्तकार्यकारणभावेन निर्वाहेऽन्यकार्यकारणभावकल्पनाया प्रमाणाभावाद्, गौरवाच्चेति भाव: । उक्तार्थे पूर्वाचार्यसम्मतिमाह–
गठीहत्ति–अस्यायमर्थ –ग्रन्थेरुक्तस्वरूपात्, आरतोऽपि–तस्मिन्नभिन्ने सति किं पुनर्भिन्नग्रन्थौ, अशुभानुबन्धतोऽनन्तससार इत्यपिशब्दार्थ, हु खलु
निश्चये, असकृद् अनन्तवारान्, बन्धो ज्ञानावरणादीना कर्मणा स्वीकार, न नैव, अन्यथाऽशुभानुबन्ध विना भवति, अनुरूपकारणप्रभवत्वात् सर्वका-
र्याणाम् । तत्–तस्मात्, एषोऽप्यसकृद्बन्ध, न केवल यतोऽसौ प्रवृत्त इत्यपि शब्दार्थ, हु स्फुटम्, एवमशुभानुबन्धमूलत्वेन ज्ञेयोऽशुभानुबन्ध
इति, कार्यकारणयोर्मृद्घटयोरिव कथञ्चिदभेदात् । तस्मात् कारणकृतस्य कार्यभूतस्य चाशुभानुबन्धस्य त्रोटने प्रयत्नो विधेय इति । अनुपदोक्तमेवार्थं
स्पष्टयति ततश्चेति–तस्माद्, बन्धमात्रात्–अशुभबन्धसामान्यात् । अनुबन्धादिति–अशुभानुबन्धात् । अत एव–अशुभानुबन्धादेवानन्तससारिता-
सिद्धे सत्येव, यावदिति–मर्यादायामिति, तथा च केवलमनन्तभववेद्यनिरूपक्रमकर्मबन्धे सति न तूपक्रमणीयस्वभावकर्मबन्धे सतीति केवल शब्दार्थ,
तच्छेषतापर्यन्त प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिविषयकाध्यवसाय एव न भवति । एतेन पूर्वाचार्यवचनेन । जावाउ इति, “जावाउ सावसेस, जाव य थेवो वि
अत्थि ववसाओ । ताव करिज्जप्पहियं, मा ससिराया व सोचिहिसि” ॥१॥ इति भगवद्धस्तदीक्षितधर्मदासगणिकृतोपदेशमालीयगाथाया “प्रमादो न
कार्य” इत्येवार्थे तात्पर्यमिति । न तु ‘इह भव एव प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिर्न तु भवान्तरे’ इत्यर्थे तात्पर्यमिति भाव ॥ व्यक्तामसलग्नकृतामिति–स्पष्टामसङ्ग-
तिम् । निरस्तो बोध्य इति, अयमाशय, अथ प्रमादो मा विधेय इत्यर्थे एव तात्पर्यम् न तु इहभवेत्याद्यर्थे इति कथ ज्ञातमिति चेद्, न, सव्वावि
हु पव्वजा इत्यादि पूर्वाचार्यवचनस्य इह भवेत्याद्यर्थे तात्पर्यत्वे बाधकत्वेन प्रमादो मा विधेय इत्यर्थे तात्पर्यत्वे बाधकाभावरूपाविनिगमकत्वेन निरस्त

इति । यदागमे–दशवैकालिकपञ्चमाध्ययनद्वितीयोद्देशके, तवतेणेत्ति—''तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे अ जे नरे । आयारभावतेणे अ, कुव्वइ देवकिब्बिसं ॥१॥' इति पूर्वगाथया मौकरावयरवात् न केवलं निह्नव एव अभिहितः, किन्तु तपस्तेनादीनामुत्कृष्टफलप्राप्तिप्रदर्शनपरमेव नदिति भाव । तपस्तेनादीनां स्वरूप त्वेव, तपस्तेनो नाम क्षपकरूपकल्प कश्चित् केनचित् पृष्टस्त्वमसौ क्षपक इति, स पूजाद्यर्थमाह–अहम्, अथवा वक्ति–साधव एव क्षपकाः, तूष्णीं वाऽऽस्ते, एव वाक्स्तेनो धर्मकथकादितुल्यरूप कश्चित् केनचित् पृष्ट इति, एव रूपस्तेनो–राजपुत्रादितुल्यरूप, एवमाचारस्तेनो विशिष्टाचारवत्तुल्यरूप इति, भावस्तेनस्तु परोत्प्रेक्षित कथञ्चित किञ्चित् श्रुत्वा स्वयमनुत्प्रेक्षितमपि मयैतत्प्रपञ्चेन चर्चितमित्याहेति । इति से परस्सेत्यादि आचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धद्वितीयाध्ययनतृतीयोद्देशके तत्र समूढेत्ति–रागद्वेषाभिभूतः कार्याकार्यपराङ्मुख ॥ एष मूढ इति ज्ञेयो विपरीतविधायकः ॥१॥

अनन्तसंसारिताऽशुभानुबन्धयोगादित्युक्तम्, अथाशुभानुबन्धस्य किं मूलम्? के च तद्भेदाः? इत्याह—

तम्मूलं मिच्छत्तं, आभिग्गहिआइ तं च पंचविहं। भव्वाणमभव्वाणं, आभिग्गहिअं व णाभोगो ॥८॥

[तन्मूलं मिथ्यात्वमाभिग्रहिकादि तच्च पञ्चविधम् । भव्यानाम्, अभव्यानामाभिग्रहिकं वाऽनाभोगः ॥ ८ ॥]

तम्मूलंति । तस्यानन्तसंसारहेत्वशुभानुबन्धस्य मूलं मिथ्यात्वम्, उत्कटहिंसादिदोषानामपि मिथ्यात्वसहकृतानामेव तद्धेतुत्वात्, अन्यथा दोषक्षयमृदुताऽनुपपत्तेः । तच्चाभिग्रहिकादिकं पञ्चविधम् आभिग्रहिकमनाभिग्रहिकमाभिनिवेशिकं सांशयिकमनाभोगं चेति पञ्चप्रकारम्। यद्यपि जीवादिपदार्थेषु तत्त्वमिति निश्चयात्मकस्य सम्यक्त्वस्य प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं द्विविधमेव पर्यवस्यति–जीवादयो न तत्त्वमिति विपर्यासात्मकं १॥ जीवादयस्तत्त्वमिति निश्चयाभावरूपानधिगमात्मकं च २॥ तदाह वाचकमुख्यः–“ अनधिगमविपर्ययौ च मिथ्यात्वम् ” इति, तथाऽपि ‘ धर्मेऽधर्मसंज्ञा ’ इत्येवमादयो दश भेदा इवोपाधिभेदादत्रैते भेदाः शास्त्रप्रसिद्धाः । तत्राभिग्रहिकम्–अनाकलिततत्त्वस्याप्रज्ञापनीयताप्रयोजकस्वस्वाभ्युपगतार्थश्रद्धानम्। यथा बौद्धा-

इत्यादीनां स्वस्वदर्शनप्रक्रियावादिनाम्। यद्यपि वैतण्डिको न किमपि दर्शनमभ्युपगच्छति, तथाऽपि तस्य स्वाभ्युपगतवितण्डावादार्थ एव निबिडाग्रहवत्त्वादाभिग्रहिकत्वमिति नाव्याप्तिः। अनाकलिततत्त्वस्य इति विशेषणाद् यो जैन एव धर्मवादेन परीक्षापूर्वं तत्त्वमाकलय्य स्वाभ्युपगतार्थं श्रद्धत्ते तत्र नातिव्याप्तिः। यस्तु नाम्ना जैनोऽपि स्वकुलाचारेणैवागमपरीक्षां बाधते तस्याभिग्रहिकत्वमेव, सम्यग्दृशोऽपरीक्षितपक्षपातित्वायोगात्। तदुक्तं हरिभद्रसूरिभिः। "पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ १ ॥" इति। यश्चागीतार्थो गीतार्थनिश्रितो माषतुषादिकल्पः प्रज्ञापाटवाभावादनाकलिततत्त्व एव स्वाभिगतार्थं जैनक्रियाकदम्बकरूपं श्रद्धत्ते तस्य स्वाभ्युपगतार्थश्रद्धानं नाप्रज्ञापनीयताप्रयोजकम् असद्ग्रहशक्त्यभावात्, किन्तु गुणवदाज्ञाप्रामाण्यमूलत्वेन गुणवत्पारतन्त्र्यप्रयोजकमित्यप्रज्ञापनीयताप्रयोजकत्वविशेषणान्न तत्रातिव्याप्तिः १ ॥ **स्वपराभ्युपगतार्थयोरविशेषेण श्रद्धानमनाभिग्रहिकम्।**" यथा सर्वाणि दर्शनानि शोभनानि इति प्रतिज्ञावतां मुग्धलोकानाम्। यद्यपि परमोपेक्षावता निश्चयपरिकर्मितमतीना सम्यग्दृष्टीना स्वस्वस्थाने सर्वनयश्रद्धानमस्ति, शिष्यमतिविस्फारणरूपकारणं विनैकतरनयार्थनिर्द्धारणस्याशास्त्रार्थत्वात्। तदाह **सम्मतौ सिद्धसेनः**—"णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वणया परवियालणे मोहा। ते पुण न दिट्ठसमयो विभयइ सच्चेव अलिए वा ॥ १ ॥" [निजकवचनीयसत्याः सर्वनयाः परविचालने मोहाः ॥ तान् पुन र्न दृष्टसमयः विभजति सत्यान्वाऽलीकान्वा] तथाऽपि स्वस्वस्थानविनियोगलक्षणेन विशेषेण तेषां सर्वनयश्रद्धानमस्तीति नातिव्याप्तिः २ ॥ "**विदुषोऽपि स्वरसवाहिभगवत्प्रणीतशास्त्रबाधितार्थश्रद्धानमाभिनिवेशिकम्।** रूक्षशास्त्रबाधितार्थश्रद्धानं विपर्यस्तशाक्यादेरपीति तत्रातिव्याप्तिवारणाय भगवत्प्रणीतत्वं शास्त्रविशेषणम्। भगवत्प्रणीतशास्त्रे बाधितार्थश्रद्धानमिति सप्तमीगर्भसमासान्नातिव्याप्तिः तादवस्थ्यम्, तथाऽ-

प्यनाभोगात्प्रज्ञापकदोषाद्वा वितथश्रद्धानवति सम्यग्दृष्टावतिव्याप्तिः, अनाभोगाद् गुरुनियोगाद्वा सम्यग्दृष्टेरपि वितथश्रद्धानभणनात् । तथा चोक्तमुत्तराध्ययननिर्युक्तौ–"सम्मद्दिट्ठी जीवो,उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ । सद्दहइ असब्भावं, अणाभोगा गुरुणिओगा वा॥१॥" [सम्यग्दृष्टिर्जीव उपदिष्टं प्रवचनं तु श्रद्धत्ते । श्रद्धत्ते असद्भावमनाभोगाद् गुरुनियोगाद्वा ॥] इति तद्वारणाय स्वरसवाहीति सम्यग्वक्तृवचनानिवर्त्तनीयत्व तदर्थः। अनाभोगादिजनितं मुग्धश्राद्धादीनां वितथश्रद्धानं तु सम्यग्वक्तृवचननिवर्त्तनीयमिति न दोषस्तथाऽपि जिनभद्रसिद्धसेनादिप्रावचनिकप्रधानविप्रतिपत्तिविषयपक्षद्वयान्यतरस्य वस्तुतः शास्त्रबाधितत्वात्तदन्यतरश्रद्धानवतोऽभिनिवेशित्वप्रसङ्ग इति तद्वारणार्थं विदुषोऽपीति--शास्त्रतात्पर्यबाधप्रतिसन्धानवत इत्यर्थः। सिद्धसेनादयश्च स्वस्वाभ्युपगतमर्थं शास्त्रतात्पर्यबाधं प्रतिसन्धायापि पक्षपातेन न प्रतिपन्नवन्तः, किन्त्वविच्छिन्नप्रावचनिकपरम्परया शास्त्रतात्पर्यमेव स्वाभ्युपगतार्थानुकूलत्वेन प्रतिसन्धायेति न तेऽभिनिवेशिनः। गोष्ठामाहिलादयस्तु शास्त्रतात्पर्यबाधं प्रतिसन्धायैवान्यथा श्रद्धत्ते इति न दोषः ३॥ भगवद्वचनप्रामाण्यसंशयप्रयुक्तः शास्त्रार्थसंशयः सांशयिकम् ॥ यथा सर्वाणि दर्शनानि प्रमाणं कानिचिद्वा, इदं भगवद्वचनं प्रमाणं नवेत्यादि संशयानां मिथ्यात्वप्रदेशोदयनिष्पन्नानां साधूनामपि सूक्ष्मार्थसंशयानां मिथ्यात्वभावो मा प्रासाङ्क्षीदिति भगवद्वचनप्रामाण्यसंशयप्रयुक्तत्वं विशेषणम् । ते च नैवंभूताः, किन्तु भगवद्वचनप्रामाण्यज्ञाननिवर्तनीयाः, सूक्ष्मार्थादिसंशये सति "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं" [तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितम् ।] इत्याद्यागमोदितभगवद्वचनप्रामाण्यपुरस्कारेण तद्विचारस्यैव साधुसाचारत्वात् । या तु शङ्का साधूनामपि स्वरसवाहितया न निवर्तते सा सांशयिकमिथ्यात्वरूपा सत्यनाचारपादिकैव । अत एव काङ्क्षामोहोदयादाकर्षप्रसिद्धिः ४॥ साक्षात्परम्परया च तत्त्वाप्रतिपत्तिरनाभोगम् ॥ यथैकेन्द्रियादीनां तत्त्वातत्त्वानध्यवसायवतां

बन्ध्यादीनां स्वस्वदर्शनप्रक्रियावादिनाम्। यद्यपि वैतण्डिको न किमपि दर्शनमभ्युपगच्छति, तथाऽपि तस्य स्वाभ्युपगतवितण्डावादार्थ

मुग्धलोकानां च। यद्यपि मापतुपादिकल्पानां साधूनामपि साक्षात्तत्त्वाप्रतिपत्तिरस्ति, तथाऽपि तेषां गीतार्थनिश्रितत्वात्तद्गततत्त्व-प्रतिपत्तिः परम्परया तेष्वपि सत्त्वान्न तत्रातिव्याप्तिः। तत्त्वाप्रतिपत्तिश्चात्र संशयनिश्चयसाधारणतत्त्वज्ञानसामान्याभाव इति न सांशयिकेऽतिव्याप्तिरिति दिक्। एतच्च पञ्चप्रकारमपि मिथ्यात्वं भव्यानां भवति। अभव्यानां त्वाभिग्रहिकमनाभोगो चेति द्वे एव मिथ्यात्वे स्याताम्, न त्वनाभिग्रहिकादीनि त्रीणि अनाभिग्रहिकस्य विच्छिन्नपक्षपाततया मलाल्पतानिमित्तकत्वाद्, आभिनिवेशिकस्य च व्यापन्नदर्शननियतत्वाद्, सांशयिकस्य च सकम्पप्रवृत्तिनिबन्धनत्वाद्, अभव्यानां च बाधितार्थे निष्कम्पमेव प्रवृत्तेः, अत एव भव्याभव्यत्वशङ्काऽपि तेषां निषिद्धा। तदुक्तमाचारटीकायाम्–"अभव्यस्य भव्याभव्यत्वशङ्काया अभावाद्" इति ॥ ८ ॥

(टि०) किं मूलमिति किं शब्दो जिज्ञासाया मूलं कारणम्, तथाचाशुभानुबन्धजनकतावच्छेदकावच्छिन्नं ज्ञानं जायतामित्याकारिका जिज्ञासा। के च तद्भेदा इति–अत्रापि किम् पूर्ववत्, तद्भेदा–अशुभानुबन्धजनकविशेषाः। तद्धेतुत्वात्–तादृशानुबन्धजनकत्वात्, अन्यथा–मिथ्यात्वस्य तादृशानुबन्धाजनकत्वे। दोषव्यामूढतानुपपत्तेरिति–दोषे दोषविषयका व्यामूढता–वि–विशेषेण आ समन्तात् मूढता पूर्ववर्णितलक्षणमूढस्वभावः तस्या अनुपपत्तिः अघटमानता तस्याः। तथा च बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानस्य प्रवृत्तिं प्रति प्रयोजकत्वेन उत्कटहिंसादिदोषे बलवदनिष्टानुबन्धित्वस्यैव सत्त्वात् विषयाभावात् न तादृशज्ञानं शक्यं मिथ्यात्वं विना, तादृशज्ञानं विना च तादृशहिंसादिदोषे प्रवृत्तिरेव न स्यादिति प्रवृत्तेरन्यथानुपपत्त्या मिथ्यात्वस्य तादृशानुबन्धं प्रति हेतुत्वस्यावश्यस्वीकार्यत्वादिति भावः। तादृशानुबन्धहेतुत्वस्य विभागमाह–तच्चेति मिथ्यात्वञ्च। पञ्चेति–पञ्चप्रकारा यस्य तद्। ननु विशेषधर्मप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापाररूपस्य विभागस्य विशेषधर्मजिज्ञासायां सत्यामेव सार्थकत्वम्, विशेषधर्मजिज्ञासा तु सामान्यधर्मज्ञाने सत्येव भवतीति मिथ्यात्वसामान्यधर्मज्ञाने सत्येव मिथ्यात्वविशेषे जिज्ञासा, इह च तत् सामान्यलक्षणस्यानुक्तत्वात् 'तच्च पञ्चप्रकारम्' इति विभागोऽनुपपन्न इत्याह–यद्यपि अनाकलिततत्त्वस्येति–अनाकलिततत्त्वसम्बन्धी षष्ठीविभक्तेः सम्बन्धसामान्ये शक्तत्वात्, सम्बन्धिनि लक्षणया बोधः तस्य श्रद्धानान्तपदार्थेन सहाभेदेनान्वयो निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदानान्वयबोधस्याव्युत्पन्नत्वात्। अत्र दृष्टान्तमाह यथा बौद्धसांख्यादीनामिति–आदिना वैशेषिकप्रभृतिपरिग्रहः।

ननु वैतण्डिकस्य स्वाभ्युपगतार्थश्रद्धानाभावेन तत्राव्याप्तिरित्याह-यद्यपि, स्वपक्षस्थापनाहीनकथा-वितण्डा सा अस्यास्तीति-वैतण्डिक । स्वाभ्युपगतवितण्डावादार्थ इति-स्वाङ्गीकृताया स्वपक्षस्थापनाहीनकथाया परपक्षदूषणमात्रपर्यवसानायामित्यर्थ । नाव्याप्तिरिति-न वैतण्डिकरूपे लक्ष्येऽवृत्तिरयमित्यर्थ । तत्र धर्मवादेन परीक्षापूर्वं तत्त्वमाकलय्य स्वाभ्युपगतार्थश्रद्धावति जैने । नातिव्याप्तिरिति-नालक्ष्यरूपे तादृशजैने वृत्तिरयम् तस्य श्रद्धानस्यानाकलिततत्त्वसम्बन्धित्वाभावादिति भाव । स्वकुलाचारेणवेति-न तु गीतार्थसमाचारेणेति-एवकारार्थ., तेन न 'ज च ण मुत्तेहिं विहिय' इत्यादिना विरोध इति भाव' । यद्यप्यत्र धर्मवादेन परीक्षापूर्वकाकलिततत्त्वस्याभ्युपगतार्थश्रद्धानवति जनेऽतिव्याप्तिवारण "अप्रज्ञापनीयताप्रयोजकम्," इत्येतद्विशेषणेनैव सभवतीति 'अनाकलिततत्त्वस्येति' विशेषणमनर्थक प्रतिभात्यापातदृशाम् तथापि धर्मवादपूर्विकायाः परीक्षाया एव तत्र प्रयोजकत्वमिति तत्राप्रज्ञापनीयताया प्रयोजकत्वाभावेन न तद्विशेषणमनर्थकमिति सम्यगालोचनीयम् । असद्ग्रहशक्त्यभावादिति-असद्ग्रहशक्तिनियतत्वादप्रज्ञापनीयताया इति भाव । णिययेत्यादिसम्मतिगाथाया अर्थस्त्वेवम् ॥ निजकवचनीये स्वविषये परिच्छेद्ये, सत्या सम्यग्ज्ञानरूपा, सर्वे एव नया सग्रहादय, तद्वति तदवगाहित्वात् । परविचालने परविषयोत्खनने, मोहा मुह्यन्तीति मोहा असमर्था , परविषयस्यापि सत्यत्वेनोन्मूलयितुमशक्यत्वात्, मिथो नान्तरीयकत्वात् । अत परविषयस्याभावे स्वविषयस्याप्यसत्त्वात् तत्प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमेवेत्यवधारयन् दृष्टसमयो ज्ञातानेकान्त पुनस्तान् नयान् न विभजते सत्यानलीकान् वा, किन्त्वितरनयविषयसव्यपेक्षया 'अस्त्येव द्रव्यार्थत ' इत्येव भजनया स्वनयाभिमेतमर्थं सत्यमेवावधारयति, यद् यत्र यदपेक्षयास्ति तस्य तत्र तदपेक्षया ग्राहकत्वेनैव नयप्रामाण्यात्। अत एव द्रव्यास्तिकादे प्रत्येकनित्यरूपतया सत्यम्, अनित्यरूपतया चासत्य । ननु यदि च सग्रहादे प्रत्येकं मिथ्यात्व तदा सिकतासमुदाये तैलवत् तत्समुदाये स्वस्वस्थानविनियोगलक्षणविशेषे सत्यपि सम्यक्त्व कथ स्यात् ? प्रत्येकमसत सगुदाये सत्त्वायोगात, इति चेत्, न, न ह्यत्र दलप्रचयलक्षण समुदाय उच्यते संग्रहादेर्दलत्वाभावात, इतरेतरविषयापरित्यागवृत्तीनां ज्ञानाना समुदायसभवात्, क्वचित् क्रमिकतत्समुदायस्याव्यापकत्वाच्च, किन्त्वितरनयविषयीकृतरूपाव्यवच्छेदकत्वम्, तदेव चान्योन्यनिश्रितत्व गीयते । इदमेव च प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तत्र सम्यक्त्वपद प्रवर्तते, तदिदमुक्तम्-तम्हा सव्वेवि णया मिच्छद्दिट्ठी सपक्खपडिबद्धा । अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ १ ॥ अस्यार्थ , यस्माद् एकान्तनित्यानित्यत्वाभ्युपगमे बन्धमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्ति , तस्माद् मिथ्यादृष्टय सर्वेऽपि नया स्वपक्षप्र-

तिवद्धा स्व आत्मीयः पक्षोऽभ्युपगम तेन प्रतिवद्धा प्रतिहता यतस्तत इति। नयज्ञानानां मिथ्यात्वे तद्विषयस्य तदभिधानस्य च मिथ्यात्वमेव। अथ प्रमाणार्थे , सर्वेनयवादा , मिथ्या., स्वपक्षेणैव प्रतिहतत्वात्, चौरवाक्यवत्। अथैवं तेषा प्रत्येक मिथ्यात्वे सर्वत्रापि सम्यक्त्वानुपपत्तिरित्याह–अन्योन्यनिश्रिता –परस्परविषयापरित्यागेन व्यवस्थिता , पुन ते एव सम्यक्त्वस्य यथावस्थितवस्तुप्रत्ययस्य सद्भावा भवन्तीति। किञ्च प्रत्येकमसत. समुदाये सत्त्वायोगादित्युक्त, तदपि नैकान्तम्, तथाहि–यथा बहुमूल्यान्यपि रत्नान्यसमुदितानि ' रत्नावली ' इति व्यपदेश न लभन्ते, समुदितानि तु तान्येव 'रत्नावली' इति व्यपदेश लभन्ते इति, तथा ते नया. स्वविषयपरिच्छेदकत्वेन सुनिश्चिता अपि, इतरनयनिरपेक्षा सम्यक्त्व न प्राप्नुवन्ति स्वस्वस्थानविनियोगलक्षणविशेषे सति अन्योन्यसापेक्षतया त एव सम्यक्त्व लभन्त इति न कोऽपि दोष । किञ्च तन्मतेऽपि द्वित्वादीना प्रत्येक पर्याप्तिसम्बन्धेनासत्त्वेऽपि समुदाये तेन सम्बन्धेन सत्त्वाङ्गीकारात्। न च जाते समवायेन एकव्यक्तिपर्याप्तत्वमुभयपर्याप्तत्व तथा द्वित्वादीनामपीति तेषा समवायातिरिक्ततत्सम्बन्धस्वीकारे प्रमाणाभाव इति वाच्य, एको द्वित्ववान् इति प्रत्ययवत् एको द्वौ इति प्रत्ययापत्तेः, एको न द्वित्ववान् इति प्रत्ययाभाववत् एको न द्वौ इति प्रत्ययस्याप्यभावप्रसङ्गाच्च । न चैकत्वादे न्यूनवृत्तितया द्वित्ववच्छेदानवच्छेदकत्वात् ' एको न द्वौ ' इति प्रतीतिर्न स्यादेवेति वाच्य, 'एको द्वित्ववान्' इति प्रतीते. सर्वानुभवसिद्धतया तद्बलाद् न्यूनवृत्त्येकत्वस्यापि, आधारतावच्छेदकत्वसभवात् । न हि कारणतावच्छेदकत्वादाविवाधिकरणतावच्छेदकत्वेऽपि अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्व नियामक, अन्यथा " पृथिवी द्रव्यत्ववती पृथिवी नीलरूपवती " इत्यादिप्रमाणप्रतीतीनामपलापप्रसङ्गात्, पृथिवीत्वस्य द्रव्यत्वाधिकरणतान्यूनवृत्तित्वात्, नीलरूपाधिकरणतातिरिक्तवृत्तित्वाच्च । तस्माद्विषयतावच्छेदकत्व इवाधिकरणतावच्छेदकत्वेऽप्यन्यूनातिरिक्तवृत्तित्व न नियामकम् । तस्मात् पर्याप्तिस्वीकार आवश्यक । तेनैकत्वविशिष्टे पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वाभावात्तेन सम्बन्धेन द्वित्ववच्छेदस्त्वाधेको द्वौ' इति प्रत्ययाभाव , एको न द्वाविति प्रत्ययश्चोपपद्यते इति भाव , आभिनिवेशिकस्य लक्षणमाह–विदुषोऽपीति–जानतोऽपीति तदर्थ , विपर्यस्तशाक्यादेरिति, विपर्यस्त –मिथ्यादृष्टि , एतद्विशेषण स्वरूपोपबोधकं न तु व्यवच्छेदकम् । न च व्यभिचारे एव विशेषणस्य सार्थकतेति वाच्यम्, अविदितस्वभावस्य भावस्य स्वभावाविर्भावनायापि विशेषणस्याभिमतत्वात् । ननु पूर्वोक्तमिथ्यादृष्टीना भगवच्छास्त्रेण बाधितार्थे श्रद्धानमस्तीत्यतिव्याप्तिस्तादवस्थ्यमित्याह–सप्तमीत्यादि, मलाल्पतानिमित्तकत्वादिति लघुकर्मकारणकत्वात् । व्यापन्नदर्शननियतत्वाद् प्राप्तविगतसम्यग्दर्शनव्याप्यत्वात् । सकम्पप्रवृत्तिनिबन्धनत्वादिति सभयप्रवृत्तिहेतुत्वादिति–बाधितार्थे इतिशेष । अत एव बाधितार्थे भयरहितप्रवृत्तित एव ॥ ८ ॥

नन्वभव्यानामन्तस्तत्त्वशून्यानामनाभोगः सार्वदिको भवतु, आभिग्रहिकं तु कथं स्याद्?, इति भ्रान्तस्याशङ्कामपाकर्तुमाभिग्रहिकभेदानुपदर्शयति—

णत्थि ण णिच्चो ण कुणइ, कय ण वेएइ णत्थि णिव्वाणं॥ णत्थि य मोक्खोवाओ, आभिग्गहिअस्स छ विअप्पा॥१॥

[नास्ति१ न नित्यो२ न करोति३ कृतं न वेदयति४ नास्ति निर्वाणं५। नास्ति च मोक्षोपाय६ आभिग्रहिकस्य षड् विकल्पाः ॥१॥]

णत्थित्ति। १ नास्त्येवात्मा, २ न नित्य आत्मा, ३ न कर्ता, ४ कृतं न वेदयति ५ नास्ति निर्वाणम्, ६ नास्ति मोक्षोपाय इत्याभिग्रहिकस्य चार्वाकादिदर्शनप्रवर्तकस्य परपक्षनिराकरणप्रवृत्तद्रव्यानुयोगसारसम्मत्यादिग्रन्थप्रसिद्धाः षड् विकल्पाः ते च सदा नास्तिक्यमयानामभव्यानां व्यक्ता एवेति कस्तेषामाभिग्रहिकसत्त्वे संशय इति भावः। इत्थं च—"लोइअमिच्छत्तं पुण, सरूवभेएण हुज्ज चउभेअं। अभिगहिअमणाभिगहिअं, अंसइअं तह अणाभोगं ॥१॥ तत्थ वि जमणाभोगं, अन्नत्तं सेसगाणि चत्ताणि। चत्तारि वि जं णियमा, सन्नीणं हुंति भव्वाणं ॥ २ ॥"[लौकिकमिथ्यात्वं पुनः स्वरूपभेदेन भवेच्चतुर्भेदम्। आभिग्रहिकमनाभिग्रहिकं सांशयिकं तथाऽनाभोगं ॥ तत्रापि यदनाभोगमव्यक्तं शेषकाणि व्यक्तानि। चत्वार्यपि यन्नियमात् संज्ञिनां भवन्ति भव्यानाम् ॥] इति नवीनकल्पनां कुर्वन् अभव्यानां व्यक्तं मिथ्यात्वं न भवत्येवेति वदन् पर्यनुयोज्यः। ननु भोः कथमभव्याना व्यक्तमिथ्यात्वं न भवति?, नास्त्यात्मेत्यादिमिथ्यात्वविकल्पा हि व्यक्ता एव तेषां श्रूयन्ते। तथा—"अभव्याश्रितमिथ्यात्वे-ऽनाद्यनन्ता स्थितिर्भवेत्। सा भव्याश्रितमिथ्यात्वे-ऽनादिसान्ता पुनर्मता॥१॥" एतद्वृत्तिर्यथा, अभव्यानाश्रित्य मिथ्यात्वे-सामान्येन व्यक्ताव्यक्तमिथ्यात्वविषयेऽनाद्यनन्ता स्थितिर्भवति। तथा सैव स्थितिर्भव्यजीवान्पुनराश्रित्यानादिसान्ता मता। यदाह॥"मिच्छत्तमभव्वाणं,

तमणाइमणंतयं मुणेयव्वं । भव्वाणं तु अणाइ–सपज्जवसियं तु सम्मत्ते॥"[मिथ्यात्वमभव्यानां तदनाद्यनन्तकं ज्ञातव्यम् । भव्यानां त्वनादिसपर्यवसितं तु सम्यक्त्वे ॥] इति गुणस्थानकक्रमारोहसूत्रवृत्त्यनुसारेणाभव्यानां व्यक्तमपि मिथ्यात्व भवतीत्यापातदृशाऽपि व्यक्तमेव प्रतीयते । अपि च पालकसङ्गमकादीनां प्रवचनार्हत्प्रत्यनीकानामुदीर्णव्यक्ततरमिथ्यात्वमोहनीयोदयानामेव समुद्भूता नानाविधाः कुविकल्पाः श्रूयन्ते। कि च–मोक्षकारणे धर्मे एकान्तभवकारणत्वेनाधर्मश्रद्धानरूपं मिथ्यात्वमपि तेषां लब्ध्याद्यर्थं गृहीतप्रव्रज्याना व्यक्तमेव। यत्पुनरुच्यते–तेषा कदाचित्कुलाचारवशेन व्यवहारतो व्यक्तमिथ्यात्वे सम्यक्त्वे वा सत्यपि निश्चयतः सर्वकालमनाभोगमिथ्यात्वमेव भवतीति। तदभिनिवेशविजृम्भितम्, शुद्रच(द्धि)प्रतिपत्त्यभावापेक्षया निश्चयेनानाभोगाभ्युपगमे आभिग्रहिकादिस्थलेऽपि तत्प्रसङ्गाद्, बहिरन्तर्व्यक्ताव्यक्तोपयोगद्वयाभ्युपगमस्य चापसिद्धान्तकलङ्कदूषितत्वाद् । अथ यदेकपुद्गलावशेषसंसारस्य क्रियावादित्वाभिव्यञ्जकं धर्मधिया क्रियारुचिनिमित्तं तन्मिथ्यात्वं व्यक्तम्। यदुक्तम्–"तेसुवि एगो पुग्गल–परिअट्टो जेसिं हुज्ज संसारो। तहभव्वत्ता तेसिं, केसिंचि होइ किरियरुई॥१॥तीए किरियाकरणं, लिगं पुण होइ धम्मबुद्धीए। किरियारुईणिमित्तं, जं वुत्त वत्तमिच्छंति॥२॥"[तेष्वपि एकः पुद्गलपरावर्तो येषां भवेत्संसारः। तथाभव्यत्वात्तेषां केषाचिद् भवेत्क्रियारुचिः॥ तया क्रियाकरणं लिङ्गं पुनर्भवति धर्मबुद्ध्या। क्रियारुचिनिमित्त यदुक्तं व्यक्तमिथ्यात्वमिति॥] ततोऽन्यच्चाव्यक्त मिथ्यात्वम् । न चाभव्यस्य कदाप्येकपुद्गलपरावर्तावशेषः संसार इति सदैव तस्याव्यक्तं मिथ्यात्वमवस्थितमिति चेद्, मैवम्, एवं सति चरमपुद्गलपरावर्तातिरिक्तपुद्गलपरावर्तवर्तिना भव्यानामप्यव्यक्तानाभोगमिथ्यात्वव्यवस्थितावाभिग्रहिकमिथ्यात्वोच्छेदप्रसङ्गात्। किं च–एवमनाभोगमिथ्यात्वे वर्तमाना जीवा न मार्गगामिनो न वोन्मार्गगामिनो भवन्ति, अनाभोगमिथ्यात्वस्यानादिमत्त्वेन सर्वेषामपि जीवाना निजगृहकल्प-

त्वाद् । लोकोऽपि निजगृहे भूयःकालं वसन्नपि न मार्गगामी न वोन्मार्गगामीति व्यपदिश्यते, किन्तु गृहान्निर्गतः समीहितनगराभिमुखं गच्छन् मार्गगामी, अन्यथा तून्मार्गगामीति व्यपदिश्यते । एवं तथाभव्यत्वयोगेनानादिमिथ्यात्वान्निर्गतो यदि जैनमार्गमाश्रयते तदा मार्गगामी, जैनमार्गस्यैव मोक्षमार्गत्वाद् । यदि च शाक्यादिदर्शनं जमाल्यादिदर्शनं वाऽऽश्रयते तदोन्मार्गगामीति व्यपदिश्यते, तदीयदर्शनस्य संसारमार्गत्वेन मोक्षं प्रत्युन्मार्गभूतत्वादिति स्वकल्पितप्रक्रियापेक्षयाऽचरमपुद्गलपरावर्तवर्तिनः शाक्यादयोऽपि नोन्मार्गगामिनः स्युरिति, "कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया" [कुप्रवचनपाखण्डिनः सर्वे उन्मार्गप्रस्थिताः ॥] इत्यादि प्रवचनविरोधः । किं च-एवं धर्मधिया विरुद्धक्रियाकरणादुन्मार्गगामित्वं यथा व्यक्तमिथ्यात्वोपष्टम्भाच्चरमपुद्गलपरावर्त एव तथा धर्मधिया हिंसाकरणाद्धिंसकत्वमपि तदेवेत्यचरमपुद्गलपरावर्तेषु हिंसकत्वादिकमपि न स्यादिति सर्वत्र त्रैराशिकमतानुसरणे जैनप्रक्रियाया मूलत एव विलोपापत्तेर्महदसमञ्जसम् । तस्मादभव्यानामपि दूरभव्यानामिव योग्यतानुसारेणाभिग्रहिकव्यक्तमिथ्यात्वोपगमे न दोष इति मन्तव्यम् । अथाभव्या अव्यक्तमिथ्यात्ववन्तः, अव्यवहारित्वात्, सम्प्रतिपन्ननिगोदजीववद्-इत्यनुमानात्तेषामव्यक्तमिथ्यात्वसिद्धिः । अव्यवहारित्वं च तेषामनन्तपुद्गलपरावर्तकालस्थायित्वाद् सिध्यति । व्यावहारिकाणामुत्कृष्टसंसारस्थावलिकासङ्ख्येयभागपुद्गलपरावर्तमानत्वात् । तदुक्तं कायस्थितिस्तोत्रे—"अव्वहारियमज्झे, भमिऊण अणंतपुग्गलपरट्टे । कहवि ववहाररासिं, संपत्तो नाह तत्थवि य ॥ १ ॥ उक्कोसं तिरियगई-असण्णि-एगिंदि-वण-णपुंसेसु । भमिओ आवलिअअसंख-भागसमपुग्गलपरट्टे ॥ २ ॥" [अव्यवहारिकमध्ये भ्रान्त्वाऽनन्तपुद्गलपरावर्तान् । कथमपि व्यवहारराशिं सम्प्राप्तो नाथ! तत्रापि च ॥ उत्कृष्टं तिर्यग्गत्यसंज्ञ्येकेन्द्रियवन-नपुंसकेषु । भ्रान्त आवलिकाऽसंख्यभागसमपुद्गलपरावर्तान् ॥] अत एवोत्कृष्टो वनस्पतिकालोऽपि प्रवचने व्यावहारिकापेक्षयै-

वोक्तः । तथाहि— "वणस्सइकाइआणं पुच्छा, जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं—अणंता उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालओ, खित्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जा पुग्गलपरिअट्टा" इति ॥ [वनस्पतिकायिकानां प्रश्नः, जघन्येन अन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टेनानन्तं कालम्— अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः, क्षेत्रत अनन्ता लोका असंख्येयाः पुद्गलपरिवर्त्ताः । इति ।] इदमेव चाभिप्रेत्यास्माभिरुक्तम्— "ववहारीणं णियमा, संसारो जेसि हुज्ज उक्कोसो। तेसिं आवलिअअसंख—भागसमपोग्गलपरट्टा॥१॥" [व्यावहारिकाणां नियमात्संसारो येपा भवेदुत्कृष्टः । तेपामावलिकासंख्यभागसमपुद्गलपरावर्ताः ॥] इत्यस्मन्मतमदुष्टमिति चेत् । नायमप्येकान्तः, अनन्तपुद्गलपरा-वर्तकालस्थायित्वेनाव्यवहारित्वासिद्धेः, । व्यावहारिकाणामप्यावलिकाऽसंख्येयभागपुद्गलपरावर्तान्तरितभूयोभवभ्रमणेनानन्तपुद्गल-परावर्तावस्थानस्यापि सभवात् । तदुक्तं संग्रहणीवृत्तौ—"एते च निगोदे वर्तमाना जीवा द्विधा—सांव्यवहारिका असांव्यहारिकाश्च । तत्र ये सांव्यवहारिकास्ते निगोदेभ्य उद्वृत्य शेपजीवराशिमध्ये समुत्पद्यन्ते, तेभ्य उद्वृत्य केचिद् भूयोऽपि निगोदमध्ये समाग-च्छन्ति, तत्राप्युत्कर्पत आवलिकाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमाणान् पुद्गलपरावर्तान् स्थित्वा भूयोऽपि शेपजीवेपु मध्ये समागच्छन्ति, एवं भूयो भूयः सांव्यवहारिकजीवा गत्यागतीः कुर्वन्तीति" । यत्पुनरत्र भूयो भूयः परिभ्रमणेऽप्युक्तासंख्येयपुद्गलपरावर्तानतिक्रम एव, आवलिकाऽसंख्येयभागपुद्गलपरावर्तानामसंख्यातगुणानामप्यसंख्यातत्वमेवेति प्रतीतौ कुतो भूयो भूयः शब्दाभ्यामानन्त्यकल्प-नाया गन्धोऽपि, तेन भूयो भूयः परिभ्रमणेऽप्यसंख्यातत्वं तदवस्थमेव। अत एव तावता कालेन व्यावहारिकाणा सर्वेपामपि सिद्धि-र्भणितेति परेण स्वमतं समाहितम्, तदपि नैकान्तरमणीयम्। एवं "विकलेन्द्रियैकेन्द्रियेपु गतागतैरन्तान् पुद्गलपरावर्तान् निरुद्धोऽति-दुःखितः"इत्यादिना"अन्यदा च कथमपि नीतोऽसावार्यदेशोद्भवमातङ्गेषु, तेभ्योऽप्यभक्ष्यभक्षणादिभिर्नरकपातादिक्रमेण रसगृद्ध्यकार्य-

प्रवर्तनाभ्यामेव लीलयैव व्यावृत्य विधृतोऽनन्तपुद्गलपरावर्तान्" इत्यादिना च महता ग्रन्थेन भुवनभानुकेवलिचरित्रादौ व्यावहारिकत्वमुपेयुषोऽपि संसारिजीवस्य विचित्रभवान्तरिततयाऽनन्तपुद्गलपरावर्तभ्रमणस्य निगदसिद्धत्वात् । तथा योगबिन्दुसूत्रवृत्तावपि नरनारकादिभावेनानादौ संसारेऽनन्तपुद्गलपरावर्तभ्रमणस्वाभाव्यमुक्तम् । तथा हि—"अनादिरेष संसारो, नानागतिसमाश्रयः । पुद्गलानां परावर्ता, अत्रानन्तास्तथागताः ॥ १ ॥" [एतद्वृत्तिः] अनादिरविद्यमानमूलारम्भः, एष प्रत्यक्षतो दृश्यमानः, संसारो भवः, कीदृशः? इत्याह—नानागतिसमाश्रयः—नरनारकादिविचित्रपर्यायपात्रं, वर्तते । ततश्च पुद्गलानामौदारिकादिवर्गणारूपाणां सर्वेषां, परावर्ता ग्रहणमोक्षात्मकाः, अत्र संसारे, अनन्ता अनन्तवारस्वभावाः, तथा तेन समयप्रसिद्धप्रकारेण, गता अतीताः । केषाम्? इत्याह—"सर्वेषामेव सत्त्वानां, तत्स्वाभाव्यनियोगतः । नान्यथा संविदेतेषां, सूक्ष्मबुद्धया विभाव्यताम् ॥ ॥१॥" [एतद्वृत्तिः] सर्वेषामेव सत्त्वानां प्राणिनां, तत्स्वाभाव्यम्—अनन्तपुद्गलपरावर्तपरिभ्रमणस्वभावता तस्य नियोगो व्यापारस्तस्माद् । अत्रैव व्यतिरेकमाह, न नैव, अन्यथा—तत्स्वाभाव्यनियोगमन्तरेण, संविद् अवबोधो घटते। एतेषामनन्तपुद्गलपरावर्तानां, सूक्ष्मबुद्धया निपुणाभोगेन, विभाव्यताम्—अनुविचिन्त्यतामेतद्। इति व्यावहारिकत्वेऽप्यनन्तपुद्गलपरावर्तभ्रमणसम्भवात्, तेनाभव्यानामव्यावहारिकत्वसाधनमसङ्गतमिति द्रष्टव्यम् ॥

[टी०] नास्ति आत्मा देहातिरिक्त इति बृहस्पतिमतानुसारी, तथा च तदुक्तं यथा ॥ "न स्वर्गो नापवर्गो वा, नैवात्मा पारलौकिक. । नैव वर्णाश्रमादीना, क्रियाश्च फलदायिका" ॥ १ ॥ इत्यादि । अस्ति आत्मा किन्तु प्रतिक्षणविशरारुरूपतया चित्तसन्ततेर्न नित्य इति सौगता । तदुक्त यथा ॥ "यत्सत्तत्क्षणिक यथा जलधर सन्तश्च भावा अमी ॥" अस्ति आत्मा नित्यो भोक्ता, किन्तु न करोति–इति साख्या । त एवमाहु ॥ "यथसौ कर्ता न भोक्ता प्रकृतिवत्, कर्तृभोक्तृत्वानुपपत्ते ।" यद्वा "न कर्ता न भोक्ता" इति साख्यमते तथा च ते वदन्ति।"पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेप" कृत न वेदयति

इति शाक्यसिंहानुसारी, क्षणिकत्वाच्चित्तसन्तते । यद्वोपचरितभोक्तृत्वस्यानभ्युपगमात्र भोक्तेतिवेदान्तिमतम् । नास्ति निर्वाणम् इति नास्तिकप्रायाणा सर्वज्ञानभ्युपगन्तॄणा यज्वना मते । तथा च ते प्रलपन्ति "न मुच्यतेऽसौ चेतनत्वात् । अभव्यवत्" । किञ्च रागादीनामात्मस्वरूपाव्यतिरेकात् सर्वदु ख-विमोक्षत्वलक्षणस्य तस्यासम्भव आत्मन क्षयाभावेन तेषामप्यक्षयात् । अस्ति मुक्ति पर नास्ति मोक्षोपाय सर्वभावाना नियतत्वेनाकस्मादेव भावादिति नियतिवादिन । चार्वाकादीत्यादि । चारू रमणीयो वाक "पिब खाद च चारुलोचने" इत्यादिरूपा "एतावानेव लोकोऽय इत्यादिका" वा उक्तिर्यस्य स चार्वाक । अथ बृहस्पतिशिष्य. । एतदुक्ते परिणामेऽत्यन्तदु खप्रदत्वेऽपि श्रवणसमये तत्त्वातत्त्वविवेकविकलाना श्रोतॄणा मनोरञ्जनाद्रमणीयत्वमिति भाव । आदिना साख्यप्रभृतिपरिग्रह । तेषा दर्शनानि मतानि पक्षा अभ्युपगमा इति यावत्, तेषा प्रवर्तक, समूहे एकवचन तस्य । परपक्षेत्यादि-परे आर्हत-व्यतिरिक्ता तेषा पक्ष अभ्युपगम तस्य निराकरण अप्रामाण्यज्ञापन तत्र प्रवृत्ता' सततप्रवृत्तिमन्त, द्रव्यानुयोग एव सारो मुख्यविषयो येषु ते द्रव्यानु-योगसाराः ते च सम्मतितत्त्वार्थानेकान्तजयपताकादयो ग्रन्था तेषु प्रसिद्धा' । ते च-अनुपदोक्ता विकल्पाश्च । सदानास्तिक्यमथानामिति-अनाद्यन-न्तनास्तिक्यभाववतामित्यर्थ । व्यक्ता एव-न त्वव्यक्ता इत्येवकारेणाव्यक्तत्वव्यवच्छेद । इनि इतिहेतो । कस्तेषामाभिग्रहिकत्वसत्त्वे सशय इति-किमोऽत्राक्षेपे तस्य सशय इत्यनेनान्वय, तथा च तेषा मोक्षगमनायोग्यानामेते षड् विकल्पा सन्त्येव तेषा विकल्पाना चाभिग्राहिकत्वव्याप्यत्वादिति व्या-प्यसत्त्वे व्यापकसत्ताया कस्सशय, नैवेत्यर्थ । इत्थञ्चेति-तेषामभव्यानामाभिग्रहिकमिथ्यात्वे सिद्धे च । नवीनकल्पनां-आगमानुमानादिप्रमाणशून्यकल्प-नामिति भाव । कथमिति-कस्मादित्यर्थ तस्य न भवतीत्यनेनान्वय । हि-हेतौ, व्यक्तमपि-अव्यक्तन्त्वस्त्येवेत्यपिशब्दार्थ । आपातदृशाऽपि-किं पुनरा-गमार्थपर्यालोचनेनेत्यर्थ । व्यक्तमेव-स्पष्टतयैव न त्वस्पष्टम् । अन्यदपि प्रमाणमाह-अपि चेति । श्रूयन्ते । आगमे इति शेष, तेषा पालकसङ्गमकादीनामा-गमे ह्यभव्यत्वेन प्रसिद्धत्वात्। मोक्षकारण इति-स्वरूपोपधायकम्। न तु व्यवच्छेदक, धर्मपदस्य तत्रैव शक्तत्वात्, ननु धर्मस्य कल्पवृक्षाद्युपमेयत्वेन तस्यैह-भविकपारभविकफलदायित्वमपि सभवतीत्याह एकान्त इति । तेषाम्-अभव्यानाम् । लब्ध्याद्यर्थमिति-लब्ध्याद्युद्देशेन, आदिना पूजाख्यातिप्रभृतिप-रिग्रह । तत्प्रसङ्गात्-अनाभोगप्रसङ्गात्, शुद्धिप्रतिपत्त्यभावस्य तत्रापि सत्त्वात् । कदापि कस्मिन्नपि कालेऽपि, न च नैवेकपुद्गलपरावर्तावशेष· ससार इत्यन्वय । इति-इति हेतो । सदैव-सर्वकाल एव, अप्यर्थक एवकार । एव सति-एकपुद्गलपरावर्तावशेषससारिणा मिथ्यात्व व्यक्तम्, तद्व्यतिरिक्ताना

तदव्यक्तमित्यभ्युपगमे सति। ननु चरमपुद्गलपरावर्तातिरिक्तपरावर्तवर्तिना भव्यानामनाभोगेनैव मिथ्यात्वव्यवहारसम्भवात्, तेषामाभिग्रहिकाभ्युपगमे प्रमाणाभावात्तदुच्छेदप्रसङ्गे न किञ्चिदप्यनिष्टमित्याह–किञ्चेति, अन्यथा–समीहितनगरविमुख गच्छन्। नोन्मार्गगामिन इति–तेषामनाभोगमिथ्यात्वेन शाक्यादिदर्शनाश्रयणासम्भवप्रसङ्ग तव मते, शाक्यदर्शनाश्रयण तु सर्वजनप्रसिद्धमिति तस्यापलपितुमशक्यत्वादिति भाव । ननु तेषामुन्मार्गगामित्वाभावे को दोष इत्याह–कुप्पवयणेत्यादि । ननु " कुप्पवयणेत्यादिकस्य उत्तराध्ययनीयत्रयोविंशाध्ययनरूपप्रवचनस्य चरमपुद्गलपरावर्तवर्तिनामेव तेषामुन्मार्गगामित्वस्य व्यवस्थापकत्वात्र दोष इत्याह किञ्चेति । सर्वत्र त्रैराशिकमतानुसरण इति–जीव–अजीव–नोजीववद्, हिंसकत्वमहिंसकत्व नोहिंसकत्वमित्यादि सर्वत्र त्रैराशिकमतानुसरणे सति । हिंसकत्वाहिंसकत्वभिन्नस्य तृतीयभेदस्य जैनप्रक्रियायामप्रसिद्धत्वेन तदङ्गीकारे तस्या मूलत सर्वथा विलोपरूपो महादोष इति भाव । इति। तेषाभव्यानामनन्तपुद्गलपरावर्तवर्तित्वेनाऽव्यवहारित्वसिद्ध्या तेषामव्यक्तमिथ्यात्वे बाधकाभावात् । अस्मन्मतमिति–अभव्यानामनाभोगमेव मिथ्यात्वमिति । नायमप्येकान्त इति–अत्र अपिशब्द समुच्चायक तेन चरमपुद्गलपरावर्तातिरिक्तपुद्गलपरावर्तवर्तित्वस्य समुच्चय, तथा च तयोर्द्वयोरपि हेत्वो. व्यक्तमिथ्यात्ववत्सु व्यावहारिकेष्वपि सत्वाद्व्यभिचारित्वमिति भाव । नन्वावलिकाऽसङ्ख्येयभाग पुद्गलपरावर्तानामसङ्ख्यातगुणानामप्यसङ्ख्यातत्वमेवेत्येवाह–यत्पुनरिति, तथा च व्यावहारिकाणामनन्तपुद्गलपरावर्तवर्तित्वस्यासिद्धत्वेनाव्यवहितोक्तहेतोर्न व्यभिचारित्वमिति भाव· । तदपि नैकान्तरमणीयमिति–आवलिकाऽसङ्ख्येयभाग पुद्गलपरावर्तानामसङ्ख्यातगुणानामप्यसङ्ख्यातत्वमेवेत्यपि न सर्वथा शोभनम् । पूर्वाचार्यवचनेन विरोधादिति शेष । अनुपदोक्तस्यार्थस्य निष्कर्षमाह–इतीत्यादिना ॥

ननु प्रज्ञापनावृत्तौ व्यावहारिकाणामुत्कर्षतोऽप्यावलिकाऽसंख्येयभागपुद्गलपरावर्तस्थितिः, तत ऊर्ध्वं चावश्यं सिद्धिरिति स्फुटं प्रतीयते । तथा च तद्ग्रन्थः–"ननु यदि वनस्पतिकालप्रमाणमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्तास्ततो यद् गीयते सिद्धान्ते "मरुदेवाजीवो यावज्जीवभावं वनस्पतिरासीद्"इति तत्कथं स्यात् ? कथं वा वनस्पतीनामनादित्वम् ?, प्रतिनियतकालप्रमाणतया वनस्पतिभावस्यानादित्वविरोधात् । तथाहि–असंख्येयाः पुद्गलपरावर्तास्तेषामवस्थानमानम्, तत एतावति कालेऽतिक्रान्ते नियमा-

त्सर्वेऽपि कायपरावर्तं कुर्वते, यथा स्वस्थितिकाले सुरादयः। उक्तं च—"जइ पुग्गलपरिअट्टा, संखाईआ वणस्सईकालो। तो अच्चंत-
वणस्सइ-जीवो कह नाम मरुदेवी? [तो अच्चंतवणस्सईण-मणाइयत्तमहेऊओ]॥१॥हुज्ज व वणस्सईणं, अणाइअत्तम(मत एव)हेऊओ?।
[न य मरुदेवाजीवो, जावज्जीव वणस्सई आसी]जमसंखेज्जा पोग्गल-परिअट्टा तत्थवत्थाणं।२॥कालेणेवइएणं, त(ज)म्हा कुव्वंति कायप-
छट्टं। सव्वेवि वणस्सइणो, ठिइकालंते जह सुराई ॥३॥[यदि पुद्गलपरावर्ताः संख्यातीता वनस्पतिकालः। ततोऽत्यन्तवनस्पतिजीवः
कथं नाम मरुदेवी? ॥१॥ भवेद्वा वनस्पतीनामनादिकत्वम(मतएव)हेतोः। यदसंख्येयाः पुद्गलपरावर्तास्तत्रावस्थानम् ॥२॥ कालेनै
तावता तस्मात्कुर्वन्ति कायपरिवर्तम्। सर्वेऽपि वनस्पतयः स्थितिकालान्ते यथा सुरादयः ॥ ३ ॥] किंच— एवं यद्वनस्पतीना निर्ले-
पनमागमे प्रतिषिद्धम्, तदपीदानीं प्रसक्तम्, कथम्? इति चेद्। उच्यते-इह प्रतिसमयमसंख्येया वनस्पतिभ्यो जीवा उद्वर्तन्ते, वन-
स्पतीनां च कायस्थितिपरिमाणमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, ततो यावन्तोऽसंख्येयेषु पुद्गलपरावर्तेषु समयास्तैरभ्यस्ता एकसमयोद्वृत्ता
जीवा यावन्तो भवन्ति तावत्परिमाणमागतं वनस्पतीनाम्। ततः प्रतिनियतपरिमाणतया सिद्धं निर्लेपनम्, प्रतिनियतपरिमाणत्वात्, एवं
च गच्छता कालेन सिद्धिरपि सर्वेषां भव्यानां प्रसक्ता, तत्प्रसक्तौ च मोक्षपथव्यवच्छेदोऽपि प्रसक्तः, सर्वभव्यसिद्धिगमनानन्तरमन्य
स्य सिद्धिगमनायोगात्। आह च—"कायठिइकालेणं, तेसिमसंखिज्जयावहारेणं। णिल्लेवणमावण्णं, सिद्धीवि य सव्वभव्वाणं ॥१॥
पइसमयमसंखिज्जा, जेणुव्वट्टंति तो तदब्भत्था। कायठिईए समया, वणस्सईणं च परिमाण ।२॥" [कायस्थितिकालेन तेषामसं-
ख्येयताऽपहारेण। निर्लेपनमापन्न सिद्धिरपि च सर्वभव्यानाम् ॥ प्रतिसमयमसंख्येया येनोद्वर्तन्ते ततस्तदभ्यस्ताः। कायस्थित्याः
समया वनस्पतीना परिमाणम् ॥] न चैतदस्ति, वनस्पतीनामनादित्वस्य-निर्लेपनप्रतिषेधस्य-सर्वभव्यासिद्धे-र्मोक्षपथाव्यवच्छेदस्य-

च तत्र तत्र प्रदेशे सिद्धान्तेऽभिधानात्? उच्यते—इह द्विविधा जीवाः—सांव्यवहारिका असांव्यवहारिकाश्च । तत्र ये निगोदावस्थात उद्वृत्त्य पृथिवीकायिकादिभवेषु (भेदेषु) वर्तन्ते ते लोकेषु दृष्टिपथमागताः सन्तः पृथिवीकायिकादिव्यवहारमनुपतन्तीति सांव्यवहारिका उच्यन्ते । ते च यद्यपि भूयोऽपि निगोदावस्थामुपयान्ति तथाऽपि ते सांव्यवहारिका एव, संव्यवहार(रे) पतितत्वात् । ये पुनरनादिकालादारभ्य निगोदावस्थामुपगता एवावतिष्ठन्ते ते व्यवहारपथातीतत्वादसांव्यवहारिकाः । कथमेतदवसीयते द्विविधा जीवाः सांव्यवहारिका असांव्यवहारिकाश्चेति?, उच्यते, युक्तिवशात् । इह प्रत्युत्पन्नवनस्पतीनामपि निर्लेपनमागमे प्रतिषिद्धम्, किं पुनः सकलवनस्पतीनां तथा भव्यानामपि । तच्च यद्यसांव्यवहारिकराशिनिपतिता अत्यन्तवनस्पतयो न स्युस्ततः कथमुपपद्येत? तस्मादवसीयते—अस्त्यसांव्यवहारिकराशिरिति, यद्गतानां वनस्पतीनामनादिता । किं च-इयमपि गाथा गुरूपदेशादागता समये प्रसिद्धा "अत्थि अणंता जीवा, जेहि ण पत्तो तसाइपरिणामो । तेवि अणंताणंता, णिगोअवासं अणुहवंति (वसंति) ॥१॥" [सन्त्यनन्ता जीवा यैर्न प्राप्तः त्रसादिपरिणामः । तेऽप्यनन्तानन्ता निगोदवासमनुभवन्ति ॥] तत इतोऽप्यसांव्यवहारिकराशिसिद्धिः । उक्तं च—"ण य पच्चुप्पन्नवण-स्सईणं णिल्लेवणं न भव्वाणं । जुत्त होइ ण तं जइ, अच्चंतवणस्सई नत्थि ॥१॥ एवं चा(स)णाइवण-स्सईणमत्थित्तमत्थओ सिद्धं । भण्णइ इमावि गाहा, गुरूवएसागया समए ॥२॥[न च प्रत्युत्पन्नवनस्पतीनां न भव्यानाम् । युक्तं भवति न तद् यदि अत्यन्तवनस्पतिर्नास्ति ॥ एवं चानादिवनस्पतीनामस्तित्वमर्थतः सिद्धम् । भण्यते इयमपि गाथा गुरूपदेशागता समये ॥] "अत्थि अणंता जीवा इत्यादि १८ पद्ये" ततोऽभव्या असांव्यवहारिका एव, अन्यथाऽसङ्ख्येयपुद्गलपरावर्तकालातिक्रमे तेषां सिद्धिगमनस्यासांव्यवहारित्वभवनस्य वा प्रसङ्गात् । अत एव बादरनिगोदजीवा अप्यसांव्यवहारिकराशावभ्युपगन्तव्याः, अन्यथा बादरनिगोदजीवेभ्यः सिद्धा-

नामनन्तगुणत्वप्रसङ्गात्। यावन्तो हि साऽव्यवहारिकराशितः सिध्यन्ति, तावन्त एव जीवा असाव्यवहारिकराशेर्विनिर्गत्य साव्यवहारि-
कराशावागच्छन्ति । यत उक्तम्–"सिज्झंति जत्तिया किर, इह संववहारजीवरासीओ। इति अणाइवणस्सइ–मज्झाओ तत्तिया चेव॥१॥"
इति । [सिध्यन्ति यावन्तः किल इह संव्यवहारजीवराशितः। यन्ति अनादिवनस्पतिमध्यात्तावन्त एव ॥१॥] एवं च व्यवहारराशितः
सिद्धा अनन्तगुणा एवोक्ताः तत्र यदि बादरनिगोदजीवाना व्यावहारिकत्वं भवति, तर्हि बादरनिगोदजीवेभ्यः सिद्धा अनन्तगुणाः संप-
द्येरन्, सन्ति च सिद्धेभ्यो बादरनिगोदजीवा अनन्तगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मजीवा असंख्येयगुणाः । यदागमः—"एएसि णं भंते!
जीवाणं सुहुमाणं बायराणं णोसुहुमाणं णोबायराणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा, बहुआ वा, तुल्ला वा, विसेसाहिआ वा? । गोयमा!
सव्वथोवा जीवा णोसुहुमा णोबायरा, बायरा अणंतगुणा, सुहुमा असंखेज्जगुणा" इति । एतद्वृत्तिर्यथा—"एएसि णं भंते!
जीवाणं सुहुमाणमित्यादि। सर्वस्तोका जीवा णोसुहुमा णोबायरा, सिद्धा इत्यर्थः, तेषां सूक्ष्मजीवराशेर्बादरजीवराशेश्चा-
नन्ततमभागकल्पत्वात् । तेभ्यो बादरा अनन्तगुणाः, बादरनिगोदजीवाना सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वात् । तेभ्यश्च सूक्ष्मा असंख्ये-
यगुणाः, बादरनिगोदजीवेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवानामसंख्येयगुणत्वाद्" इति। तत एवमागमबाधापरिहारार्थं बादरनिगोदजीवा अव्या-
वहारिकाः स्वीकर्तव्याः । प्रयोगश्चात्र—बादरनिगोदजीवा न व्यवहारिणः, तेषा सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वात् । यथा सूक्ष्मनिगोदजीवा-
स्तथा अनादिमन्तः सूक्ष्मा बादराश्च निगोदजीवा अव्यवहारिण एव, अन्यथा व्यवहारित्वभवनसिद्धिगमनयोरपर्यवसितत्वानुपपत्तेः ।
अपर्यवसितत्वं च "सिज्झंति जत्तिया किर०" इत्यादिना सिद्धम्, तथा साव्यवहारिका जीवाः सिध्यन्त्येव, आवलिकाऽसंख्येयभा-
गपुद्गलपरावर्तसमयपरिमाणत्वेन परिमितत्वाद् । व्यतिरेके सिद्धा निगोदजीवाश्च दृष्टान्ततया वाच्या इति ।

[टी०] अत्थीत्यादि "एवमन्यत्रापि" "सामग्गीअभावाओ ववहारियरासिअप्पवेसाओ ॥ भव्वा वि ते अणंता सिद्धिसु" जे न पावंति॥१॥" प्रज्ञापना-वृत्त्युक्तार्थस्याशयमजानान शङ्कते-नन्वित्यादिना। आगमविरोधमाह-किञ्चेति। एव व्यावहारिकाणामुत्कर्षतोऽप्यावलिकाऽसङ्ख्येयभागपुद्गलपरावर्तस्थितिसिद्धौ। तदपीति वनस्पतीना निर्लेपनमपि। प्रसक्तम् आपतितम्। 'अनिष्टापादन प्रसङ्ग' अन्यस्य-अभव्यस्य। ननु निर्लेपनमोक्षपथव्यवच्छेदस्य प्रसक्ते को दोष इत्याह न चैतदस्तीति, समाधिमाह-उच्यते। अव्यावहारिका, एव न तु व्यावहारिका, एवकारेणाऽभव्येऽव्यवहारित्वस्यात्यन्तायोगव्यवच्छेदो बोध्यत इति भाव। अन्यथा-अव्यावहारित्वस्यात्यन्तायोगव्यवच्छेदानभ्युपगमे। वा-विकल्पे तथा चाऽन्यतरप्रसङ्गाद्। अत एव-पूर्वोक्तान्यतरप्रसङ्गादेव।

ननु "सर्वे जीवा व्यवहार्यव्यवहारितया द्विधा, सूक्ष्मा निगोद एवान्त्या', तेभ्योऽन्ये व्यवहारिणः।" इति योगशास्त्रवृत्तिवचनाद् बादरनिगोदजीवाना व्यवहारित्वसिद्धेः कथमव्यवहारित्वमिति चेत्। न, तत्र 'सूक्ष्मनिगोदा एवान्त्याः' इति पाठस्यापि दर्शनात् तत्र सूक्ष्माश्च निगोदाश्चेतीतरेतरद्वन्द्वकरणेऽसंगतिगन्धस्याप्यभावाद्। सूक्ष्मपृथिव्यादिजीवाना चाव्यवहारित्वं प्रज्ञापनावृत्त्यभिप्रायेण स्फुटमेव प्रतीयते, लोकदृष्टिपथमागतानामेव पृथिव्यादिजीवाना व्यवहारित्वभणनाद्, अन्यथा 'प्रत्येकशरीरिणो व्यावहारिकाः' इत्येव वृत्तिकृदवक्ष्यत्। यच्च केवलं निगोदेभ्य उद्वृत्त्य पृथिवीकायिकादिभवेषु वर्तन्ते इत्यादि भणितम्, तत्सूक्ष्मपृथिव्यादिजीवानामसंख्येयत्वेनाल्पत्वाद् अवश्यभाविव्यवहारित्वाद्वाऽविवक्षणादिति सम्भाव्यते, सम्यग्निश्चयस्तु बहुश्रुतगम्य इति। एवं चाव्यवहारिका जीवाः सूक्ष्मपृथिव्यादिषु निगोदेषु च सर्वकालं गत्यागतीः कुर्वन्तीति सम्पन्नम्। इत्थं च तत्र येऽनादिसूक्ष्मनिगोदेभ्य उद्वृत्त्य शेषजीवेषूत्पद्यन्ते पृथिव्यादिविविधव्यवहारयोगात्सांव्यवहारिकाः। ये पुनरनादिकालादारभ्य सूक्ष्मनिगोदेष्वेवावतिष्ठन्ते तथाविधव्यवहारातीतत्वादसांव्यवहारिका इति। प्रवचनसारोद्धारवृत्तावपि "अनादिसूक्ष्मनिगोदजीवा अव्यवहारिणः" इत्यत्र सूक्ष्माः पृथिव्यादयश्चत्वारो, निगोदाश्च बादरसाधारणवनस्पतयः, न विद्यते आदिर्येषां तेऽनादयः-अप्राप्तव्यवहारराशय इत्यर्थः। तथा च

सूक्ष्माश्च निगोदजीवाश्चेति द्वन्द्वः, अनादयश्च ते सूक्ष्मनिगोदजीवाश्चेति कर्मधारयः, इति समासविधिर्द्रष्टव्यः। सर्वत्रापि कर्मधारयकरणे बादरनिगोदजीवानां व्यवहारित्वसम्पत्तावुक्तागमबाधप्रसङ्गादिति चेत्। उच्यते-यदेवं प्रज्ञापनावृत्त्यभिप्रायमनुसृत्याभव्यानामव्यावहारिकत्वं व्यवस्थाप्यते, तत्किं व्यावहारिकलक्षणायोगादुत परिभाषान्तराश्रयणात्?, नाद्यो लोकव्यवहारविषयः प्रत्येकशरीरवत्त्वादिस्तल्लक्षणस्याभव्येष्वपि सत्त्वादनन्तद्रव्यक्रियाग्रहणपरित्यागवत्ता तेषामव्यावहारिकराशिविनिर्गतत्वेन व्यावहारिकत्वस्योपदेशपदप्रसिद्धत्वाच्च। तथा च तद्ग्रन्थः—"जं दव्वलिंगकिरिया-णंतातीया भवंमि सगलावि। सव्वेसिं पाएणं, ण य तत्थवि जायमेअंति ॥१॥" एतद्वृत्तिः जमित्यादि। यद्-यस्माद्, द्रव्यलिङ्गक्रियाः-पूजाद्यभिलाषेण व्यावृत्तमिथ्यात्वादिमोहमलतया द्रव्यलिङ्गप्रधानाः शुद्धश्रमणभावयोग्याः प्रत्युपेक्षणाप्रमार्जनादिकाश्चेष्टाः, किम्? इत्याह-अनन्ता-अनन्तनामकसंख्याविशेषानुगता, अतीता व्यतिक्रान्ताः, भवे-संसारे, सकला अपि-तथाविधसामग्रीवशात्परिपूर्णा अपि, सर्वेषां-भवभाजां, प्रायेण-अव्यावहारिकराशिगतानल्पकालतन्निर्गतांश्च मुक्त्वेत्यर्थः। ततोऽपि किम्? इत्याह-न च-नैव, तत्रापि-तास्वपि सकलासु द्रव्यलिङ्गक्रियासु, जातमेतद्-धर्मबीजमित्यादि॥" अथ पृथिव्यादिव्यवहारयोगेन तेषां व्यवहारिकत्वेऽप्यावलिकाऽसंख्येयभागपुद्गलपरावर्ताधिकसंसारवत्त्वेन न व्यावहारिकत्वमिति परिभाषान्तरमाश्रीयते इति द्वितीयः पक्षः परिगृह्यते इति चेत्, परिगृह्यतां यदि बहुश्रुताः प्रमाणयन्ति, नैनमस्माकं काऽपि क्षतिः, मुख्यव्यावहारिकलक्षणपरित्यागेन तेषामव्यक्तमिथ्यात्वनियमाभ्युपगमादिविरुद्धप्रक्रियाया असिद्धेः। न हि परिभाषा वस्तुस्वरूपं त्याजयतीति। एतेन बादरनिगोदजीवानां व्यावहारिकत्वनिषेधोऽपि प्रत्युक्तः, परिभाषामात्रेण लक्षणसिद्धस्य व्यावहारिकत्वस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्। पृथिव्यादिविविधव्यवहारयोगित्वलक्षणस्य तस्य प्रागसूक्ष्मनिगोदेतरत्वपर्यवसितस्यानुगतस्यानादिसूक्ष्मनिगोदेतरसर्वजीववृत्तित्वात्। चक्षु-

ग्रैव्यशरीरत्वरूपलक्षणं न तु लक्षणमित्यावयोः समानम्, अन्यथाऽस्माकं सूक्ष्मपृथिवीकायिकादिष्वव्याप्तेरिव तव मते बादरनिगोदेऽति-व्याप्तेरपि प्रसङ्गात्। किं च—प्रज्ञापनावृत्त्यभिप्रायेणापि बादरनिगोदजीवानां व्यवहारित्वमेव प्रतीयते। ये पुनरनादिकालादारभ्य निगोदावस्थामुपगता एवावतिष्ठन्ते ते व्यवहारपथातीतत्वादसांव्यवहारिका इति वचनादनादिवनस्पतीनामेवाव्यावहारिकत्वाभिधानात्। तत्रेदं सूत्रं सांव्यवहारिकानधिकृत्यावसेयम्, न चासांव्यवहारिकान्, विशेषविषयत्वात्सूत्रस्य। न चैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितम्। यत आहुर्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादाः–"तह कायठिईकाला–दओ वि सेसे पडुच्च किर जीवे। नाणाऽवणस्सऽणो, जे संववहारबाहिरिया ॥१॥"[तथा कायस्थितिकालादयोऽपि शेषान् प्रतीत्य किल जीवान्। नानादिवनस्पतीन् ये सव्यवहारबाह्याः ॥] अत्रादिशब्दात्सर्वैरपि जीवैः श्रुतमनन्तशः स्पृष्टमित्यादि। यदस्यामेव प्रज्ञापनायामेव वक्ष्यते प्रागुक्तं च तत्परिग्रहस्ततो न कश्चिद्दोष इति, अग्रे व्यक्तमेव अनादिवनस्पत्यतिरिक्ताना व्यावहारिकत्वाभिधानाच्च। अनादिवनस्पतय इति च सूक्ष्मनिगोदानामेवाभिधानम्, न तु बादरनिगोदानामिति ग्रन्थान्तरेऽप्ययमेवाभिप्रायो ज्ञायते। उक्तं च लघूपमितभवप्रपञ्चग्रन्थे श्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिभिः—"अस्त्यत्र लोके विख्यात–मनन्तजनसङ्कुलम्। यथार्थनामकमसं–व्यवहाराभिधं पुरम् ॥६७॥ तत्रानादिवनस्पति–नामानः कुलपुत्रकाः। वसन्ति(च) तत्र कर्म–परिणाममहीभुजा ॥६८॥ नियुक्तौ तीव्रमोहोद–यात्यन्तनोधनामकौ। महत्तमबलाध्यक्षौ, तिष्ठतः स्थायिनौ सदा ॥ ६९ ॥ युग्मम् ॥ ताभ्या कर्मपरिणाम–महाराजस्य शासनात्। निगोदाख्यापवरकेष्व–संख्येयेषु दिवाऽनिशम् ॥७०॥ क्षिप्त्वा संपिण्ड्य धार्यन्ते, सर्वेऽपि कुलपुत्रकाः। प्रसुप्तवन्मूर्छितव–न्मत्तवन्मृतवच्च ते ॥७१॥ युग्मम्॥ ते स्पष्टचेष्टाचैतन्य–भाषादिगुणवर्जिताः। छेदभेदप्रतीघात–दाहादीन्नाप्नुवन्ति च ॥७२॥ अपरस्थानगमन–प्रमुखो नापि कश्चन। क्रियतेऽन्योऽपि तैर्लोक–

व्यवहारः कदाचन॥७३॥संसारिजीवसंज्ञेन, वास्तव्येन कुटुंबिना। कालो निर्गमितः पूर्वं, तत्रानन्तो मयाऽपि हि ॥७४॥तथा अत्रैव
कियदन्तरे ॥ तत्रैकाक्षनिवासाख्ये, नगरे प्रथमं खलु। अमीभिरस्ति गन्तव्य-मर्थनं युवयोश्च तत् ॥२६॥ ताभ्यामपि तथेत्युक्ते, ते
सर्वे तत्पुरं ययुः। तस्मिंश्च नगरे सन्ति, महान्तः पञ्च पाटकाः ॥ २७ ॥ एकं पाटकमङ्गुल्या, दर्शयन्नग्रतः स्थितम्। मामेवमथ त-
न्वङ्गि! तीव्रमोहोदयोऽब्रवीत्। २८ ॥ त्वमत्र पाटके तिष्ठ, भद्र! विश्वस्तमानसः। पाश्चात्यपुरतुल्यत्वाद्, भाव्येष धृतिदस्तव ॥२९॥
यथा हि तत्र प्रासाद-गर्भागारस्थिता जनाः।सन्त्वनन्ता पिण्डिताङ्गा-स्तथैवात्रापि पाटके॥३०॥वर्त्तन्ते किन्तु ते लोक-व्यवहारपरा-
ङ्मुखाः। मनीषिभिः समाम्नाता-स्तेनासांव्यवहारिकाः ॥३१॥ गमागमादिकं लोक-व्यवहारममी पुनः। कुर्वन्ति सर्वदा तेन, प्रोक्ताः
सांव्यवहारिकाः ॥३२॥ अनादिवनस्पतय, इति तेषां समाभिधा। एषा तु वनस्पतय, इति भेद (दो) यथापरः ॥३३॥ वृद्धोपमित-
भवप्रपञ्चग्रन्थेऽप्येवमेवोक्तमस्ति। तथाहि-"अस्तीह लोके आकालप्रतिष्ठमनन्तजनसङ्कुलमसंव्यवहारं नाम नगरम्। तत्र सर्वस्मिन्न-
गरेऽनादिवनस्पतिनामानः कुलपुत्रकाः प्रतिवसन्ति" इत्यादि। "उक्तौ च भवितव्यतया महत्तरावलाधिकृतौ--यदुत मया युवाभ्या
चामीभिः मह यातव्यम्। यतो भर्तृदेवता नारीति न मोक्तव्यो मया संसारी जीवः। यच्चास्ति युवयोरपि प्रतिजागरणीयमेकाक्षनिवासं
नाम नगरम्। तत्रामीभिर्लोकैः प्रथमं गन्तव्यम्। ततो युज्यते युवाभ्यां सह चामीषां तत्रासितुं नान्यथा। ततो यद्भवती जानाती-
त्यभिधाय प्रतिपन्नं तद्वचनं महत्तमबलाधिकृताभ्याम्। प्रवृत्ताः सर्वेऽपि, समागतास्तदेकाक्षनिवासं नगरम्। तत्र नगरे महान्तः पञ्च
पाटका विद्यन्ते। ततोऽहमेकं पाटकं कराग्रेण दर्शयता तीव्रमोहोदयेनाऽभिहितः--भद्र संसारिजीव! तिष्ठ त्वमत्र पाटके। यतोऽयं
पाटकोऽसंव्यवहारनगरेण वहुतरं तुल्यो वर्तते। भविष्यत्यत्र तिष्ठतो धृतिरित्यादि। ततोऽहं यदा तत्रासंव्यवहारनगरेऽभूवम्, तदा मम

जीर्णाया जीर्णायामपरां गुटिका दत्तवती, केवलं सूक्ष्ममेव मे रूपमेकाकारं सर्वदा तत्प्रयोगेण विहितवती। तत्र पुनरेकाक्षनिवासनगरे समागता तीव्रमोहात्यन्तबोधयोः कुतूहलमिव दर्शयन्ती तेन गुटिकाप्रयोगेण ममानेकाकारं स्वरूपं प्रकटयति स्मेत्यादि। ”

(टी०) ननु बादरनिगोदजीवानां योगशास्त्रवृत्तौ व्यवहारित्वस्यैव भणनात् तेषामव्यवहारित्वमित्येतदाह—नन्विति, कथमिति आक्षेपे नैवेत्यर्थः। तत्र—यो गशास्त्रवृत्तौ। ननु सूक्ष्मनिगोदा इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वसमासाश्रयणे सूक्ष्मपृथिव्यादिजीवानामप्यव्यवहारित्वापत्तिप्रसङ्ग इत्यत आह—सूक्ष्मपृथिव्यादिजीवानामिति तथा चेष्टापत्तिरिति भावः। स्फुटमेव प्रतीयते—तेदृपर्येण न तु शब्देन। ननु तद्बोधकशब्दाभावेऽस्मिन्नर्थे तात्पर्यमिति कथं ज्ञातम्? इत्याह—लोक-दृष्टिपथमित्यादि। अन्यथा—सूक्ष्मपृथिव्यादिजीवानामव्यवहारित्वानङ्गीकारे। अवक्ष्यत् गाथायामस्यादिति शेषः, बाधकाभावे गौरवस्य दुष्टत्वादिति भावः। ननु यदि सूक्ष्मपृथिव्यादिजीवानामव्यवहारित्वं एव प्रज्ञापनावृत्त्यभिप्रायः स्यात्तदा “ये निगोदावस्थात उद्वृत्त्य ” इत्यादि सूक्ष्मपृथिव्यादीनामपि कथं नोक्तम्? इत्याह यद्येति इत्थञ्चेति। सूक्ष्मपृथिव्यादिजीवानां बादरनिगोदजीवानामव्यवहारित्वसिद्धौ च। उक्तार्थे पूर्वाचार्यसम्मतिमाह—प्रवचनसारोद्धा-रवृत्तावपीति। नन्वत्र सर्वत्र कर्मधारयसमासाश्रयणे असमुक्तमपि न दुष्टमित्याह—सर्वत्रापीति “ततोऽभव्या अव्यवहारिका एव” इत्यादिनाऽभव्या-नामव्यवहारित्वमुक्तं, तदसत्, विकल्पासहत्वादित्येवाह उच्यते। तत्—अव्यवहारित्वम्, किं शब्द.—प्रश्ने। नन्वभव्यत्वस्य तदन्यत्वेन लक्षणमित्याह—अनन्तद्रव्येत्यादि तथाचोपदेशपदवचनेन विरोधः स्यादिति भावः। द्वितीयपक्षमाह—अथेति। तेषाम्—अभव्यानाम्। असिद्धेरिति—यदुश्रुतप्रमाण-त्वेन इति शेषः। ननूक्तपरिभाषयैवाव्यवहारित्वमिथ्यात्वनिगमाभ्युपगमात् प्रक्रियायाः सिद्धिः स्यादित्याह—न हीति, एतेन—वक्ष्यमाणयुक्त्या। बादरनिगोदजीवानां प्रज्ञापनावृत्त्यनुसारेणाव्यवहारित्वमुक्तं तदप्यसमञ्जसमेवेत्याह किञ्चेति। नन्विदं सूत्रं सांव्यवहारिकविशेषविषयकमेवेति कथं ज्ञातम्? इति चेदाह—विशेषविषयत्वादिति। नन्विदं स्तोकोऽप्यमूलकत्वेनाप्रमाणं स्यादित्यत आह—न चेति, यत इति यस्मात्कारणात्। तदाह कायेत्यादिगाथाया अयमर्थः—तथा कायस्थितिकालादयो ये उक्तास्ते शेषान् अनादिवनस्पतिव्यतिरिक्तान् जीवान् प्रतीत्य—आश्रित्य, किल निश्चयेन ज्ञेया इति शेषः, किन्तु नानादिवन-स्पतीनाश्रित्य यतः ये अनादिवनस्पतयः संव्यवहारबाह्या. अव्यवहारिका इत्यर्थः। ननु अनादिवनस्पतिशब्देन कथं न निगोदमात्रस्याभिधानमित्यत आह—अनादिवनस्पतय इति, इति.—हेतौ—तथा च यस्मात्कारणात्, ग्रन्थान्तरेऽप्ययमेवाभिप्रायः। ननु कस्मिन् ग्रन्थान्तरे इत्याह उक्तञ्चेति,

समयसारसूत्रवृत्त्योरप्युक्तम्-"अहवा संववहारिया य असंववहारिया य।" तद्वृत्तिः, अथवेति द्वैविध्यस्यैव प्रकारान्तरोद्द्योतने। एतदेव स्पष्टयन्नाह–"तत्थ जे अणाइकालाओ आरब्भ सुहुमणिगोएसु चिट्ठंति न कयाइ तसाइभावं पत्ता ते असववहारिया। जे पुण सुहुमणिगोएहितो निग्गया सेसजीवेसु उप्पन्ना ते संववहारिआ ते अपुणोवि सुहुमणिगोअत्तं पत्तावि संववहारिअच्चिय भण्णंति।।" [अथवा साव्यवहारिकाश्चासांव्यवहारिकाश्च ॥ तत्र ये अनादिकालादारभ्य सूक्ष्मनिगोदेषु तिष्ठन्ति,न कदाचित् त्रसादिभावं प्राप्तास्ते असाव्यवहारिकाः। ये पुनः सूक्ष्मनिगोदेभ्यो निर्गताः शेषजीवेषूत्पन्नास्ते सांव्यवहारिकाः। ते च पुनरपि सूक्ष्मनिगोदत्वं प्राप्ता अपि साव्यवहारिका एव भण्यन्ते] इदमत्र हृदयम्—सर्वसंसारिणा प्रथममनादिकालादारभ्य सूक्ष्मनिगोदेष्वेवावस्थानम्, तेभ्यश्च निर्गताः शेषजीवेषूत्पन्नाः पृथिव्यादिव्यवहारयोगात्साव्यवहारिकाः। ते च यद्यपि कदाचिद् भूयोऽपि तेष्वेव निगोदेषु गच्छन्ति, पर तत्रापि साव्यवहारिका एव, व्यवहारपतितत्वात्। ये न कदाचित्तेभ्यो निर्गताः "अत्थि अणता जीवा, जेहि ण पत्तो तसाइपरिणामो। तेवि अणंताणंता, णिगोअवासं अणुहवंति"॥१॥ [सन्त्यनन्ता जीवा यैर्न प्राप्तस्त्रसादिपरिणामः। तेऽप्यनन्तानन्ता निगोदवासमनुभवन्ति ॥] इति वचनात्तत्रैवोत्पत्तिव्ययभाजस्ते तथाविधव्यवहारातीतत्वादसांव्यवहारिका इति। तत्रैवाग्रेऽप्युक्तम्–"तेरसविहा जीवा जहा णोसुहुमणिगोअरूवे असंववहारभेए। बारस संववहारिआ, ते आइमे–पुढवी–आऊ–तेउ–वाउ–णिगोआ, सुहुमबायरत्तेण दु दु भेआ,१० पत्तेअवणस्सई १० तसा ११ य ॥"[त्रयोदशविधा यथा सूक्ष्मनिगोदरूपोऽसंव्यवहारभेदः, द्वादश सांव्यवहारिकाः,–पृथिव्य-ते चेमे–पृथिव्यप्तेजोवायुनिगोदाः सूक्ष्मबादरत्वेन द्वौ द्वौ भेदौ, प्रत्येकवनस्पतयः त्रसाश्च।] सांव्यवहारिकासाव्यवहारिकत्वेन जीवाना द्वैविध्यं प्राग् दर्शितम्। तत्रासाव्यवहारिको राशिरेक एव सूक्ष्मनिगोदानामेवासाव्यवहारिकत्वात्. साव्यवहारिकभेदास्तु द्वादशा च इमे पृथिव्यादयः

पञ्च, सूक्ष्मबादरतया द्विभेदाः, प्रत्येकवनस्पतयः त्रसाश्चेति ॥ तथा भवभावनावृत्तावप्युक्तम्—अणाइम एस भवे, अणाइमं च जीवे, अणाई अ सामन्नेण तस्स नाणावरणाइकम्मसंजोगो, अपज्जवसिओ अभव्वाण, सपज्जवसिओ उण भव्वाणं। विसेसओ उण मिच्छत्ताविरइपमायकसायजोगेहिं कम्मसंजोगो जायइत्ति। सव्वेसिंपि जीवाण साईओ चेव एसो जाओ अकामणिज्जरा–बालतवोकम्मसम्मत्तनाणविरइगुणेहि अवस्समेव विहडइत्ति। सव्वेसिं सपज्जवसिओ चेव। तेण य कम्मपोग्गलसंजोअणाणुभावेणं वसंति। सव्वेवि पाणिणो पुव्विं ताव अणंताणतपोग्गलपरिअट्टे अणाइवणस्सइणिगोएसु पीडिज्जति। तत्थेगणिगोअसरीरे अणंता परिणमति असखणिगोअसमुदयणिप्फण्णगोलयभावेणं, समगमणंता जीवा ऊससंति, समगं णीससति, समग आहारेंति, समग परिणामयंति, समग उप्पज्जति, समगं विज्जंति, थीणद्धीमहाणिद्दागाढनाणावरणाइकम्मपोग्गलोदएणं न वेअति अप्पाणं, न मुणति परं, न सुणति सद्दं, न पेच्छंति सरूवं, न अग्घायंति गंधं, न बुज्झति रसं, न विंदति फासं, न सरंति कयाकयं, मइपुव्वं न चलंति, न फंदंति, ण सीयमणुसरंति, नायवमुवगच्छति। केवलं तिव्वविसयवेयणाभिभूअमज्जपाणमत्तमुदियपुरिसव्व जहुत्तरकालं तेसु वसिऊण कहमवि तहाभव्वत्तभविअव्वयाणिओगेणं किंपि तहाविहडिअकम्मपोग्गलसंजोगा तेहिंतो णिग्गंतुमुववज्जंति केइ साहारणवणस्सइसु अल्लय–सूरण–गज्जर–वज्जकंदाइरूवेंण" इत्यादि। [अनादिमानेष भवः, अनादिमांश्च जीवः, अनादिश्च सामान्येन तस्य ज्ञानावरणादिकर्मसंयोगः, अपर्यवसितोऽभव्यानाम्, सपर्यवसितश्च पुनर्भव्यानाम्। विशेषतः पुनर्मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैः कर्मसंयोगो जायते इति। सर्वेषामपि जीवानां सादिक एव एष जातःअकामनिर्जराबालतपःकर्मसम्यक्त्वज्ञानविरतिगुणैरवश्यमेव विघटते इति सर्वेषा सपर्यवसित एव। तेन च कर्मपुद्गलसंयोजनानुभावेन वसन्ति सर्वेऽपि प्राणिनः पूर्वं तावदनन्तानन्तपुद्गलपरावर्ताननादिवनस्पतिनिगोदेषु पीड्यन्ते। तत्रैकनिगोद-

शरीरे अनन्ताः परिणमन्ति, असंख्यनिगोदसमुदयनिष्पन्नगोलकभावेन। समकमनन्ता जीवा उच्छ्वसन्ति, समकं निःश्वसन्ति, समकमाहारयन्ति, समकं परिणामयन्ति समकमुत्पद्यन्ते, समकं म्रियन्ते, स्त्यानर्द्धिमहानिद्रागाढज्ञानावरणादिकर्मपुद्गलोदयेन न वेदयन्ति आत्मानं, न जानन्ति परं, न शृण्वन्ति शब्दम्, न पश्यन्ति स्वरूपम्, नाजिघ्रन्ति गन्धम्, न बुद्ध्यन्ते रसम्, न वेदयन्ति स्पर्शम्, न स्मरन्ति कृताकृतम्, मतिपूर्वं न चलन्ति, न स्पन्दन्ते, न शीतमनुस्मरन्ति, नातपमुपगच्छन्ति। केवलं-तीव्रविषयवेदनाभिभूतमद्यपानमत्त-मुदितपुरुषवद् यथोत्तरकालं तेषु उषित्वा कथमपि तथाभव्यत्वभवितव्यतानियोगेन किमपि तथाविघटितकर्मपुद्गलसंयोगास्तेभ्यो निर्गत्योत्पद्यन्ते केचित्साधारणवनस्पतिषु आर्द्रक-सूरण-गर्जर-वज्रकन्दादिरूपेण ॥] तथा तत्रैव प्रदेशान्तरे प्रोक्तम्—" ततो बलिनरेन्द्रेणोक्तम्- स्वामिंस्तर्हीदमेव श्रोतुमिच्छामि, प्रमादं विधाय निवेदयन्तु भगवन्तः। ततः केवलिना प्रोक्तम्- महाराज! सर्वायुषाऽप्येतत्कथयितुं न शक्यते। केवलं यदि भवता कुतूहलं तर्हि समाकर्णयत, संक्षिप्य किंचित्कथ्यते-इतोऽनन्तकालात्परतो भवान्किल चारित्रसैन्यसहायो भूत्वा मोहारिबलक्षयं करिष्यतीति कर्मपरिणामेनासव्यवहारपुरात्त्रिकाश्य समानीतो व्यवहारनिगोदेषु। ततो विज्ञातैतद्व्यतिकरैर्मोहारिभिः प्रकुपितैर्विधृतस्तेष्वेव त्वमनन्तं कालम्। ततः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु नरकेष्वनार्यमनुष्येषु चानीतस्त्वं कर्मपरिणामेन, पुनः पुनरनन्तवाराः कुपितैर्मोहादिभिर्व्यावर्त्य नीतोऽसि पश्चान्मुखो निगोदादिषु, एवं तावद् यावद्भ्रावितोऽस्यतिदुःखितस्तैरनन्तानन्तपुद्गलपरावर्तान्। ततश्चार्यक्षेत्रेऽपि लब्धं मनुष्यत्वमनन्तवाराः, किन्तु हारितं क्वचित् कुजातिभावेन, क्वापि कुलदोषेण, क्वचिज्जात्यन्धबधिरखञ्जत्वादिवैरूप्येण, क्वापि कुष्ठादिरोगैः, क्वचिद् स्वल्पायुष्कत्वेन एवमनन्तवाराः(रम्), किन्तु धर्मस्य नामाप्यज्ञात्वा भ्रान्तस्तथैव (स्तेष्वेव) पराङ्मुखो व्यावृत्त्यानन्तपुद्गलपरावर्तानेके-

न्द्रियादिषु ततोऽन्यदा श्रीनिलयनगरे धनतिलकश्रेष्ठिनो जातस्त्व वैश्रमणनामा पुत्रः। तत्र च 'स्वजनधनभवनयौवनवनितातत्त्वाघनित्यमिदमखिलं ज्ञात्वाऽऽपत्त्राणसहं धर्मं शरण भजत लोकाः" इति वचनश्रवणाज्जाता धर्मकरणबुद्धिः केवलम्। माऽपि कुदृष्टिमम्भवा महापापबुद्धिरेव परमार्थतः सञ्जाता। तद्वशीकृतेन च स्वयम्भूनाम्नस्त्रिदण्डिनः शिष्यत्वं प्रतिपन्नम्। ततस्तदपि मानुषत्वं हारयित्वाऽव्यावर्तितो भ्रामितः संसारेऽनन्तपुद्गलपरावर्तानिति। ततोऽनन्तकालात्पुनरप्यन्तराऽन्तरा लब्धं मानुषत्वम्, पर न निवृत्ताऽसौ कुधर्मबुद्धिः। शुद्धधर्मश्रवणाभावोऽपि क्वापि सद्गुरुयोगाभावात्क्वचिदालस्यमोहादिहेतुकलापात्। क्वचिच्छुद्धधर्मश्रवणेऽपि तन्निवृत्तोऽसौ शून्यतया तदर्थानवधारणात् क्वचिच्च श्रद्धानेन ततः कुधर्मबुद्ध्युपदेशाद्धर्मच्छलेन पशुवधादिमहापापानि कृत्वा भ्रान्तस्तथैवा(स्तेनैवा)नन्तपुद्गलपरावर्त्तानिति ॥" तथा श्रावकदिनकृत्यसूत्रावप्युक्तम्—"इह हि सदैव लोकाकाशप्रतिष्ठितानाद्यपर्यवसितभवचक्रान्यपुरोदरविपरिवर्ती जन्तुरनादिवनस्पतिषु सूक्ष्मनिगोदापरपर्यायेष्वनन्तानन्तपुद्गलपरावर्तान्समकाहारोच्छ्वासनिःश्वासोऽन्तर्मुहूर्तान्तर्जन्ममरणादिवेदनाव्रातमनुभवति" इत्यादि। तथा "एवं च तथाविधभव्यजन्तुरप्यनन्तकालमव्यवहारराशौ स्थित्वा कर्मपरिणामनृपादेशात्तथाविधभवितव्यतानियोगेन व्यवहारराशिप्रवेशत उत्कर्षेण बादरनिगोदपृथिव्यप्तेजोवायुषु प्रत्येकं सप्तकोटिसागरोपमाणि तिष्ठन्ति। एषा च क्रिया सर्वत्र योज्या। एतेष्वेवं सूक्ष्मेष्वसंख्यलोकाकाशप्रदेशसमा उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः" इत्यादि ॥ पुष्पमालावृत्तावप्युक्तम् "ननु कथमित्थं मनुष्यजन्मदुर्लभं प्रतिपाद्यते? उच्यते—समाकर्णय कारणम्। "अव्ववहारणिगोएसु, ताव चिट्ठति जंतुणो सव्वे॥ पढमं अणंतपोग्गल-परिअट्टे थावरत्तेणं ॥ १ ॥ [अव्यवहारनिगोदेषु तावत्तिष्ठन्ति जन्तवः सर्वे ॥ प्रथममनन्तपुद्गलपरावर्तान् स्थावरत्वेन॥१॥] तत्तो विणिग्गया वि हु, ववहारवणस्सइंमि णिवसंति। कालमणंतपमाणं, अणंतकायाइभावेणं ॥२॥[ततो विनिर्गता

अपि च व्यवहारवनस्पतौ निवसन्ति । कालमनन्तप्रमाणमनन्तकायादिभावेन ॥ २ ॥] तत्तोवि समुवट्टा, पुढविजलानलसमीरमज्झमि ॥ अस्संखोसप्पिणिसप्पिणीओ णिवसंति पत्तेयं ॥३॥ [ततोऽपि समुद्वृत्ताः पृथिवी–जला–नल–समीरमध्ये । असख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणीर्निवसन्ति प्रत्येकम् ॥३॥] सखेज्जं पुण कालं, वसंति विगलिंदिएसु पत्तेय ॥ एवं पुणोपुणो वि य, भमंति ववहाररासिंमि ॥४॥" [संख्येयं पुनः कालं वसन्ति विकलेन्द्रियेषु प्रत्येकम् । एव पुनः पुनरपि च भ्रमन्ति व्यवहारराशौ ॥ ४ ॥] तल्लघुवृत्तावप्युक्तम– "आदौ सूक्ष्मनिगोदे, जीवस्थानन्तपुद्गलविवर्तान् । तस्मात्कालमनन्तं, व्यवहारवनस्पतौ वासः ॥ १ ॥ उत्सर्पिणीरसख्याः, प्रत्येकं भूजलाग्निपवनेषु । विकलेषु च संख्येय, कालं भूयो भ्रमणमेव ॥ २ ॥ तिर्यक्पञ्चेन्द्रियता, कथमपि मानुष्यकं ततोऽपीह । क्षेत्रकुलारोग्यायुर्बुद्ध्यादि यथोत्तर तु दुरवापम् ॥ ३ ॥" धर्मरत्नप्रकरणवृत्तावप्युक्तम्—"इभ्यस्तत्रमनार्थं, प्रययौ नत्वा गुरून् समयविधिना । निषसाद यथास्थानक–मथ सूरिर्देशना चक्रे ॥ १ ॥ अव्यवहारिकराशौ, भ्रमयित्वाऽनन्तपुद्गलविवर्तान् । व्यवहृतिराशौ कथमपि, जीवोऽय विशति तत्रापि ॥ २ ॥ बादरनिगोद–पृथिवी–जल–दहन–समीरणेषु जलधीनाम् । सप्ततिकोटाकोट्यः, कायस्थितिकाल उत्कृष्टः ॥ ३ ॥ सूक्ष्मेष्वमीषु पञ्च–स्ववसर्पिण्यो ह्यसंख्यलोकसमाः । सामान्यबादरेऽङ्गुल–गणनातीताशमानास्ताः ॥ ४ ॥ " इत्यादि ॥ संस्कृतनवतत्त्वसूत्रेऽप्युक्तम्—निगोदा एव गदिता, जिनैरव्यवहारिण । सूक्ष्मास्तदितरे जीवा–स्तेऽन्येऽपि व्यवहारिणः ॥ १ ॥" इति तदेवंविधवचनैरनादिसूक्ष्मनिगोदस्यैवासांव्यवहारिकत्वम्, अन्येषा च व्यावहारिकत्वमिति स्थितौ परोक्ता युक्तिरेकाऽवतिष्ठते । तत्र " सिज्झंति जत्तिया किर०" इत्यादिना व्यवहारराशितः सिद्धानामनन्तगुणत्वं व्यवस्थाप्य तदनन्तगुणत्वेन बादरनिगोदजीवानामव्यावहारिकत्वं च व्यवस्थापितम् । तदसत्,(ततः) सिद्ध्यवच्छिन्नव्यवहारराश्यपेक्षया सिद्धानामनन्तगुणत्वसिद्धावपि

सामान्यापेक्षया तदसिद्धेः, व्यवहारित्वभवनसिद्धिगमनयोरपर्यवसितत्वं चानादिसूक्ष्मनिगोदान्नियतव्यवहारित्वाभिमुखजीवाना निर्ग-
मात्वानुपपन्नम् । आवलिकासंख्येयभागपुद्गलपरावर्तमानत्वेन व्यावहारिकाणा सर्वेषा सिद्ध्यापत्तिस्तु स्यात् । तत्राभव्यस्य व्यावहारि
कत्वानुरोधेन निगोदत्वेन तिर्यक्त्वनपुंसकत्वादिना च कायस्थितिप्रतिपादकाना सूत्राणां व्यावहारिकविशेषविषयत्वं वा कल्पनीयम्,
अन्यो वा कश्चित्सूत्राभिप्राय इत्यत्र बहुश्रुता एव प्रमाणम् । अवश्यं च सूत्राभिप्रायः कोऽपि मृग्यः, अन्यथा बहवो भव्यास्तावदेता-
वतः कालात्सिध्यन्ति, अन्ये तु स्वल्पात्,अपरे तु स्वल्पतरात्, यावत्केचिन्मरुदेवीस्वामिनीवत्स्वल्पेनैव कालेन सिध्यन्ति । अभव्यास्तु
कदाचिदपि न सिध्यन्ति, भवभावनावृत्त्यादिवचनादभव्यानां भव्याना च यदुक्ताधिकसंसारभेदभणनं तन्नोपपद्येत । यत्तु परे-
णोक्तम्—यत्तु क्वचिदाधुनिकप्रकरणादौ प्रज्ञापनाद्यागमविरुद्धानि वचनानि भवन्ति, तत्र तीर्थान्तरवर्तिनामसद्ग्रहाभावादनाभोग
एव कारणम् । तथा अभव्या न व्यवहारिणो नाप्यव्यवहारिणः, किन्तु व्यवहारित्वादिव्यपदेशबाह्या इति ते व्यावहारिकमध्ये न
विवक्षितास्तेषा सम्यक्त्वप्रतिपतितानामनन्तभागवर्तित्वेनाल्पत्वादिति ॥ तदतिसाहसविजृम्भितम्, अभिप्रायमज्ञात्वा प्राचीनप्रकरण-
विलोपे महाशातनाप्रसङ्गात् । अभव्यानामपि व्यावहारिकबहिर्भावे नियतकायस्थितिरूपससारपरिभ्रमणानुपपत्तेर्यादृच्छिककल्पन-
याऽसमञ्जसत्वप्रसङ्गात्, नोव्यवहारित्व-नो अव्यवहारित्वपरिभाषामात्रस्य चाभव्येष्विवोक्ताधिकसंसारिजीवेष्वपि कल्पयितुं वा शक्य-
त्वाच्च न किंचिदेतदिति दिग् ॥ ९ ॥ तदेवमभव्यस्याप्याभिग्रहिक मिथ्यात्व भवतीति प्रदर्शयितुमाभिग्रहिकस्य षड् भेदा उक्ताः ।
अथानाभिग्रहिकादीनामपि सामान्येन बहुप्रकारत्वं निर्दिशन्नेतेषु गुरुलघुभावं विवेचयति—

अणभिग्गहिआईणवि, आसयभेएण हुंति बहुभेआ। लहुआइं तिण्णि फलओ, एएसुं दुन्नि गरुआइं ॥१०॥

[अनाभिग्रहिकादीनामपि आशयभेदेन भवन्ति बहुभेदाः । लघूनि त्रीणि फलतो एतेषु द्वे गुरुणी ॥ १० ॥]

अणभिग्गहिआईणविति। अनाभिग्रहिकादीनामपि मिथ्यात्वानाम्, आशयभेदेन परिणामविशेषेण, बहवो भेदा भवन्ति । तथाहि–अनाभिग्रहिकं किंचित्सर्वदर्शनविषयम्–यथा 'सर्वाणि दर्शनानि शोभनानि' इति । किंचिद्देशविषयम्–यथा 'सर्व एव श्वेताम्बरदिगम्बरादिपक्षाः शोभनाः' इत्यादि । आभिनिवेशिकमपि मतिभेदाभिनिवेशादिमूलभेदादनेकविधम्–जमालिगोष्ठामाहिलादीनाम्। उक्तं च व्यवहारभाष्ये–"मइभेएण जमाली, पुव्विं वुग्गाहिएण गोविंदो। ससग्गीए भिक्खू , गोट्ठामाहिल अहिणिवेसत्ति ॥१॥" इति।[मतिभेदेन जमालिः पूर्वं व्युद्ग्राहितेन गोविन्दः। संसर्गाद् भिक्षुर्गोष्ठामाहिल अभिनिवेशादिति॥]साशयिकमपि सर्वदर्शन–जैनदर्शनतदेकदेशपदवाक्यादिसशयभेदेन बहुविधम् । अनाभोगोऽपि सर्वांशविषयाव्यक्तबोधस्वरूपो विवक्षितकिंचिदंशाव्यक्तबोधस्वरूपश्चेत्यनेकविधः । न खलु महामोहशैलूपस्यैको नर्तनप्रकारोऽस्तीति । एतेष्वाभिग्रहिकादिषु मिथ्यात्वेषु मध्ये, त्रीण्यनाभिग्रहिकसांशयिकानाभोगरूपाणि, फलतः प्रज्ञापनीयतारूपं गुरुपारतन्त्र्यरूप च फलमपेक्ष्य, लघूनि , विपरीतावधारणरूपविपर्यासव्यावृत्तत्वेनैतेषां क्रूरानुबन्धफलकत्वाभावात्। द्वे आभिग्रहिकाभिनिवेशलक्षणे मिथ्यात्वे, गुरू (रुणी) विपर्यासरूपत्वेन सानुबन्धक्लेशमूलत्वात् । उक्तं चोपदेशपदे—" एसो अ एत्थ गुरुओ, णाणज्झवसायसंसया एवं । जम्हा असप्पवित्ती, एत्तो सव्वत्थणत्थफला ॥ १ ॥" [एष चात्र गुरुर्नानध्यवसायसंशयावेवम् । यस्मादसत्प्रवृत्तिरितः सर्वत्रानर्थफला ॥] दुष्प्रतीकारोऽसत्प्रवृत्तिहेतुत्वेनैव विपर्यासोऽत्र गरीयान् दोषः, न त्वनध्यवसाय–संशयावेवंभूतौ, अतत्त्वाभिनिवेशाभावेन तयोः सुप्रतीकारत्वेनात्यन्तानर्थसंपादकत्वाभावादित्येतत्तात्पर्यार्थः ॥ नन्वत्र माषतुषादीनां चारित्रिणामेव संशयानध्यवसाययोरसत्प्रवृत्त्यननुबन्धित्वमुक्तम्, तच्च युक्तम्, तेषां मिथ्या-

त्वमोहनीयानन्तानुबन्धिना प्रबलबोधविपर्यासकारिणा प्रबलक्रियाविपर्यासकारिणां च तृतीयकषायादीनामभावात्। मिथ्यादृशा संशयानध्यवसाययोश्च न तथात्वं युक्तम्, विपर्यासशक्तियुक्तत्वात्तेषाम्। अतः शुभपरिणामोऽपि तेषां फलतोऽशुभ एवोक्तः श्रीहरिभद्रसूरिभिः। तथाहि—"गलमच्छ–भवविमोअग–विसन्नभोईण जारिसो एसो। मोहा सुहोवि असुहो, तप्फलओ एयमेसोत्ति ॥१॥" गलेत्यादि। गलो नाम प्रान्तन्यस्तामिषो लोहमयः कण्टको मत्स्यग्रहार्थं जलमध्ये संचारितः, तद्ग्रसनप्रवृत्तो मत्स्यस्तु प्रतीत एव। ततो गलेनोपलक्षितो मत्स्यो गलमत्स्यः। भवाद्—दुःखबहुलकुयोनिलक्षणाद् दुःखितजीवान् काकशृगालपिपीलिकादीन् तथाविधकुत्सितवचनसंस्कारात्प्राणव्यपरोपणेन मोचयत्युत्तारयतीति भवविमोचकः—पाखण्डविशेषः। विषेण मिश्रमन्नं तद् भुङ्क्ते तच्छीलश्च यः स तथाविधः। ततो गलमत्स्यश्च भवविमोचकश्च विषान्नभोजी चेति द्वन्द्वः, तेषां यादृश एव परिणामः प्रत्यपायफल एव। कुतः? मोहादज्ञानात्पर्यन्तदारुणतया शुभोऽपि–स्वकल्पनया स्वरुचिमन्तरेण तेषां तथाप्रवृत्तेरयोगात्सुन्दरोऽपि सन्, अशुभः संक्लिष्ट एव। कुतः? इत्याह—तत्फलतः—भावप्रधानत्वाद् निर्देशस्य तत्फलत्वाद् अशुभपरिणामफलत्वाद्। अथ प्रकृते योजयन्नाह—एवं गलमत्स्यादिपरिणामवत्, एषोऽपि जिनाज्ञोल्लङ्घनेन धर्मचारिपरिणामः तत्फलत्वादशुभ एव, आज्ञापरिणामशून्यतयोभयत्रापि समानत्वेन तुल्यमेव किल फलम्" इति ॥ १० ॥ एतदाशङ्कायामाह—

मज्झत्थत्तं जायइ, जेसिं मिच्छत्तमंदयाएवि । ण तहा असप्पवित्ती, सदंधणाएण तेसिंपि ॥ ११ ॥

[मध्यस्थत्वं जायते येषां मिथ्यात्वमन्दतयाऽपि । न तथाऽसत्प्रवृत्तिः सदन्धज्ञातेन तेषामपि ॥ ११ ॥]

मज्झत्थत्तंति । मध्यस्थत्वं रागद्वेषरहितत्वं, जायते येषां मिथ्यात्वमन्दतयाऽपि, किंपुनस्तत्क्षयोपशमाद् इत्यपिशब्दार्थः ।

तेषामपि मन्दमिथ्यात्ववतामपि, किं पुनः सम्यग्दृष्ट्यादीनाम्। न तथा दृढविपर्यासनियतप्रकारेण, असत्प्रवृत्तिः स्यात्। केन? मदन्धज्ञातेन–समीचीनान्धदृष्टान्तेन। यथाहि–सदन्धः मातवेद्योदयादनाभोगेनाऽपि मार्ग एव गच्छति, तथा निर्बीजत्वेन निर्बीजभावाभिमुखत्वेन वा मोहापकर्षजनितमन्दरागद्वेषभावोऽनाभोगवान्मिथ्यादृष्टिरपि जिज्ञासादिगुणयोगान्मार्गमेवानुसरतीत्युक्तम्। उक्तं च ललितविस्तरायाम्–"अनाभोगतोऽपि मार्गगमनमेव सदन्धन्यायेन–इत्यध्यात्मचिन्तकाः" इदमत्र हृदयम्–यः खलु मिथ्यादृशामपि केषांचित्स्वपक्षनिबद्धोद्धुरानुबन्धानामपि प्रबलमोहत्वे सत्यपि कारणान्तरादुपजायमानो रागद्वेषमन्दतालक्षण उपशमो भूयानपि दृश्यते, स पापानुबन्धिपुण्यबन्धहेतुत्वात्पर्यन्तदारुण एव। तत्फलसुखव्यामूढाना तेषां पुण्याभासकर्मोपरमे नरकादिपातावश्य भावादित्यसत्प्रवृत्तिहेतुरेवायम्। यश्च गुणवत्पुरुषप्रज्ञापनाऽर्हत्वेन जिज्ञासादिगुणयोगान्मोहापकर्षप्रयुक्तरागद्वेषशक्तिप्रतिघातलक्षण उपशमः, स तु सत्प्रवृत्तिहेतुरेवाग्रहविनिवृत्तेः सदर्थपक्षपातसारत्वादिति ॥ ११ ॥

यत एव मिथ्यात्वमन्दताकृत माध्यस्थ्य नासत्प्रवृत्त्याधायकम्, अत एव तदुपष्टम्भकमनाभिग्रहिकमिथ्यात्वमपि शोभनमित्याह—

इत्तो अणभिग्गहियं, भणिअं हियकारि पुव्वसेवाए ॥ अण्णायविसेसाणं, पढमिल्लयधम्ममहिगिच्च ॥ १२ ॥

[इतोऽनाभिग्रहिक भणित हितकारि पूर्वसेवायाम्। अज्ञातविशेषाणां प्रथमधर्ममधिकृत्य ॥ १२ ॥]

इत्तोत्ति। इतः पूर्वोक्तकारणात्, अज्ञातविशेषाणां देवगुर्वादिविशेषपरिज्ञानाभाववता, प्राथमिक धर्ममधिकृत्य–प्रथमारब्धस्थूलधर्ममाश्रित्य, पूर्वसेवायां योगप्रासादप्रथमभूमिकोचिताचाररूपाया, अनाभिग्राहिकं–सर्वदेवगुर्वादिश्रद्धानलक्षण मिथ्यात्व, हितकारि भणितम्, अनुपङ्गतः सद्विषयभक्तिहेतुत्वाद्, अविशेषश्रद्धानस्यापि दशाभेदेन गुणत्वात्। तदुक्तं योगबिन्दौ ॥ अथ

"देवपूजाविधिमाह—पुष्पैश्च बलिना चैव, वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः ॥ देवानां पूजनं ज्ञेयं, शौचश्रद्धासमन्वितम् ॥१॥ (श्लो० ११६) पुष्पैर्जातिशतपत्रकादिसम्भवैः, बलिना पक्वान्नफलाद्युपहाररूपेण, वस्त्रैः वसनैः, स्तोत्रैश्च शोभनैः स्तवनैः, चशब्दो चैवशब्दश्च समुच्चयार्थौ। शोभनैरादरोपहितत्वेन सुन्दरैः, देवानामाराध्यतमाना, पूजनं ज्ञेयम्। कीदृशम्? इत्याह—शौचश्रद्धासमन्वितम्। शौचेन शरीरवस्त्रद्रव्यव्यवहारशुद्धिरूपेण, श्रद्धया च बहुमानेन, समन्वितं युक्तमिति ॥ " अविशेषेण सर्वेषा—मधिमुक्तिवशेन वा ॥ गृहिणा माननीया य—त्सर्वे देवा महात्मनाम् ॥ २ ॥ " (११७) अविशेषेण—साधारणवृत्त्या सर्वेषां—पारगत—सुगत—हर—हरि-हिरण्यगर्भादीनाम्। पक्षान्तरमाह—अधिमुक्तिवशेन वा। अथवा यस्य यत्र देवतायामतिशयेन श्रद्धा तद्वशेन। कुतः? इत्याह, गृहिणाम्—अद्यापि कुतोऽपि मतिमोहादनिर्णीतदेवताविशेषाणा, माननीया—गौरवार्हाः, यद् यस्मात्, सर्वे देवा उक्तरूपाः, महात्मना परलोकप्रधानतया प्रशस्तात्मनामिति॥ एतदपि कथम्? इत्याह॥ सर्वान्देवान्नमस्यन्ति, नैकं देवं समाश्रिताः ॥ जितेन्द्रिया जितक्रोधा, दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥३॥ (११८) सर्वान् देवान्नमस्यन्ति—नमस्कुर्वते। व्यतिरेकमाह—नैकं कंचन, देवं समाश्रिताः प्रतिपन्ना वर्तन्ते। येन ते जितेन्द्रिया निगृहीतहृषीकाः, जितक्रोधा अभिभूतकोपाः, दुर्गाणि—नरकपातादीनि व्यसनानि, अतितरन्ति—व्यतिक्रामन्ति, ते सर्वदेवनमस्कर्तारः। ननु नैव ते लोके व्यवह्रियमाणाः सर्वेऽपि देवा मुक्तिपथप्रस्थितानामनुकूलाचरणा भवन्तीति कथमविशेषेण नमस्करणीयाः(यता)? इत्याशङ्क्याह—चारिसञ्जीवनीचार—न्याय एष सतां मतः ॥ नान्यथाऽत्रेष्टसिद्धिः स्याद्, विशेषेणादिकर्मणाम् ॥४॥(११९) चारेः प्रतीतरूपाया मध्ये सञ्जीवनी—औषधिविशेषश्चारिसञ्जीवनी, तस्याश्चारश्चरण स एव न्यायो दृष्टान्तश्चारिसञ्जीवनीचारन्यायः। एषोऽविशेषेण देवतानमस्करणीयतोपदेशः, सतां शिष्टानां मतोऽभिप्रेतः। " भावार्थस्तु

कथागम्यः, सा चेयमभिधीयते॥ अस्ति स्वस्तिमती नाम, नगरी नागराकुला ॥१॥ तस्यामासीत्सुता काचिद्, ब्राह्मणस्य तथा सखी ॥ तस्या एव पर पात्रं, सदा प्रेम्णो गतावधेः ॥ २ ॥ तयोर्विवाहवशतो, भिन्नस्थाननिवासिता ॥ जज्ञेऽन्यदा द्विजसुता, जाता (स्थिता) चिन्तापरायणा ॥ ३ ॥ कथमास्ते सखीत्येव, ततः प्राघूर्णिका गता ॥ दृष्टा विपादजलधौ, निमग्ना सा तया ततः ॥४॥ प्रपच्छ किं त्वमत्यन्त–विच्छायवदना सखि ! ॥ तयोचे पापसद्माऽहं, पत्युर्दुर्भगता गता ॥५॥ मा विषीद विषादोऽय, निर्विशेषो विषात् सखि ! करोम्यनड्वाहमहं, पतिं ते मूलिकाबलात् ॥ ६ ॥ तस्याः सा मूलिका दत्त्वा, संनिवेशं निजं ययौ ॥ अप्रीतमानसा तस्य, प्रायच्छ त्तामसौ ततः ॥७॥ अभूद् गौरुद्धुरस्कन्धो, झगित्येव च सा हृदि ॥ विद्राणाऽथ (णैप) कथ सर्व–कार्याणामक्षमोऽभवत् ॥८॥ गोयूथान्तर्गतो नित्यं, बहिश्चारयितुं सकः। तयाऽऽरब्धो वटस्याधः, सोऽन्यदा विश्रमं गतः ॥९॥ तच्छाखाया नभश्चारि–मिथुनस्य कथचन ॥ विश्रान्तस्य मिथो जल्प–प्रक्रमे रमणोऽब्रवीत् ॥ १० ॥ नात्रैष गौः स्वभावेन, किन्तु वैगुण्यतोऽजनि ॥ पत्नी प्रतिबभाषे सा, पुनर्नाऽसौ कथ भवेत् ॥ ११ ॥ मूल्यन्तरोपयोगेन, क्वास्ते ? साऽस्य तरोरधः ॥ श्रुत्वैतत्सा पशोः पत्नी, पश्चात्तापितमानसा ॥ १२ ॥ अभेदज्ञा ततश्चारि, सर्वां चारयितु तकम् ॥ प्रवृत्ता मूलिकाऽऽभोगा–त्सद्योऽसौ पुरुषोऽभवत् ॥ १३ ॥ अजानाना यथा भेद, मूलिकायास्तया पशुः। चारितः सर्वतश्चारिं, पुनर्नृत्वोपलब्धये ॥१४॥ तथा धर्मगुरुः शिष्यं, पशुप्रायं विशेषतः ॥ प्रवृत्तावक्षमं ज्ञात्वा, देवपूजादिके विधौ ॥ १५ ॥ सामान्यदेवपूजादौ, प्रवृत्तिं कारयन्नपि ॥ विशिष्टसाध्यसिद्ध्यर्थं, न स्याद्दोषी मनागपि ॥१६॥ ” इति। विपक्षे बाधामाह, न नैव, अन्यथा चारिसञ्जीवनीचारन्यायमन्तरेण, अत्र देवपूजनादौ प्रस्तुते, इष्टसिद्धिः विशिष्टमार्गावताररूपा, स्याद् भवेत् । अयं चोपदेशो यथा येषा दातव्यस्तदाह विशेषेण सम्यग्दृष्ट्याद्युचितदेशनापरिहाररूपेण, आदिकर्मणाम् प्रथममे-

वारब्धस्थूलधर्माचाराणाम् । ते ह्यत्यन्तमुग्धतया कंचन देवताविशेषमजानाना न विशेषप्रवृत्तेरथापि योग्याः, किन्तु सामान्यरूपाया एवेति ॥ तर्हि कदा विशेषे प्रवृत्तिरनुमन्यते ? इत्याशङ्क्य आह ॥ गुणाधिक्यपरिज्ञाना–द्विशेषेऽप्येतदिष्यते ॥ अद्वेषेण तदन्येषां, वृत्ताधिक्ये तदाऽऽत्मनः ॥ १२० ॥ गुणाधिक्यपरिज्ञानात् देवतान्तरेभ्यो गुणवृद्धेरवगमात्, विशेषेऽप्यर्हदादौ किं पुनः सामान्येन एतत्पूजनमिष्यते । कथम् ? इत्याह, अद्वेषेण अमत्सरेण, तदन्येषाम् पूज्यमानदेवताव्यतिरिक्तानां देवतान्तराणां, वृत्ताधिक्ये आचाराधिक्ये सति । तथा इति विशेषणसमुच्चये । आत्मनः स्वस्य देवतान्तराणि प्रतीत्येति ॥" अत्र ह्यादिधार्मिकस्य विशेषाज्ञानदशाया साधारणी देवभक्तिरेवोक्ता, दानाधिकारे पात्रभक्तिरप्यस्य विशेषाज्ञाने साधारण्येव, तज्ज्ञाने च विशेषत उक्ता । तथाहि ॥ "व्रतस्था लिङ्गिनः पात्र–मपचास्तु विशेषतः ॥ स्वसिद्धान्ताविरोधेन, वर्तन्ते ये सदैव हि ।'१२२॥ व्रतस्था हिंसाऽनृतादिपापस्थानविरतिमन्तः, लिङ्गिनो व्रतसूचकतथाविधनेपथ्यवन्तः, पात्रमविशेषेण वर्तन्ते । अत्रापि विशेषमाह–अपचास्तु स्वयमेवापाचकाः, पुनरुपलक्षणात्परैरपाचयितारः पच्यमानाननुमन्तारो लिङ्गिन एव विशेषेण पात्रम् । तथा स्वसिद्धान्ताविरोधेन स्वशास्त्रोक्तक्रियाऽनुल्लङ्घनेन, वर्तन्ते चेष्टन्ते, सदैव हि सर्वकालमेवेति ॥ इत्थं चास्यानाभिग्रहिकमपि गुणकारि सम्यक्त्वम् । तथा चानाभिग्रहिकस्याभिग्रहिककल्पत्वात्तीव्रमेवेति सुनिश्चितमित्यादि संमतिप्रदर्शनपूर्वं यः प्राह तन्निरस्तम्, मुग्धानामप्रतिपत्तौ तस्य गुणत्वात् । सुनिश्चितमित्यादिना विशेषज्ञस्यापि मायादिना माध्यस्थ्यप्रदर्शनस्यैव दोषत्वप्रतिपादनात् । न चास्याविशेषप्रतिपत्तिः सम्यग्दृष्टेरिव दुष्टेति शङ्कनीयम्, अवस्थाभेदेन दोषव्यवस्थानात् । अन्यथा साधोरिव सम्यग्दृशः साक्षादर्हत्पूजादिकमपि दुष्टं स्यादिति विभावनीयम् । एतेन पृथिव्याद्यारम्भप्रवृत्तापेक्षया निजनिजदेवाराधनप्रवृत्तानामध्यवसायः शोभनः, देवादिशुभगतिहेतुत्वात्, इत्यसत्, तथाभूताध्य-

वसायस्य शोभनत्वे सम्यक्त्वोच्चारिणो "कप्पइ अणउत्थिए वा०" इत्यादिरूपेण मिथ्यात्वप्रत्याख्यानानुपपत्तिप्रसक्तेः। न हि शुभाध्यवसायस्य तद्धेतोर्वा प्रत्याख्यानं सम्भवति, ततः शुभाध्यवसायोऽपि तेषां पापानुबन्धिपुण्यप्रकृतिहेतुत्वेन नरकादिनिबन्धनत्वान्महानर्थहेतुरेव। न ह्यत्रापेक्षिकमपि शुभत्वं घटते, स्वस्त्रीसङ्गपरित्यागेन परस्त्रीसङ्गप्रवृत्तस्येव बहुपापपरित्यागमन्तरेणाल्पपापपरित्यागस्याशुभत्वाद्। अत एव पृथिव्याद्यारम्भप्रवृत्तस्यापि सम्यग्दृशोऽन्यतीर्थिकदेवाद्याराधनपरित्यागोपपत्तिरिति परस्यैकान्ताभिनिवेशो निरस्तः। उत्कटमिथ्यात्ववन्तं पुरुषं प्रतीत्य निजनिजदेवाद्याराधनप्रवृत्तेर्महानर्थहेतुत्वेऽप्यनाग्रहिकमादिधार्मिकं प्रति तथात्वस्याभावात्, तस्याविशेषप्रवृत्तेर्दुर्गतरणहेतुत्वस्य हरिभद्रसूरिभिरेवोक्तत्वात्। प्रत्याख्यानं च पूर्वभूमिकायां शुभाध्यवसायहेतोरप्युत्तरभूमिकाया स्वप्रतिपन्नविशेषधर्मप्रतिबन्धकरूपेण भवति, नैतावता पूर्वभूमिकायामपि तस्य विलोपो युक्तः। यथाहि—प्रतिपन्नकृत्स्नसंयमस्य जिनपूजायाः साक्षात्करणनिषेधात्, तस्य स्वप्रतिपन्नचारित्रविरोधिपुष्पादिग्रहणरूपेण तत्प्रत्याख्यानेऽप्यकृत्स्नसंयमवता श्राद्धानां न तदनौचित्यम्, तथा प्रतिपन्नसम्यग्दर्शनानां स्वप्रतिपन्नसम्यक्त्वप्रतिबन्धकविपर्याससहेतुत्वेनाविशेषप्रवृत्तेः प्रत्याख्यानेऽपि नादिधार्मिकाणां तदनौचित्यमिति विभावनीयम्। नन्वेवमादिधार्मिकस्य देवादिसाधारणभक्तेः पूर्वसेवायामुचितत्वे जिनपूजावत्साधूनां साक्षात्तदकरणव्यवस्थायामपि तद्वद्देवानुमोद्यत्वापत्तिरिति चेद्। न, सामान्यप्रवृत्तिकारणतदुपदेशादिना तदनुमोद्यताया इष्टत्वात्, केवलं सम्यक्त्वाद्यनुगतं कृत्यं स्वरूपेणाप्यनुमोद्यमितरच्च मार्गबीजत्वादिनेत्यस्ति विशेष इत्येतच्चाग्रे सम्यग् विवेचयिष्यामः ॥ १२ ॥

अनाभिग्रहिकस्य शोभनत्वमेव गुणान्तराधायकत्वेन समर्थयति—

इत्तो अ गुणट्ठाणं, पढमं खलु लद्धजोगदिट्ठीणं ॥ मिच्छत्तेवि पसिद्धं, परमत्थगवेसणपराणं ॥ १३ ॥

[इतश्च गुणस्थानं, प्रथमं खलु लब्धयोगदृष्टीनाम् । मिथ्यात्वेऽपि प्रसिद्धं परमार्थगवेषणपराणाम् ॥ १३ ॥]

इतश्चानाभिग्रहिकस्य हितकारित्वादेव च, मिथ्यात्वेऽपि, खल्विति निश्चये, लब्धयोगदृष्टीनां मित्रादिप्रथमदृष्टिचतुष्टयप्राप्तिमता, परमार्थगवेषणपराणां मोक्षैकप्रयोजनानां योगिनां, प्रथमं गुणस्थानमन्वर्थं, प्रसिद्धम् । अयं भावः-मिथ्यादृष्टयोऽपि परमार्थगवेषणपराः सन्तः पक्षपात परित्यज्याद्वेषादिगुणस्थाः खेदादिदोषपरिहाराद् यदा सवेगतारतम्यमाप्नुवन्ति तदा मार्गाभिमुख्यात्तेषामिक्षु-रस-कक्कब-गुडकल्पा मित्रा तारा बला दीप्रा चेति चतस्रो योगदृष्टय उल्लसन्ति, भगवत्पतञ्जलिभदन्तभास्करादीना तदभ्युपगमात् । तत्र मित्रायां दृष्टौ स्वल्पो बोधो, यमो योगाङ्गं देवकार्यादावखेदो, योगबीजोपादान भवोद्वेगसिद्धान्तलेखनादिक बीजश्रुतौ परमश्रद्धा, सत्सगमश्च भवति, चरमयथाप्रवृत्तकरणसामर्थ्येन कर्ममलस्याल्पीकृतत्वात् । अत एवेदं चरमयथाप्रवृत्तकरणं परमार्थतोऽपूर्वकरणमेवेति योगविदो विदन्ति। उक्त च-"अपूर्वासन्नभावेन, व्यभिचारवियोगतः ॥ तत्त्वतोऽपूर्वमेवेद-मिति योगविदो विदुः ॥ ३९ ॥" अस्या चावस्थाया, मिथ्यादृष्टावपि गुणस्थानपदस्य योगार्थघटनोपपद्यते । उक्तं च—"प्रथमं यद्गुणस्थानं, सामान्येनोपवर्णितम् ॥ अस्या तु तदवस्थाया, मुख्यमन्वर्थयोगतः ॥ ४० ॥" तारायां तु मनाक् स्पष्टं दर्शनम्, शुभा नियमाः, तत्त्वजिज्ञासा, योगकथास्वविच्छिन्ना प्रीतिः, भावयोगिषु यथाशक्त्युपचारः, उचितक्रियाऽहानिः, स्वाचारहीनतायां महात्रासः, अधिककृत्यजिज्ञासा च भवति, तथाऽस्या स्थितः स्वप्रज्ञाकल्पिते विसंवाददर्शनान्नानाविधमुमुक्षुप्रवृत्तेः कार्त्स्न्येन ज्ञातुमशक्यत्वाच्च शिष्टाचरितमेव पुरस्कृत्य प्रवर्तते । उक्त च-"नास्माकं महती प्रज्ञा, सुमहान् शास्त्रविस्तरः । शिष्टाःप्रमाणमिह त-दित्यस्या मन्यते सदा ॥४८॥" बलायां दृष्टौ दृढं दर्शनम्, स्थिरसुखमासनम्, परमा तत्त्वशुश्रूषा, योगगोचरोऽक्षेपः, स्थिरचित्ततया योगसाधनोपायकौशलं च

भवति। दीप्रायां दृष्टौ प्राणायामः, प्रशान्तवाहितालाभाद् योगोत्थानविरहः, तत्त्वश्रवणम्, प्राणेभ्योऽपि धर्मस्याधिकत्वेन परिज्ञानम्, तत्त्वश्रवणतो गुरुभक्तेरुद्रेकात्समापत्त्यादिभेदेन तीर्थकृद्दर्शनं च भवति। तथा मित्रादृष्टिस्तृणाग्निकणोपमा न तत्त्वतोऽभीष्टकार्यक्षमा, सम्यक् प्रयोगकालं यावदनवस्थानात्, अल्पवीर्यतया ततः पटुस्मृतिबीजसंस्काराधानानुपपत्तेः, विकलप्रयोगभावाद् भावतो वन्दनादि कार्यायोगादिति। तारादृष्टिर्गोमयाग्निकणसदृशी, इयमप्युक्तकल्पैव, तत्त्वतो विशिष्टस्थितिवीर्यविकलत्वाद्। अतोऽपि प्रयोगकाले स्मृतिपाटवासिद्धेः, तदभावे प्रयोगवैकल्यात्, ततस्तथातत्कार्याभावादिति। बलादृष्टिः काष्ठाग्निकणतुल्या, ईषद्विशिष्टोक्तबोधद्वयात्, तद्भावेनात्र (तद्भवतोऽत्र) मनाक्स्थितिवीर्ये, अतः पट्वप्राया स्मृतिरिह, प्रयोगसमये तद्भावे चार्थप्रयोगमात्रप्रीत्या यत्नलेशभावा- दिति। दीप्रादृष्टिर्दीपप्रभासदृशी, विशिष्टतरोक्तवीर्यबोधत्रयाद्, अतोऽत्रोदये स्थितिवीर्ये, तत्पट्व्यपि प्रयोगसमये स्मृतिः। एवं भावतोऽप्यत्र द्रव्यप्रयोगो वन्दनादौ, तथा भक्तितो यत्नभेदप्रवृत्तेरिति प्रथमगुणस्थानप्रकर्ष एतावानिति समयविदः। इत्थं चोक्तस्य योगदृष्टिसमुच्चयग्रन्थार्थस्यानुसारेण मिथ्यादृष्टीनामपि मित्रादिदृष्टियोगेन तथा(थ्य)गुणस्थानकत्वसिद्धेः, तथाप्रवृत्तेरनाभिग्रहिक- त्वमेव तेषां शोभनमित्यापन्नम् ॥१३॥ ननु योगदृष्ट्याऽपि मिथ्यादृशां कथं गुणभाजनत्वम्? जैनत्वप्राप्तिं विना गुणलाभासम्भवाद् दृष्टिविपर्यासस्य दोषस्य सत्त्वाद्। अत एवोक्तम्—"मिथ्यात्वं परमो रोगो, मिथ्यात्वं परमं तमः॥ मिथ्यात्वं परमः शत्रु-र्मिथ्यात्वं पदमापदाम् ॥ १ ॥" इत्याशङ्क्याह—

गलिआसग्गहदोसा, अविज्जसंविज्जपयगया तेवि ॥ सव्वण्णुभिच्चभावा, जइणत्तणं जंति भावेणं ॥ १४ ॥

[गलितासद्ग्रहदोषा अवेद्यसंवेद्यपदगतास्तेऽपि। सर्वज्ञभृत्यभावाद् जैनत्वं यान्ति भावेन ॥ १४ ॥]

गलिआसग्गहदोसत्ति । ते लब्धयोगदृष्टयो मिथ्यात्ववन्तोऽवेद्यसंवेद्यपदगता अपि तत्त्वश्रवणपर्यन्तगुणलाभेऽपि कर्मवज्रविभेदलभ्यानन्तधर्मात्मकवस्तुपरिच्छेदरूपसूक्ष्मबोधाभावेन वेद्यसंवेद्यपदाधस्तनपदस्थिता अपि भावेन जैनत्वं यान्ति नेद्यसंवेद्यावेद्यसंवेद्यपदयोर्लक्षणमिदम्—"वेद्यं संवेद्यते यस्मि-न्नपायादिनिबन्धनम् । पदं तद्वेद्यसंवेद्य-मन्यदेतद्विपर्ययात् ॥" इति ॥७३॥ अस्यार्थः वेद्यं वेदनीयं वस्तुस्थित्या तथाभावयोगिसामान्येनाविकल्पज्ञानग्राह्यमित्यर्थः । संवेद्यते क्षयोपशमानुरूप विज्ञायते, यस्मिन्नाशयस्थाने, अपायादिनिबन्धनं नरकस्वर्गादिकारण स्त्र्यादि, तद् वेद्यसंवेद्यपदं निश्चितागमतात्पर्यार्थयोगिना भवति। अन्यदवेद्यसंवेद्यपदम् । एतद्विपर्ययात्—उक्तलक्षणव्यत्ययात् स्थूलबुद्धीना भवति ॥ कथ ते भावजैनत्वं यान्ति ? इत्यत्र हेतुमाह—सर्वज्ञभृत्यभावात् सर्वत्र धर्मशास्त्रपुरस्कारेण तद्वक्तृसर्वज्ञसेवकत्वाभ्युपगमात् । नन्वेवमनुच्छिन्ना जैनाः, जैनव्यवस्थाबाह्यैरपि सर्वैर्नाममात्रेण सर्वज्ञाभ्युपगमात् तेषामपि जैनत्वप्रसङ्गादित्यतस्तेषा विशेषमाह—गलितासद्ग्रहदोषा इति । येषा ह्यसद्ग्रहदोषात्स्वस्वाभ्युपगतार्थपुरस्कारस्तेषा रागद्वेषादिविशिल्प(ष्ट)कल्पितसर्वज्ञाभ्युपगन्तृत्वेऽपि न भावजैनत्वम् । येषां तु माध्यस्थ्यावदातबुद्धीना विप्रतिपत्तिविषयप्रकारांशे नाग्रहस्तेषां मुख्यसर्वज्ञाभ्युपगन्तृत्वाद् भावजैनत्व स्यादेव इति भावः । मुख्यो हि सर्वज्ञस्तावदेक एव, निरतिशयगुणवत्त्वेन तत्प्रतिपत्ति(त्तृ)त्वं यावता तावतां तद्भक्तत्वमविशिष्टमेव, सर्वविशेषाणा छद्मस्थेनाग्रहाद् दूरासन्नादिभेदस्य च भृत्यत्वजात्यभेदकत्वादिति। तदुक्तं योगदृष्टिसमुच्चये—" न तत्त्वतो भिन्नमताः, सर्वज्ञा बहवो यतः ॥ मोहस्तदधिमुक्तीना, तद्भेदाश्रयणं ततः ॥ १०२ ॥ सर्वज्ञो नाम यः कश्चित, पारमार्थिक एव हि ॥ स एक एव सर्वत्र, व्यक्तिभेदेऽपि तत्त्वतः ॥१०३॥ प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य, सामान्येनैव यावताम् ॥ ते सर्वेऽपि तमापन्ना, इति न्यायगतिः परा ॥ १०४ ॥ विशेषस्तु पुनस्तस्य, कार्त्स्न्येनासर्वदर्शिभिः ॥ सर्वैर्न ज्ञायते तेन,

तमापन्नो न कश्चन ॥१०५॥ तस्मात्सामान्यतोऽप्येन-मभ्युपैति य एव हि ॥ निर्व्याजं तुल्य एवासौ, तेनांशेनैव धीमताम् ॥१०६॥
यथैवैकस्य नृपते-र्बहवोऽपि, समाश्रिताः ॥ दूरासन्नादिभेदेन(ऽपि), तद्भृत्याः सर्व एव ते ॥१०७॥ सर्वज्ञतत्त्वाभेदेन, तथा सर्वज्ञवादिनः॥
सर्वे तत्तत्त्वगा ज्ञेया, भिन्नाचारस्थिता अपि ॥१०८॥ न भेद एव तत्त्वेन, सर्वज्ञानां महात्मनाम् ॥ तथा नामादिभेदेऽपि, भाव्यमेत
न्महात्मभिः ॥१०९॥" इति। न च परेषां सर्वज्ञभक्तेरेवानुपपत्तिः, तेषामप्यध्यात्मशास्त्रेषु चित्राचित्रविभागेन भक्तिवर्णनात्, समा-
रिणा विचित्रफलार्थिना नानादेवेषु चित्रभक्तेः, एकमोक्षार्थिना चैकस्मिन् सर्वज्ञे चित्रभक्त्युपपादनात्। तथा च हारिभद्रं वचः—
"चित्राचित्रविभागेन, यच्च देवेषु वर्णिता॥ भक्तिः सद्योगशास्त्रेषु, ततोऽप्येवमिदं स्थितम् ॥ ११० ॥ संसारिषु हि देवेषु, भक्तिस्त-
त्कायगामिनाम् ॥ तदतीते पुनस्तत्त्वे, तदतीतार्थयायिनाम् ॥ १११ ॥ चित्रा चाद्येषु तद्राग-तदन्यद्वेषसङ्गता। अचित्रा चरमे त्वेषा,
शमसाराऽखिलैव हि ॥ ११२ ॥" इति। प्राप्यस्य मोक्षस्य चैकत्वात् तदर्थिनां गुणस्थानपरिणतितारतम्येऽपि न मार्गभेद इति, तद
नुकूलसर्वज्ञभक्तावप्यविवाद एव तेषाम्। उक्तं च—प्राकृतेष्विह भावेषु, येषां चेतो निरुत्सुकम् ॥ भवभोगविरक्तास्ते, भवातीता
र्थयायिनः ॥१२७॥ एक एव तु मार्गोऽपि, तेषां शमपरायणः ॥ अवस्थाभेदभेदेऽपि, जलधौ तीरमार्गवत् ॥१२८॥ संसारातीततत्त्वं तु,
परं निर्वाणसञ्ज्ञितम्। तद्ध्(द्ध्ये)कमेव नियमा-च्छब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥१२९॥ सदाशिवः परं ब्रह्म, सिद्धात्मा तथातेति च। शब्दैस्तदुच्य-
तेऽन्वर्था-देकमेवैवमादिभिः ॥१३०॥ तल्लक्षणाविसंवादा-न्निराबाधमनामयम्। निष्क्रियं च परं तत्त्वं, यतो जन्माद्ययोगतः ॥१३१॥
... ॥ तेथावतां न तद्भक्तौ विवाद उपपद्यते ॥ १३२ ॥

सर्वज्ञपूर्वकं चैत–न्नियमादेव यत्स्थितौ ॥ आसन्नोऽयमृजुर्मार्ग–स्तद्भेदस्तत्कथं भवेत् ॥ १३३ ॥" इति । ननु देशनाभेदान्नैकः सर्वज्ञ इति सर्वेषां योगिनां नैकसर्वज्ञभक्तत्वमिति चेद् । न, विनेयानुगुण्येन सर्वेषां देशनाभेदोपपत्तेः, एकस्यैव वा तस्या वक्तुरचिन्त्यपुण्यप्रभावेन श्रोतृभेदेन भिन्नतया परिणतेः कपिलादीनामृषीणामेव वा कालादियोगेन नयभेदात्तद्वैचित्र्योपपत्तेः, तन्मूलसर्वज्ञप्रतिक्षेपस्य महापापत्वात् । उक्तं च—"चित्रा तु देशनैतेषां,स्याद्विनेयाऽऽनुगुण्यतः ॥ यस्मादेते महात्मानो, सर्वे व्याधिभिषग्वराः ॥ १३४ ॥ यस्य येन प्रकारेण, बीजाधानादिसम्भवः । साधु (नु) बन्धो भवत्येते, तथा तस्य जगुस्ततः ॥ १३५ ॥ एकापि देशनैतेषां, यद्वा श्रोतृविभेदतः । अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्या–त्तथा चित्राऽवभासते ॥ १३६ ॥ यथाभव्यं च सर्वेषा–मुपकारोऽपि तत्कृतः । जायते वन्ध्यताऽप्येव–मस्याः सर्वत्र सुस्थिता ॥ १३७ ॥ यद्वा तत्तन्नयापेक्षा, तत्तत्कालादियोगतः । ऋषिभ्यो देशना चित्रा, तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः ॥ १३८ ॥ सदभिप्रायमज्ञात्वा, न ततोऽर्वागदृशां सताम् । युज्यते तत्प्रतिक्षेपो, महानर्थकरः परः ॥ १३९ ॥ निशानाथप्रतिक्षेपो, यथाऽन्धानामसङ्गतः । तद्भेदपरिकल्पश्च, तथैवार्वाग्दृशामयम् ॥ १४० ॥ न युज्यते प्रतिक्षेपः, सामान्यस्यापि तत्सताम् । आर्यापवादस्तु पुन–र्जिह्वाच्छेदाधिको मतः॥१४१॥कुदृष्टा(ष्टया) दि च नो(वन्नो) सन्तो, भाषन्ते प्रायशः क्वचित् । निश्चितं सारवच्चैव,किन्तु सत्त्वार्थकृत्सना(दा)॥१४२॥" इति । ननु यद्येवंविधं माध्यस्थ्य परेषां स्यात् तदा मार्गाभाव(वे)जैनत्वं भवेत्, तदेव तु व्यवहारतो जैनमार्गानाश्रयणे दुर्घटमिति न तेषां माध्यस्थ्यमिति चेद् । न, मोहमान्द्ये परेषामपि योगिनामेतादृशमाध्यस्थ्यस्येष्टत्वाद्, यदयं कालातीतवचनानुवादो योगबिन्दौ ॥ "माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैव–मैदम्पर्यव्यपेक्षया ॥ तत्त्वं निरूपणीयं स्यात् । कालातीतोऽप्यदोऽब्रवीत् ॥१॥ (श्लो० ॥३००॥) अन्येषामप्ययं मार्गो,मुक्ताविद्यादिवादिनाम् ॥ अभिधानादिभेदेन,तत्त्वनीत्या व्यव-

स्थितः ॥ ३०१ ॥ मुक्तो बुद्धोऽर्हन् वापि य–दैश्वर्येण समन्वितः। तदीश्वरः स एव स्यात्, संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥ ३०२ ॥ अनादिशुद्ध इत्यादि–र्यो भेदो यस्य कल्प्यते । तत्तत्तन्त्रानुसारेण, मन्ये सोऽपि निरर्थकः ॥३०३॥ विशेषस्यापरिज्ञानाद्, युक्तीनां जातिवादतः । प्रायो विरोधतश्चैव, फलाभेदाच्च भावतः ॥ ३०४ ॥ अविद्याक्लेशकर्मादि, यतश्च भवकारणम् । ततः प्रधानमेवैत–त्संज्ञाभेदमुपागतम् ॥ ३०५ ॥ अत्रा(स्या)पि यो परो मेद–श्चित्रोपाधिस्तथा तथा । गीयतेऽतीतहेतुभ्यो,धीमता सोऽप्यपार्थकः ॥ ३०६ ॥ ततोऽस्थानप्रयासोऽयं, यत्तद्भेदनिरूपणम् । सामान्यमनुमानस्य, यतश्च विषयो मतः ॥ ३०७ ॥ साधु चैतद् यतो नीत्या, शास्त्रमत्र प्रवर्तकम् । तथाऽभिधानभेदात्तु, भेदः कुचितिकाग्रहः ॥ ३०८ ॥ " इत्यादि । अथैतेषां भावजैनत्वे आज्ञासम्भवमाह—

दव्वाणा खलु तेसिं, भावाणाकारणत्तओ नेया ॥ जं अपुणवंधगाणं, चित्तमणुट्ठाणमुवइट्ठं ॥ १५ ॥

[द्रव्याज्ञा खलु तेषां भावाज्ञाकारणत्वतो ज्ञेया । यदपुनर्बन्धकानां चित्रमनुष्ठानमुपदिष्टम् ॥ १५ ॥]

दव्वाणत्ति । तेषामवेद्यसंवेद्यपदस्थानां भावजैनाना, खलु इति निश्चये, भावाज्ञायाः सम्यग्दर्शनादिरूपाया', कारणत्वतो, द्रव्याज्ञा ज्ञेयाऽपुनर्बन्धकोचिताचारस्य पारम्पर्येण सम्यग्दर्शनादिसाधकत्वात् । तदुक्त चोपदेशपदे—" गंठिगसत्ताऽपुणव—धगाइआणपि दव्वओ आणा । णवरमिह दव्वसद्दो,भइअव्वो समयणीईए ॥ २५३ ॥ एगो अप्पाहन्ने, केवलए चेव वट्टई एत्थ । अगारमद्दगो जह,दव्वायरिओ सयाभव्वो॥२५४॥अन्नो पुण जोग्गत्ते,चित्ते णयभेअओ मुणेअव्वो । वेमाणिओवगाओ–त्ति दव्वदेवो जहा साहू॥२५५॥तत्थाभव्वादीण,गंठिगसत्ताणमप्पहाणत्ति । इयरेसिं जोग्गयाए,भावाणाकारणत्तेण ॥२५६॥"[ग्रन्थिगसत्त्वापुनर्बन्धकादीनामपि द्रव्यत आज्ञा । केवलमिह द्रव्यशब्दो भक्तव्यः समयनीत्या ॥ एकोऽप्राधान्ये केवले एव वर्ततेऽत्र । अङ्गारमर्दको यथा द्रव्याचार्यः

सदाऽभव्यः ॥ अन्यः पुनर्योग्यत्वे चित्रे नयभेदतो ज्ञातव्यः । वैमानिकोपपात इति द्रव्यदेवो यथा साधुः ॥ तत्राभव्यादीनां ग्रन्थिगसत्त्वानामप्रधान इति । इतरेषा योग्यतया भावाज्ञाकारणत्वेन ॥] अत्र हि द्रव्यशब्दस्य द्वावर्थौ—प्रधानभावकारणं भावांशविकलं केवलमप्राधान्यम् । सग्रहव्यवहारनयविशेषाद् विचित्रमेकभविकबद्धायुष्काभिमुखनामगोत्रलक्षण तत्तत्तत्पर्यायसमुचितभावरूप योग्यत्वं च । तत्र प्रथमार्थेनाभव्यसकृद्बन्धकादीना द्रव्यक्रियाभ्यासपराणा द्रव्याज्ञा । द्वितीयार्थेन चापुनर्बन्धकादीनामिति वृत्तितात्पर्यार्थः । नन्वेवमपुनर्बन्धकाना द्रव्याज्ञा व्यवस्थिता, तथाऽपि भिन्नमार्गस्थाना मध्यस्थानामपि मिथ्यादृशां कथमेषा संभवति ?, जैनमार्गक्रिययैवाव्युत्पन्नदशायामपुनर्बन्धकत्वसिद्धे बीजाधानस्यैव तल्लिङ्गत्वात्, तस्य च सर्वज्ञवचनानुसारिजिनमुनिप्रभृतिपदार्थकुशलचित्तादिलक्ष्यत्वाद् । तदुक्तमुपदेशपदवृत्तिकृता—"आणापरतंतेहि, ता बीआहाणमेत्थ कायव्वं । धम्ममि जहासत्ती, परमसुहं इच्छमाणेहिं ॥ २२५ ॥" [आज्ञापरतन्त्रैस्तस्माद्बीजाधानमत्र कर्तव्यम् । धर्मे यथाशक्ति परमसुखमिच्छद्भिः ॥] इति गाथां विवृण्वता धर्मबीजानि चैवं शास्त्रान्तरे परिपठितानि दृश्यन्ते (योगदृष्टिसमुच्चये) "जिनेषु कुशल चित्तं, तन्नमस्कार एव च । प्रणामादि च संशुद्धं, योगबीजमनुत्तमम् ॥२३॥ उपादेयधियाऽत्यन्त, संज्ञाविष्कम्भणान्वितम् । फलाभिसन्धिरहितं, संशुद्धं ह्येतदीदृशम् ॥२५॥ आचार्यादिष्वपि ह्येत-द्विशुद्ध भावयोगिषु । वैयावृत्त्यं च विधिव-च्छुद्धाशयविशेषतः ॥२६॥ भवोद्वेगश्च सहजो, द्रव्याभिग्रहपालनम् । तथा सिद्धान्तमाश्रित्य, विधिवद्(ना)लेखनानि(दि)च ॥२७॥ लेखना पूजना दानं, श्रवणं वाचनोद्ग्रहः । प्रकाशनाऽथ स्वाध्याय-श्चिन्तना भावनेति च ॥२८॥ दुःखितेषु दयाऽत्यन्त-मद्वेषो गुणवत्सु च । औचित्यासे(त्से)वनं चैव, सर्वत्रैवाविशेषतः ॥३२॥" इति ॥ ललितविस्तरायामप्युक्तम्—" एतत्सिद्ध्यर्थं तु यतितव्यमादिकर्मणि, परिहर्तव्योऽकल्याणमित्रयोगः, सेवितव्यानि कल्याणमित्राणि, न लङ्घ-

नीयोचितस्थितिः,अपेक्षितव्यो लोकमार्गः,माननीया गुरुमन्त(मह)तिः, भवितव्यमेतत्तन्त्रेण,प्रवर्तितव्य दानादौ,कर्तव्योदारपूजा भगवताम्, निरूपणीयः साधुविशेषः,श्रोतव्य विधिना धर्मशास्त्रम्,भावनीय महायत्नेन,प्रवर्त्तितव्य विधानतो.अवलम्बनीयं धैर्यं, पर्यालोचनीयाऽऽयतिः, अवलोकनीयो मृत्युः. परिहर्तव्यो विक्षेपमार्गः, यतितव्यं योगसिद्धौ, कारयितव्या भगवत्प्रतिमा, लेखनीयं भुवनेश्वरवचनम्, कर्तव्यो मङ्गलजापः, प्रतिपत्तव्य चतुःशरणम्, गर्हितव्यानि दुष्कृतानि, अनुमोदनीय कुशलम्, पूजनीया मन्त्रदेवता, श्रोतव्यानि सच्चेष्टितानि, भावनीयमौदार्यम्, वर्तितव्यमुत्तमज्ञातेन, एवम्भूतस्य चेह प्रवृत्तिः सा सर्वैव साध्वी,मार्गानुसारीत्ययं नियमादपुनर्बन्धकादिस्तदन्यस्तत्वभूतगुणसपक्षेऽभावात्''इत्यत आह—यद् यस्माद्, अपुनर्बन्धकानां चित्रमनेकविधम्, अनुष्ठानमुपदिष्टम्, अतो भिन्नाचारस्थितानामपि तेषां द्रव्याज्ञाया नानुपपत्तिरिति । इदमत्र हृदयम् ॥ न त्वादिधार्मिकस्य विधिः सर्व एव सर्वत्रोपयुज्यते, किन्तु क्वचित्कश्चिदेवेति । भिन्नाचारस्थितानामप्यन्तःशुद्धिमतामपुनर्बन्धकत्वमविरुद्धम्, अपुनर्बन्धकस्य हि नानास्वरूपत्वात् तत्तत्तन्त्रोक्ताऽपि मोक्षार्था क्रिया घटते,सम्यग्दृष्टेश्च स्वतन्त्रक्रियैवेति व्यवस्थितत्वात् । तदुक्तं योगबिन्दुसूत्रवृत्त्योः॥''अपुनर्बन्धकस्यैवं, सम्यग्नीत्योपपद्यते । तत्तत्तन्त्रोक्तमखिल-मवस्थाभेदसंश्रयात् ॥२५१॥'' अपुनर्बन्धकस्योक्तरूपस्य,एवमुक्तरूपेण, सम्यग्नीत्या-शुद्धयुक्तिरूपया, उपपद्यते घटते । किम् ? इत्याह ॥ तत्तत्तन्त्रोक्तं कापिल-सौगतादिशास्त्रप्रणीत मुमुक्षुजनयोग्यमनुष्ठानम्,अखिल समस्तम्, कुतः ? इत्याह-अवस्थाभेदसंश्रयात्-अपुनर्बन्धकस्यानेकस्वरूपाङ्गीकरणत्वात्. अनेकस्वरूपाभ्युपगमे हि अपुनर्बन्धकस्य किमप्यनुष्ठान कस्यामप्यवस्थायामवतरतीति । अथापुनर्बन्धकानन्तर (कोत्त)यद्भवति तद्दर्शयति-''स्वतन्त्रनीतितस्त्वेव, ग्रन्थिभेदे तथा सति । सम्यग्दृष्टिर्भवत्युच्चैः, प्रशमादिगुणान्वितः ॥ २५२ ॥'' स्वतन्त्रनीतितस्त्वेव जैनशास्त्रनीतेरेव, न पुनस्त-

न्त्रान्तगामिप्रायेणापि, ग्रन्थिभेदे रागद्वेषमोहपरिणामस्यातीवदृढस्य विदारणे, तथा यथाप्रवृत्त्यादिकरणप्रकारेण, सति विद्यमाने, किम्? इत्याह-सम्यग्दृष्टिः शुद्धसम्यक्त्वधरो, भवति सम्पद्यते। कीदृशः? इत्याह-उच्चैः अत्यर्थं प्रागवस्थातः सकाशात्, प्रशमादिगुणान्वितः उपशम-संवेग-निर्वेदा-ऽनुकम्पा-ऽऽस्तिक्याभिव्यक्तियुक्त इति। एवं परेषामपि माध्यस्थ्ये द्रव्याज्ञासद्भावः सिद्धः ॥ १५ ॥ ननु द्रव्याज्ञाऽपि सिद्धान्तोदितक्रियाकरणं विना कथं परेषां स्यात्? इत्यत आह—

मग्गाणुसारिभावो, आणाए लक्खणं मुणेयव्वं । किरिया तस्स ण णियया, पडिबंधे वावि उपगारे ॥१६॥

[मार्गानुसारिभाव आज्ञाया लक्षण ज्ञातव्यम्। क्रिया तस्य न नियता प्रतिबन्धे वाऽप्युपकारे ॥ १६ ॥]

मग्गाणुसारिभावोत्ति। मार्गानुसारिभावो "निसर्गतस्तत्त्वानुकूलप्रवृत्तिहेतुः परिणामः" आज्ञाया लक्षणं मुणेयव्वं ति ज्ञातव्यम्। क्रिया स्वसमयपरसमयोदिताचाररूपा, तस्य मार्गानुसारिभावस्य, उपकारे प्रतिबन्धे वा न नियता, स्वसमयोदितक्रियाकृतमुपकारं विनाऽपि मेघकुमारजीवहस्त्यादीनां तथाभव्यत्वपरिपाकाहिताऽनुकम्पादिमहिम्ना मार्गानुसारित्वसिद्धेः, परसमयक्रियाया च सत्यामपि समुल्लसितयोगदृष्टिमहिम्ना पतञ्जल्यादीनां मार्गानुसारित्वाप्रतिघातात्। अत्र कश्चिदाह-ननु पतञ्जल्यादीनां मार्गानुसारित्वमशास्त्रसिद्धम्, उच्यते-नैतदेवं योगदृष्टिसमुच्चयग्रन्थ एव योगदृष्ट्यभिधानात् तेषां मार्गानुसारित्वसिद्धेः। "उक्तं च निरूपितं पुनः, योगमार्गज्ञैरध्यात्मविद्भिः पतञ्जलिप्रभृतिभिः, तपोनिर्धूतकल्मषैः प्रशमप्रधानेन तपसा क्षीणप्रायमार्गानुसारिबोधबाधकमोहमलैरिति" "उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः ॥(श्लो० ६६)"-इति प्रतीकं विवृण्वता योगबिन्दुवृत्तिकृताऽपि तेषां तदभिधानाच्चेति ॥ अयमिह परमार्थः-अव्युत्पन्नानां विपरीतव्युत्पन्नानां वा परसमयस्थानां जैनाभिमतक्रिया यथाऽसद्ग्रहपरित्याजनद्वारा

द्रव्यसम्यक्त्वाद्यध्यारोपणेन मार्गानुसारिताहेतुः, तथा सदुग्रहप्रवृत्तानां तेषामुभयाभिमतयमनियमादिशुद्धस्वरूपक्रियाऽपि पारमार्थिकवस्तुविषयपक्षपाताधानद्वारा। तथा हेयोपादेयविषयमात्रपरीक्षाप्रवणत्वादध्यात्मविदां तथा च नियतक्रियाया मार्गानुसारिभावजननेऽनैकान्तिकत्वमात्यन्तिकत्वं वा, तथा च जैनक्रिया विनाऽपि भावजैनानां परेषा मार्गानुसारित्वादाप्तासम्भवोऽविरुद्ध इति । युक्त चैतद्, न चेदेवं तदा जैनक्रियां विना भावलिङ्गबीजाभावाद् भावलिङ्गस्यापि परेषामनुपपत्तावन्यलिङ्गसिद्धादिभेदानुपपत्तेः । यः पुनराह—परसमयानभिमतस्वसमयाभिमतक्रियैव असदग्रहविनाशद्वारा मार्गानुसारिताहेतुरिति, तदसत्, उभयाभिमताकरणनियमादिनैव पतञ्जल्यादीनां मार्गानुसारिताऽभिधानात्, व्युत्पन्नस्य मार्गानुसारितायाः तत्त्वजिज्ञासामूलविचारस्यैव हेतुत्वात्, अव्युत्पन्नस्य तस्यां गुरुपारतन्त्र्याधानद्वारा स्वसमयाभिमतक्रियाहेतुत्वे परसमयानभिमतत्वप्रवेशे प्रमाणाभावाच्च । भवाभिनन्दिदोषप्रतिपक्षा गुणा एव हि नियता मार्गानुसारिताहेतवः, क्रिया तु क्वचिदुभयाभिमता, क्वचिच्च स्वसमयाभिमतेत्यनियता हेतुः, परकीयसमतेर्निजमार्गदार्ढ्यहेतुत्वं वा व्युत्पन्नमभिनिविष्टं वा प्रति, न तु व्युत्पन्नमनभिनिविष्टं वा प्रतीति । यत्तु निश्चयतः परसमयबाह्यानामेव सङ्गम—नयसाराऽम्बडप्रमुखाना मार्गानुसारित्वं स्यात्, नान्येषामिति केषाञ्चिन्मतम्, तत्तेषामेव प्रतिकूलम्, सदुग्र(द्)हप्रवृत्तिजनितनैश्चयिकपरसमयबाह्यतया पतञ्जल्यादीनामप्यम्बडादीनामिव मार्गानुसारित्वाप्रतिघातात् । इयानेव हि विशेषो यदेकेषामपुनर्बन्धकत्वेन तथात्वम्, अपरेषा तु श्राद्धत्वादिनेति ॥ १६ ॥ अयं मार्गानुसारिभावः कदा स्यात् ? इत्येतत्कालमानमाह—

मग्गाणुसारिभावो, जायइ चरमंमि चेव परिअट्टे ॥ गुणवुड्ढीए विगमे, भवाभिनंदिदोसाणं ॥ १७ ॥

[मार्गानुसारिभावो जायते चरम एव परिवर्ते । गुणवृद्ध्या विगमे भवाभिनन्दिदोषाणाम् ॥ १७ ॥]

मग्गाणुसारिभावोत्ति। भवाभिनन्दिदोषाणाम्–"क्षुद्रो लो(ला)भरतिर्दीनो, मत्सरी भयवान् शठः॥ अज्ञो भवाभिनन्दी स्या–न्निष्फलारम्भसङ्गतः॥"७६ (योगबिन्दु ८७) इति योगदृष्टि० श्लोकोक्तानां, विगमे सति, गुणवृद्ध्या चरमे पुद्गलपरावर्ते एव मार्गानुसारिभावो भवति। अपुनर्बन्धकादेर्मार्गानुसारिप्रौढप्रज्ञानुगतत्ववचनात् तस्य चैतावत्कालमानत्वात्। अत एव वचनौषधप्रयोगकालश्चरमपुद्गलपरावर्त एवोक्तो व्यवहारतः, निश्चयतस्तु ग्रन्थिभेदकालस्तत्रापि ग्रन्थिभेदकाल एव न्यूनत्वेन पुरस्कृतः। तथा चोपदेशपदसूत्रवृत्ती–"घणमिच्छत्तो कालो, एत्थ अकालो उ होइ णायव्वो। कालो उ अपुणबंधग–पभिई धीरेहिं णिद्दिट्ठो ॥४३२॥ [घनमिथ्यात्वः कालोऽत्राकालस्तु भवति ज्ञातव्यः। कालश्चापुनर्बन्धकप्रभृतिर्धीरैर्निर्दिष्टः ॥] णिच्छयओ पुण एसो, विन्नेओ गंठिभेअकालंमि(लोउ)॥एयंमि विहिसयपालणाउ आरोग्गमेयाओ॥४३३॥" घनं–महामेघानल्लुप्तसकलनक्षत्रादिप्रभाप्रसरभाद्रपदाद्यमावास्यामध्यभागसमुद्भूतान्धकारनिबिडं, मिथ्यात्व–तत्त्वविपर्यासलक्षणं यत्र स तथा, कालश्चरमपुद्गलपरावर्तव्यतिरिक्तशेषपुद्गलपरावर्तलक्षणः, अत्र–वचनौषधप्रयोगे, अकालस्तु अकाल एव, भवति ज्ञातव्यः। चरमपुद्गलपरावर्तलक्षणस्तु तथाभव्यत्वपरिपाकतो बीजाधानोद्भेदपोषणादिषु स्यादपि काल इति। अत एवाह–कालस्त्ववसरः पुनः, अपुनर्बन्धकप्रभृतिः। तत्रापुनर्बन्धकः "पावं ण तिव्वभावा कुणइ (पञ्चाशके)" इत्यादिलक्षणः, आदिशब्दान्मार्गाभिमुख–मार्गपतितौ गृह्येते। तत्र मार्गो ललितविस्तरायामनेनैव शास्त्रकृतेत्थलक्षणो निरूपितः 'मग्गदयाणं' इत्याद्यालापकव्याख्यायां, "मार्गश्चेतसोऽवक्रगमनम्, भुजङ्गमनलिकायामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रवणः, स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषो हेतु–स्वरूप–फलशुद्धासुखेत्यर्थः" तत्र पतितो भव्यविशेषो मार्गपतित इत्युच्यते, तदादिभावापन्नश्च मार्गाभिमुख इति। एतौ च चरमयथाप्रवृत्तकरणभागभाजावेव विज्ञेयौ। अपुनर्बन्धकोऽपुनर्बन्धककालः, प्रभृतिर्यस्य स तथा,

धीरैस्तीर्थकरादिभिः, निर्दिष्टो व्यवहारत इति ॥१॥ निश्चयनो निश्चयनयमतेन, पुनरेष वचनौषधप्रयोगकाले विज्ञेयः । कः? इत्याह– ग्रन्थिभेदकालस्तु ग्रन्थिभेदकाल एव, यस्मिन् कालेऽपूर्वकरणानिवृत्तिकरणाभ्यां ग्रन्थिर्भिन्ना भवति तस्मिन्नेवेत्यर्थः । कुतः? यत एतस्मिन् ग्रन्थिभेदे सति, विधिना–अवस्थोचितकृत्यकरणलक्षणेन, सदा सर्वकाल, या पालना च वचनौषधस्य, तया कृत्वाऽऽरोग्यं–सनाग्व्याधिरोधलक्षणम्, एतस्माद्वचनौषधप्रयोगाद् भवति । अपुनर्बन्धकप्रभृतिषु वचनप्रयोगः क्रियमाणोऽपि न तथा सूक्ष्मबोधविधायकः, अनाभोगबहुलत्वात्तत्कालस्य । भिन्नग्रन्थ्यादयस्तु व्यावृत्तमोहत्वेन निपुणबुद्धितया येषु कृत्येषु वर्तमानास्तत्कर्मव्याधिसमुच्छेदका जायन्त इति ॥२॥ ग्रन्थिभेदमेव पुरस्कुर्वन्नाह–"इहरावि हंदि एअंमि, एस आरोग्गसाहगो चेव । पोग्गलपरिअट्टद्धं, जमूणमेअंमि संसारो ॥४२४॥" इतरथाऽपि विधेः सदापालनामन्तरेणापि, हन्दीति पूर्ववत्, एतस्मिन् ग्रन्थिभेदे कृते सति, एष वचनप्रयोगः, आरोग्यसाधकश्चैव भावारोग्यनिष्पादक एव सम्पद्यते । तथा च पठ्यते–" लब्ध्वा मुहूर्तमपि ये परिवर्जयन्ति, सम्यक्त्वरत्नमनवद्यपदप्रदायि ॥ यास्यन्ति तेऽपि न चिरं भववारिराशौ, तद्बिभ्रतां चिरतरं किमिहास्ति वाच्यम् ॥१॥" अत्र हेतुमाह पुद्गलानामौदारिक–वैक्रिय–तैजस–भाषा–ऽऽनप्राण–मनः–कर्मग्रहणपरिणतानां विवक्षितकालमादौ कृत्वा यावता सामस्त्येनैकजीवस्य ग्रहनिसर्गौ सम्पद्येते स कालः पुद्गलपरावर्त इत्युच्यते, पुद्गलग्रहणनिसर्गाभ्यां परिवर्तन्ते परापरपरिणतिं लभन्ते तस्मिन्निति व्युत्पत्तेः, तस्यार्द्धं यावद्, यद् यस्माद्, ऊनं किञ्चिद्धीनम्, एतस्मिन् ग्रन्थिभेदे सति, संसारो जीवानां तीर्थकराशातनानां बहुलानामपि । अत्र दृष्टान्ताः कूलवालकगोशालकादयो वाच्या इति । एवं चोत्कर्षतोऽप्यपार्धपुद्गलपरावर्तावशेषसंसारस्यैव मार्गानुसारित्वमिति यत्केनचिदुक्तम्, तत्केनाभिप्रायेणेति विचारणीयं मध्यस्थैः । न ह्येवमपुनर्बन्धकापेक्षया कालभेदेन ग्रन्थिभेदस्य पुरस्करणमुपपद्यते, पराभिप्रायेणापार्द्धपुद्गलावर्तकालमानस्योभय-

त्राविशेषाद् एवं वदतो भ्रान्तिमूल तावच्चरमयथाप्रवृत्तकरणविभागभाजामेवापुनर्बन्धकादीनामधिकारित्वभणनम्, तादृशाना तेषा सम्यक्त्वसंनिहितत्वाद् । अत एव-"भवहेऊ नाणमेयस्स, पायसोऽसप्पवित्तिभावेणं । तह तयणुबंधओ च्चिय, तत्तेयरनिंदणाइओ॥४४६॥" (भवहेतुर्ज्ञानमेतस्य प्रायशोऽसत्प्रवृत्तिभावेन । तथा तदनुबन्धत एव तत्त्वेतरनिन्दनादितः ॥) भवहेतुः संसारनिबन्धनं, ज्ञानं—शास्त्राभ्यामजन्यो बोधः, एतस्य मिथ्यादृष्टेः, कथम् ? इत्याह-प्रायशो बाहुल्येन, असत्प्रवृत्तिभावेन-विपर्यस्तचेष्टाकरणात् तस्य, यदिह प्रायोग्रहणं तद् यथाप्रवृत्तकरणचरमविभागभाजा सनिहितग्रन्थिभेदानामत्यन्तजीर्णमिथ्यात्वज्वराणा केषाञ्चिद्दुःखितदया-गुणवद्द्वेष-समुचिताचारप्रवृत्तिसाराणा सुन्दरप्रवृत्तिभावेन व्यभिचारवारणार्थम्। तथेति हेत्वन्तरसमुच्चये । तदनुबन्धत एवासत्प्रवृत्त्यनुबन्धादेव । एतदपि कुतः ? इत्याह-तत्त्वेतरनिन्दनादितः । स हि मिथ्यात्वोपघातात्समुपात्तविपरीतरुचिः, तत्त्व च मद्भूतदेवतादिकमर्हत्त्वादिलक्षणम्, 'निंद'त्ति इतरच्चातत्त्व तत्कुयुक्तिसमुपन्यासेन पुरस्करोति ततस्तत्त्वेतरनिन्दनादितो दोषाद् भवान्तरेऽप्यसत्प्रवृत्तिरनुबन्धयुक्तस्यैव स्यादित्युपदेशपदवचनान्तरमनुसृत्यात्रानादिप्रवाहपतितस्य यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमविभागः सम्यक्त्वप्राप्तिहेतुकर्मक्षयोपशमलक्षितावस्थाविशेपस्तद्वता सनिहितग्रन्थिभेदाना स्वल्पकालप्राप्तव्यसम्यक्त्वानामत्यन्तजीर्णमिथ्यात्वज्वराणा सुन्दरप्रवृत्तिरिति भणनेन तद्व्यतिरिक्ताना तु सर्वेषामपि मिथ्यादृशामसुन्दरप्रवृत्तिरेवोक्तेति सूक्ष्मदृशा पर्यालोच्यमिति तेनोक्तम्। तत्रेदं विचारणीयम्-चरमत्वं यथाप्रवृत्तकरणस्यानन्तपुद्गलपरावर्तभाविनश्चरमैकावर्तमात्रेणापि निर्वाह्यम्, संनिहितग्रन्थिभेदत्वस्य तु स्वल्पकालप्राप्तव्यसम्यक्त्वाक्षेपकता ॥ "आसन्ना चेयमस्योच्चै-श्चरमावर्तिनो यतः ॥ भूयासोऽमी व्यतिक्रान्ता-स्तदेकोऽत्र न किंचन ॥१७६॥ आसन्ना चाभ्यर्णवर्तिन्येव, इयमुक्तिः, अस्योच्चैरतीव, चरमावर्तिनश्चरमपुद्गलपरावर्तभाजो जीवस्य, यतः कारणाद् भूयांसो अती-

वक्रहव:, अमी आवर्ता, व्यतिक्रान्ता अनादौ संसारे अतीताः, अनन्ताः, एकोऽपश्चिमः, अत्र न किञ्चन न किञ्चिद्वक्तव्यमस्तीत्येव इत्यर्थः" इति योगबिन्दुसूत्रवृत्तिवचनाच्चरमावर्तिन आसन्नसिद्धिकस्यापि स्वल्पकालप्राप्स्यत्सिद्धयादेशकत्वापत्तेः, आपेक्षिकासन्नतया समाधानं चोभयत्र सुघटमिति । अपुनर्बन्धकस्य भविकाद्युचितयोग्यतानियतत्वात् द्रव्याज्ञायाः सम्यक्त्वप्राप्त्यपेक्षया तदधिकृत्यव्यवधाने मिथ्यादृशो न मार्गानुसारितेति निर्धार्यते इति चेद् । न, असति प्रतिबन्धे परिपाकं वाऽपुनर्बन्धकादेर्मार्गानुसारिणो भावाज्ञाऽव्यवधानेऽपि सति प्रतिबन्धादौ तद्व्यवधानस्यापि सम्भवात् तत्कालेऽपि भावाज्ञाबहुमानाप्रतिघातात्, उचितप्रवृत्तिसारतया द्रव्याज्ञाया अविरोधाद्, अन्यथा चारित्रलक्षणाद् भावस्तवादक्षभविकाद्यधिकृत्य अभावे द्रव्यस्तवस्याप्यसम्भवप्रसङ्गाद्, भावस्तवहेतुत्वेनैव द्रव्यस्तवत्वप्रतिपादनात् । तदुक्तं पञ्चाशके—"ता भावत्थयहेऊ, जो सो दव्वत्थओ इहं इट्ठो ॥ जो उण णेवंभूओ, स अप्पहाणो पर होइ ॥१॥" (तस्माद्भावस्तवहेतुर्यः, स द्रव्यस्तव इहेष्टः । यः पुनरनेवम्भूतः स अप्रधानः पर भवति ॥) इति । यदि च भावलेशयोगाद्व्यवहितस्यापि द्रव्यस्तवत्वमविरुद्धं तदा तत एव तादृशस्य मार्गानुसारिणो द्रव्याज्ञाप्यविरुद्धैव । यथाहि—निर्निदान सूत्रविधिविलक्षणेन भावस्तवानुरागलक्षणेन वा प्रकारेण जिनभवनाद्युचितानुष्ठानस्य द्रव्यस्तवत्वमव्याहतम्, एकान्तेन भावशून्यस्यैव विपरीतत्वात् । तथा अपुनर्बन्धकस्यापि भावाज्ञानुरागमात्रलेशयुक्तस्य व्यवधानेऽपि द्रव्याज्ञाया न विरोध इति । अत एव भवाभिष्वङ्गानाभोगासङ्गतत्वात् अन्यावर्तापेक्षया विलक्षणमेव चरमावर्ते गुरुदेवादिपूजनं व्यवस्थितम् ॥ तदुक्तं योगबिन्दौ ॥ "एतद्युक्तमनुष्ठान–मन्यावर्तेषु तद् ध्रुवम् ॥ चरमे त्वन्यथा ज्ञेयं, सहजाल्पमलत्वतः ॥१५२॥ एकमेव ह्यनुष्ठानं, कर्तृभेदेन भिद्यते ॥ सरुजेतरभेदेन, भोजनादिगत यथा ॥१५३॥ इत्थं चैतद् यतः प्रोक्त, सामान्येनैव पञ्चधा ॥ विषादिकमनुष्ठानं, विचारेऽत्रैव योगिभिः

॥ १५४ ॥ विषं गरोऽननुष्ठानं, तद्धेतुरमृतं परम् ॥ गुर्वादिपूजाऽनुष्ठान–मपेक्षादिविधानत. ॥ १५५ ॥ विष लब्ध्याद्यपेक्षात, इदं सच्चित्तमारणात् । महतोऽल्पार्थनाद् ज्ञेयं, लघुत्वापादनात्तथा ॥ १५६ ॥ दिव्यभोगाभिलाषेण, गरमाहुर्मनीषिणः ॥ एतद्विहितनीत्यैव, कालान्तरनिपातनात् ॥ १५७ ॥ अनाभोगवतश्चैत–दननुष्ठानमुच्यते ॥ सम्प्रमुग्ध मनोऽस्येति, ततश्चैतद् यथोदितम् ॥ १५८ ॥ एत-द्रागादिदं हेतुः, श्रेष्ठो योगविदो विदुः ॥ सदनुष्ठानभावस्य, शुभभावांशयोगतः ॥१५९॥ जिनोदितमिति त्वाहु–र्भावसारमदः पुनः ॥ संवेगगर्भमत्यन्त–ममृत मुनिपुङ्गवाः ॥ १६० ॥ एवं च कर्तृभेदेन, चरमेऽन्यादृशं स्थितम् ॥ पुद्गलाना परावर्ते, गुरुदेवादिपूजनम् ॥ १६१ ॥ यतो विशिष्टः कर्ताऽय, तदन्येभ्यो नियोगतः ॥ तद्योगयोग्यताभेदा–दिति सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥ १६२ ॥" अत्र पूर्वं ह्येकान्तेन योगायोग्यस्यैव देवादिपूजनमासीत्, चरमावर्ते तु समुल्लसितयोगायोग्यभावस्येति । चरमावर्तदेवादिपूजनस्यान्यावर्तदेवादि-पूजनादन्यादृशत्वमिति वृत्तिकृद् विवृतवान् ॥ एतेन यत्त्वन्यतीर्थिकाभिमताकरणनियमादेः सुन्दरत्वेन भणन तद् हिंसाद्यासक्तजनस्य मनुष्यत्वस्येव स्वरूपयोग्यतया व्यवहारतो मन्तव्यम् । निश्चयतस्तु मिथ्यादृगकरणनियमो हिंसाद्यासक्तजनमनुष्यत्वं वेत्युभयमपि संसारकारणत्वेनानर्थहेतुत्वादसुन्दरमेवेति यत्केनचिदुक्तम्, तदपास्तम् । नह्येतादृश वचनमभिनिवेशं विना सम्भवति, यतः पूर्वसेवाऽपि मुक्त्यद्वेषादिसङ्गता चरमावर्तभाविनी, निश्चयतः प्राच्यावर्तभावितद्विलक्षणा योगयोग्यतयाऽऽचार्यैरतिशयितोक्ता, किं पुनरकरणनिय-मस्य साक्षाद् योगाङ्गस्य वक्तव्यमिति । न हि मनुष्यत्वसदृशमकरणनियमादिकम्, अन्येषामपि सदाचाररूपस्य तस्य सामान्यधर्मप्रवि-ष्टत्वात्, सामान्यधर्मस्य च भावलेशसङ्गतस्य विशेषधर्मप्रकृतित्वात्, मनुष्यत्वं चानीदृशम् । किं च–हिंसाद्यासक्तमनुष्यत्वस्थानीयं यदि मिथ्यात्वविशिष्टमकरणनियमादिकं तदा मेघकुमारजीवहस्त्यादिदयापि तादृशी स्याद्, उत्कटमिथ्यात्वविशिष्टस्य तस्य तथात्वे

चेष्टापत्तिः, अपुनर्बन्धकादीनामुत्कटमिथ्यात्वाभावात्पूर्वसेवायामपि च तेषामेवाधिकृतत्वात् । तदुक्तम्–"अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात्, पूर्वसेवा यथोदिता । कल्याणाशययोगेन, शेषस्याप्युपचारतः॥ २७०॥" इति । न चापुनर्बन्धकादेरपि न सम्यगनुष्ठानमिति शङ्कनीयम्, उपदेशपदे "सम्माणुट्ठाण चिय, ता सव्वमिणति तत्तओ णेयं । ण य अपुणबंधगाइ, मुत्तुं एयं इह होइ ॥१॥" [सम्यगनुष्ठानमेव तस्मात्सर्वमिदं तत्त्वतो ज्ञेयम् । न चापुनर्बन्धकादिं मुक्त्वा एतदिह भवति ॥] सम्यगनुष्ठानमेवाज्ञानुकूलाचरणमेव, तत्–तस्मात्, सर्वं त्रिप्रकारमपि, इदमनुष्ठानं, तत्त्वतः–पारमार्थिकव्यवहारनयदृष्ट्या, ज्ञेयम् । अत्र हेतुमाह–न च नैव, यतोऽपुनर्बन्धक–मार्गाभिमुख–मार्गपतितान् मुक्त्वा एतदनुष्ठानमिहैतेषु जीवेषु भवति 'अपुनर्बन्धकादयश्च सम्यगनुष्ठानवन्त एव'-इति उपदेशपदस्य वृत्तिवचनाद् अपुनर्बन्धकादेः सम्यगनुष्ठाननियमप्रतिपादनात्॥ त्रिप्रकारमनुष्ठानं सततभ्यास–विषयाभ्यास–भावाभ्यासभेदात्॥ तत्र नित्यमेवोपादेयतया लोकोत्तरगुणावाप्तियोग्यतापादकमातापितृविनयादिवृत्तिः सतताभ्यासः१। विषयेऽर्हल्लक्षणे मोक्षमार्गस्वामिनि वा विनयादिवृत्तिः स विषयाभ्यासः२। दूरं भवादुद्विग्नस्य सम्यग्दर्शनादीनां भावानामभ्यासश्च भावाभ्यास इति३ । तत्र निश्चयतो मोक्षानुकूलभावप्रतिबद्धत्वाद् विषयगतमेवेत्यपुनर्बन्धकादिः सम्यगनुष्ठानवानेनेति योगमार्गोपनिषद्विदः, येन नात्यन्तं सम्यक्त्वाभिमुख एव मिथ्यादृष्टिर्मार्गानुसारी गृह्यते, तेनादिधार्मिकप्रतिक्षेपाद् अपुनर्बन्धकादयस्त्रयो धर्माधिकारिण इति मूलग्रन्थ एव न ज्ञात, सम्यक्त्वाभिमुखस्यैवापुनर्बन्धकस्य पृथग्गणने चारित्राभिमुखादीनामपि पृथग्गणनापत्त्या विभागव्याघाताद् । तस्माद् यथा चारित्राद्व्यवहितस्यापि सम्यग्दृशः शमसंवेगादिना सम्यग्दृष्टित्वं निश्चीयते, तथा सम्यक्त्वाद् व्यवहितस्यापुनर्बन्धकादेरपि तल्लक्षणैस्तद्भावो निश्चेयः । तल्लक्षणप्रतिपादिका चेयं पञ्चाशकगाथा–"पावं ण तिव्वभावा, कुणइ ण बहु मन्नइ भवं घोरं । उचियट्ठिइं च सेवइ, सव्वत्थ वि अपुणबंधो॥१॥"

त्ति ॥९८॥ पंचा० ३-८ [पापं न तीव्रभावात्करोति, न बहु मन्यते भवं घोरम् । उचितस्थितिं च सेवते सर्वत्रापि अपुनर्बन्धकः ॥१॥] एत-द्वृत्तिर्यथा-पापमशुद्धं कर्म, तत्कारणत्वाद् हिंसाद्यपि पापं तद्, न नैव, तीव्रभावाद् गाढसंक्लिष्टपरिणामात्, करोति विधत्ते, अत्यन्तोत्कटमिथ्यात्वादिक्षयोपशमेन लब्धात्मनैर्मल्यविशेषत्वाद्। तीव्रेति विशेषणादापन्नमतीव्रभावात्करोत्यपि, तथाविधकर्मदोषात् । तथा न बहु मन्यते न बहुमानविषयीकरोति । भवं संसार, 'घोरं' रौद्रम्, तस्य घोरत्वावगमात् । तथा उचितस्थितिम्-अनुरूपप्रतिपत्तिम्, चशब्दः समुच्चये, सेवते-भजते कर्मलाघवात्, सर्वत्रापि आस्तामेकत्र देशकालावस्थापेक्षया समस्तेष्वपि देवाऽतिथि-माता-पितृप्रभृतिषु, मार्गानुसारिताऽभिमुखत्वेन मयूरशिशुदृष्टान्तात्, अपुनर्बन्धक उक्तनिर्वचनो जीवः, इत्येवंविधक्रियालिङ्गो भवतीति गाथार्थ इति ॥" न चापुनर्बन्धकस्य क्वचिन्मार्गानुसारितायाः क्वचिच्च तदभिमुखत्वस्य दर्शनेन भ्रमकलुषितं चेतो विधेयम्, द्रव्यभावायोगाभिप्रायेणोभयाभिधानाविरोधात् । एतेन "मार्गानुसारित्वात्" इत्यत्र धर्मबिन्दुप्रकरणे अ०१सू०२२ मार्गस्य सम्यग्ज्ञानादेर्मुक्तिपथस्यानुवर्तनादिति व्याख्यानात ॥ वन्दारुवृत्तावपि 'मग्गाणुसारिआ'त्ति असद्ग्रहपरित्यागेनैव तत्त्वप्रतिपत्तिर्मार्गानुसारितेत्येवं-व्याख्यानाद् मिथ्यादृष्टेरकरणनियमादिकारिणोऽपि मार्गानुसारित्वमित्यपास्तम् ॥ पराभिमतस्य सम्यक्त्वाभिमुखस्यैवापुनर्बन्धकादेः सर्वस्यापि धर्माधिकारिणो योग्यतया तत्त्वप्रतिपत्तेर्मार्गानुसारिताया अप्रतिघातात्, मुख्यतत्त्वप्रतिपत्तेश्च मेघकुमारजीवहस्त्यादावपि वक्तुमशक्यत्वात् । तस्मात्संगमनयसारादिवदतिसंनिहितसम्यक्त्वप्राप्तीनामेव मार्गानुसारित्वमिति मुग्धप्रतारणमात्रम्, अपुनर्बन्धकादिलक्षणवतामेव तथाभावाद्, अन्यथा तादृशसंनिहितत्वानिश्चयेऽपुनर्बन्धकाद्युद्देशेनादिधार्मिकाचारानुपदेशोऽप्युच्छिद्येतेति सकलजैनप्रक्रियाविलोपापत्तिः। किं च-बीजादीनां चरमपुद्गलपरावर्तभावित्वस्य तत्प्राप्त्यनु कर्षत एकपुद्गलपरावर्तकालमानस्य तेषां सान्तरे-

तरत्वमेदस्य च प्रतिपादनान्न मम्यक्त्वातिमंनिहितमेव मार्गानुसारित्वं भवतीति नियमः श्रद्धेयः । तदुक्तं पञ्चमविंशिकायाम्– "बीजाइक्कमेण पुणो, जायइ एसुत्थ भव्वसत्ताण ॥ णियमा न अन्नहा वि हु (उ), इट्ठफलो कप्परुक्खुव्व ॥१॥ वीजं चिमस्स णेयं, दट्ठूणं एयकारिणो जीवे । बहुमाणसंगयाए, सुद्धपसमाइ करणिच्छा ॥२॥ तीए चेवाणुबन्धो, अकलंको अङ्कुरो इहं णेओ । कट्ठं पुण विण्णेया, तदुवायन्नेसणा चित्ता ॥ ३ ॥ तेसु पवित्ती य तहा, चित्ता पत्ताइसरिसिगा होइ । तस्सपत्तीइ पुप्फं, गुरुसंजोगाइरूवं तु ॥४॥ तत्तो सुदेसणाईहिं, होइ जा भावधम्मसपत्ती । त फलमिह विन्नेय, परमफलपसाहगं णियमा ॥५॥ वीजस्सवि सपत्ती, जायइ चरमंमि चेव परिअट्टे । अच्चतसुंदरा ज, एसावि तओ ण सेसेसु॥६॥ ण य एअंमि अणंतो, जुज्जइ णेयस्स णाम कालुत्ति। ओस(उस्स)प्पिणी अणंता, हुति जओ एगपरिअट्टे ॥७॥ वीजाइआ य एए, तहा तहा संतरेतरा णेया । तहभव्वत्तक्खित्ता, एगंतमहाणऽबाहाए॥" त्ति॥८॥(बीजादिक्रमेण पुनर्जायते एषोत्र भव्यसत्त्वानाम्। नियमाद् नान्यथाऽपि खलु इष्टफलः कल्पवृक्ष इव॥१॥ बीजमप्यस्य ज्ञेय दृष्ट्वा एतत्कारिणो जीवान् । बहुमानसगतया शुद्धप्रशमया करणेच्छा ॥२॥ तस्याश्चैवानुबन्धोऽकलङ्कोऽङ्कुर इह ज्ञेयः । कष्ट पुनर्विज्ञेया तदुपायान्वेषणा चित्रा ॥३॥ तेषु प्रवृत्तिश्च तथा चित्रा पत्रादिसदृशी भवति ॥ तत्संप्राप्त्याः पुष्प गुरुसयोगादिरूपं तु ॥४॥ ततः सुदेशनादिभिर्भवति यो भावधर्मसंप्राप्तिः । तत्फलमिह विज्ञेयं परमफलप्रसाधक नियमाद् ॥५॥ बीजस्यापि सम्प्राप्तिर्जायते चरम एव परावर्ते । अत्यन्तसुन्दरा यदेषाऽपि ततो न शेषेषु ॥६॥ न चैतस्मिन् अनन्तो युज्यते नैतस्य नाम काल इति । अवसर्पिण्योऽनन्ता भवन्ति यत एकपरावर्ते ॥ ७ ॥ बीजादिकाश्च एते तथा तथा सान्तरेतरा ज्ञेया । तथाभव्यत्वाक्षिप्ता एकान्तस्वभावाबाधया ॥ इति ॥ ८ ॥) एतेन यदुच्यते केनचिद् 'बीजादिप्राप्तौ मार्गानुसार्यां (रिण्या) सम्यक्त्वोपलम्भं सन्निहितत्वमेव न व्यभिचरतीति' तदपास्त द्रष्टव्यम् ॥ "सण्णीणं पुच्छा–

गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्त, उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहुत्त सातिरेगं ।" (सञ्ज्ञिना पृच्छा-गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकम् ।) इत्यागमवचनात्सञ्ज्ञिकालस्योत्कर्षतः सातिरेकसागरोपमशतपृथक्त्वमानत्वाद्, अपुनर्बन्धकपदस्यापुनर्बन्धकत्वेनोत्कृष्टकर्मस्थितिक्षपणार्थपर्यालोचनायामप्येतदधिकसमारावश्यकत्वाद्, बीजादिप्राप्तपूर्विणोऽप्येकपुद्गलपरावर्तनियतानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपकालमाननिर्देशात्। न च पञ्चमारके ज्ञानपञ्चकसद्भावाभिधानवद् बीजादिप्राप्तौ चरमपुद्गलपरावर्तकालमानाभिधानेऽपि नोत्कर्षतस्तावदन्तर तस्य लभ्यते इति वाच्यम्, बीजादिप्राप्तौ चरमावर्तमान एव समार इति परिपाट्या व्यापककालस्यैव लाभादधिकरणकालमानाभिप्रायेणेत्थमभिधानासंभवाद्, अन्यथा सम्यक्त्वेऽप्येतावान् समार इति वचनस्याप्यनवद्यत्वप्रसङ्गात्। किं च-"अचरिमपरिअट्टेसु, कालो भवबालकालमो भणिओ। चरिमो अ(उ) धम्मजुव्वण-कालो तह चित्तभेओत्ति ॥१९॥ ता बीजपुव्वकालो, णेओ भवबालकाल एवेह। इयरो उ धम्मजुव्वण-कालो विह(हि)लिंगगम्मुत्ति॥१०॥ (अचरमपरावर्तेषु कालो भवबालकालो भणितः। चरमश्च धर्मयौवनकालस्तथा चित्रभेद इति ॥१९॥ तस्माद् बीजपूर्वकालो ज्ञेयो भवबालकाल एवेह। इतरस्तु धर्मयौवनकालोऽपीह लिङ्गगम्य इति॥) इत्येतच्चतुर्थपञ्चमविंशिकागाथाद्वयार्थविचारणया बीजकालस्य चरमावर्तमानत्वमेव सिध्यति॥ अपि च-"नवनीतादिकल्पस्त-त्तद्भावेऽत्र निबन्धनम्। पुद्गलाना परावर्त-श्चरमो न्यायसङ्गतः (तम्)" ॥ ९६ ॥ इति योगबिन्दुवचनाच्चरमावर्तस्य घृतादिप-

क्षणादिस्थानीयत्वसिद्धौ सत्यन्यकारणसाम्राज्येऽपार्द्धपुद्गलपरावर्तमध्ये सम्यक्त्वादिगुणानामिव चरमावर्तमध्ये

व, कालप्रतिबन्धाभावादिति व्यक्तमेव प्रतीयते। अत एव हि भोगाद्यर्थं यमनियमाराधनरूपा

निर्दिष्टा, पूर्वसेवाऽपि या परैः। सासन्नान्यगता मन्ये, भवाभिष्वङ्गभावतः ॥९७॥"

इति ग्रन्थेन चरमावर्तमत्रान्यतरपरावर्तवर्तिनां हरिभद्रसूरिरभ्यधात्, तान्निकृपूर्वसेनाया अपार्द्धपुद्गलपरावर्तादिमानत्वे चासन्नतोपलक्षणाय तत्पूर्वकालनियततामेवैनामवक्ष्यद् ग्रन्थकार इति । अपि च—"मनागपि हि तन्निवृत्तौ तस्यापुनर्बन्धकत्वमेव स्याद्"—इति वचनात् मनागपि संसाराभिनिवृत्तौ जीवस्यापुनर्बन्धकत्वं सिद्ध्यति तन्निवृत्तिश्च मुक्त्यद्वेषेणापि स्यात्, तस्य च चरमपुद्गलपरावर्तव्यवधानेनापि मोक्षहेतुत्वमुक्तम् । तथा च योगबिन्दुसूत्रवृत्ती—" नास्ति येषामयं तत्र, तेऽपि धन्याः प्रकीर्तिताः ॥ भवबीजपरित्यागा—त्तथा कल्याणभागिनः ॥१४०॥" न नैव, अस्ति विद्यते, येषां भव्यविशेषाणाम्, अयं द्वेषः, तत्र मुक्तौ, तेऽपि किंपुनस्तत्रानुरागभाज इत्यपिशब्दार्थः, धन्याः धर्मधनलब्धाः(र्धाराः)प्रकीर्तिताः । पुनरपि कीदृशा ? इत्याह । भवबीजपरित्यागात् मनाक् स्वगतसंसारयोग्यतापरिहाणेः सकाशात्, तथा तेन प्रकारेण चरमपुद्गलपरावर्तव्यवधानादिना, कल्याणभागिनः तीर्थकरादिपदप्राप्तिद्वारेण शिवध(श)र्मभाज इति ॥" तथा च चरमपुद्गलपरावर्तवर्तिना मुक्त्यद्वेषतद्रागाक्षुद्रतादिगुणवतां गलितकदाग्रहाणा सम्यक्त्वप्राप्तिसान्निध्यव्यवधानविशेषेऽपि सर्वेषामपुनर्बन्धकादीनामविशेषेण मार्गानुसारित्वमङ्गीकर्तव्यम् । यत्तु "पढमकरणोवरि तहा, अणहिनिविद्वाण संगया एसा ॥" पञ्चा० ३–२८(प्रथमकरणोपरि तथाऽनभिनिविष्टाना सगता एषा ॥) इति वचनात्प्रथमकरणोपर्येव ह्यतत्त्वाभिनिवेशिनो भवन्तीति । 'प्रथमकरणोपरि वर्तमानानामपुनर्बन्धकादीनां शुद्धवन्दना भवति' इत्यभिधाय "णो भावओ इमीए, परोवि हु अवड्ढपोग्गला अहिगो । संसारो जीवाण, हंदि पसिद्धं जिणमयंमि" ॥३–३२॥ (नो भावतोऽस्या परोऽपि खलु अपार्द्धपुद्गलादधिकः । ससारो जीवाना हन्दि प्रसिद्ध जिनमते॥) इत्यनेन ग्रन्थेन शुद्धाऽन्यतमायशुद्धाया वन्दनाया सत्यामुत्कृष्टोऽप्यपार्द्धपुद्गलावर्ताधिकः संसारो जीवाना न भवतीति पञ्चाशके प्रोक्तम्, तदपुनर्बन्धकस्यावस्थाभेदेन विचित्रत्वाद् विधिशुद्धजैनक्रियाऽऽराधकमपुन-

मधिकृत्यावसेयम्, सर्वस्यापुनर्बन्धकस्य प्रागुक्तयुक्त्यैतावत्कालमानानियमाद् भावशुद्धजैनक्रियाया एव एतावत्कालनियतत्वाद्। अत एवास्मिन्नर्थे 'कालमणंत च सुए, अद्धापरिअट्टओ उ देसूणो। आसायणबहुलाणं, उक्कोस अंतर होइ ॥" (आव०८५३) [कालमनन्तं च श्रुते अर्धपरिवर्तश्च देशोनः। आशातनाबहुलानामुत्कृष्टमन्तरं भवति॥] इति संमतितयोद्भावितं वृत्तिकृता। मोक्षार्थितया क्रियमाणा हि विधिशुद्धा जैनक्रिया उत्कर्षत एतावत्कालव्यवधानेन मोक्षं प्रापयतीति विषयविशेष एषः। भवति च भावाविशेषेऽपि विषयविशेषात्फलविशेषः, सामान्यसाधु-भगवद्दानादौ तद्दर्शनादिति श्रद्धेयम्। न चेदेवं तदा स्वतन्त्रान्यतन्त्रसिद्धक्रियाकार्यपुनर्बन्धकभेदो न स्यादिति भावनीयं सुधीभिः। यदपि "बीजाधानमपि ह्यपुनर्बन्धकस्य, न चास्यापि पुद्गलपरावर्तः संसार इति" भगवता सर्वसत्त्वनाथत्वे "अन्यतरस्माद् भगवतो बीजाधानादिसिद्धेरल्पेनैव कालेन सर्वभव्यमुक्तिः स्यादित्यत्र हेतुतयोक्त" तदपि भगवत्प्रदेयविचित्रबीजापेक्षया। अत एव पूर्वसेवादेः पृथग्गणनया बीजाधाने पुद्गलपरावर्ताभ्यन्तरसंसारभणनोपपत्तिः, अन्यथाल्पतरकालाक्षेपकतया न चास्याप्यपार्द्धपुद्गलपरावर्ताधिकः संसार इत्येवोपन्यसनीयं स्यादिति सूक्ष्मधिया विभावनीयम्। ये तु वदन्ति-"मिथ्यादृष्टीनां मार्गानुसारित्वाभ्युपगमे तेषां गुणवत्त्वावश्यंभावाद् मिथ्यात्वेऽपि गुणश्रेण्यभ्युपगमप्रसङ्गः" न चैतदिष्टम्, सम्यक्त्वप्रतिपत्तिमारभ्यैव कर्मग्रन्थादौ गुणश्रेण्यभिधानादिति तेषामृजुबुद्धीनां हरिभद्राचार्योपदर्शिताऽन्वर्थगुणस्थानपदप्रवृत्तिरेव मिथ्यात्वेऽपि गुणसद्भावसाक्षिणी गुणश्रेणी च धर्मपृच्छादौ मिथ्यादृशामपि सम्यक्त्वोत्पत्त्याद्युपलक्षितैव द्रष्टव्या। यदाहाऽऽचारवृत्तिकृद्(अ०४) "इह मिथ्यादृष्टयो देशोनकोटीकोटिकर्मस्थितिकाश्च ग्रन्थिकसत्त्वास्ते कर्मनिर्जरामाश्रित्य तुल्याः, धर्मप्रच्छनोत्पन्नसंज्ञास्तेभ्योऽसंख्येयगुणनिर्जरकाः, ततोऽपि पिपृच्छिषुः सन्साधुसमीपं जिगमिषुः, तस्मादपि क्रियाऽऽविष्टः पृच्छन्, ततोऽपि धर्मं प्रतिपित्सुः, तस्मादपि क्रियाविष्टः प्रतिपद्यमानः,

तस्मादपि पूर्वप्रतिपन्नोऽसंख्येयगुणनिर्जरकः इति सम्यक्त्वोत्पत्तिव्याख्यानेति" । यदि चैतद्वचनबलादेव चारित्रादाविव सम्यक्त्वे-
ऽप्यभिमुखप्रतिपद्यमान-प्रतिपन्नत्रयस्यैव गुणश्रेणीसद्भावात् सम्यक्त्वाभिमुखमिथ्यादृष्टेर्न मार्गानुसारित्वमित्याग्रहस्तदाऽसंगम-
नयमार्गादेरपि मार्गानुसारित्वं न स्याद् । न हि भवान्तरव्यवधानेऽपि गुणश्रेण्यनुकूलमाभिमुख्यं सम्भवतीति सम्यक्त्वादिनियत-
गुणश्रेणीं विनाऽपि मिथ्यादृशामप्यल्पमोहमलानां संसारप्रतनुताकारिणी दयादानादिगुणपरिणतिर्मार्गानुसारितानिबन्धनं भवतीति
प्रतिपत्तव्यम् । अत एव-"भवाभिनन्दिदोषाणां, प्रतिपक्षगुणैर्युतः । वर्द्धमानगुणप्रायो, ह्यपुनर्बन्धको मतः ॥१७८॥" इति योगबिन्दौ
सदाद्युक्तम् । अपुनर्बन्धकश्च प्रथमगुणस्थानावस्थाविशेष इति तत्र सर्वथा गुणप्रतिक्षेपवचनं निर्गुणानामेवेति मन्तव्यम् ॥ १७ ॥
तदेव मार्गानुसारिभावस्य कालमानमुक्तम्, अथानेन सदाचारक्रियारूपेण ज्ञानदर्शनयोगायोगाभ्यां यथा चतुर्भङ्गी निष्पद्यते तथाऽऽह-

एअम्मि नाणदंसण-जोगाजोगेहिं देससव्वकओ ॥ चउभंगो आराहग-विराहगत्तेसु सुअसिद्धो ॥ १८ ॥

[एतस्मिन् ज्ञानदर्शनयोगायोगाभ्यां देशसर्वकृतः । चतुर्भङ्ग आराधकविराधकत्वयोः श्रुतसिद्धः ॥ १८]

एअम्मित्ति । एतस्मिन्—मार्गानुसारिभावे सदाचारक्रियारूपे ज्ञानदर्शनयोगायोगाभ्यामाराधकत्वविराधकत्वयो
र्देशसर्वकृतश्चतुर्भङ्गसमाहारः श्रुतसिद्धः । तथाहि-१ मार्गानुसारिक्रियावान् ज्ञानदर्शनहीनश्च देशाराधक इति प्रथमो भङ्गः । २
ज्ञानदर्शनसम्पन्नः क्रियाहीनश्च देशविराधक इति द्वितीयः । ३ ज्ञानदर्शनसम्पन्नः क्रियासम्पन्नश्च सर्वाराधक इति तृतीयः । ४ ज्ञानद-
र्शनासम्पन्नः क्रियाहीनश्च सर्वविराधक इति चतुर्थः ॥ तथा च भगवतीसूत्रम्-(श०८उ०१०)"एवं खलु मए चत्तारि पुरिसजाया
पण्णत्ता । तंजहा-१ सीलसपन्ने णामं एगे णो सुअसंपन्ने । २ सुअसपन्ने णामं एगे णो सीलसपन्ने । ३ एगे सीलसपन्ने वि सुअसंपन्ने वि ।

४ एगे णो सीलसंपन्ने णो सुअसपन्ने ॥ तत्थ ण जे से पढमे पुरिसजाए से ण पुरिसे सीलव असुअवं, उवरए अविण्णायधम्मे । एस ण गोअमा ! मए पुरिसे देसाराहए पण्णत्ते१ । तत्थ ण जे से दुच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलवं सुअवं, अणुवरए विण्णायधम्मे । एस णं गोअमा! मए पुरिसे देसविराहए पण्णत्ते२ । तत्थ ण जे से तच्चे पुरिसजाए से ण पुरिसे सीलवं सुअवं, उवरए विण्णायधम्मे । एस णं गोअमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णत्ते३ । तत्थ ण जे से चउत्थे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलवं असुअवं, अणुवरए अविण्णायधम्मे । एस ण गोयमा मए पुरिसे सव्वविराहए पण्णत्तेत्ति४॥ एतद्वृत्तिर्यथा—एवमित्यादि । एवं वक्ष्यमाणन्यायेन, 'पुरिसजाए'त्ति पुरुषप्रकाराः । 'सीलव असुयव'त्ति, कोऽर्थः—'उवरए अविण्णायधम्मे'त्ति उपरतो निवृत्तः स्वबुद्ध्या पापात्, अविज्ञातधर्मा भावतोऽनधिगतश्रुतज्ञानो बालतपस्वीत्यर्थः, गीतार्थानिश्रिततपश्चरणनिरतोऽगीतार्थ इत्यन्ये । 'देसाराहए'त्ति देशं स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः, सम्यग्बोधरहितत्वात् क्रियापरत्वाच्चेति । 'असीलवं सुअवं'त्ति कोऽर्थः—अणुवरए विण्णायधम्मे'त्ति पापादनिवृत्तो विज्ञातधर्मा चाविरतसम्यग्दृष्टिरिति भावः । 'देसविराहए'त्ति देशं स्तोकमंशं ज्ञानादित्रयरूपस्य मोक्षमार्गस्य तृतीयभागरूपं चारित्रं विराधयतीत्यर्थः, प्राप्तस्य तस्यापालनाद् अप्राप्तेर्वा । 'सव्वाराहए'त्ति सर्वं त्रिप्रकारमपि मोक्षमार्गमाराधयतीत्यर्थः, श्रुतशब्देन ज्ञानदर्शनयोः संगृहीतत्वात्, न हि मिथ्यादृष्टिर्विज्ञातधर्मा तत्त्वतो भवति । एतेन समुदितयोः शीलश्रुतयोः श्रेयस्त्वमुक्तमिति " ॥ १८ ॥ अत्र प्रथमभङ्गस्वामिन भगवतीसूत्रस्यनुसारेणैव स्वय विभुणवन्नन्यमतं दूषयितुमुपन्यस्यति—

पढमो वालतवस्सी, गियत्थाणिस्सिओ व अग्गीओ । अण्णे भणंति लिंगी, सम्मग्गमुणिमग्गकिरियधरो॥१९॥

[प्रथमो बालतपस्वी गीतार्थानिश्रितो वाऽगीतः । अन्ये भणन्ति लिङ्गी समग्रमुनिमार्गक्रियाधरः ॥ १९ ॥]

पढमोत्ति। प्रथमः प्रथमभङ्गस्वामी ज्ञानदर्शनरहितः क्रियापरश्च देशाराधकत्वेनाभिक्रान्तो, बालतपस्वी परतन्त्रोक्तमुमुक्षुजनोचिताचारवान् वृत्तिकृन्मते। गीतार्थानिश्रितोऽगीतः-पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादगीतार्थो वाऽन्येषामाचार्याणां मते। अस्मिश्च साम्प्रदायिकमतद्वये नातिभेद इत्यग्रे दर्शयिष्यते। अन्ये-संप्रदायग्राह्याः, भणन्ति-लिङ्गी-केवललिङ्गभृत्, समग्रमुनिमार्गक्रियापरो मिथ्यादृष्टिरेव सन् कुतश्चिन्निमित्तादङ्गीकृतजिनोक्तसाधुसामाचारीपरिपालनपरायणो देशाराधकः प्रथमभङ्गस्वामीति। अयमेतेषामाशयः-शाक्यादिमार्गस्थः शीलवानपि न देशाराधकः, प्रतिपन्न(स)दनुष्ठानाकरणेन जिनाज्ञाया विराधकत्वम्, त(स)दनुष्ठानकरणेनैव जिनाज्ञाया आराधकत्वमिति नियमात्, शाक्यादिमार्गानुष्ठानस्य चानादृतत्वात् तदङ्गीकरयापि तत्करणाकरणाभ्यां जिनाज्ञाराधनविराधनयोरभावाद्, अन्यथा तन्मार्गानुष्ठानत्याजनेन जैनमार्गानुष्ठानव्यवस्थापनाऽयुक्तत्वप्रसङ्गात्। किं च मिथ्यादृष्टीनां ज्ञानसाध्यज्ञानत्वेनैव तन्मार्गपतितशीलस्याप्यशीलत्वेन प्रज्ञप्तत्वादन्यमार्गस्थानां शीलवत्त्वमेव नेति कुतस्तेषां देशाराधकत्वम्?। अन्यभिक्षवो हि जीवाद्यास्तिक्यरहिताः सर्वथाऽचारित्रिण एवेति। "संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा॥"(उत्त०५-२०) इत्यादि बहुग्रन्थप्रसिद्धम्, अन्यथाऽन्यतीर्थिकाभिमतदवादयोऽपि देवत्वादिनाऽभ्युपगन्तव्याः प्रसज्येरन्, मोक्षमार्गभूतशीलस्योपदिष्टत्वात्। तस्माद् भव्या अभव्याश्च निखिलजैनसामाचार्यनुष्ठानयुक्ता मिथ्यादृष्टय एव देशाराधका ग्राह्याः, तेषां द्रव्यशीलस्यापि मार्गपतितत्वेन व्यवहारनयापेक्षया प्रशस्तत्वाद्। अत एवाराधकानां मतामेतेषां नवमग्रैवेयकं यावदुपपातो न विरुद्धः, अखण्डसामाचारीपरिपालनबलेन तत्रोत्पादात्। यदागमः "अह भंते असंजयभविअदव्वदेवाण यावत्-जहण्णेण भवणवासीसु उक्कोसेण उवरिमगेविज्जएसु"त्ति (भ० श० १ उ०२) वृत्त्येकदेशो यथा "तस्मान्मिथ्यादृष्टय एवाभव्या भव्या वाऽसंयतभव्यद्रव्यदेवाः श्रमणगुणधारिणो निखिलसामाचार्यनुष्ठानयुक्ता

द्रव्यलिङ्गधारिणो गृह्यन्ते। ते ह्यखिलसामाचारीकेवलक्रियाप्रभावत एवोपरितन(रिम)ग्रैवेयकेषूत्पद्यन्त इति असंयताश्चैते सत्यप्यनुष्ठाने चारित्रपरिणामशून्यत्वादिति"। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम्—जिनोक्तमनुष्ठानमन्तरेणाराधकत्वाभावाद् मिथ्यादृष्टित्वमन्तरेण बालतपस्वित्वाभावाच्चेति ॥ १९ ॥ एतन्मतं दूषयति—

तं मिच्छा जं फलओ, मुक्खं आराहगत्तमिह पगयं ॥ तं च ण एगंतेणं, किरियाए भावसुन्नाए ॥ २० ॥

[तन्मिथ्या यत्फलतो मुख्यमाराधकत्वमिह प्रकृतम् । तच्च नैकान्तेन क्रियया भावशून्यया ॥ २० ॥]

त मिच्छत्ति। तत्सम्प्रदायगाथोक्तं मतं, मिथ्या, यद् यस्मात्, इह प्रकृतचतुर्भङ्गीप्रतिपादकभगवतीसूत्रे, मुख्यं मोक्षानुकूलम्, आराधकत्वं प्रकृतम्, ज्ञान–क्रियाऽन्यतरमोक्षकारणत्वादिनामन्यतीर्थिकानां मतनिरासार्थं तत्समुच्चयवादविशदीकरणार्थं तत्सूत्रप्रवृत्तेः। प्रत्येकं ज्ञानक्रिययोः स्वल्पसामर्थ्यस्य समुदितयोश्च तयोः सम्पूर्णसामर्थ्यस्य प्रदर्शनार्थं देशाराधकादिचतुर्भङ्ग्युपन्यासस्य सार्थक्यात्, प्रत्येकं स्वल्पसामर्थ्याभावे न सिकतासमुदायात्तैलस्येव तत्समुदायादपि मोक्षस्यानुपपत्तेः। तदिदमाहाक्षेपसमाधानपूर्वं भाष्यकारः—

"पत्तेयमभावाओ, णिव्वाणं समुदियासु ण जुत्तं ॥ नाणकिरियासु वोत्तुं, सिकतासमुदाये तेल्लं व ॥१॥ वीसु ण सव्वह च्चिय, सिकतातेल्लं व साहणाभावो ॥ देसोवगारिया जा, सा समवायंमि संपुण्णा ॥२॥" [प्रत्येकमभावाद् निर्वाणं समुदितयोर्न युक्तम् । ज्ञानक्रिययोर्वक्तुं सिकतासमुदाये तैलमिव ॥ विष्वग् न सर्वथैव सिकतातैलमिव साधनाभावः । देशोपकारिता या सा समवाये संपूर्णा ॥] अग्रिमगाथायां [illegible] न च विष्वक् पृथक्, सर्वथैव सिकताकणानां तैलमिव सत्त्वे ज्ञानक्रिययोर्मोक्षं प्रति साधनत्वाभावः, किन्तु या च यावती च तयोर्मोक्षं प्रति देशोपकारिता प्रत्येकावस्थायामप्यस्ति सा च समुदाये संपूर्णा भवतीत्ययं विशेषः, अतः

संयोग [illegible] ज्ञानक्रिययोः [illegible] ॥ [illegible] गम्यतामिति । यदि च [illegible] सिद्धिः, [illegible] । किं [illegible] ज्ञानक्रिययोः [illegible] नात्, अनुपचितशक्तिकाणां [illegible] मोक्षोपादानत्वं न क्रियायां योगस्यायामुपयोगस्यायां [illegible] ॥ २० ॥ [illegible] —

जइणाम किरियाए दव्वेणाराहगत्तपक्खे य ॥ सव्वाराहगभावो तेण अभव्वाइलिंगीणं ॥ २१ ॥

[जन्या क्रियया द्रव्येणाराधकत्वपक्षे च । सर्वाराधकभावो भवेद् अत्र भव्यादिलिङ्गिनाम् ॥ २१ ॥]

जइणामत्ति । जन्या क्रियया निखिलमार्गानुसार्याचारानुष्ठानरूपया, द्रव्येणाराधकत्वपक्षे च देशाराधकत्वाभ्युपगमे चाभव्यादिलिङ्गिनामभव्यादीनां द्रव्यलिङ्गधारिणां सर्वाराधकभावो भवेत्, तेषामपि प्रयोजनाभावेन निखिलमार्गानुसारि-रीग्रहणे तस्याः पश्चाचारसम्पन्नत्वात्, द्रव्यतश्चारित्रस्य द्रव्यतो ज्ञानदर्शनयोरप्याराधकत्वस्य तेषां बलादुपनिपातात् । न हि ते 'सम्यग्-ज्ञानाद्यनाराधकाः पर चारित्राराधकाः' इत्यर्धजरतीयन्यायाश्रयणं प्रेक्षावतां घटते । सम्यक्त्वांशे भावतः सम्यक्त्वाभावेनोत्सूत्र-भाषण-व्रतभङ्गाद्यभावेन चाराधकविराधकस्वभावाभावादनाराधकत्वस्येव चारित्रांशेऽपि भावतश्चारित्राभावेन प्राणातिपातादिव्रतभङ्गा-द्यभावेन चाराधकविराधकस्वभावाभावादनाराधकत्वस्याविशेषाद् द्रव्यतश्चोभयाराधकत्वाविशेषादिति । यत्तु तेषां द्रव्यतोऽपि स्वेच्छा-

विशेपाद् व्रताशस्यैव ग्रहण न तुश्रद्धानाशस्य इति परस्य मतम्, तदुन्मत्तप्रलपितम्, अखण्डसामाचारीपालनबलेनैव तेपा ग्रैवेयकोत्पादाभिधानादिति ॥ २१ ॥ दोपान्तरमप्याह—

तह णिण्हवाण देसा-राहगभावो अवट्ठिओ हुज्जा ॥ तो परिभासा जुत्ता, वित्तिं परिगिज्झ वुत्तुं जे ॥ २२ ॥

[तथा निह्नवाना देशाराधकभावोऽवस्थितो भवेत् ॥ ततः परिभापा युक्ता वृत्ति परिगृह्य वक्तु ॥ २२ ॥]

तह त्ति । तथेति दोपान्तरसमुच्चये । एकान्तद्रव्यक्रियैवाराधकत्वाभ्युपगमे, निह्नवानामभिनिवेशादिना परित्यक्तरत्नत्रयाणा मर्वविराधकत्वकालेऽपि देशाराधकत्वभावो भवेद् । यथा प्रतिज्ञातद्रव्यक्रियया अपरित्यक्तत्वादिष्टापत्तौ को दोपः ? इति चेद्, व्यवहारविरोध एव, न हि सर्वविराधको देशाराधकश्च कोऽपि व्यवह्रियते ॥ अथ द्रव्यक्रियामाश्रित्यैवाराधकत्व-विराधकत्वव्यवस्थाकरणात्सर्वविराधकत्व निह्नवाना नेष्यते एव, प्रतिपन्नचारित्रविपयकद्रव्याज्ञाभङ्गाभावाद्देशाराधकत्वम्, उत्सूत्रभापणेन सम्यक्त्वविपयकप्रतिपन्नजिनाज्ञापरित्यागाद्देशविराधकत्व चाविरुद्धमेव, अशभेदादेकत्रैव सप्रतिपक्षोभयधर्मसमावेशाविरोधादिति चेद् । न, एव सत्यसंयतभव्यद्रव्यदेवाना निह्नवानामभव्यादीना चोपपत्तिमधिकृत्य साम्याभावप्रसङ्गात् । अथ नास्त्येव तेपामुपपातसाम्यम्, ग्रैवेयकेष्वपि निह्नवस्य देवदुर्गततयोत्पादाद् । देवदुर्गतत्व च न केवलं देवकिल्बिपिकत्वादिनैव, तत्र तेपामभावाद्, किन्तु संमोहत्वेन । स च देवदुर्गतस्ततश्च्युतोऽनन्तकालं संसारे परिभ्रमति । यदागमः—"कदप्पदेवकिब्बिस-अभिओगा आसुरी य संमोहा । ता देवदुग्गईओ, मरणमि विराहिआ हुंति ॥१॥" त्ति । [कन्दर्पदेव-किल्बिपाभियोगा आसुरी च समोहाः । ता देवदुर्गतयो मरणे विराधिता भवन्ति ॥] आतुरप्रत्यानप्रकीर्णके व्याख्यादेशो यथा—" संमोह' त्ति समोहयन्ति—उन्मार्गदेशनादिना मोक्षमार्गाद् भ्रशयन्ति ये ते

संमोहाः, संयता अप्येवंविधा देवत्वेनोत्पन्ना समोहा एवं रूपा दुर्गतिः, ता एव देवदुर्गतयो मरणेऽपध्यानादिना विराधिता भवन्ति, ततश्च्युता अनन्तसमार परिभ्रमन्तीति चेद् । न, अभव्यादीनामप्यकालवचनौषधप्रयोगात् प्राप्तग्रैवेयकोत्पादाना समोहप्राबल्येन लुप्तसुखाना देवदुर्गतत्वाविशेषाद् । उक्तं चोपदेशपदे—"कह णु अकालपओगे, इत्तो गेविज्जगाइसुहसिद्धी ॥ णणु माहिगओसहजोगसोक्खतुल्ला मुणेयव्वा ॥१॥४३८॥ कुणइ जह सणिवाए, सदोसहं जोगसोक्खमित्तं तु । तह एयं विण्णेयं, अणोरपारंमि समारे ॥४३९॥ ण य तत्तओ तयंपि हु, सोक्खं मिच्छत्तमोहिअमइस्स ॥ जह गेहगाहिगहिअस्स, ओसहाओ वि तब्भावे ॥४४०॥ जह चेवोवहयनयणो, सम्म रूवं ण पासई पुरिसो ॥ तह चेव मिच्छदिट्ठी, विउलं सोक्खं ण पावेइ ॥४४१॥ असदभिणिवेसवं सो, णिओगओ ता ण तत्तओ भोगो । सव्वत्थ तदुवघाया, विसघारियभोगतुल्लो त्ति ॥४४२॥ [कथं त्वकालप्रयोगे इतो ग्रैवेयकादिसुखसिद्धिः । ननु साऽधिकृतौपधयोगसौख्यतुल्या ज्ञातव्या॥१॥ करोति यथा सन्निपाते सदोषधं योगसौख्यमात्रं तु । तथैतद् विज्ञेय अनर्वाक्पारे संसारे ॥२॥ न च तत्त्वतस्तदपि खलु सौख्यं मिथ्यात्वमोहितमतेः ॥ यथा रौद्रव्याधिगृहीत-स्यौषधादपि तद्भावे ॥ यथा चैवोपहतनयनः सम्यग्रूपं न पश्यति पुरुषः । तथा चैव मिथ्यादृष्टिः विपुलं सौख्यं न प्राप्नोति ॥ असदभिनिवेशवान्स नियोगतस्तन्न तत्त्वतो भोगः ॥ सर्वत्र तदुपघाताद्विषधारितभोगतुल्य इति ॥] एतस्माद्धि वचनादभव्यादीनामेव निह्नवाद्यपेक्षयाऽप्यकालवचनौषधप्रयोगेण मिथ्याभिनिवेशदार्ढ्याद्‌तिदुःस्थितत्वेन क्लिष्टतरदेवदुर्गतत्वं प्रतीयते, परेण त्वभव्यनिह्नवानामनाराधकत्वविराधकत्वाभ्यां वैपरीत्यमङ्गीकृतं, प्रसज्यते च तत्प्रक्रियया द्रव्याज्ञापेक्षयाऽभव्यादीनामपि सर्वाराधकत्वात् तात्त्विकसुदेवत्वमेवेति यत्किंचिदेतत् । अथ चारित्रापेक्षयाऽऽराधकत्वं द्रव्यप्रतिपत्त्यैव परिभाष्यते, ज्ञानदर्शनापेक्षया तु भावप्रतिपत्त्या ततोऽभव्यादीनां द्रव्यलिङ्गिनां देशाराधकत्वमेव । निह्नवानां च

देशाराधकत्वं देशविराधकत्व च ततो देशाराधकत्वापेक्षयोभयोपपातमाम्यं, दुर्गतिन्वनिबन्धनं चैकस्य साहजिक मिथ्यात्वं, अपरस्य च विराधनाजन्यमिति परिभाषाया को दोष इति चेत्, नन्वेवं परिभाषाऽऽश्रयणावश्यकत्वे वृत्तिकृत्साम्येनैव माऽऽश्रयणीया इत्यभिप्रायवानाह–तत् तस्माद्, वृत्तिं परिगृह्य परिभाषा वक्तु युक्ता । जे इति पादपूरणार्थो निपातः । वृत्तौ हि श्रुतशब्देन ज्ञानदर्शनयोः शीलशब्देन च प्राणातिपातादिक्रियाया एव परिभाषणाद् । अश्रुतवान शीलवांश्च मार्गानुसार्येव बालतपस्वी पर्यवस्यतीति भाव । न हि द्रव्यलिङ्गधरोऽभव्यादिर्व्यवहारेण बालतपस्वी वक्तु युज्यते । " ता एते बालतवस्सिणो दट्ठव्वेति " (तत एते बालतपस्विनो द्रष्टव्या इति ।) महानिशीथे नागिलवचन कुशीलेषु बालनिश्चयाभिप्रायकमेवेति । न चैकमिथ्येन वाच्यं देशाराधकत्वमशुद्धव्यवहाराद, तदुपपादक बालतपस्वित्व च निश्चयादिति वक्तु युक्तम्, मन्दधर्मविशेषात, किन्तु निश्चयप्रापकव्यवहाराद्देशाराधकत्व तदुपपादक च मार्गानुसारियमनियमादिक्रियावत्त्वं बालतपस्वित्वमित्येव मन्दर्माविशेषः । न च व्यवहारे निश्चये प्रापकत्वाप्रापकत्वाभ्यां [illegible] इति [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] परिभाषाया [illegible] बालतपस्विनो [illegible], [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible]दिति चेत् । न, [illegible] ॥८१॥

[illegible] ॥

मग्गाणुसारिकिरिया [illegible] ॥ [illegible] ॥८२॥

(मार्गानुसारि[illegible] [illegible] ॥ ८२ ॥)

[illegible] इन्द्रियाणयत्र तत्समं, [illegible]

'मग्गाणुसारिकिरियत्ति'। मार्गानुसारिणी क्रिया शीलदयादानादिरूपा, सर्वत्र भावतस्तु जैन्येव, आदितो भगवत्प्र-
…न तस्याः सर्वत्रोपनिबन्धात्, मार्गानुसारिणा च तन्मात्र एव तात्पर्यात्। ते हि क्षीरनीरविवेककृतो हंसा इव निसर्गत एव
द्क्रियाविशेषग्राहिण इति कथमियं जैनी ? इत्यत्र हेतुमाह—यद् यस्माद्, अप्रमादसारोऽपि परमोपेयाप्रमादमुख्योद्देशोऽपि,
ोपदेशः चित्रः पुरुषविशेषापेक्षयोचितगुणाधायकतया नानाप्रकारो यो यत्प्रमाणोपदेशयोग्यस्तस्य तावत्प्रमाणगुणाधानपर्यव-
इति यावत्। तदुक्तमुपदेशपदे—"एव जिणोवएसो, उचियाविक्खाइ चित्तरूवोत्ति ॥ अपमायसारयाए, वि तो सविसय मो
यव्वो ॥ १ ॥ त्ति" ९३३ (एवं जिनोपदेश उचितापेक्षया चित्ररूप इति। अप्रमादसारतायामपि ततः सविषयो ज्ञातव्यः ॥)
तद्वृत्तिर्यथा—"एवं गुरुकर्मणां प्रव्रज्याप्रतिपत्त्यसहिष्णुत्वे सति, जिनोपदेशः—सर्वज्ञप्रज्ञापनारूपः, उचितापेक्षया यो
यत्प्रमाणस्योपदेशस्य योग्यस्तदपेक्षया, चित्ररूपो नानारूपतया, प्रवर्तते इति प्राग्वत्। अप्रमादसारतायामपि अप्रमादः सारः
करणीयतया यत्र जिनोपदेशे स तथा तस्य भावस्तत्ता तस्यामपि, तत् तस्मात्, सविषयः सगोचरः, सो इति पूर्ववत्, 'मुणेयव्वो'त्ति
मुणितव्यः। यदा हि जिनोपदेशश्चित्ररूपतया व्यवस्थितोऽप्रमादसारोऽपि तदाऽपुनर्बन्धकादीन् निर्वाणमार्गप्रज्ञापनायोग्यानधिकृत्य
केचित्सामान्यदेशनायाः, केचित्सम्यग्दृष्टिगुणयोग्यप्रज्ञापनायाः, केचिद्देशविरतिगुणस्थानकार्हप्ररूपणायाः, केचिन्निर्धूतचारित्रमोहमा-
लिन्या अप्रमत्ततारूपप्रव्रज्यादेशनाया योग्या इति नाऽविषयाऽप्रमत्तताप्रज्ञापनेति।" ततश्च मार्गानुसारिक्रियाऽपि भगवत्सामान्यदेश-
नार्थ इति भावतो जैन्येवेति प्रतिपत्तव्यम् ॥ २३ ॥ नन्वेवं भागवतीं सामान्यदेशनामनुसृत्य प्रवर्तमानानां मिथ्यादृशामपि सा
मार्गानुसारिणी क्रिया सिद्ध्यनुदया दानादिका जैनी, पतञ्जल्याद्युक्तमनुसृत्य प्रवर्तमानानां तु सा कथं जैनी ? जिनदेशनाऽनु-

मन्धानमूलप्रवृत्त्यनुपहितत्वादित्याशङ्कायामाह—

अण्णत्थवि जमभिण्णं, अत्थपयं तं जिणिंदसुअमूलं ॥ अण्णोवि तयणुसारी, तो देसाराहगो जुत्तो ॥२४॥

[अन्यत्रापि यदभिन्नमर्थपदं तज्जिनेन्द्रश्रुतमूलम् । अन्योऽपि तदनुसारी ततो देशाराधको युक्तः ॥ २४ ॥]

'अण्णत्थवि'त्ति । अन्यत्रापि पातञ्जलादिशास्त्रेऽपि, यदर्थपदं पुरुषार्थोपयोगिवचनम्, अभिन्न–भगवद्वचनैकार्थं तज्जिनेन्द्रश्रुतमूलम्, तदनुसारेणैव तत्र तदुपनिबन्धात् । तथा च ततोऽपि जायमाना मार्गानुसारिणी क्रिया वस्तुतो भगवद्देशनाविषयत्वेन भावतो जैन्येव। न हि मध्यस्थस्यान्योक्तत्वज्ञानं तत्फलप्रतिबन्धकम्, दृष्टिरागसहकृतस्यैव तस्य तथात्वात् । अत एव नाभिन्नार्थेऽन्योक्तत्वमात्रेण सर्वनयवादसंग्रहहेतुचिन्ताज्ञानापादने(पादित) माध्यस्थ्यगुणाना साधुश्रावकाणा प्रद्वेषः, तत्प्रद्वेषस्य तन्मूल दृष्टिवादप्रद्वेषमूलत्वेन महापापत्वात् । तदुक्तमुपदेशपदसूत्रवृत्त्योः—" ज अत्थओ अभिन्न, अण्णत्था सद्दओवि तह चेव ॥ तंमि पओसो मोहो, विसेसओ जिणमयठिआणं ॥ १ ॥ ६९६ [यदर्थतोऽभिन्नमन्वर्थाच्छब्दतोऽपि तथा चैव । तस्मिन्प्रद्वेषो मोहाद् विशेषतो जिनमतस्थितानाम् ॥] यद्वाक्यमर्थतो वचनभेदेऽप्यर्थमपेक्ष्य(र्थापेक्षया), अभिन्नमेकाभिप्रायम्, तथा अन्वर्थाद् अनुगतार्थात्, शब्दतोऽपि शब्दसन्दर्भमपेक्ष्य, तथैव–अभिन्नमेव । इह परसमये द्विधा वाक्यान्युपलभ्यन्ते । कानिचिदर्थत एवाभिन्नानि-" अप्पा णई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली । अप्पा कामदुघा घेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥१॥ " उत्त० अ० २० गा० ३६ [आत्मा नदी वैतरणी आत्मा मे कूटशाल्मली । आत्मा कामदुघा धेनुरात्मा मे नन्दनं वनम् ॥] इत्यादिभिर्वाक्यैर्यथा भारतोक्तानि " इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं, यत्स्वर्गनरकावुभौ ॥ निगृहीतविशिष्टानि, स्वर्गाय नरकाय च ॥१॥ आपदां प्रथितः पन्था,

इन्द्रियाणामसंयमः । तज्जयः सम्पदामग्रे, येनेष्ट तेन गम्यताम् ॥२॥" इत्यादीनीति । कानिचिच्छब्दतोऽर्थतश्च–"जीवदया सच्चवयणं" [जीवदया सत्यवचनम्] इत्यादिभिः प्रसिद्धैरेव वाक्यैः सह, यथा–"पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम् ॥ अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥१॥" इत्यादीनि । एवं स्थिते तस्मिन्नभिन्नार्थेऽकरणनियमादौ वाक्ये विशिष्टक्षयोपशमादिवाक्येन सह, प्रद्वेषः 'परसमयप्रज्ञापनेयम्' इतीर्ष्या, मोहो मूढभावलक्षणो वर्तते बौद्धादिसामान्यधार्मिकजनस्यापि, विशेषतो जिनमतस्थितानां सर्वनयवादसङ्ग्रहात्मस्याद्वादभावनानीतहृदयाणां साधुश्रावकाणाम् । अत एवान्यत्राप्यनेनोक्तम्-षो०४–११ "गुणतस्तुल्ये तत्त्वे, सञ्ज्ञाभेदागमान्यथादृष्टिः । भवति यतोऽसावधमो, दोषः खलु दृष्टिसमोहः ॥१॥" इति एतदेव समर्थयन्नाह–"सव्वप्पवायमूलं, दुवालसंगं जओ समक्खाय ॥ रयणागरतुल्लं खलु, तो सव्वं सुंदर तंमि ॥२४॥"(सर्वप्रवादमूलं द्वादशाङ्गं यतः समाख्यातम् । रत्नाकरतुल्यं खलु ततः सर्वं सुन्दरं तस्मिन् ॥) सर्वप्रवादमूल–भिक्षुकणभक्षाऽक्षपादादितीर्थान्तरीयदर्शनप्रज्ञापनानामादिकारणम् । किं तद् ? इत्याह–द्वादशाङ्गं द्वादशानामाचारादीनामङ्गानां प्रवचनपुरुषावयवभूतानां समाहारो, यतः कारणात्, समाख्यातं सम्यक् प्रज्ञप्तम् सिद्धसेनदिवाकरादिभिः, यतः पठ्यते–"उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ॥ न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥१॥" अत एव रत्नाकरतुल्यं–क्षीरोदधिप्रभृतिजलनिधिनिभम्, खलु निश्चये, तत्तस्मात्, सर्वमपरिशेषं, सुन्दरं यत्किञ्चित्प्रवादान्तरेषु समुपलभ्यते, तत्तत्र समवतारणीयम् । इत्यकरणनियमादीन्यपि वाक्यानि तेषु तेषु योगशास्त्रेषु व्यासकपिलातीतपतञ्जल्यादिप्रणीतानि जिनवचनमहोदधिसमभ्युपलब्धोदयान्येव दृश्यानीति । तेषामवज्ञाकरणे सकलदुःखमूलभूताया भगवदवज्ञायाः प्रसङ्गात् न काचित्कल्याणसिद्धिरिति ।" यत्तु कश्चिदाह–"जैनानामकरणनियमपरिहारशङ्कानिरासार्थमेव तीर्था-

न्तरीयवर्णितत्वमुपवर्णितं न त्वन्यतीर्थिकेष्वकरणनियमोऽस्तीति भणितम्। वर्णन च वर्णनीयवस्तुविषयकयथार्थज्ञानसापेक्षमेव, अन्यथा च तथाभूतवर्णनं सम्यगेव न स्यात्, तथा च तद्दर्शनेऽपि धर्मसद्भावप्रसङ्गः। इत्थ च कपिलस्य पुरस्तात् "मनागिहापि धर्मोऽस्तीति" परिव्राजकदर्शनमधिकृत्य मरीचिवचनमुत्सूत्रं न स्यादिति। तदसत्, तीर्थान्तरीयाणामपि मद्भूताकरणनियमवर्णनस्य शुभभावविशेषसापेक्षत्वेन मार्गानुसारितया तेषु सामान्यधर्मसिद्धेः॥ शुभभावविशेषसापेक्षत्व च तस्य "इत्तो अकरणनियमो, अण्णेहि वि वणिओ ससत्थमि। सुहभावविसेसाओ, ण चेवमेसो ण जुत्तोत्ति॥" ६९२ (इतोऽकरणनियमोऽन्यैरपि वर्णितः स्वशास्त्रे। शुभभावविशेषाद् न चैवमेव न युक्त इति॥) इति उपदेशपदवचनेनैव प्रसिद्धम्। न चैवंविधस्तेषां शुभाध्यवसायस्तथाभूतज्ञानावरणीयमोहनीयक्षयोपशमजनितत्वेन स्वयमेवोक्तो निरनुबन्धशुभप्रकृतिहेतुत्वादनर्थहेतुरेवेति परेण वक्तुं युक्तम्। निरुपधिभवबीजप्रहाणेच्छागोचरमार्गानुसारिशुभाध्यवसायस्य शुभानुबन्धिपुण्यनिमित्तत्वेनोक्तत्वात्। तदुक्तमपुनर्बन्धकाधिकारे योगबिन्दौ—"क्रोधाद्यबाधितः शान्त, उदात्तस्तु महाशयः॥ शुभानुबन्धिपुण्याच्च, विशिष्टमति(गुण)सङ्गतः॥१९३॥ ऊहतेऽयमतः प्रायो, भवबीजादिगोचरम्॥ कान्तादिगतगेयादि, तथा भोगीव सुन्दरम्॥१९४॥" इति। अत एव परेषामकरणनियमवर्णन हेतुः शुभभावविशेषो वज्रवदभेद्यः प्रशस्तपरिणामभेद उपदेशपदवृत्तौ विवृतः। अयमेव ह्यस्य विशेषो यद्विशेषशब्देनाप्रतिसन्धानं विनाऽपि तद्विशेषपर्यवसायित्वमिति। अत एव मार्गानुसारिणा परेषां जैनाभिमतप्रकारेण जीवाद्यनभ्युपगमान्न नास्तिकत्वम्, विप्रतिपन्नांशे पक्षपातपरित्यागे सति वस्तुतस्तदभ्युपगमपर्यवसानाद्। अत एव शुभभावविशेषादकरणनियमवर्णन मार्गानुसारिणामेव यदृच्छाप्रणयनप्रवृत्तानामर्वाचीनानां च प्रवाहपतितत्वेन घुणाक्षरन्यायेनैवेति जिनवचनविषयकपरोपनिबन्धेऽप्यस्ति विशेषः। तदिदमुक्त धर्मबिन्दुवृत्तौ अ० १ श्लो० ३ "यच्च यदृच्छाप्र-

णयनप्रवृत्तेषु तीर्थान्तरीयेषु रागादिमत्स्वपि घुणाक्षरोत्किरणव्यवहारेण क्वचित्किंचिदविरुद्धमपि वचनमुपलभ्यते मार्गानुसारिबुद्धौ वा प्राणिनि क्वचित् तदपि जिनप्रणीतमेव, तन्मूलत्वात्तस्येति"। एतेन घुणाक्षरन्यायेन जैनाभिमतवस्तुवर्णनानुकारि वर्णनमन्यतीर्थिकेषु भवत्यपीति प्रवचने प्रतीतमेवेति तेषामकरणनियमवचनमाकृतिमात्रमेवेत्यपास्तम्। मार्गानुसारिदृष्ट्या तद्वर्णनस्य घुणाक्षरविलक्षण त्वात्, औदयिकयोगदृष्ट्या सर्वविशेषावगाहिसम्यक्त्वाभावेऽपि सामान्यधर्मप्रदर्शनाविरोधात्. सामान्यधर्मसत्ता च तेषु बौद्धादिसा-मान्यधार्मिकजनस्यापीतिवदत उपदेशपदवृत्तिकर्तुरेव वचनाद् व्यक्तं प्रतीयते। एवं सति "मनागिहापि धर्मोऽस्तीति" मरीचि-वचनस्योत्सूत्रत्वं न स्यादिति त्वसमीक्षिताभिधानम्. स्वतन्त्रप्रमाणप्रतिपत्त्यनुबन्धिविषयतयाऽन्यदर्शने मनाग् धर्मस्याप्यभावेन तद्वच-नस्योत्सूत्रत्वात्, तद्वृत्तिसामान्यधर्मेऽपि भगवद्वचनस्यैव स्वतन्त्रप्रमाणत्वात् अथवा कपिलस्य बालत्वादन्यलिङ्गमेवान्यदर्शनत्वेन तेन प्रतीतम्, तत्र च स्वनिरूपितकारणताविशेषेण न कोऽपि धर्मोऽस्तीति भाषासत्यत्वात् तद्वचनस्योत्सूत्रत्वाव्याघात इति यथातन्त्र नीयम्। अथैवमन्यदर्शने क्वचित्सत्यत्वम्, क्वचिच्चासत्यत्वमिति मिश्रत्वं स्याद् नत्वेकान्तमिथ्यात्वम्, न चैवमिष्यते, तस्यै-मिथ्यारूपस्यैवाभ्युपगमात्। तदुक्तं दशवैकालिकनिर्युक्तौ (अ० ७) "सम्मदिट्ठी उ सुअंमि, अणुवउत्तो अहेउअं चेव॥ जं सइ सा मोसा, मिच्छदिट्ठी वि य तहेवत्ति॥१॥" (सम्यग्दृष्टि श्रुतेऽनुपयुक्तोऽहेतुकं चैव। यद् भाषते सा मृषा मिथ्यादृष्टिरपीति तथैवेति॥)॥ एतद्वृत्तिर्यथा-सम्यग्दृष्टिरेव, श्रुते आगमे, अनुपयुक्तः प्रमादाद् यत्किंचित्, अहेतुकं चैव युक्तिविकल चेव यद्, भाषते 'तन्तुभ्यः पट एव भवतीत्येवमादि, सा मृषा, विज्ञानादेरपि तत एव भावादिति। मिथ्यादृष्टिरपि तथै-वेत्युपयुक्तोऽनुपयुक्तो वा, यद् भाषते सा मृषैव घुणाक्षरन्यायेन संवादेऽपि "सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्" इति

गाथार्थः, इति चेद् । न, अनभिनिविष्ट प्रत्यन्यदर्शनस्य सर्वस्यैव फलतोऽप्रामाण्यात्, मार्गानुसारिणं प्रति च सुन्दरवचनस्य जैनवचनपर्यवसिततयाऽवशिष्टस्यान्यदर्शनस्यैकान्तमिथ्यात्वतादवस्थ्यात् । कश्चित्तु दृढदृष्टिरागविलुप्तबुद्धिः पातञ्जलादिगताकरणनियमादिवाक्यानां जिनवचनमूलत्वमनभिमन्यमानः "सव्वप्पवायमूलं" इत्याद्युपदेशपद(६९४)गाथायामिमामनुपपत्तिमुद्भावयति– सर्वप्रवादानां मूलं द्वादशाङ्गम्' इत्यत्र प्रवादा नयवादविशेषास्ते च सर्वग्रहणेन शुभा अशुभाश्च ग्राह्याः । तत्र शुभा जीवरक्षाद्यभिप्रायघटिताः, अशुभाश्च ततो विलक्षणाः तेषां च मूलं द्वादशाङ्गं श्रीवीरवचनोद्बोधितश्रीसुधर्मस्वामिसम्बन्धि न भवति, अशुभानामपि प्रवादानां प्रवृत्तेर्जिनवचनमूलकत्वप्रसक्त्या शुभानामिवोपादेयता स्यादिति । ते च प्रवादाः शुभाशुभरूपा अपि सङ्ख्यया वचनसंख्याकाः । तदुक्तम्–" जावइआ वयणपहा० (तावइया चेव हुंति नयवादा) " इत्यादि, तेषां प्रवृत्तिरनादिप्रवाहपतिता कथं जिनवचनमूलिका सम्भवति ?, प्रत्यक्षबाधात् । किं च–तेषां सर्वेषामप्यवज्ञाकरणेन जिनाज्ञाऽभ्युपगमे "जीवो हन्तव्यः" इत्यादिनयप्रवादानामप्यवज्ञाकरणे तथात्वापत्तिरिति ॥ एतद(स)यमन्यभावं कल्पयति–द्वादशाङ्गं हि सर्वोत्कृष्टं श्रुतज्ञानं केवलज्ञानदिवाकरस्य प्रकाशभूतं केवलज्ञानमिव प्रत्यात्मवर्तित्वादधिकरणभेदेन भिन्नमपि स्वरूपतो न भिन्नम्, किन्तु केवलज्ञानमिवैकमेव, तुल्यविषयकत्वात् तुल्यसम्बन्धित्वाच्च । उदयमधिकृत्य तु स्वरूपतोऽपि भिन्नमेव, तत्कारणस्य क्षयोपशमस्य प्रत्यात्मभिन्नत्वात्, श्रुतज्ञानोदयस्य च क्षायोपशमिकत्वात् । ते च प्रवादा निजनिजद्वादशाङ्गमूलका अपि सामान्यतो द्वादशाङ्गमूलका एवोच्यन्ते । यथा नानाजलसम्भूतान्यपि कमलानि सामान्यतो जलजान्येव, अत एव सर्वप्रवादानां मूलं द्वादशाङ्गमेवेति सामान्यतोऽभिहितम्, सर्वस्यापि द्वादशाङ्गस्य सर्वोत्कृष्टश्रुतत्वेन सर्वाक्षरसंनिपातात्मकत्वात्, प्रवादा अप्यक्षरात्मका एव । अत एव द्वादशाङ्गं रत्नाकरतुल्यम्, रत्नाकरस्येव तस्याप्यनेकजातीय-

शुभाशुभनयलक्षणवस्तूनामाश्रयत्वात् । परं मिथ्यादृशां यद् द्वादशाङ्गं तत्स्वरूपत एव सर्वनयात्मकं सत्तामात्रवर्तित्वात्, न पुनः फलतोऽपि कस्यापि मिथ्यादृशः कदाचिदपि सर्वांशक्षयोपशमाभावात्, मिथ्यादृष्टिमात्रस्योत्कृष्टतोऽपि क्षयोपशमः सर्वांशक्षयोपशमलक्षणसमुद्रापेक्षया विन्दुकल्पो भवति । यदुक्तं—" जयति विजितरागः (केवलालोकशाली, सुरपतिकृतसेवः श्रीमहावीरदेवः ॥ यदसमसमयाब्धेश्चारुगाम्भीर्यभाजः, सकलनयसमूहा विन्दुभावं भजन्ते ॥ १ ॥) इत्यादि । सम्यग्दृशां तु कपाञ्चित्संयतानां फलतोऽपि द्वादशाङ्गस्य सर्वनयात्मकत्वम्, सर्वांशक्षयोपशमस्य सम्भवाद् । अत एव गौतमादयः सर्वाक्षरसंनिपातिनः प्रवचने भणिताः, परं तेषां संयतानां सकलमपि द्वादशाङ्गं शुभनयात्मकत्वेनैव परिणमति सावद्यनयविषयकानुवादरचनप्रवृत्तेरप्यभावाद् । एतेन सर्वेऽपि शाक्यादिप्रवादा जैनागमसमुद्रसम्बन्धिनो विन्दवइति भ्रान्तिरपि निरस्ता, "षट्शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि" इत्यादिप्रवादानामपि जैनागममूलकत्वापत्त्या संयतानां सावद्यभाषाप्रवृत्तिप्रसक्तेः । तस्मात्सर्वांशक्षयोपशमसमुत्थद्वादशाङ्गलक्षणसमुद्रस्य पुरस्तादन्यतीर्थिकाभिमतप्रवादाः समुदिता अपि विन्दूपमा इत्यर्थो युक्तः, अन्यथा 'विन्दुभावं भजन्ते' इति प्रयोगानुपपत्तिः स्यात् ॥ अवयवाऽवयविनोरुपमानोपमेयभावेन वर्णने निजावयवापेक्षया महत्त्वेऽप्यवयविनो गौरवाभावाद्, न ह्यङ्गुष्ठो हस्तावयवभावं भजते इति हस्तस्य स्तुतिः सम्भवति । किं च—समुद्रस्य विन्दव इति भणनमप्यसङ्गतम्, समुद्रप्रभवा हि वेलाकल्लोलोर्म्यादयो भवन्ति, न पुनर्विन्दवः, तेषां चोत्पत्तिर्सङ्घाद् हस्तवस्त्रादिव्यापाराद्वा स्यादिति सर्वानुभवसिद्धम् । अन्यथा समुद्रान्निर्गतविन्दुभिः समुद्रस्य न्यूनत्वापत्त्या तस्य गाम्भीर्यहानिः स्याद् इत्येवंस्थिते वृत्तिव्याख्यानसङ्गतिरियम्—यद् यस्मात्कारणाद् द्वादशाङ्गं रत्नाकरोपमया शुभाशुभसर्वप्रवादमूलम्, तस्मात्कारणात्स्वरूपतः फलतश्च यावत्सुन्दरमात्मनिष्ठाकरणनियमादिवाच्यवाचकं वाक्यादिकं तत्तस्मिन् द्वादशाङ्गे, एवकारो

गम्यः, द्वादशाङ्ग एव समवतारणीय, तत्र वर्तते एवेत्यर्थः, द्वादशाङ्गस्य सर्वोत्कृष्टश्रुतत्वेन तद्व्यापक(की)भूतस्य सर्वसुन्दरात्मकत्वस्या वश्यंभावात्; परं सम्यग्दृशां यावत्सुन्दरं तावत्सर्वमपि द्वादशाङ्गमूलकमुदितं भवति, फलतोऽपि शुभत्वात्, तदागमनविधिपरिज्ञा नाच्च । तच्च सानुबन्धपुण्यप्रकृतिहेतुः । मिथ्यादृशा तु स्वरूपतः क्वचिदंशे शुभत्वेऽपि फलतोऽशुभत्वमेवेति । विरुद्धस्वरूपपरिणतयो-रुभयोः सम्यग्मिथ्यादृशोरकरणनियमयोरभेदेन भणनमुदितस्याकरणनियमस्यावज्ञया जिनावज्ञा स्यात्, सा चानन्तसंसारहेतुरिति भणि-तम् । यथा मोक्षाङ्गं स्वरूपतः शुभमपि मनुष्यत्वं संयतजनस्य फलतोऽपि शुभमेव, मोक्षप्राप्तिपर्यन्तं सुगतिहेतुत्वात् । तदेव मनुष्यत्वं व्याधादेः फलतोऽशुभमेव, जीवघाताद्यसयमहेतुत्वेन दुर्गतिहेतुत्वात् । एवं सत्यपि भेदे द्वयोरपि मनुष्यत्वयोस्तुल्यतया भणनं संय-तजनमनुष्यत्वस्यावज्ञया जिनावज्ञैव, जिनेनैव भेदेनाभिधानात्, दृश्यते च लोकेऽपि लक्षणोपेत-तदनुपेतयोर्मण्योस्तुल्यतया भणने लक्षणोपेतमणेरवज्ञया तत्परीक्षकस्यावज्ञैवेति ॥ तदिदमखिलमकाण्डतुण्डताण्डवाडम्बरमात्रम्, अनुपपत्तेरेवाभावात् । द्वादशाङ्गस्य विधिनिषेधविधया स्वसमयपरसमयप्रज्ञापनाविधया वा शुभाशुभसर्वप्रवादमूलत्वे दोषाभावात् । न चाशुभानामपि प्रवादाना ततः प्रवृ-त्तेस्तन्मूलकतयोपादेयताप्रसङ्गः, तज्जन्यप्रतिपत्तिविषयत्वरूपस्य तन्मूलकत्वस्योपादेयत्वाप्रयोजकत्वात्, जिनवचनविहितत्वस्यैवो पादेयताया तन्त्रत्वात् । सर्वेषामपि परवादानामवज्ञाकरणे च न जिनावज्ञाऽभ्युपगम्यते, किन्तु तद्गतसुन्दरप्रवादानामेवेति । 'जीवो हन्तव्यः' इत्यादिनयप्रवादानामवज्ञाया जिनावज्ञाऽऽपादनमसङ्गतमेवेति, ततो भावान्तरकल्पन निर्मूलकमेवासङ्गततर च । अन्यो-क्ताकरणनियमावज्ञापरिहारार्थं प्रकृतगाथोपन्यासात्परकल्पितभावस्य च तद्विपरीतत्वात् तदनुसारेणोभयाकरणनियमवर्णनाभेदे भग-वदवज्ञाप्रसङ्गात्, तद्भेदव्यक्तये अन्याकरणनियमवर्णनावज्ञाया एव न्याय्यत्वप्रसङ्गादिति । तथाऽपि तत्र किञ्चिदुच्यते-द्वादशाङ्गं हि

सर्वोत्कृष्टश्रुतज्ञानं सन्तानभेदाविवक्षया गृह्यते, तच्छुद्धज्ञानमेव ज्ञानाज्ञानसाधारणं वा, आद्ये तस्य सर्वप्रवादमूलत्वानुपपत्तिः, शुद्धाशुद्ध-
योरैक्यायोगात्। अन्त्ये च सङ्ग्रहनयाश्रयणेन द्वादशाङ्गसामान्यस्य वस्तुतः सर्वनयप्रवादात्मकत्वसिद्धावपि व्यक्त्यनुपमर्दप्रसङ्गापत्तिः।
न हि यथा नानाजलोत्पन्नानि जलजानि जलजत्वेनोच्यन्ते तथा 'जलं सर्वजलजोत्पादकम्' इत्यपि व्यवहारः क्रियते, एवमेव हि
'सर्वप्रवादमूलं द्वादशाङ्गम्' इत्यपि न स्यात्। यदि चैकवचनेनापि व्यक्त्युपसङ्ग्रहः क्रियते, भेदनिरूपणे च न मिथ्यादृशां द्वादशाङ्ग-
मत्यल्पक्षयोपशमात्मकं सर्वांशक्षयोपशमशुद्धसम्यग्दृष्टिद्वादशाङ्गरत्नाकरापेक्षया विन्दुतुल्यं व्यवस्थाप्यते, तदा कथं वाचोयुक्तिः ?, 'स-
र्वेऽपि शाक्यादिप्रवादा जैनागमसमुद्रसम्बन्धिनो विन्दव इति भ्रान्तिः' इति ज्ञानवाक्ययोर्मिथ्यारूपयोर्विशिष्टयोरेकत्र जैनागमसम्ब-
न्धित्वमपरत्र नेत्यत्र प्रमाणाभावात्, प्रत्युत वाक्यमुत्सर्गतो न प्रमाणं नवाऽप्रमाणम्, अर्थापेक्षया तु तत्र प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्य-
वतिष्ठते इति कल्पभाष्यप्रसिद्धार्थानुसारेणोदासीनेषु वाक्यरूपपरप्रवादेषु तत्सम्बन्धित्वमत्यन्तासुन्दरम्, साक्षात्प्रतिपक्षभूतेषु
मिथ्याज्ञानरूपेषु प्रवादेषु तदत्यन्तासुन्दरमिति भावभेदे च सति वाक्यरचनाया न विशेषः। 'सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं मिथ्याश्रुतमपि
सम्यक्श्रुतम्, मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं च सम्यक्श्रुतमपि मिथ्याश्रुतम्' इति सिद्धान्तव्यवस्थिततत्त्वाच्छाक्यादिप्रवादेषु जैनागमो-
द्धृतत्वरूपतत्सम्बन्धित्वाभ्युपगमस्य तदेकानुपूर्वीकरचनारूपसम्बन्धाभावेन खण्डनं त्वपाण्डित्यविजृम्भितमेव। न भिन्नभूतसम्बन्धेन
साधूनां तद्वचनादसंयतत्वापत्तिः, शुद्धाशुद्धविवेकेनैव साधुभिस्तत्परिग्रहात्। न च 'शाक्यादिप्रवादा जैनागमसमुद्रसम्बन्धिनो
विन्दवः' इति प्रवाहपतितमेव वचनम्, "पावंति जसं असमंजसावि, वयणेहिं जेहिं परसमया। तुह समयमहोअहिणो, ते मंदा बिंदु-
णिस्संदा ॥ १ ॥" (धनपालपंचाशिका गाथा ॥४१॥) (प्राप्नुवन्ति यशः असमञ्जसा अपि यैर्वचनैः परसमयाः। तव समयमहोदधेः

तानि मन्दा बिन्दुनिःस्यन्दाः ॥) इति परमश्रावकेण धनपालपण्डितेनाप्येवमभिधानात् । किञ्च—"जं काविलं दरिसणं, एअं दव्वट्ठिअस्स वत्तव्वं । सुद्धोअणतणयस्स उ, परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥ १ ॥ दोहि वि णएहि णीअं, सत्थमुलूएण तहवि मिच्छत्तं । जं सविसयपहाणत्तणेण अणुण्णणिरवेक्खं ॥२॥"(यत्कापिल दर्शनमेतद् द्रव्यार्थिकस्य वक्तव्यम् । शुद्धोदनतनयस्य तु परिशुद्धः पर्यवविकल्पः ॥ द्वाभ्या नयाभ्या नीतं शास्त्रमुलूकेन तथाऽपि मिथ्यात्वम् । यत्स्वविषयप्रधानत्वेन अन्योन्यनिरपेक्षम् ॥) इत्यादि सम्मतिग्रन्थेऽपि (तृतीयकाण्ड गाथा ४८–४९) शाक्यादिप्रवादाना जैनागममूलत्वं श्रुतमिदम्, तस्य द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिकोभयनयरूपत्वात्। यच्च सिद्धसेनः— "तित्थयरवयणसंगह–विसेसपत्थारमूलवागरणी ॥ दव्वट्ठिओ अ पज्जव–णओ अ सेसा विअप्पा सिं ॥१॥" इति । (तीर्थकरवचनसङ्ग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकरणी । द्रव्यार्थिकश्च पर्यायनयश्च शेषा विकल्पा अनयोः ॥)(सम्मतिप्रथमनयकाण्ड. गाथा ३) यच्चोक्तम् 'बिन्दुभावं भजन्ते' इति प्रयोगानुपपत्तिः, आयव्ययविनोरुपमानोपमेयभावे गौरवाभावादिति । तदसत्, न ह्यत्र हस्ताद्यवयवसाधारणमवयवत्वम्, किन्तु समुदितेषु परप्रवादेषु तदेकदेशार्थत्वमिति गौरवाप्रतिधानात् । यच्चोक्तम्—'समुद्रस्य बिन्दव इति भणनमप्यसङ्गतम्' इत्यादि, तदपि असत्, समुद्रस्थानीयजैनमहाशास्त्रप्रसरत्कल्लोलस्थानीयावान्तरशास्त्रेभ्यः सामान्यदृष्टिप्रवचनप्रेरितपरसमयबिन्दूद्गमस्याविरोधात्, 'समुद्राद्विनिर्गतबिन्दुभिः समुद्रस्य गाम्भीर्यहानिः' इति तु न पामरस्यापि सम्मतमिति यत्किञ्चिदेतत् । एवकाराद्यध्याहारेण वृत्तिसङ्घटना तु वृत्तिकृदभिप्रायेणैव विरुद्धा, 'अन्यत्र न सुन्दरम्' इत्यस्यार्थस्य वृत्तिकृदनभिप्रेतत्वात्. उदितानुदितयोः करणनियमयोरभेदेन भणनं च यद्युदितस्याकरणनियमस्याज्ञा तद्वदत्रादिभगवदाज्ञापर्यवसायिनी स्यात्, तदा तद्वदवर्णनमपि सामान्याकरणनियमावज्ञा तदभेदत्वादिभगवदाज्ञापर्यवसायिनी स्यात्, न हि तद्वदेव भगवान् वदति नान्यमेदमित्येकान्तोऽ

स्ति, मेदामेदवादित्वात्तस्येति वक्रता परित्यज्य विचारणीयम्; परगुणद्वेष एव भगवतामत्रज्ञेति । एतदर्थमसमर्थनायैव हि 'सर्वप्रवादमूलं द्वादशाङ्गं रत्नाकरतुल्यम्' इत्यत्र "उदधाविव॰" इत्यादिसम्मतितयोद्भावित वृत्तिकृता । अत्र परः प्राह–यत्तु 'सर्वप्रवादानां द्वादशाङ्गं रत्नाकरतुल्यम्' इति समर्थनाय टीकाकारेण "उदधाविव सर्वसिन्धवः॰" इत्यादिरूप श्रीसिद्धसेनदिवाकरवचन सम्मतितयोद्भावितं तच्च विचार्यमाणमसङ्गतमिवाभाति । तथाहि–यदि द्वादशाङ्गं रत्नाकारतुल्यम्, तर्हि नदीतुल्याः प्रवादा न भवेयुः, समुद्रान्नदीनामुत्पत्तरभावात्, समुद्रस्य च नदीपितृत्वापत्त्या "नदीपतिः समुद्रः" इति कविसमयव्याहतिप्रसक्तेः, समुद्रस्य गाम्भीर्यहानिप्रसक्तेश्च । तस्मात्स्तुतिकर्तुरभिप्रायोऽयम्—हे नाथ! 'त्वयि' सर्वज्ञे, 'दृष्टयो'ऽन्यतीर्थिकाना निजनिजमार्गश्रद्धानलक्षणाः, 'समुदीर्णाः' सम्यगुदयं प्राप्ताः, तद्विषयो भगवान् जात इत्यर्थः । अयं भावः—यत्किंचिदकरणनियमादिक जिनेन सुन्दरतया भणितम्, तदन्यतीर्थिकैरपि तथैव प्रतिपन्नम् । एतच्च साम्प्रत नालिकेरादिफलाहारेणैकादशीपर्वोपवास कुर्वाणा जैनाभिमतोपवासं सम्यक्तया मन्यन्ते, जैनाश्च तदुपवासं लेशतोऽपि न मन्यन्ते । अत एव च 'न च तासु भवान् प्रदृश्यते' इति । तासु–अन्यतीर्थिकदृष्टिषु 'भवान् न प्रदृश्यते' अन्यतीर्थिकश्रद्धानविषयीभूतं धार्मिकानुष्ठान गङ्गास्नानादिक भवान् लेशतोऽपि न मन्यते इत्यर्थः । अन्यतीर्थिकाना दृष्टयो भगवति वर्तन्ते । तत्र दृष्टान्तमाह–यथोदधौ सर्वाः सिन्धवः समुदीर्णा भवन्ति–सम्यगुदयं प्राप्ताः स्युः, लोकेऽपि भर्तृसम्बन्धेन स्त्रिय उदिता भवन्तीति प्रसिद्धेः । 'तासु च भवान्नास्ति' इत्यत्र दृष्टान्तमाह–यथा प्रविभक्तासु सरित्सु नदीषु समुद्रो नास्ति । तासु च समुद्रो नावतरतीत्यर्थः । अनेनाभिप्रायेण स्तुतिः, न पुनरर्हदुपदिष्टप्रवचनद्वाराऽर्हत्सकाशादन्यतीर्थिकदृष्टयः समुत्पन्ना इत्यभिप्रायेणेति ॥ तदसत्, प्राचीनाचार्यव्याख्यामुल्लङ्घ्य विपरीतव्याख्यानस्यापसिद्धान्तत्वात् । तदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरयः—

"यदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यै-स्तदन्यथाकारमकारि शिष्यैः॥ न विप्लवोऽयं तव शासनेऽभू-दहो अधृष्या तव शासनश्रीः॥"(अयोग० द्वा० श्लोक१९) इति । न चेदमुपदेशपदवृत्तिकृत एव दूषणदानम्, किन्तु "एक एव हि मार्गोऽपि, तेषां शमपरायणः ॥" इत्यादिना दता श्रीहरिभद्रसूरीणां 'समाख्यातम्' इति पदसूचितग्रन्थकृदेकवाक्यताशालिश्रीसिद्धसेनदिवाकराणां तदनुसारिणामन्येषां चेत्यतिदुरन्तोऽयं कोऽपि मोहमहिमा। या चानुपपत्तिरुद्भाविता 'यदि द्वादशाङ्ग रत्नाकरतुल्यम्' इत्यादिना साऽनुपपन्ना, 'समुद्राज्जलं गृहीत्वा मेघो वर्षति, ततश्च नद्यः प्रवृद्धा भवन्तीति प्रसिद्धेः' परप्रवादानामपि नदीतुल्याना जैनागमस्य समुद्रगृहीतार्थजलादाशिकक्षयोपशममेघात्प्रवृद्धिसम्भवात्। एवं नदीतुल्यानां परप्रवादाना जैनागमसमुद्रमूलत्वे लोकनीत्याऽपि बाधकाभावात् ॥ अत एव न समुद्रस्य नदीपितृत्वापत्तिदोषोऽपि, लोकनीत्याऽपि तदनुपपत्तेः। यदि चोपमानबललभ्यधर्मेण तत्सहचरितानभिमतधर्मापत्तिः स्यात्, तदा चन्द्रोपमया मुखादौ कलङ्कितत्वाद्यापत्तिरपि स्यादिति॥ न चैवं मेघात्प्राग् नदीनामिव जैनागमानुसारिक्षयोपशमात्प्राक् परवादानामनुपचितावस्थत्वप्रसङ्गः, इष्टत्वात्, जैनागमानुसारिनयपरिज्ञान विनाऽनुपनिबद्धमिथ्यात्वरूपतयैव तेषां स्थितत्वात्। न चैवं जिनदेशनाया उपचितमिथ्यात्वमूलत्वेनानर्थमूलत्वापत्तिः, विश्वहितार्थिप्रवृत्तावनुषङ्गतस्तदुपस्थितावपि दोषाभावाद् भावस्यैव प्राधान्यात् ॥ तदुक्तमष्टके-(२८ श्लोक ८) "इत्थं चैतदिहेष्टव्य-मन्यथा देशनाऽप्यलम् । कुधर्मादिनिमित्तत्वा-द्दोषायैव प्रसज्यते ॥" इति पराभिप्रायेण प्रकृतस्तुतिवृत्तव्याख्याने च त्वत्तः समुदीर्णाः-इति वाच्ये 'त्वयि समुदीर्णाः' इति पाठस्य क्लिष्टत्वापत्तिः किं च-'एवं परेषा भगवदभिहितार्थश्रद्धानम् भगवतश्च तल्लेशस्याप्यश्रद्धानम्' एतावता भगवत्यतिशयालाभः। साम्प्रदायिके त्वर्थे 'भगवत्यन्यदृष्टयः समवतरन्ति, भवांश्च न तासु' इत्येव स्वेतरसकलदर्शनार्थव्याप्यार्थप्रवचनवक्तृत्वरूपातिशयालाभ इत्युपमया व्यतिरेकालङ्काराक्षेपात्

दुष्टार्थकत्वं काव्यस्य स्यात्। किं च–एवमपि परेषां जिनाभिहितार्थश्रद्धानाभ्युपगमे सत्प्रशसारूपबीजलाभाभ्युपगमप्रसङ्गः। न च तेषां क्वचिद् यथार्थजिनोक्तश्रद्धानेऽपि तत्प्रणेतर्यर्हति देवत्वेन भावाभावाद्। देवो रागद्वेषरहितः सर्वज्ञ एव भवति नापरः, स चासदभिमतः सुगतादिरेवेति शाक्यादीनाम्, देवोऽर्हन्नेव, परमसन्मार्गप्रणेतेत्यादि च मिथ्यात्वबीजं दिगम्बरादीनामस्त्येवेति न तेषु धर्मबीजसम्भव इति वाच्यम्। तथाऽपि तादृशपक्षपातरहितानां 'यः कश्चिद् रागादिरहितो विशिष्टपुरुषः स देवः' इत्यादिसंमुग्धश्रद्धानवतां भगवदभिहितकतिपयसुन्दरार्थग्राहिणा धर्मबीजसद्भावस्य प्रतिहन्तुमशक्यत्वात्, औधिकयोगदृष्ट्या तत्प्रणीतवाक्येषु सुन्दरार्थमुपलभ्येत्यस्याप्यादिधार्मिकत्वोपपत्तेश्चेत्यध्यात्मदृष्ट्या विचारणीयम्, ता विना वादप्रतिवादादिव्यापारात् तत्त्वाप्रतिपत्तेः। तदुक्तं योगबिन्दौ–"वादाश्च प्रतिवादाश्च, वदन्तो निश्चितास्तथा॥ तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीड (ल) कवद् गतौ॥ ६७॥ अध्यात्ममत्र परम, उपायः परिकीर्तितः॥ गतौ सन्मार्गगमन, यथैव ह्यप्रमादिनः" ॥६८॥ इति। अन्योऽपि व्यवहारेणान्यमार्गस्थोऽपि, तदनुसारी जिनेन्द्रश्रुतमूलार्थपदानुसारी, तत् तस्मात्कारणात्, देशाराधको युक्त इति॥२४॥ नन्वेतदयुक्तम्–मिथ्यादृशां प्राणातिपातादिविनिवृत्तेरप्यधर्मपक्षे निवेशितत्वात् तया तेषां देशाराधकत्वाभावात्। तदुक्तं सूत्रकृताङ्गे(द्वि०श्रु०अ०२सू०३४)"अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ, जे इमे भवंति आरण्णिआ" इत्यादि यावत्। जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहु" त्ति। [अथापरस्तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकस्य विभङ्ग एवमाख्यायते–य इमे भवन्ति आरण्यिकाः। (यावत्) असर्वदुःखप्रक्षीणमार्गमेकान्तमिथ्यमसाध्विति॥] एतद्वृत्त्येकदेशो यथा–"अत्र चाधर्मपक्षेण युक्तो धर्मपक्षो मिश्र इत्युच्यते, तत्राधर्मस्येह भूयिष्ठत्वादधर्मपक्ष एवायं द्रष्टव्यः। एतदुक्तं भवति–यद्यपि मिथ्यादृष्टयः काश्चित्तथाप्रकारां प्राणातिपातादिविनिवृत्तिं विदधति, तथाप्याशयस्याशुद्धत्वा-

दभिनवे पित्तोदये सति शर्करामिश्रक्षीरपानवद्दूरप्रदेशवृष्टिवद्विवक्षितार्थासाधकत्वान्निरर्थकतामापद्यते, ततो मिथ्यात्वानुभावाद् मिश्रपक्षोऽप्यधर्मपक्ष एवावगन्तव्य इति।'' इत्यादीति चेत्। सत्यम्, न हि वयमपि सन्मार्गगर्हादिहेतुप्रबलमिथ्यात्वविशिष्टया प्राणातिपातादिविनिवृत्तिक्रियया देशाराधकत्वं ब्रूमः, किन्तु रागद्वेषासद्ग्रहादिमान्द्येन मार्गानुसारिण्यैव तया। सा च सामान्यधर्मपर्यवसन्नाऽपि धर्मपक्षे न समवतरति, तत्र भावविरतेरेव परिगणनात्, तदभावे बालत्वात्, तदुक्तम्–''अविरइ पडुच्च बाले आहिज्जइ''त्ति (अविरतिं प्रतीत्य बाल आधीयते) एतद्वृत्तिर्यथा–''येयमविरतिरसंयमरूपा सम्यक्त्वाभावान्मिथ्यादृष्टेर्द्रव्यतो विरतिप्यविरतिरेव, तां प्रतीत्य–आश्रित्य बालवद् बालोऽज्ञः, सदसद्विवेकविकलत्वाद्, इत्येवमाधीयते व्यवस्थाप्यते वेति''॥ द्रव्यविरतिश्च मिथ्यात्वप्राबल्येऽप्राधान्येन तन्मान्द्ये च मार्गानुसारित्वरूपप्राधान्येनापि सम्भवतीत्येवं विषयविभागपर्यालोचनाया न कोऽपि दोष इति। अवश्यं चैतदङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा परस्य मार्गानुसारिणो मिथ्यादृष्टेर्विलोपापत्तिः, मिथ्यात्वसहिताया अनुकम्पादिक्रियाया अप्यकिञ्चित्करत्वाद्, 'यदीयानन्तानुबन्धिना जीर्णत्वेन सम्यक्त्वप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वं तेषां मार्गानुसारित्वम्, ते च सम्यक्त्वाभिमुखत्वेन सम्यग्दृष्टिवदेवावसातव्याः' इति त्वावयोः समानमिति। न चेदेवं तदाऽऽदिधार्मिकविधिः सर्वोऽप्युच्छिद्येतेति सर्वथाऽभिनिविष्टचित्ताना मिथ्यादृशा दयादिकमदुष्टम्, अनभिनिविष्टाना तु मार्गानुसारितानिमित्तमिति ध्येयम्, सामान्यधर्मस्यापि सद्धर्मबीजप्ररोहत्वेनोक्तत्वात्। तदुक्तं धर्मबिन्दौ (अ॰ २) ''प्रायः सद्धर्मबीजानि, गृहिष्वेवंविधेष्वलम्॥ रोहन्ति विधिनोप्तानि, यथा बीजानि सत्क्षितौ॥१॥''इति। एतेन–''जे अ(या)बुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत्तदंसिणो॥ असुद्धं तेसिं परकंतं, सफल होइ सव्वसो॥'' [ये चाबुद्धा महाभागा, वीरा असम्यक्त्वदर्शिनः। अशुद्ध तेषा पराक्रान्तं सफल भवति सर्वशः॥] इति सूत्रकृताऽष्टमाध्ययन(२२)गाथायां तेषां च बालानां

यत्किमपि तपोदानाध्ययनयमनियमादिषु पराक्रान्तमुद्यमः कृतवांस्तदशुद्धम्—अविशुद्धकारि प्रत्युत कर्मबन्धाय, भावोपहतत्वाद् मति-दानत्वाद्वेति, कुवैद्यचिकित्सावद् विपरीतानुबन्धित्वाच्चेति (बन्धीति) तच्च तेषां पराक्रान्तं सह फलेन कर्मबन्धेन वर्तते इति सफलं । सर्वज्ञ इति । सर्वा अपि तत्क्रियास्तपोऽनुष्ठानादिकाः, कर्मबन्धायेत्युत्तरार्द्धव्याख्यानात् । 'पण्डितानामपि त्यागादिभिर्लोकपूज्यानामपि सुभटवादं वहतामपि सम्यक्तत्त्वपरिज्ञानविकलानां सर्वक्रियावैफल्याद् न मिथ्यादृशां कृपावतामपि क्रियावतामपि लेशतोऽप्याराधकत्वम्' इत्यपास्तम् । एतेन भवाभिनन्दिनां मिथ्यादृशां सर्वक्रियावैफल्यसिद्धावपि तद्विलक्षणानां भावानुपहतत्वेन देशाराधकत्वाप्रतिघातात्, एतेन 'मिथ्यादृशां सर्वं कृत्यं निरर्थकम्' इत्यादीन्यपि वचनानि व्याख्यातानि, विशिष्टफलाभावापेक्षयाऽपि निरर्थकत्ववचनदर्शनात् । पठ्यते च—"नाणं चरित्तहीणं, लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं । संजमहीणं च तवं, जो चरइ णिरत्थयं तस्स ॥' (उपदेशमाला गाथा ४२६) इत्यादि । [ज्ञानं चारित्रहीनं लिङ्गग्रहणं च दर्शनविहीनम् । संयमहीनं च तपो यश्चरति निरर्थकं तस्य ॥] अथ पोपमासे वटवृक्षाम्रवृक्षयोः सहकारफलं प्रत्यकारणत्ववचनयोर्यथा स्वरूपयोग्यता—सहकारियोग्यताऽभावेन विशेषस्तथा मिथ्यादृक्कृत्यचारित्रहीनज्ञानादिनिरर्थकतावचनयोरपि स्फुट एव विशेष इति चेत्, तर्हि अयमपरोऽपि विशेषः परिभाव्यतां । सहकारफलस्थानीयं मोक्षं प्रति भवाभिनन्दिमिथ्यादृक्कृत्यं वटवृक्षवदयोग्यम्, अपुनर्बन्धकादिकृत्यं तु सहकाराङ्कुरवत्पारम्पर्येण योग्यमिति मनसिदं निपुणं निभालनीयम्।.२४॥ 'तदेव श्रुतवांश्च बालतपस्वी देशाराधकः' इति वृत्तिगतः प्रथमपक्षः समर्थितः,अथ तद्गतं द्वितीय पक्ष समर्थयति—

पक्खंतरम्मि भणिओ, गीयत्थाणिस्सिओ अगीओ सो ॥ जो णभिणिविट्ठचित्तो, भीरू एगंतसुत्तरुई ॥२५॥

[पक्षान्तरे भणितो गीतार्थानिश्रितोऽगीतः सः । योऽनभिनिविष्टचित्तो भीरुरेकान्तसूत्ररुचिः ॥ २५ ॥]

पक्खंतरम्मित्ति । पक्षान्तरे—अन्येषामाचार्याणां व्याख्याने, गीतार्थानिश्रितोऽगीतार्थः स देशाराधको भणितः, योऽनभिनिविष्टचित्तः-आत्मोत्कर्ष-परद्रोह-गुरु-गच्छादिप्रद्वेषमूलासद्ग्रहाकलङ्कितचित्तः, भीरुः-कुतोऽपि हेतोरेकाकिभावमाश्रयन्नपि स्वेच्छानुसारेण प्रवर्तमानोऽपि स्वारसिकजिनाज्ञाभयः(यवान्),एकान्तसूत्ररुचिः-अव्याकृतसूत्रमात्रानुसारी। अयं भावः- एकाकिनस्तावत्प्रायश्चारित्रासम्भव एव, स्वयं गीतार्थस्य तन्निश्रितागीतार्थस्य वा चारित्रसम्भवात् । न हि चारित्रपरिणामे सति गुरुकुलवासमोचनादिक्रमसमञ्जसमापद्यते । उक्त च पञ्चाशके(११मे)"ता ण चरणपरिणामे, एय असमंजसं इहं होइ ॥ आसन्नसिद्धियाणं, जीवाण तहा य भणियमिणं ॥१५॥ नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य॥ धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥१६॥" [ततो न चरणपरिणामे एतदसमञ्जसमिह भवति । आसन्नसिद्धिकाना जीवाना, तथा च भणितमिदम् ॥ ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरको दर्शने चारित्रे च । धन्या यावत्कथं गुरुकुलवास न मुञ्चन्ति ॥] ततः कष्टविहारिणोऽप्येकाकिनो गुरुकुलवासैकाकिविहारयोर्गुणदोषविपर्यासमवबुध्यमानस्य स्वाभिनिवेशात्तपोरतस्यानागमिकत्वेनैकाकित्वेन च प्रवचननिन्दाकारिणः शेषसाधुषु पूजाविच्छेदाभिप्रायतश्च प्रायो बहुसमीक्षितकारित्वेनाभिन्नग्रन्थित्वाद् बाह्यवदसाधुत्वमेव ॥ तदुक्तम्—" जे उ तह विवज्जत्था, सम्मं गुरुलाघवं अयाणंता ॥ सग्गाहा किरियरया, पवयणखिंसावहा खुद्दा ॥३७॥ पायं अभिन्नगंठी, तमाउ तह दुक्करपि कुव्वंता ॥ बज्झा व ण ते साहू, धंखाहरणेण विन्नेया ॥३८॥"त्ति [ये तु तथा विपर्यस्ताः सम्यग् गुरुलाघवमजानन्तः। स्वाग्रहात् क्रियारताः प्रवचनखिंसा-(निन्दा) वहाः क्षुद्राः ॥ प्रायोऽभिन्नग्रन्थयः तमसः तथा दुष्करमपि कुर्वन्तः। बाह्या इव न ते साधवः ध्वाङ्क्षोदाहरणेन विज्ञेयाः] तथापि न सर्वेषां सदृशः परिणाम इति, यस्यैकाकिनो विहारिणो नातिक्रूरः परिणामः, किन्तु मृगपर्षदन्तर्गतस्य साधोरपवादादिभीरुतयैव

तथापि गुरुकर्मवशाद् गच्छवासभीरुतयैकाकित्व सम्पन्नम्, सूत्ररुचिश्च न निवृत्ता, तस्य स्वमत्यनुसारेण सदाप्रवृत्तेर्बहुज्ञानकष्टे पतति। किञ्चित्तु कदाचित्परिणामविशेषवशादागमानुपात्यपि स्यात्। तदुक्तमुपदेशमालायाम्–" अपरिणिच्छियसुअणिहस्स केवलमभिन्नसुत्तचारिस्स ॥ सव्वुज्जमेण वि कयं, अन्नाणतवे बहुं पडइ ॥" (गाथा ४१५) इति ॥ एतद्वृत्तिर्यथा–"अपरिनिश्चितः सम्यगपरिच्छिन्नः श्रुतनिकष आगमसद्भावो येन स तथा तस्य, केवलमभिन्नमविवृतार्थं यत्सूत्रं विशिष्टव्याख्यानरहितं सूत्रमात्रमित्यर्थः, तेन चरितुं तदनुसारेणानुष्ठानं कर्तुं धर्मो यस्य सोऽभिन्नसूत्रचारी तस्य, सर्वोद्यमेनापि समस्तयत्नेनापि, कृतमनुष्ठानम्, अज्ञानतपसि पञ्चाग्निसेवनादिरूपे, बहु पतति स्वल्पमेवागमानुसारि भवति, विषयविभागविज्ञानशून्यत्वादिति ॥" यद्यपि स्वमत्या प्रवर्तमानानां घुणाक्षरन्यायात्समागतं किञ्चिच्छुद्रमपि कृत्यं नागमानुपाति, अन्यथा निह्नवानामपि तदापत्तेः, तथाऽपि शुद्धक्रियाजन्यनिर्जराप्रतिबन्धकस्वमतिविकल्पे यत्किञ्चिदागमानुपाति शिष्टसंमतं न तत्प्रमाणम्, न तु स्वमतानुसारित्वेनैवागमः प्रमाणमित्येवंविधोऽनभिनिवेशविकल्प उत्तेजक इति न दोषः। तदेवंविधो गीतार्थनिश्रिततपश्चरणरतोऽगीतार्थः बालतपस्वी च शीलवान् श्रुतवान् मार्गानुसारित्वेन देशाराधक इत्युभयोः पक्षयोर्नातिविशेष इति द्रष्टव्यम् ॥ २५ ॥

ननु 'लौकिकमिथ्यात्वाल्लोकोत्तरमिथ्यात्वं बलीयः' इति हेतोरुभयोर्महाभेद एव इत्यत आह—

लोइअमिच्छत्ताओ, लोउत्तरियं तयं महापावं ॥ इअ णेगंतो जुत्तो, जं परिणामा बहुविअप्पा ॥ २६ ॥

[लौकिकमिथ्यात्वाल्लोकोत्तरिकं तद् महापापम्। इत्येकान्तो न युक्तो यत्परिणामा बहुविकल्पाः ॥ २६ ॥]

लोइअमिच्छत्ताओत्ति। 'लौकिकमिथ्यात्वाल्लोकोत्तरिकं तत् मिथ्यात्वं, महापापम्' इत्येकान्तो न युक्तः,

यत्परिणामा बहुविकल्पा नानाभेदाः सम्भवन्ति । तथा च यथा लौकिकं मिथ्यात्वं तीव्रमन्दादिभेदान्नानाविधं तथा लोकोत्तरमपीति न विशेषः, प्रत्युत ग्रन्थिभेदानन्तरमल्पबन्धापेक्षया लोकोत्तरमेवाल्पपापमिति । तदुक्तं योगबिन्दुसूत्रवृत्त्योः—"भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु, सम्यग्दृष्टेरतो हि न ॥ पतितस्याप्यते बन्धो, ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य देशितः ॥ २६६ ॥ व्याख्या–भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु अनिवृत्तिकरणं पुनर्भवति । एवं सति यत्सिद्धं तदाह–सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य, अतो हि अत एव करणत्रयलाभादेव हेतोः, न नैव, पतितस्य तथाविधसङ्क्लेशात्सम्यक्त्वात्परिभ्रष्टस्य, आप्यते लभ्यते, बन्धो ज्ञानावरणादिपुद्गलग्रहरूपः, कीदृशोऽयं ? इत्याह–ग्रन्थिं ग्रन्थिभेदकालभाविनीं कर्मस्थितिमित्यर्थः, उल्लङ्घ्य अतिक्रम्य, देशितः सप्ततिकोट्यादिप्रमाणतया प्रज्ञप्तः, "बंधेण ण वोलइ कयाइ"[बन्धेन नातिक्रामति कदाचिद् ।] इत्यादिवचनप्रामाण्यात् ॥२६६॥ एवं सामान्यतो ज्ञेयः, परिणामोऽस्य शोभनः ॥ मिथ्यादृष्टेरपि सतो, महाबन्धविशेषतः ॥२६७॥ एवं ग्रन्थेरुल्लङ्घनेन बन्धाभावात्, सामान्यतः न विशेषेण, ज्ञेयः परिणामोऽस्य–सम्यग्दृशः, शोभनः प्रशस्तो, मिथ्यादृष्टेरपि सतः तथाविधमिथ्यात्वमोहोदयात्, कुतः ? इत्याह–महाबन्धविशेषतः इह द्विधा बन्धः, महाबन्ध इतरबन्धश्च । तत्र मिथ्यादृष्टेर्महाबन्धः, शेषश्चेतरस्य । ततो महाबन्धस्य विशेषतोऽवस्थान्तरविशेषात् । इदमुक्तं भवति–लब्धसम्यक्त्वस्य प्राणिनो मिथ्यादृष्टित्वेऽपि न सामान्यमिथ्यादृष्टेरिव बन्धः, किन्तु कश्चिदत्यन्तन्यूनः॥२६७॥तद्विशेष एव कुतः ? इत्याह–सागरोपमकोटीनां, कोट्यो मोहस्य सप्ततिः ॥ अभिन्नग्रन्थिबन्धो यद्, न त्वेको(का)पीतरस्य तु ॥ २६८ ॥ सागरोपमकोटीनां कोट्यो मोहस्य सप्ततिः कर्मग्रन्थप्रसिद्धा, अभिन्नग्रन्थेर्जीवस्योत्कर्षतो बन्धो,यद् यस्मात्कारणात्, न तु न पुनः, एको(का)पि सागरोपमकोटाकोटीबन्धः, इतरस्य तु भिन्नग्रन्थेः पुनर्मिथ्यादृष्टेरपि सतः॥२६८॥अथोपसंहरन्नाह–तदत्र परिणामस्य, भेदकत्वं नियोगतः

बाह्य त्वसदनुष्ठानं, प्रायस्तुल्यं द्वयोरपि ॥२६९॥ यतो ग्रन्थिमतिक्रम्यास्य न बन्धः, तत् तस्माद्, अत्र अनयोर्भिन्नग्रन्थीतरयोर्जीवयोर्विषये, परिणामस्य अन्तःकरणस्य, भेदकत्व भेदकभावो, नियोगतः नियोगेन, (नियमेन) बाह्य तु बहिर्भवं पुनः, असदनुष्ठानमर्थोपार्जनादि, प्रायो बाहुल्येन, तुल्य समं, द्वयोरप्यनयोरिति ॥२६९॥" सैद्धान्तिकमतमेतद् । येऽपि कार्मग्रन्थिका भिन्नग्रन्थेरपि मिथ्यात्वप्राप्तावुत्कृष्टस्थितिबन्धमिच्छन्ति, तेषामपि मतेन तथाविधरसाभावात् तस्य शोभनपरिणामत्वे न विप्रतिपत्तिः॥ यद्यपि अल्पबन्धेऽपि भिन्नग्रन्थेरशुभानुबन्धान्मिथ्यात्वप्राबल्येऽनन्तसमारित्वं सम्भवति, तथाऽपि मन्दीभूत लोकोत्तरमिथ्यात्वं सन्निहितमार्गावतरणबीज स्यादिति विशेषः। न चैवं 'लौकिकमिथ्यात्वाल्लोकोत्तरमिथ्यात्वं शोभनं'-इत्येकान्तोऽपि ग्राह्यः, लोकोत्तरस्यापि भिन्नग्रन्थीतरसाधारणत्वात्, मुग्धाना परेषां मिथ्यात्ववृद्धिजनकतया लोकोत्तरमिथ्यात्वस्यापि महापापत्वेनोक्तत्वाच्च । यदागमः-"जो जहवाय ण कुणइ, मिच्छदिट्ठी तओ हु को अण्णो ॥ वड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संक जणेमाणो॥" (पिण्डनिर्युक्ति गाथा. १८६योयथावाद न करोति मिथ्यादृष्टिस्ततः खलु कोऽन्यः।वर्धयति च मिथ्यात्व परेषा शङ्का जनयन्)"इति। तस्मादत्रानेकान्त एव श्रेयानिति॥२६॥

गीतार्थनिश्रितमपि देशाराधकमाह—

पढमकरणभेएणं, गंथासन्नो जई व सड्ढो वा ॥ णेगमणयमयभेआ, इह देसाराहगो णेओ ॥ २७ ॥

[प्रथमकरणभेदेन ग्रन्थ्यासन्नो यतिर्वा श्राद्धो वा । नैगमनयमतभेदादिह देशाराधको ज्ञेयः ॥ २७ ॥]

पढमत्ति। प्रथमकरणभेदेन यथाप्रवृत्तकरणावस्थाविशेषेण, ग्रन्थ्यासन्नो ग्रन्थिनिकटवर्ती अपुनर्बन्धकादिभावशाली, यतिर्वा श्राद्धो वा, इह प्रकृतविचारे, नैगमनयमतभेदात्प्रस्थकन्यायेन विचित्रावस्थाऽभ्युपगन्तृनैगमनयमतविशेषाश्रयणाद्देशाराधको

ज्ञेयः ॥ अयं भावः ॥ गीतार्थस्तावत्प्रकृतिभद्रकत्वादिगुणवतां प्राणिनां योग्यताविशेषमवगम्य केषाञ्चिज्जिनपूजा-तपोविशेष-प्रतिक्रमण-सामायिकादिश्रावकधर्मं समर्पयन्ति, केषाञ्चिच्च प्रव्रज्यामपि, तेषां चाव्युत्पन्नदशायां मदनुष्ठानरागमात्रेण तदनुष्ठानं धर्ममात्रहेतुतया पर्यवस्यति । तदुक्तं पूजामधिकृत्य विंशिकायाम् (विं०८) "पढमकरणभेएण, गंथासन्नस्स धम्ममित्तफला ॥ सा हुज्जुगाइभावो, जायइ तह णाणुबंधुत्ति ॥८॥"[प्रथमकरणभेदेन ग्रन्थ्यासन्नस्य धर्ममात्रफला । सा खल्वृजुकादिभावो जायते नानुबन्ध इति ॥] तपोविशेषमाश्रित्योक्तं पञ्चाशके(प०१९)"एवं पडिवत्तीए, इत्तो मग्गाणुसारिभावाओ॥ चरणं विहिअं बहवे, पत्ता जीवा महाभागा ॥२७॥"[एवं प्रतिपत्त्येतो मार्गानुसारिभावात् । चरणं विहितं बहवः प्राप्ता जीवा महाभागाः ॥] तथा प्रव्रज्यामाश्रित्य तत्रैवोक्तम् (पं०२)"दिक्खाविहाणमेअं, भाविज्जंतं तु तंतणीईए॥ सइअपुणबंधगाणं, कुग्गहविरहं लहुं कुणइ॥४४॥"[दीक्षाविधानमेतद् भाव्यमानं तु तन्त्रनीत्या । सकृदपुनर्बन्धकयोः कुग्रहविरहं लघु करोति ॥]"एतद्वृत्तिर्यथा-दीक्षाविधानं जिनदीक्षाविधिः, एतदनन्तरोक्तं, भाविज्जंतं तुत्ति भाव्यमानमपि पर्यालोच्यमानमपि, आस्तामासेव्यमानं। सकृद्बन्धकापुनर्बन्धकाभ्यामिति गम्यम् । अथवा भाव्यमानमेव नाभाव्यमानमपि, तुशब्दोऽपिशब्दार्थ एवकारार्थो वा, तन्त्रनीत्या-आगमन्यायेन, कयोः? इत्याह-सकृदेकदा, न पुनरपि च बन्धो मोहनीयकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धनं ययोस्तौ सकृदपुनर्बन्धकौ तयोः, सकृद्बन्धकस्यापुनर्बन्धकस्य चेत्यर्थः । तथा(त्र)'यो यथाप्रवृत्तकरणेन ग्रन्थिप्रदेशमागतोऽभिन्नग्रन्थिः सकृदेवोत्कृष्टां सागरोपमकोटाकोटिसप्ततिलक्षणां स्थितिं भन्त्स्यति असौ सकृद्बन्धक उच्यते' 'यस्तु तां तथैव क्षपयन् ग्रन्थिप्रदेशमागतः पुनर्न तां भन्त्स्यति भेत्स्यति च ग्रन्थिं सोऽपुनर्बन्धक उच्यते'। एतयोश्चाभिन्नग्रन्थित्वेन कुग्रहः सम्भवति, न पुनरविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनाम्, मार्गाभिमुखमार्गपतितयोस्तु कुग्रहसम्भवेऽपि तत्त्यागः एव तद्भावनामात्रसाध्य इत्यत उक्तं-

सकृद्बन्धकापुनर्बन्धकयोरिति । एतयोश्च भावसम्यक्त्वाभावादीक्षायां द्रव्यसम्यक्त्वमेवमारोप्यते इति । कुग्रहविरहं असदभिनिवेशवियोग, लघु शीघ्र, करोति विरत्ते, [इह विरहशब्देन हरिभद्राचार्यकृतत्व प्रकरणस्यावेदितं विरहाङ्कत्वात्तस्येत्येवं सर्वत्रेति गाथार्थः]॥" तथा च धर्ममात्रफलानुष्ठानवता गीतार्थनिश्रितसाधुश्रावकाणामपि भावतोऽनधिगतश्रुतज्ञानत्वाच्छीलवत्त्वाच्च देशाराधकत्वमेव तथैव परिभाषणात्, चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषाद्भावतोऽधिगतश्रुतज्ञानाना शीलवतां द्रव्यतोऽल्पश्रुतानामपि माषतुषादीनां त्वेव सर्वाराधकत्वमेव परिशिष्यते इति द्रष्टव्यम् ॥ २७ ॥ विवेचितः प्रथमो भङ्गः, अथ द्वितीयं भङ्गं निर्वचयन्नाह—

देसस्स भंगओ वा, अलाहओ वा विराहगो बीओ ॥ संविग्गपक्खिओ वा, सम्मद्दिट्ठी अविरओ वा ॥२८॥

[देशस्य भङ्गतो वा अलाभतो वा विराधको द्वितीयः । संविग्नपाक्षिको वा सम्यग्दृष्टिरविरतो वा ॥ २८ ॥]

देसस्सत्ति । देशस्य मोक्षमार्गतृतीयांशभूतस्य चारित्रस्य गृहीतस्य, भङ्गादलाभाद्वा देशस्य, विराधको ज्ञेयः । स च देशभङ्गापेक्षया संविग्नपाक्षिको, देशाप्राप्त्यपेक्षया चाविरतसम्यग्दृष्टिः, तथा च 'ज्ञानदर्शनवत्त्वे सति चारित्रभङ्गाप्राप्त्यन्यतरवत्त्वं, देशविराधकत्वमिति' परिभाषित भवति ॥ इत्थं च जिनोक्तानुष्ठानमधिकृत्यैव कृतप्रतिज्ञानिर्वहणाद्देशाराधकः, विरतिपरित्यागेनैव चाविरतसम्यग्दृष्टिरपि देशविराधकः, "प्राप्तस्य तस्यापालनाद्" इति वचनात् । इत्युभयोरपि प्रकारयोः सविषयत्वेन प्रामाण्यसिद्धेः 'यदप्राप्तेर्वा' इति विकल्पेन व्याख्यानं तत्केनाभिप्रायेण ? इति संशये सम्यग्वक्तृवचन वयमपि श्रोतुकामाः स्म इति बोध्यम्, यतो यद्यप्राप्तिमात्रेण विराधकत्व स्यात् तर्हि चरकपरिव्राजकादीना ज्योतिष्कादूर्ध्वमुपपाताभावः प्रसज्येत, मोक्षकारणभूताना सम्यग्ज्ञानादीना त्रयाणा लेशतोऽप्यभावेन देशविरतिसर्वविरत्योर्युगपद्विराधकत्वात् । तथा 'द्वादशाङ्गपर्यन्तनानाश्रुतावधिप्रवृत्त्यप्राप्तिमान्

छद्मस्थसंयतो दूरे, कैवल्यप्यप्राप्तजिनकल्पादेर्विराधकः प्रसज्येत' इति यत्परेण प्राचीनग्रन्थदूषणरसिकेण प्रोक्तं तत्परिभाषाज्ञानामात्रविजृम्भितमिति द्रष्टव्यम् । 'यो यदप्राप्तिमान् स तद्विराधक' इति व्याप्तौ च तत्र (प्रावत्र) तात्पर्याभावात्, किन्तूक्तपरिभाषायामेव तात्पर्यात् । तत्फलं च देशविराधकत्वेन देशद्वयाराधकत्वाक्षेपः । तथा च पूर्वभङ्गादाधिक्य लभ्यते, तेन देशविराधक-वेऽविरतसम्यग्दृष्टेर्देशाराधकादप्यधमत्व स्यादित्यपास्तम्, परिभाषितस्य विराधकत्वस्याधमत्वाप्रयोजकत्वात्, प्रत्युत देशद्वयाराधकत्वाक्षेपकतयोत्कर्षप्रयोजकत्वात् । न च परिभाषा न सूत्रनीतिरिति शङ्कनीयम्, " सव्वामगध परिच्चज्ज निरामगंधो परिव्वए " [सर्वामगन्ध परित्यज्य निरामगन्धः परिव्रजेत् ॥ [आचा० अ० २ उ० ३ सू० ८७] इत्यादीना परिभाषासूत्राणामपि तत्रान्यव्यवस्थापितत्वाद् । यदि च देशविराधकत्व नैवं पारिभाषिकमङ्गीक्रियते, तदाऽनुपात्तव्रतः सम्यग्दृष्टिः कस्मिन् भङ्गेऽवतारणीयः ?, न च नावतारणीय एव, सर्वाराधकादन्यत्र सहकारियोग्यताभावाभिधानाय त्रिभिरेव भङ्गैः सर्वेषा तद्विलक्षणाना सङ्ग्राह्यत्वादिति सूक्ष्ममीक्षणीयम् ॥ २८ ॥

तृतीयचतुर्थभङ्गौ विवेचयति—

तइए भंगे साहू, सुअवंतो चेव सीलवंतो अ ॥ उवयारा सड्ढोवि य, भवाभिणंदी चउत्थंमि ॥ २९ ॥

[तृतीये भङ्गे साधुः श्रुतवाँश्चैव शीलवाँश्च । उपचारात् श्राद्धोऽपि च भवाभिनन्दी चतुर्थे ॥ २९ ॥]

तइए भंगेत्ति । श्रुतवाँश्चैव शीलवाँश्च साधुस्तृतीयभङ्गे सर्वाराधकलक्षणे समवतारणीयः, उपरतत्वाद् भावतो विज्ञातधर्मत्वाच्च त्रिप्रकारस्यापि मोक्षमार्गस्याराधकत्वात् । श्राद्धोऽपि चोपचारात् तृतीयभङ्ग एव, देशविरतौ सर्वविरत्युपचारात् ज्ञानदर्शनयोश्चाप्रतिहतत्वात् । तत्र च चतुर्थभङ्गे सर्वविराधकलक्षणे भवाभिनन्दी क्षुद्रत्वादिदोषवान् देशतोऽप्यनुपरतो मिथ्यादृष्टिरिति॥२९॥

अत्र केचिद्वदन्ति यो मिथ्यादृष्टिरन्यमार्गस्थः स सर्वविराधको भवतु, यस्तु जैनमार्गस्थः स भवाभिनन्द्यपि न तथा, व्यवहारस्य बलवत्त्वात्, "ववहारोवि हु बलवं" [व्यवहारोऽपि खलु बलवान्]। इति वचनप्रामाण्यादिति तन्मतनिराकरणार्थमाह–

भावो जेसिमसुद्धो, ते ववहारट्ठियावि एरिसया॥ णिच्छयपरंमुहो खलु, ववहारो होइ उम्मग्गो ॥ ३० ॥

[भावो येषामशुद्धस्ते व्यवहारस्थिता अपीदृशकाः । निश्चयपराङ्मुखः खलु व्यवहारो भवत्युन्मार्गः ॥ ३० ॥

भावोत्ति। भावश्चित्तपरिणामो, येषामशुद्धः–अपुनर्बन्धकाद्युत्तीर्णतया न लेशेनापि निश्चयास्पर्शी, ते व्यवहारस्थिता अपि स्वाभिमतैहिकप्रयोजनार्थं व्यवहारमाश्रिता अपि,ईदृशकाः सर्वविराधका एव,निश्चयपराङ्मुखः खलु व्यवहार उन्मार्गो भवतीति न तेषां क्लिष्टकर्मणा स त्राणायेति। यस्तु व्यवहारो बलवानभ्यधायि प्रवचने स निश्चयप्रापको, न तु तदप्रापकः। अत एव 'अविधिनाप्यभ्यासो(प्यसौ)विधेयः(या),दुःषमाया विधेर्दुर्लभत्वात्, तस्यैव चाश्रयणे मार्गोच्छेदप्रसङ्गाद्' इत्याद्यशास्त्रीयाभिनिवेशपरित्यागार्थं विधियत्न एव व्यवहारशुद्धिहेतुः शास्त्रे कर्तव्यतयोपदेशि(दर्शि)तः। तदुक्तं पञ्चाशके(प० ३)आलोइऊण एवं, तंतं पुव्वावरेण सूरीहिं। विहिजत्तो कायव्वो,मुद्धाण हियट्ठया सम्मं॥४९॥"इति। एतद्वृत्तिर्यथा–"आलोच्य–विमृश्य, एवं पूर्वोक्तन्यायेन, तन्त्रं प्रवचनम्, कथम्?,इत्याह पूर्वश्च–तन्त्रस्य पूर्वो भागः, अपरश्च–तस्यैवापरो भागः पूर्वापरं तेन सप्तम्यर्थो वा एनप्रत्यये सति पुर्वापरेणेति स्यात्, पूर्वापरभावयोरित्यर्थः, तयोरविरोधेनेति यावत्। अनेन चालोचनमात्रस्य व्यवच्छेदः, तस्य तत्त्वावबोधासमर्थत्वादिति। सूरिभिराचार्यैः पण्डितैर्वा, विधौ विधाने वन्दनागते वेलाद्याराधनरूपे यत्न उद्यमो विधियत्नः। स कर्तव्यो विधातव्यो, विमुक्तालस्यैः स्वयं विधिना वन्दना कार्या, अन्येऽपि विधिनैव ता विधापयितव्या इत्यर्थः। किमर्थमेतदेवम्? इत्याह–मुग्धानामव्युत्पन्नबुद्धीनां। हितं

श्रेयः, तद्रूपो योऽर्थः वस्तु स हितार्थस्तस्मै हितार्थाय, सम्यगविपरीततया। यदा हि गीतार्था विधिना स्वयं वन्दना विदधति, अन्यॉश्च तथैव विधापयन्ति, तदा मुग्धबुद्धयोऽपि तथैव प्रवर्तन्ते, प्रधानानुसारित्वान्मार्गाणाम् ॥ आह च–"जो उत्तमेहिं मग्गो, पहओ सो दुक्करो न सेसाण ॥ आयरिअमि जयंते,तयणुचरा(रो) के णु सीयति(केणसीएज्जा)॥[य उत्तमैर्मार्गः प्रहतः स दुष्करो न शेषाणाम् । आचार्ये जयति(यतमाने)तदनुचराः के नु सीदन्ति?॥]तथा ॥ जे जत्थ जया जइआ, बहुस्सुआ चरणकरणउज्जुत्ता ॥ जं ते समायरती, आलंबणं तिव्वसद्धाणं॥ [ये यत्र यदा यदा बहुश्रुताश्चरणकरणोपयुक्ताः । यत्ते समाचरन्ति आलम्बनं तीव्रश्रद्धानाम् ॥]जयत्ति दुःषमादौ, जइअत्ति दुर्भिक्षादाविति । तयाप्रवृत्ताश्च ते वन्दनाराधनजन्यं हितमासादयन्ति, तद्विराधनाजन्यप्रत्यपायेभ्यश्च मोचिता भवन्तीति । अयं चोपदेशोऽसमञ्जसतया स्वयं वन्दना विदधानॉस्तथाऽन्यांश्चापुनर्बन्धकाद्यवस्थेभ्यस्तथाविधजिनाज्ञामादितल्लिङ्गविकलेभ्यो जनेभ्यस्ता प्रयच्छतः सूरीन् वीक्ष्य आचार्येण विहितः, एवं हि तत्प्रवृत्तौ तेषामन्येषां चानर्थोऽसमञ्जसक्रियाजन्या च शासनापभ्राजना मा भूदित्यभिप्रायेणेति गाथार्थ इति ।" अत एव च कालानुभावाज्जैनप्रवचनेऽप्यल्पस्यैव जनस्याराधकस्य दर्शनात् जिनाज्ञारुचिशुद्धेष्वेव भक्तिबहुमानादि कार्यमिति पूर्वाचार्या वदन्ति ॥ उक्तं चोपदेशपदे "एवं पाएण जणा, कालणुभावा इहवि सव्वेवि । णो सुदरत्ति तम्हा, आणासुद्धेसु पडिबंधो ॥"त्ति ॥८३१॥ एतद्वृत्तिर्यथा, एवमनन्तरोक्तोदाहरणवत्, प्रायेण बाहुल्येन, जना लोकाः, कालानुभावाद् वर्तमानकालसामर्थ्याद्, इहापि जैने मतेऽपि, सर्वेऽपि साधवः श्रावकाश्च, नो नैव, सुन्दराः शास्त्रोक्ताचारसारा वर्तन्ते, किन्त्वनाभोगादिदोषाच्छास्त्रप्रतिकूलप्रवृत्तयः, इतिः पूर्ववत्, तस्मात्कारणात्, आज्ञाशुद्धेषु सम्यगधीतजिनागमाचारवशाच्छुद्धिमागतेषु साधुषु श्रावकेषु च, प्रतिबन्धः बहुमानः कर्तव्य इति"॥३०॥ नन्वेवं विधिविकलव्यवहारस्याराधकत्वाप्रयोजकत्वेऽपि

विधिशुद्धव्यवहारस्य भावहीनस्याप्याराधकत्वप्रयोजकत्वे किं बाधकं परं प्रति, तस्य निश्चयप्रापकत्वात् इत्यत आह—

भावुज्झियववहारा, ण किंपि आराहगत्तणं होइ ॥ भावो उ बोहिबीजं, सव्वण्णुमयंमि थोवोवि ॥ ३१ ॥

[भावोज्झितव्यवहारान्न किमप्याराधकत्वं भवति । भावस्तु बोधिबीजं सर्वज्ञमते स्तोकोऽपि ॥ ३१ ॥]

भावुज्झिअत्ति । भावोज्झितव्यवहाराद् भवाभिनन्दिनां द्रव्यव्रतधारिणा विधिसमग्रादपि न किमप्याराधकत्वं भवति, परं प्रति निश्चयप्रापकस्यापि तस्य स्वकार्याकारित्वाद् । भावस्तु सर्वज्ञमते स्तोकोऽपि बोधिबीजम्, विशेषधर्मविषयस्य स्तोकस्यापि भावस्य विशेषफलत्वाद् । अत एवापूर्वा धर्मचिन्ताऽपि प्रथमं समाधिस्थानमुक्तम् । तदुक्तं समवायाङ्गे (१० सम०) "धम्मचिंता वा से असमुप्पण्णपुव्वा समुप्पज्जेज्जा सव्वं धम्मं जाणित्तए " त्ति ॥ एतद्वृत्तिर्यथा—" तत्र धर्मा जीवादिद्रव्याणा उपयोगोत्पादादयः स्वभावास्तेषां चिन्ता—अनुप्रेक्षा, धर्मस्य वा श्रुतचारित्रात्मकस्य सर्वज्ञभाषितस्य 'हरिहरादिनिगदितधर्मेभ्यः प्रधानोऽयम्' इत्येवं चिन्ता धर्मचिन्ता, वाशब्दो वक्ष्यमाणसमाधिस्थानापेक्षया विकल्पार्थः, से इति यः कल्याणभागी तस्य साधोः, असमुत्पन्नपूर्वा पूर्वस्मिन्ननादावतीतकालेऽनुपजाता, तदुत्पादे ह्यपार्द्धपुद्गलपरावर्तान्ते(न्तः)कल्याणस्यावश्यभावात्, समुत्पद्येत—जायेत सः । किं प्रयोजनाय चेयम् ? अत आह—सर्वं निरवशेषं, धर्मं जीवादिद्रव्यस्वभावमुपयोगोत्पादादिकं श्रुतादिरूपं वा, जाणित्तए ज्ञपरिज्ञया ज्ञातुं ज्ञात्वा च प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरणीयधर्मं(कर्म)परिहर्तुम् । इदमुक्तं भवति—धर्मचिन्ता धर्मज्ञानकरणरूपा (भूता) जायते इति ॥ " अत्रापूर्वधर्मचिन्ताया उत्कर्षतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्तव्यवधानेन कल्याणकारणत्वमुक्तम्, अन्यत्र च मुक्त्यद्वेषादिगुणानां चरमपुद्गलपरावर्तव्यवधानेनेति प्रवचनपूर्वापरभावपर्यालोचनया गुणसामान्यस्य चरमावर्तमानत्वमस्माभिरुन्नीयते । यदि

चैवमपि स्वतन्त्रपरतन्त्रसाधारणापुनर्बन्धकादिगुणानामपार्द्धपुद्गलपरावर्तमानत्वमेव सकलगीतार्थसंमतं स्यात् तदा नास्माकमाग्रह इत्य- स्या परीक्षायामुपयुक्तैर्भवितव्य गीतार्थैः प्रवचनाशातनाभीरुभिः ॥ ३१ ॥

तदेव विवेचिता चतुर्भङ्गी, अथास्या को भङ्गोऽनुमोद्यः ? को वा न ? इति परीक्षते—

तिण्णि अणुमोयणिज्जा, एएसुं णो पुणो तुरियभंगो ॥ जेणमणुमोयणिज्जो, लेसोवि हु होइ भावस्स॥३२॥

[त्रयोऽनुमोदनीया एतेषु न पुनस्तुरीयभङ्गः । येनानुमोदनीयो लेशोऽपि हि भवति भावस्य ॥ ३२ ॥]

तिण्णित्ति । एतेषु देशाराधकादिषु चतुर्षु भङ्गेषु, त्रयो भङ्गाः । देशाराधक-देशविराधक-सर्वाराधकलक्षणा अनुमोदनीयाः, न पुनस्तुरीयो भङ्गः सर्वविराधकलक्षणः, येन कारणेन, भावस्य लेशोऽपि ह्यनुमोदनीयः, न चासौ सर्वविराधके सम्भवति, देशाराधकादिषु तु मार्गानुसारिभावविशेषसम्भवात्, तदनुमोदनीयत्वे तद्द्वारा तेषामप्यनुमोदनीयत्वमावश्यकमिति भावः ॥ ३२ ॥

अथ किमनुमोदनीयत्वम् ? का चानुमोदना ? इत्येतल्लक्षणमाह—

अणुमोअणाइ विसओ, जं तं अणुमोअणिज्जयं होइ॥ सा पुण पमोअमूलो, वावारो तिण्ह जोगाणं ॥३३॥

[अनुमोदनाया विषयो यद्वस्तु तदनुमोदनीय भवति । सा पुनः प्रमोदमूलो व्यापारो त्रयाणां योगानाम् ॥ ३३ ॥]

'अणुमोअणाइ'त्ति। अनुमोदनाया विषयो, यद्वस्तु, तदनुमोदनीयं भवति । तद्विषयत्वं न भावस्य साक्षाद् भावप्रधा- नत्वात्साधूनाम्। तदुक्तमोघनिर्युक्तौ—"परमरहस्समिसीणं, समत्तगणिपिडगझरिअसाराणं । परिणामियं पमाणं, णिच्छयमवलंबमा- णाणं"ति॥७६०॥ [परमरहस्यमेषां समस्तगणिपिटकक्षरितसाराणाम् । परिणामः प्रमाणं निश्चयमवलम्बमानानाम् ॥] तत्कारणक्रियायाश्च

तदुत्पादनद्वारा। यदु हारिभद्रं वचः-(पचा०६)"कज्जं इच्छन्तेण, अणंतरं कारणंपि इट्ठति(तु)॥ जह आहारजतित्तिं, इच्छंतेणेह माहारो ॥२४॥"त्ति [कार्यमिच्छता अनन्तरं कारणमपीष्टमिति। यथाऽऽहारजतृप्तिमिच्छता इहाहारः॥] पुरुषस्य च तत्सम्बन्धितयेति तत्त्वतः सर्वत्र भावापेक्षमेवानुमोदनीयत्वं पर्यवसति। साऽनुमोदना, पुनः प्रमोदमूलो हर्षपूर्वकः,त्रयाणां योगानां कायवाङ्मनसां, व्यापारो रोमाञ्चोद्गम-प्रशंसा-प्रणिधानलक्षणो न तु मानसव्यापार एव, करणकारणयोरिवानुमोदनाया अपि योगभेदेन त्रिविधायाः सिद्धान्ते प्रतिपादनात्। मानसव्यापारस्यैवानुमोदनात्वे प्रशंसादिसकलनादनुमोदनाफलविशेषानुपपत्तेश्च। न च यथा नैयायिकैकदेशिनां मङ्गलत्वादिकं मानसत्वव्याप्या जातिस्तथाऽस्माकमनुमोदनात्वमपि तथेति, त्रयाणामपि योगानां हर्षमूलो व्यापारोऽनुमोदनेति वस्तुस्थितिः, यश्चानुमोदनाव्यपदेशः क्वचिच्चित्तोत्साहे एव प्रवर्तते स सामान्यवाचकपदस्य विशेषपरत्वात् निश्चयाश्रयणाद्वेत्यवधेयम्॥२३॥

एवं सति योऽनुमोदनाप्रशंसयोर्विषयभेदेन भेदमेवाभ्युपगच्छति तन्मतनिरासार्थमाह--

सामन्नविसेसत्ता, भेओ अणुमोअणापसंसाणं। जह पुढवीदव्वाणं, ण पुढो विसयस्स भेएणं ॥ ३४ ॥

[सामान्यविशेषत्वाद् भेदोऽनुमोदनाप्रशंसयोः। यथा पृथिवीद्रव्ययोः, न पृथग् विषयस्य भेदेन ॥ ३४ ॥]

'सामन्नविसेसत्त'त्ति। अनुमोदनाप्रशंसयोः सामान्यविशेषत्वात् सामान्यविशेषभावाद्भेदः,यथा पृथिवीद्रव्ययोः, द्रव्यं हि सामान्यं, पृथिवी च विशेषः। एवमनुमोदना सामान्यं प्रशंसा च विशेष इत्येतावाननयोर्भेदः, न पुनः पृथग् विषयस्य भेदेनात्यन्तिको भेदः, प्रशंसाया अनुमोदनाभेदत्वेन तदन्यविषयत्वासिद्धेः। न हि घटप्रत्यक्षं प्रत्यक्षभिन्नविषयमिति विपश्चिता वक्तुं युक्तम्, न च मानसोत्साहरूपाऽनुमोदनाया अपि प्रशंसाया भिन्नविषयत्वनियमः, प्रकृतिसुन्दरस्यैव वस्तुनः सम्यग्दृशामनुमोदनी-

विरतैरविरतैश्चा-
यत्वात्प्रशंसनीयत्वाच्च। न चानुमोदनायाः स्वेष्टसाधकमेव वस्तु विषयः, तादृशस्यैव तपःसंयमादेरारम्भपरिग्रहादेर्वा
नुमोदनात्, न तु परेष्टसाधकम्, आत्मनश्चानिष्टसाधनमपि निजधनापहारस्याप्यनुमोदनीयत्वापत्तेः। प्रशंसायाश्चेष्टमनिष्टं च वस्तु वि-
षयः, इष्टस्य धार्मिकानुष्ठानस्यानिष्टस्य चाज्ञाबाह्यस्य वस्तुनः प्रशंसाऽव्यवस्थितेः। भवति हि निजकार्यादिनिमित्तमसद्गुणस्यापि प्रशंसा।
अत एवायमागमोऽपि-(स्थानागअ०४सू०३७०)"चउहिं ठाणेहिं असंते गुणे दीवेज्जा, १अब्भासवत्तियं २परछंदाणुवत्तियं ३ कज्जहेउ
४कयपडिकइए "त्ति। [चतुर्भिः स्थानैरसतो गुणान् दीपयेत्, १ अभ्यासप्रत्ययं २ परच्छन्दानुवृत्तिकं ३ कार्यहेतु ४ कृतप्रतिकृत्याः
इति ॥] सा चेयमनिष्टप्रशंसाऽतिचाररूपापि प्रयोजनविशेषेण कस्यचित्कादाचित्की स्यादित्येतदपि वचनं शोभनम्, स्वारसिकप्रशंसाया
अनिष्टाविषयत्वात्पुष्टालम्बनकानिष्टप्रशंसाया अपीष्टविषयत्वपर्यवसानात्। न हि किञ्चिज्जात्येष्टमनिष्टं वा वस्तु विद्यते, किन्तु परिणा-
मविशेषेण भजनीयमिति। यदुवाच कल्पाकल्पविभागमाश्रित्य वाचकमुख्यः—"किञ्चिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं, स्यादकल्प्यमपि
कल्प्यम् ॥ पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥ १ ॥" इति। मोहप्रमादादिनाऽनिष्टविषयत्वं च प्रशंसाया इवानुमोदनाया
अपि भवतीति न कोऽपि विषयभेदः। न चानिष्टविषयतावच्छेदेनोपचारानुपचारप्रवृत्त्याऽनयोरतिचारभङ्गभावाद् भेदः, अभिमतोप-
चारेणातिचारत्वाभावात्। अन्यथा—"संथरणंमि असुद्धं, दोण्हवि गिण्हंतदिंतयाणहियं। आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥१॥"
[संस्तरणे अशुद्धं द्वयोरपि गृह्णद्ददतोरहितम्। आतुरदृष्टान्तेन तदेव हितमसंस्तरणे ॥] इत्यादौ कारणिकाशुद्धग्रहणप्रशंसाया अप्यतिचा-
रत्वप्रसङ्गाद्। अनभिमतोपचारादतिचारभङ्गयोस्तु परिणामभेदः प्रयोजको न तु विषयभेद इति यत्किञ्चिदेतत्। शास्त्रेऽपि प्रशंसा
अनुमोदनाविशेष एव गीयते। तदुक्तं पञ्चाशकवृत्तिकृता—"जइणोवि हु दव्वत्थयभेओ अणुमोअणेण अत्थित्ति। [एवं च इत्थ

णेयं इय सुद्धं तंतजुत्तीए ॥२८॥ पं० ६] इति प्रतीकं विवृण्वता यतेरपि–भावस्तवारूढमाधोरपि न केवलं गृहिण एव । तुशब्दोऽलङ्कृतौ । द्रव्यस्तवभेदो द्रव्यस्तवविशेषः, अनुमोदनेन जिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणयाऽनुमत्या, अस्ति विद्यते, इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्ताविति"॥३४॥एवमनुमोदनाप्रशंसयोर्विषयभेदाभावे सिद्धेऽनुमोदनीयप्रशंसनीययोर्विषमव्याप्तिं परिहरन्नाह–

तेणमणुमोअणिज्जं, पसंसणिज्जं च होइ जाईए ॥ सुद्धं किच्चं सव्वं, भावविसिट्ठं तु अन्नंपि ॥ ३५ ॥

[तेनानुमोदनीयं प्रशंसनीयं च भवति जात्या । शुद्धं कृत्यं सर्वं भावविशिष्टं त्वन्यदपि ॥ ३५ ॥]

'तेणं'ति। तेनानुमोदनाप्रशंसयोर्विषयभेदाभावेन, अनुमोदनीयं प्रशंसनीयं च सर्वं शुद्धं स्वरूपकृत्यं दयादानशीलादिकं च, जात्या स्वरूपयोग्यताऽवच्छेदकरूपेण भवति । यद्रूपावच्छेदेन यत्र सुन्दरत्वज्ञानं तद्रूपविशिष्टप्रतिसन्धानस्य तद्रूपावच्छिन्नविषयकहर्षजनकत्वाद् । अत एव शुद्धाहारग्रहणदानादिव्यक्तीनां सर्वासामसुन्दरत्वेऽपि कासाञ्चिन्नाशुद्धाहारग्रहणदानादिव्यक्तीनामप्यपवादकालभाविनीनां सुन्दरत्वेऽपि साधोः शुद्धाहारग्रहणं सुन्दरम् श्रावकस्य च शुद्धाहारदानमित्ययमेवोपदेशो युक्तो न त्वशुद्धाहारग्रहणदानोपदेशोऽपि, सामान्यपर्यवसायित्वात्तस्य; सामान्यपर्यवसानस्य च स्वरूपशुद्ध एव वस्तुन्युचितत्वात्, स्वरूपशुद्धं हि वस्तु जात्याप्यनुमोद्यमानं हितावहमिति। भावविशिष्टं तु–अपुनर्बन्धकादिभावसंवलितं तु, अन्यदपि विषयशुद्धादिकमपि वस्त्वनुमोद्यम्। 'भावविशिष्टा क्रिया सुन्दरा' इत्यादिप्रशंसया भावकारणत्वेन विषयशुद्धादावपि कृत्ये स्वोत्साहसम्भवात् । न चैवमपुनर्बन्धकोचितविषयशुद्धकृत्येऽपि साधोः प्रवृत्त्यापत्तिः, स्वाभिमततत्तद्धर्माधिकारीष्टसाधनत्वेन प्रतिसंहितेऽधस्तनगुणस्थानवर्त्यनुष्ठाने स्वोत्साहसम्भवेऽपि स्वाधिकाराभावेन तत्राप्रवृत्तेः । अत एव 'शोभनमिदमेतावज्जन्मफलमविरतानाम्' इतिवचनलिङ्गगम्यस्वोत्साहविषयेऽपि जिनपूजादौ

यानतमर्वमपि धर्मानुष्टान श्राद्धाचारे न साधूना प्रवृत्तिरिति बोध्यम्। इत्थ च भावानुरोधादपुनर्बन्धकादेरारभ्यायोगिकेवलिगुणस्थान
मनुमोदनीयं प्रशसनीयं चेति सिद्धम् ॥ उक्त चोपदेशपदसूत्रवृत्त्योः–"ता एअम्मि पयत्तो, ओहेण वीयरायवयणंमि । बहुमाणो
कायव्वो, धीरेहि कयं पसंगेण ॥२३४॥ तत् तस्माद्, एतस्मिन् धर्मबीजे, प्रयत्नो यत्नातिशयः, कर्तव्यो धीरैः इत्युत्तरेण योगः।
किंलक्षणः प्रयत्नः कर्तव्यः ? इत्याशङ्क्य आह–ओघेन सामान्येन, वीतरागवचने वीतरागागमप्रतिपादितेऽपुनर्बन्धकचेष्टाप्रभृत्ययो-
गिकेवलिपर्यवसाने तत्तच्चित्र(त्त)शुद्धसमाचारे, बहुमानो भावप्रतिबन्धः क्षयोपशमवैचित्र्यान्मृदुमध्याधिमात्रः, कर्तव्यो धीरैर्बुद्धि-
मद्भिः। उपसंहरन्नाह–कृतं प्रसङ्गेन पर्याप्तं धर्मबीजप्रख्यापनेनेति ॥" भावानुरोधेन ह्यनुष्ठानस्यानुमोदनप्रशंसे विहिते, भावश्चापुन
र्बन्धकाद्यनुष्ठाने नियत एव, अन्ततो मोक्षाशयस्यापि सत्त्वात्, तस्याप्यचरमपुद्गलपरावर्ताभावित्वेन मोहमलमन्दतानिमित्तकत्वेन शुद्ध-
त्वात् । तदुक्तं विंशिकायाम्–(४) "मोक्खासओवि णण्णत्थ, होइ गुरुभावमलपहावेणं ॥ जह गुरुवाहिविगारे, ण जाउ पत्थासओ
सम्मं ॥८॥" इति । [मोक्षाशयोऽपि नान्यत्र भवति गुरुभावमलप्रभावेण । यथा गुरुव्याधिविकारे न जातु पथ्याशयः सम्यक् ॥]
अन्यत्र चरमपुद्गलपरावर्तादन्यत्र । ततो विषयशुद्धादिकं त्रिविधमप्यनुष्ठानं प्रशस्तमिति सिद्धम् ॥ उक्त च विंशिकायामेव(३)"विस-
यसरूवणुबंधेण, होइ सुद्धो तिहा इहं धम्मो । जं ता मुक्खासयाओ, सव्वो किल सुन्दरो णेओ॥२०॥" इति । [विषयस्वरूपानुबन्धेन
भवति शुद्धो त्रिधेह धर्मः। यत्ततो मोक्षाशयात्सर्वः किल सुन्दरो ज्ञेयः।.] विषयशुद्धादिभेदश्चायं योगबिन्दावुपदर्शितः–"विषयात्मा-
नुबन्धैस्तु, त्रिधा शुद्धमुदाहृतम्। अनुष्ठान, प्रधानत्वं, ज्ञेयमस्य यथोत्तरम् ॥२११॥ आद्य यदेव मुक्त्यर्थं, क्रियते पतनाद्यपि ॥ तदेव
मुक्त्युपादेय–लेशभावाच्छुभं मतम् ॥२१२॥ द्वितीयं तु यमाद्येव, लोकदृष्ट्या यमादिकम् (व्यवस्थितम्)॥ न यथाशास्त्रमेवेह, सम्य-

गज्ञानाद्ययोगतः ॥ २१३ ॥ तृतीयमप्यदः किन्तु, तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥ प्रशान्तवृत्त्या सर्वत्र, दृढमौत्सुक्यवर्जितम् ॥२१४॥" इति । ननु भवतु विषयशुद्धाद्यनुष्ठानत्रयमपुनर्बन्धकादौ कथञ्चित्सुन्दरम्, तथाऽपि वीतरागवचनप्रतिपादितस्यैव तद्गतस्यानुष्ठानस्यानुमोद्यत्वं नान्यस्य, "जो चेव भावलेसो सो चेव भगवओ अणुमओ।"[य एव भावलेशः स एव भगवतोऽनुमतः ॥] इत्यत्र भगवद्बहुमानरूपस्यैव भावलेशस्यानुमोद्यत्वप्रतिपादनादिति चेद्। न, अन्यत्रापि भवाभिनन्दिदोषप्रतिपक्षमोक्षाशयभावस्य तत्त्वतो भगवद्बहुमानरूपत्वाद् 'भवनिर्वेदस्यैव भगवद्बहुमानत्वाद्' इति ललितविस्तरापञ्जिकावचनात्, स्वरूपशुद्धं चानुष्ठानं सर्वत्रापि तत्त्वतो भगवत्प्रणीतमेवेति तत्प्रशंसया भवत्येव भगवद्बहुमानः । व्युत्पन्ना ह्यन्यशास्त्रे कथञ्चिदुपनिबद्धानपि मार्गानुसारिगुणान् भगवत्प्रणीतत्वेनैव प्रतियन्ति । तदाहुः श्रीसिद्धसेनसूरयः(द्वा० १) "सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्त(क्ति)सम्पदः ॥ तवैव ताः पूर्वमहार्णवोद्धृता (स्थिता) जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः॥३०॥इति" नन्दिवृत्तावप्येवमेवोक्तम्–"परदर्शनशास्त्रेष्वपि हि यः कश्चित्समीचीनोऽर्थः संसारासारता–स्वर्गापवर्गादिहेतुः प्राण्यहिंसादिरूपः स भगवत्प्रणीतशास्त्रेभ्य एव समुद्धृतो वेदितव्यः। न खल्वतीन्द्रियार्थपरिज्ञानमन्तरेणातीन्द्रियः प्रमाणाबाधितार्थः पुरुषमात्रेणोपदेष्टुं शक्यते, अविषयत्वाद् । न चातीन्द्रियार्थपरिज्ञान परतीर्थिकानामस्तीत्येतदग्रे वक्ष्यामः। ततस्ते भगवत्प्रणीतशास्त्रेभ्यो मौलं समीचीनमर्थलेशमुपादाय पश्चादभिनिवेशवशतः स्वस्वमत्यनुसारेण तास्ताः स्वस्वप्रक्रियाः प्रपञ्चितवन्तः । उक्तं च स्तुतिकारेण—"सुनिश्चितं०" इत्यादि ॥" ननु दयादिवचनानि परमते तत्त्वतो जिनवचनमूलान्यपि स्वस्वमताधिदैवतवचनत्वेन परिगृहीतत्वादेव नानुमोदनीयानि, अत एव मिथ्यादृष्टिभिः स्वस्वदैवतबिम्बत्वेन परिगृहीताऽर्हत्प्रतिमाऽप्युपासकदशाङ्गादिष्ववन्द्यत्वेन प्रतिपादितेति चेत्? । अत्र वदन्ति सम्प्रदायविदः यथा मिथ्यादृक्परिगृहीता

तीर्थकृत्प्रतिमा मिथ्यात्वाभिवृद्धिनिवारणाय न विशेषेण नमस्क्रियते, सामान्येन तु " जं किंचि नाम तित्थं० " [यत्किंचिद् नाम तीर्थं ।] इत्यादिना, "जावंति चेइआइ०" [यावन्ति चैत्यानि० ॥] इत्यादिना चाभिवन्द्यते एव, तत्त्वतस्तासामपि तीर्थत्वात् जिनबिम्बत्वाच्च । तथाऽत्रापि मिथ्यादृशां गुणाः 'सर्वेषां जीवानां दयाशीलादिकं शोभनम्' इत्येवं सामान्यरूपेणानुमोद्यमानाः केन वारयितुं शक्यन्ते ? इति । उक्तं चैतत् धर्मबिन्दुसूत्रवृत्त्योरपि (अ० २ सू० ३) सद्धर्मदेशनाधिकारसाधारण्येन लोकलोकोत्तरगुणप्रशंसाप्रतिपादनात् तथाहि ।। "साधारणगुणप्रशंसेति ॥ साधारणानां लोकलोकोत्तरयोः सामान्यानां, गुणानां, प्रशंसा-पुरस्कारो देशनार्हस्याग्रतो विधेया। यथा-"प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः, प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ॥ अनुत्सेको लक्ष्म्या निरभिभवसाराः परकथाः, श्रुते चासन्तोषः कथमनभिजाते निवसति ॥१॥" इति ।" इयं च पुरुषविशेषानुपग्रहात्सामान्यप्रशंसैवेति । यद्यप्यत्रापि वाक्यार्थस्य विशेष एव पर्यवसानम् , तथाऽपि साधारणगुणानुरागस्यैवाभिव्यङ्ग्यत्वान्न मिथ्यात्वाभिवृद्धिरिति द्रष्टव्यम् । स्यादत्र परस्येयमाशङ्का 'एवं सति मिथ्यादृष्टेः पुरुषविशेषस्य दयाशीलादिगुणपुरस्कारेण प्रशंसा न कर्तव्या स्यात्, अन्यतीर्थिकपरिगृहीतार्हत्प्रतिमाया विशेषेणावन्द्यत्ववद् अन्यतीर्थिकपरिगृहीतगुणानामपि विशेषतोऽप्रशंसनीयत्वात् । दोषवत्त्वेन प्रतिसन्धीयमाने पुरुषे तद्गतगुणप्रशंसायास्तद्गतदोषानुमतिपर्यवसितत्वात् । अत एव सुखशीलजनवन्दनप्रशंसयोस्तद्गतप्रमादस्थानानुमोदनापत्तिरुक्ता । "किइकम्मं च पसंसा, सुहसीलजणंमि कम्मबंधाय । जे जे पमायठाणा, ते ते उववूहिया हुंति ॥ " [कृतिकर्म च प्रशंसा सुखशीलजने कर्मबन्धाय । यानि यानि प्रमादस्थानानि तानि तानि उपबृंहितानि भवन्ति ॥] इत्यादिनाऽऽवश्यकादाविति " तत्र ब्रूमः-यदि नाम तद्गतदोषज्ञानमेव तत्प्रशंसायास्तदीयतद्दोषानुमतिपर्यवसायकमिति मिथ्यादृष्टिगुणप्रशंसात्यागस्तवाभिमतस्तदाऽविरत-

सम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वादिगुणप्रशंसाऽप्यकर्तव्या स्यात्, तद्गताविरतिदोषज्ञानात्तत्प्रशस्तदनुमतिपर्यवसानात्। अथाविरतसम्यग्दृष्ट्या-दावविरत्यादेर्न स्फुटदोषप्रतिसन्धानमेव न तद्गतप्रशंसाया दोषानुमतिपर्यवसानबीजम्, अत एव श्रेणिककृष्णादिभूपतीनां पार्श्वस्थता-दिस्फुटदोषप्रतिसन्धाने हीलनीयत्वमेवोक्तं शास्त्रे न तु गुणसामान्यमादाय प्रशंसनीयत्वम्, तत्कालीनतत्प्रशंसाया दोषानुमतिरूप-त्वादित्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनां सम्यक्त्वादिगुणानुमोदनेन दोष इति चेत्। तर्हि मार्गानुसारिणा मिथ्यादृशा मिथ्यात्वमपि न स्फुटो दोषः, तच्चेतरनिन्दनाद्युपहितप्रबलमिथ्यात्वस्यैव स्फुटदोषत्वादिति तद्गतगुणप्रशंसायामपि न दोषः। अवश्यं चैतदित्थं प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथा मेघकुमारजीवहस्तिनोऽपि दयागुणपुरस्कारेण प्रशंसानुपपत्तिरिति। अन्यतीर्थिकपरिगृहीतत्वं चार्हत्प्रतिमायामिव दया-दिगुणेषु न स्फुटो दोषः, दयादिगुणानामभिनिविष्टान्यतीर्थिकसाधिकृत्वाभावेन मिथ्यात्वबुद्धिनिबन्धनत्वाभावात्, प्रत्युत तत्त्वतो जिनप्रवचनाभिहितत्वप्रतिसन्धानेन तदस्फुटीकृतमेव। अतः 'लोकस्यापि भगवदभिमतस्य गुणस्योपेक्षा न श्रेयसी' इत्यव्युत्पन्नदशायां तत्प्रशंसा गुणानुरागातिशयद्वारा कल्याणावहा। अत एव गुणानुरागसङ्कोचपरिहाराय लोकगुणालम्बनेनापि भावत्यद्भावं विधेयमि-त्युपदिशन्ति पूर्वाचार्याः। तदुक्तं बृहत्कल्पभाष्यवृत्त्योः—"दंसणनाणचरित्तं, तवविणए जत्थ जत्तियं पासे। जिणपन्नत्तं भत्तीए, पूयए तं तहिं भावं॥ दर्शनं च निःशङ्कितादिगुणोपेतं सम्यक्त्वं, ज्ञानं चाचारादि, चारित्रं च मूलोत्तरगुणानुपालनात्मकं दर्श-नज्ञानचारित्र द्वन्द्वैकवद्भावः। एवं तपश्चानशनादि, विनयश्चाभ्युत्थानादिरूपस्तपोविनयम्। एतद्दर्शनादि, यत्र पार्श्वस्थादौ पुरुषे, यावत् यत्परिमाणं स्वल्पं बहु वा, पश्येत् जानीयात्, तत्र तमेव भावं जिनप्रज्ञप्तं स्वचेतसि व्यवस्थाप्य तावतैव भ क्त्या कृतिकर्मादिलक्षणया पूजयेत्" इति॥ तेन मार्गानुसारिकृत्ये सर्वमपि सद्योगादनुमोदनीयं प्रशंसनीयं चेति सिद्धम्॥३५॥

तत्श्च 'मिथ्यादृशा गुणा न ग्राह्याः' इति कदाग्रहः परित्याज्य इत्यभिप्रायेणाह—

इअ लोइअलोउत्तर–सामन्नगुणप्पसंसणे सिद्धे ॥ मिच्छदिट्ठीण गुणे, ण पसंसामोत्ति दुव्वयणं ॥ ३६ ॥

[इति लौकिकलोकोत्तरसामान्यगुणप्रशंसने सिद्धे ॥ मिथ्यादृष्टीना गुणान् न प्रशसाम इति दुर्वचनम् ॥ ३५ ॥]

'इअ'त्ति इत्यमुना प्रकारेण, लौकिकलोकोत्तरसामान्यगुणप्रशंसने सिद्धे इष्टसाधनत्वेन व्यवस्थिते, मिथ्यादृष्टीनां गुणान्न प्रशंसाम इति दुर्वचनं गुणमात्सर्यादेव तथावचनप्रवृत्तेः। न च नैवम्भूत मात्सर्यादेवोच्यते, किन्तु सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिसाधारणगुणप्रशसया विशेषगुणातिशयभङ्गापत्तिभयादेवेति शङ्कनीयम्। एवं सति विरताविरतसाधारणसम्यक्त्वादिगुणप्रशंसाया अपि परिहारापत्तेः, तथापि विरतविशेषगुणातिशयभङ्गापत्तिभयतादवस्थ्यादिति ॥ ३६ ॥

दुर्वचनत्वं चास्य व्यक्त्या तत्प्रशंसाविधायकसद्वचनबाधातिमद्धयतीति तदुपदर्शयति—

मग्गाणुसारिकिच्चं, तेसिमणुमोअणिज्जमुवइट्ठं ॥ सिवमग्गकारणं तं, गम्मं लिंगेहिं धीरेहिं ॥ ३७ ॥

[मार्गानुसारिकृत्यं, तेषामनुमोदनीयमुपदिष्टम् ॥ शिवमार्गकारण तद्, गम्यं लिङ्गैर्धीरैः ॥ ३७ ॥]

मग्गाणुसारित्ति। मार्गानुसारिकृत्यं तेषामपि मिथ्यादृशामपि, अनुमोदनीयमुपदिष्ट भगवता। तदुक्तं चतुःशरणप्रकीर्णके—" अहवा सव्वं चिय वीय–रायवयणाणुसारि जं सुकडं ॥ कालत्तएवि तिविह, अणुमोएमो तयं सव्वं ॥" एतदवृत्तिर्यथा– " अथवेति सामान्यरूपप्रकारदर्शने। 'चिय'त्ति एवार्थे। ततः सर्वमेव वीतरागवचनानुसारि जिनमतानुयायि

त्सुकृतं जिनभवन-बिम्बकारण-तत्प्रतिष्ठा-सिद्धान्तपुस्तकलेखन-तीर्थयात्रा-श्रीमद्वात्सल्य-जिनशासनप्रभावना-ज्ञानाद्युपष्टम्भ-धर्मसान्निध्य-क्षमा-मार्दव संवेगादिरूपं मिथ्यादृक्सम्बन्ध्यपि मार्गानुयायिकृत्य, कालत्रयेऽपि त्रिविध मनोवाक्कायैः कृतं कारित-मनुमत च यदभूद् भवति भविष्यति चेति तत्तदित्यर्थः, तत्सर्वं निरवशेषम्, अनुमन्यामहे इत्यर्गोनरता प्रापयाम इति ॥" ननु मार्गानुसारिकृत्यं न जैनाभिमतधार्मिकानुष्ठानानुकारिमिथ्यादृष्टिमार्गपतित क्षमादिकम्, किन्तु सम्यक्त्वाभिमुखगतं जैनाभिमतमेव, तच्च सम्यग्दृष्टिगतानुष्ठानात्र पार्थक्येन गणयितुं शक्यमित्याशङ्कायामाह-तन्मार्गानुसारिकृत्यं, शिवमार्गस्य ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणस्य, कारण श्रीरैर्निश्चितागमतत्त्वैः, लिङ्गैः "पावं ण तिव्व भावा कुणई" [पाप न तीव्रभावात्करोति ॥] इत्याद्यपुनर्बन्धकादिलक्षणैर्गम्यम्। अयं भावः-सम्यग्दृष्टिकृत्यं यथा वस्तुतश्चारित्रानुकूलमेवानुमोदनीयं तथा मार्गानुसारिकृत्यमपि सम्यक्त्वानुकूलमेव स्वलक्षकालप्रा-प्त्याफलज्ञानं च तत्रानुमोदनीयताया न तन्त्रम्, किन्तु स्वलक्षणज्ञानमेव। तथा च यत्र भवाभिनन्दिदोषप्रतिपक्षगुणानामपुनर्बन्ध-कादिलक्षणाना निश्चयस्तत्र मार्गानुसारिकृत्यानुमोदनाया न बाधकम्, विविच्याग्रिमकालभाविफलज्ञानस्य प्रवर्तकत्वे तु छद्मस्थस्य प्रवृत्तिमात्रोच्छेदप्रसङ्ग इति। अत एव मार्गानुयायिकृत्यं लक्षणशुद्धं जिनभवनकारणाद्येवोक्तम्, तस्यैव मोक्षमार्गकारणत्वाद्। मोक्षमार्गो हि भावाज्ञा सम्यग्दर्शनादिरूपा, तत्कारणं चापुनर्बन्धकचेष्टा द्रव्याज्ञा। तत्र भावाज्ञा मोक्षं प्रति कारणत्वेनानुमोदनीया, द्रव्याज्ञा तु कारणकारणत्वेनेति न कश्चिद्दोष इति। तदिदमुक्त व्यक्तयैवाराधनापताकायाम्-अह दुक्कडगरहानल-ज्झामियकम्मिधणो पुणो भणइ ॥ सुकडाणुमोअणं तिव्व-सुद्धपुलयंचियसरीरो ॥१॥ [अथ दुष्कृतगर्हाऽनलध्मातकर्मेन्धनः पुन भणति। सुकृतानुमोदनं तीव्र-शुद्धपुलकाञ्चितशरीरः ॥ १ ॥] चउतीसबुद्ध अइसअ-अट्ठमहापाडिहेरधम्मकहा ॥ तित्थपवत्तणपमिई, अणुमोएमि जिणिंदाणं ॥२॥

सिद्धत्तमणंताणं, वरदंसणनाणसुक्खविरिआइं । इगतीसं सिद्धगुणे, अणुमन्ने सव्वसिद्धाणं ॥ ३ ॥ पचविहं आयारं, देसकुलाई गुणे य छत्तीसं । सिस्सेसु अत्थभासण-पमुहं सूरीण अणुमोए ॥४॥ अगाण उवंगाणं, पइण्णसुअछेअमूलगंथाणं । उवज्झायाणं अज्झा-वणाइ सव्व समणुमन्ने ॥ ५ ॥ समिईगुत्तीमहव्वय-संजमजइधम्मगुरुकुलणिवासं । उज्जुअविहारपमुहं, अणुमोए समणसमणीणं ॥६॥ सामाइअपोसहाइ, अणुव्वयाइं जिणिंदविहिपूयं । एक्कारपडिमप्पमिई, अणुमन्ने सड्ढसड्ढीण ॥७॥ जिणजम्माइसु ऊसव-करण तह महरिसीण पारणए । जिणसासणंमि भत्ती-पमुहं देवाण अणुमन्ने ॥८॥ तिरियाण देसविरइ, पज्जताराहणं च अणुमोए । सम्मदंसणलंभ, अणुमन्ने नारयाणपि ॥ ९ ॥ सेसाण जीवाणं, दाणरुइत्तं सहावविणिअत्तं । तह पयणुकसायत्तं, परोवयारित्त भवत्तं ॥१०॥ दक्खिन्नदयालुत्तं, पियभासित्ताइ विविहगुणणिवह । सिवमग्गकारण जं, तं सव्वं अणुमय मज्झ ॥ ११ ॥ [चतुस्त्रिंशदुद्धातिशयाष्टमहाप्रातिहार्यधर्मकथाः । तीर्थप्रवर्तनप्रभृतीरनुमोदयामि जिनेन्द्राणाम् ॥२॥ सिद्धत्वमनन्तानां वरदर्शनज्ञानसौख्यवीर्याणि । एकत्रिंशतं सिद्धगुणान् अनुमन्ये सर्वसिद्धानाम् ॥३॥ पञ्चविधमाचारं देशकुलादीन्गुणांश्च षट्त्रिंशतम् । शिष्येषु अर्थभाषणप्रमुखं सूरीणामनुमोदे ॥४॥ अङ्गानामुपाङ्गाना प्रकीर्णकश्रुतच्छेदमूलग्रन्थानाम् । उपाध्यायानामध्यापनादि सर्वं समनुमन्ये ॥ ५ ॥ समिति-गुप्ति-महाव्रत-संयम-यतिधर्मं गुरुकुलनिवासम् । उद्युक्तविहारप्रमुखं अनुमोदे श्रमणश्रमणीनाम् ॥ ६ ॥ सामायिकपौषधादि अणुव्रतानि जिनेन्द्रविधिपूजाम् । एकादशप्रतिमाप्रभृतीरनुमन्ये श्राद्धश्राद्धीनाम् ॥ ७ ॥ जिनजन्मादिषूत्सवकरणं तथा महर्षीणा पारणके । जिनशासने भक्तिप्रमुखं देवानामनुमन्ये ॥८॥ तिरश्चा देशविरतिं पर्यन्ताराधनं च अनुमोदे । सम्यग्दर्शनलाभमनुमन्ये नारकाणामपि ॥९॥ शेषाणा जीवाना दानरुचित्वं स्वभावविनीतत्वम् । तथा प्रतनुकषायत्वं परोपकारित्व-भव्यत्वं ॥ १० ॥ दाक्षिण्यदयालुत्वं प्रियभाषित्वादिविविधगुण-

निवहम् । शिवमार्गकारणं यत्तत्सर्वमनुमतं मम ॥ ११ ॥] पञ्चसूत्र्यामप्युक्तम्–"अणुमोएमि सव्वेसिं अरहंताणमणुट्ठाणं, सव्वेसिं सिद्धाणं सिद्धभावं, सव्वेसिं आयरियाणं आयारं, सव्वेसिं उवज्झायाणं सुत्तप्पयाणं, सव्वेसिं साहूणं साहुकिरियं, सव्वेसिं सावगाण मुक्खसाहणजोए, सव्वेसिं देवयाणं सव्वेसिं जीवाण होउकामाण कल्लाणासयाणं मग्गसाहणजोए । होउ मे एसा अणुमोअणा ॥" एतद्वृत्तिर्यथा–"अनुमोदेऽहमिति प्रक्रमः । सर्वेषामर्हतामनुष्ठानं धर्मकथादि, सर्वेषां सिद्धानां सिद्धभावमव्याबाधादिरूपम्, एवं सर्वेषामाचार्याणामाचारं ज्ञानाचारादिलक्षणम्, एवं सर्वेषामुपाध्यायानां सूत्रप्रदानं सद्विधिवद्, एवं सर्वेषां साधूनां साधुक्रियां सत्स्वाध्यायादिरूपाम्, एवं सर्वेषां श्रावकाणां मोक्षसाधनयोगान् वैयावृत्त्यादीन्, एवं सर्वेषां देवानामिन्द्रादीनां सर्वेषां जीवानां सामान्येनैव भवितुकामानामासन्नभव्यानां कल्याणाशयानाम्, एतेषां किम्? इत्याह—मार्गसाधनयोगान् सामान्येनैव कुशलव्यापारान्, अनुमोदे इति क्रियानुवृत्तिः । भवन्ति चैतेषामपि मार्गसाधनयोगाः, मिथ्यादृष्टीनामपि गुणस्थानकत्वाभ्युपगमाद् । अनभिग्रहं सति प्रणिधिशुद्धिमाह–भवतु ममैषाऽनुमोदनेत्यादि ॥" अत्र हि सामान्येनैव कुशलव्यापाराणामनुमोद्यत्वमुक्तमिति मिथ्यादृशामपि स्वाभाविकदानरुचित्वादिगुणसमूहो व्यक्त्याऽनुमोद्यो न तु तद्विशेष एवाश्रयणीयः । यत्तु दानमपि परेषामधर्मपोषकत्वादधिकरणमिति दानरुचित्वादिगुणेष्वपि विशेषाश्रयणमावश्यकमित्यासन्नसम्यक्त्वसङ्गमनयसारादिसदृशसाधुदानादिनैव दानरुचित्वादिकं ग्राह्यमिति परस्याभिमतम्, तदसत् । भूमिकाभेदेन दानविधेरपि भेदात्, सम्यग्दृष्टिं प्रति प्रासुकैषणीयादिदानविधेरिवादिधार्मिकं प्रति "पात्रे दीनादिवर्गे च" इत्यादेरपि दानविधेः प्रतिपादनात् । ततः सामान्येन कुशलव्यापारा आदिधार्मिकयोग्या एव ग्राह्या इति युक्तं पश्यामः ॥ एतेन "पुण्यप्रकृतिहेतोरेवानुमोद्यत्वे क्षुरक्षुद्महन-रज्जुग्रहण-विषभक्षणादी-

नामप्यनुमोद्यत्वापत्तिः । पुण्यप्रकृत्युदयप्राप्तस्यैव धर्मस्यानुमोद्यत्वे च चक्रवर्तिनः स्त्रीरत्नोपभोगादेरप्यनुमोद्यत्वापत्तिः । सम्यक्त्वनिमित्तमात्रस्य चानुमोद्यत्वेऽकामनिर्जराव्यसनादेरप्यनुमोद्यत्वापत्तिः । (आवश्यकनिर्युक्तिः) "अणुकंपऽकामणिज्जर-बालतवो दाणविणय- विभंगे । संजोगविप्पओगे, वसणूसव-इड्ढिसक्कारे ॥८४५॥" [अनुकम्पाऽकामनिर्जरा बालतपो-दानविनय-विभङ्गम् । संयोगविप्रयोगौ व्यसनोत्सवर्द्धिसत्कारम् ॥] इत्यादिनाऽनुकम्पादीनामपि सम्यक्त्वप्राप्तिनिमित्तत्वप्रतिपादनात् । धर्मबुद्ध्या क्रियमाणस्यैवानुष्ठानस्यानुमोद्यत्वे चाभिग्रहिकमिथ्यादृशा धर्मबुद्ध्या क्रियमाणस्य जैनसमयत्यजनत्याजनादेरप्यनुमोद्यत्वापत्तिरिति 'सम्यक्त्वाभिमुखस्यैव मार्गानुसारिकृत्यं साधुदानधर्मश्रवणाद्यनुमोद्यम्, नत्वन्यमार्गस्थस्य क्षमादिकमपि' इति परस्य कल्पनाजालमपास्तम्," सामान्येनैव कुशलव्यापाराणामादिधार्मिकयोग्यानामनुमोद्यत्वप्रतिपादनात्, असत्कल्पनाऽनवकाशात्, तीव्रप्रमादादिशबलस्य सम्यक्त्वस्यैव तीव्राभिनिवेशदुष्टस्य मोक्षाशयादेरप्यननुमोद्यत्वेऽपि जात्या तदनुमोद्यत्वाऽनपायादिति फलतः स्वरूपतश्चानुमोद्यत्वविशेषव्यवस्था न काप्यनुपपत्तिरिति । यस्त्वाह—सम्यग्दृष्टय एव क्रियावादिनः शुक्लपाक्षिकाश्च, न तु मिथ्यादृष्टय इति तेषां कृत्यं किमपि नानुमोद्यमिति । तेन न सुष्ठु दृष्टम्, धर्मरुचिशालिना सम्यग्दृशा मिथ्यादृशा चाविशेषेण क्रियावादित्वस्य शुक्लपाक्षिकत्वस्य च प्रतिपादनात् ॥ तदुक्तं दशाश्रुतस्कन्धचूर्णौ-"जो अकिरियावाई सो भविओ अभविओ वा, णियमा कण्हपक्खिओ । किरियावादी णियमा भविओ णियमा सुक्कपक्खिओ अंतोपुग्गलपरिअट्टस्स णियमा सिज्झिहिति, सम्मदिट्ठी वा मिच्छदिट्ठी वा हुज्ज त्ति ॥" [योऽक्रियावादी स भव्योऽभव्यो वा, नियमात्कृष्णपाक्षिकः । क्रियावादी नियमाद्भव्यो नियमाच्छुक्लपाक्षिकः, अन्तःपुद्गलपरावर्तस्य नियमात्सेत्स्यति, सम्यग्दृष्टिर्वा मिथ्यादृष्टिर्वा भवेदिति ॥] एतत्संमतिपूर्वमुपदेशरत्नाकरेऽप्येवमुक्तम् तथाहि, (१ तट २ अंश ४ तरंग) "केचित्संसारवासिनो जीवा देवादिगतौ च्यवनादिदुःखभग्ना

मोक्षसौख्यमनुपमं ज्ञात्वा तदर्थं जातस्पृहाः कर्मपरिणतिवशादेव मनुष्यगतिं प्रापुः । तत्र चैकः प्रथमः कुगुरूपदिष्टशास्त्रार्थभाविततया-ऽभिगृहीतमिथ्यात्वे दिग्मोहसमतत्त्वव्यामोहवान् पूर्वोक्तमिथ्याक्रियासु मनोवाक्कायवलादिबलवत्तया भृशमुद्युक्तो विष्णुपुराणचुक्तग-तवचनरूपादिदृष्टान्तेभ्यो वेदपुराणयुक्तिभ्यश्च सञ्जातजिनधर्मद्वेषात्मज्ञानक्रियागर्वान् यत्तुल्यं सम्यग्गुरुं तदुपदेशांश्च दूरतः परिहारादिनाऽवगणय्य सर्वेभ्यः प्रागेवेष्टपुरसमं मोक्षं गन्तुं समुत्थितो निजज्ञानक्रियादिगर्वादिनाऽन्यदर्शनिसंसर्गालापजप्रायश्चित्तभिया मार्गमिलितसम्यक्पथिकतुल्यान् जैनमुनिश्राद्धादीन् सुमार्गमपृच्छन् यथा यथा प्रबलवादत्वरितगतिमपा अनन्तजीवपिण्डात्मकमूलक-सेवालादिभोजनाग्निहोत्रादिका मिथ्यात्वक्रियाः प्रचुराः कुरुते, तथा तथा तज्जनितमहारम्भजीवघातादिपापकर्मवशाद् व्रजीवनृपतिपु-रोहितादिवद् गाढगाढतरगाढतमदुःखप्रक्रमनुष्यतिर्यग्नरकादिकुगतिपतितो दुर्लभबोधिकतयाऽनन्तभवारण्ये चतुरशीतिलक्षजीव-योनिषु भ्राम्यन् शिवपुराद् भृशं दूरवर्त्येव जायते पुनरनन्तेन कालेन तत्रागामुकत्वाद् ॥ "किरियावाई णियमा भविओ, णियमा सुक्कपक्खिओ, अंतो पुग्गलपरिअट्टस्स णियमा सिज्झिहिति, सम्मदिट्ठी वा मिच्छादिट्ठी वा हुज्जा ॥" इति दशाश्रुतस्कन्धचूर्ण्युपासक-प्रतिमाधिकारादिवचनात् क्रियारुचितत्वेनास्य शिवगामितया यथाप्रवृत्तकरणादुत्तीर्णोऽपूर्वकरणाद्युदये स्वं भ्रान्तं मन्यमानोऽका-मनिर्जरायोगादिना कथञ्चिन्मनुजभवं प्राप्य कर्मक्षयोपशमवशाज्ज्ञाततत्त्वान्वेषणश्रद्धो मिश्रादिगुणस्थानकयोगादपगतदिग्मोहसममिथ्या-त्वहेतुकतत्त्वव्यामोहः कथमपि प्रक्षमसद्गुरुं प्राप्य तदुपदेशबहुमानादरगत ज्ञानादिमोक्षमार्गं तदनुगतसम्यगनुष्ठानादिना भजमान उत्कर्षतः पुद्गलपरावर्तमध्ये परेभ्यः पञ्चभ्यो(चतुर्भ्यो)पि पथिकेभ्यः पश्चादनन्तेन कालेन स्वेष्टपुरसमं मोक्षमवाप्नोतीति।" ननु यद्यप्येव दशाश्रुतस्कन्धचूर्ण्यनुसारेण क्रियावादिनः सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्ट्यन्यतरस्योत्कर्षतोऽन्तःपुद्गलपरावर्तमानसंसारत्वेन शुक्लपाक्षिकत्व

च नियमतो लभ्यते, अक्रियावादिनश्च नियमान्मिथ्यादृष्टित्वं कृष्णपाक्षिकत्वं च तथापि नात्र निश्चयः कर्तुं पार्यते, अन्यत्रापार्द्धपुद्ग-
लपरावर्ताधिकसंसारस्यैव कृष्णपाक्षिकत्वप्रतिपादनात्। तदुक्तम्–"जेसिमवड्ढो पुग्गल–परिअट्टो सेसओ उ संसारो॥ ते सुक्कपक्खिआ
खलु, अहिए पुण कण्हपक्खिया ॥१॥" "येषामपार्द्धपुद्गलपरावर्त एव शेषः संसारस्तत ऊर्ध्वं सेत्स्यते, ते शुक्लपाक्षिकाः
क्षीणप्रायसंसाराः। खलुशब्दो विशेषणार्थः। प्राप्तदर्शना अप्राप्तदर्शना वा सन्तीति विशेषयति। अधिके पुनरपार्द्धपुद्गलपरावर्तात्सं-
सारे, कृष्णपाक्षिकाः क्रूरकर्माण इत्यर्थः॥" इत्यादि श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्तौ। योगबिन्दुवृत्तावप्युक्तम्। तत्रापि शुक्लपाक्षिकोऽ-
पार्द्धपुद्गलपरावर्तान्तर्गतसंसारः। यत उक्तं "जेसिमवड्ढो पुग्गल०" इत्यादि। ततो हि क्रियावादिनः शुक्लपाक्षिकत्वं भजनीयमेव
लभ्यते, अक्रियावादिनोऽपि नियमतः कृष्णपाक्षिकत्वमिति विघटते एव; अपार्धपुद्गलपरावर्ताभ्यन्तरीभूतसंसाराणामप्यक्रियावादिनां
सम्भवात्, तस्याऽपि कृष्णपाक्षिकत्वभजनाया एव सम्भवात्। नास्तिकत्वपक्षो ह्यक्रियावादः "अत्थित्ति किरियवाई वयन्ति, णत्थित्ति
अकिरियवाई"त्ति [अस्तीति क्रियावादिनो वदन्ति, नास्तीति अक्रियावादिनः] वचनात्। स च कर्मवैचित्र्यवशादल्पतरभवानामपि
प्रदेश्यादिवद् भवतीति। अत एव भगवत्या "सुक्कपक्खिया जहा सलेस्स"त्ति [शुक्लपाक्षिका यथा सलेश्या इति।] सलेश्यातिदेशेन
शुक्लपाक्षिकस्याप्यक्रियावादसम्भव उपदर्शितः। तथा च सलेश्याधिकारप्रश्ननिर्वचनसूत्रम्–"सलेस्सा णं भंते जीवा किं किरियावादी?
पुच्छा। गोयमा! किरियावादीवि, जाव वेणइअवादीवि"त्ति [सलेश्या भगवन्! जीवाः किं क्रियावादिनः? प्रश्नः। गौतम! क्रिया-
वादिनोऽपि यावत् वैनयिकवादिनोऽपीति ॥] तत इमामनुपपत्तिं दृष्ट्वा भगवत्यर्थ एव मनो देयम्। भगवत्यां हि सम्यग्दृष्टय एव
क्रियावादिनः प्रतिपादिताः, "मिच्छदिट्ठी जहा कण्हपक्खिया" इत्यतिदेशात् "कण्हपक्खिया णं भंते जीवा किं किरियावादी? पुच्छा।

गोयमा ! णो किरियावादी, अकिरियावादीवि अन्नाणियवादीवि वेणइयवादीवि'' त्ति [कृष्णपाक्षिका भगवन् ! जीवाः किं क्रियावादिनः? प्रश्नः। गौतम! नो क्रियावादिनः, अक्रियावादिनोऽपि, अज्ञानिकवादिनोऽपि, वैनयिकवादिनोऽपीति।] वचनात्कृष्णपाक्षिकाणां च क्रियावादित्वप्रतिषेधादिति। युक्तं चैतत् ॥ सूत्रकृताङ्गेऽपि (१२) समवसरणाध्ययननिर्युक्तावित्थं प्रतिपादितत्वात्। तथा च तत्पाठः—''सम्मद्दिट्ठी किरिया—वादी मिच्छा य सेसगा वादी॥ जहिऊण मिच्छवायं, सेवह वादं इमं सच्चं ॥१२१॥'' [सम्यग्दृष्टयः क्रियावादिनो मिथ्याश्च शेषका वादिनः। हित्वा मिथ्यावादं सेवध्वं वादमिमं सत्यम्॥] इति चेत्? । नैवम्। एकशास्त्रावलम्बनेनापरशास्त्रदूषणस्य महाशातनारूपत्वाद् उभयशास्त्रसमाधानस्यैव न्याय्यत्वात्। तत्र भगवत्यां सूत्रकृतनिर्युक्तौ च क्रियावादिविशेषस्यैव ग्रहणाद् अत्र च क्रियावादिसामान्यस्य ग्रहणान्न ग्रन्थविरोधः। तदुक्तं भगवतीवृत्तौ—'' एते च सर्वेऽप्यन्यत्र यद्यपि मिथ्यादृष्टय एवोक्तास्तथापीह क्रियावादिनः सम्यग्दृष्टयो ग्राह्याः, सम्यगस्तित्ववादिनामेव तेषां समाश्रयणात् '' इति। सूत्रकृतवृत्तावप्युक्तम्—''ननु च क्रियावाद्यप्यशीत्युत्तरशतभेदोऽपि तत्र तत्र प्रदेशे कालादीनभ्युपगच्छन्नेव मिथ्यावादित्वेनोपन्यस्तस्तत्कथमिह सम्यग्दृष्टित्वेनोच्यते?, उच्यते—स तत्र 'अस्त्येव जीवः' इत्येवं सावधारणतयाऽभ्युपगमं कुर्वन्, तथा काल एवैकः सर्वस्यास्य जगतः कारणं, तथा स्वभाव एव, नियतिरेव, पूर्वकृतमेव, पुरुषकार एव इत्येवमपरनिरपेक्षतयैकान्तेन कालादीनां कारणत्वेनाश्रयणान्मिथ्यात्वम्। तथाहि—अस्त्येव जीवः इत्येवमस्तिना सह जीवस्य सामानाधिकरण्याद् यद्यदस्ति तत्तज्जीव इति प्राप्तम्, अतो निरवधारणपक्षसमाश्रयणादिह सम्यक्त्वमभिहितम्। तथा कालादीनामपि समुदितानां परस्परसव्यपेक्षाणां कारणत्वेनेहाश्रयणात्सम्यक्त्वमिति। ननु च कथं कालादीनां प्रत्येकं निरपेक्षाणां मिथ्यात्वस्वभावत्वे सति समुदितानां सम्यक्त्वसद्भावः?, न हि यत्प्रत्येकं नास्ति तत्समुदाये भवितुमर्हति

सिकतातैलवत् ? । नैतदस्ति, प्रत्येकं पद्मरागादिमणिष्वविद्यमानाऽपि रत्नावली समुदाये भवन्ती दृष्टा, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति यत्किञ्चिदेतदित्यादि ॥ " या च क्रियावादिसामान्यस्यान्तःपुद्गलपरावर्ताभ्यन्तरसंसारत्वेन नियमतः शुक्लपाक्षिकत्वानुपपत्तिः सा क्रियारुचिरूपेण शुक्लपक्षेण शुक्लपाक्षिकत्वमवलम्ब्य परिहर्तव्या। अत एवाक्रियावादिनो नियमात्कृष्णपाक्षिकत्वमपि सङ्गच्छते, "क्रियापक्ष एव शुक्लोऽक्रियापक्षस्तु कृष्ण" इति। अन्यथा निरवधारणपक्षाश्रयणे क्रियावादिवदक्रियावाद्यपि सम्यग्दृष्टिः स्यात् । अथनोत्कृष्टतः पुद्गलपरावर्तसंसारिजातीयत्वमत्र शुक्लपाक्षिकत्वं, तदधिकसंसारिजातीयत्वं च कृष्णपाक्षिकत्वं विवक्षितमित्यदोष इति प्रतिभाति । तदसत् , तत्त्व तु बहुश्रुता विदन्ति ॥ यत्तूच्यते केनचित्–अकामनिर्जराङ्गत्वान्न मिथ्यादृशां किमपि कृत्यमनुमोदनीयमिति । तदसत् , 'कर्मक्षयो मे भूयाद्' इतीच्छया स्वयोग्यशीलतपःप्रभृतिसदनुष्ठानकारिणां सकामनिर्जराऽनपायात् । 'सह कामेन मोक्षाभिलाषेण वर्तते या सा सकामा' 'तद्विपरीता त्वकामा'इति हि सकामाकामयोर्निर्जरयोर्लक्षणम् । तदुक्तं योगशास्त्रवृत्तौ (प्र० ४ श्लो० ८६) "सा निर्जरा द्वेधा । सह कामेन 'निर्जरा मे भूयाद्' इत्यभिलाषेण युक्ता सकामा, न त्विहलोकपरलोकफलादिकामेन युक्ता, तस्य प्रतिषिद्धत्वात् । यदाहुः—"नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, (नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तीवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा) इत्यादि " इत्येका निर्जरा । द्वितीया तु कामवर्जिता कामेन पूर्वोक्तेन वर्जितेति । न च वाच्यं " ज्ञेया सकामा यमिना—मकामा त्वन्यदेहिनाम् " ॥ ८७ ॥ इत्यनेन योगशास्त्रस्यैव वचनान्तरेण यतीनामेव सकामा निर्जरा सिध्यति मिथ्यादृशां तु कर्मक्षयाद्यर्थं तपःकष्टं तन्वतामप्यकामैवेति ? । " ज्ञेया सकामा यमिनाम् "—इत्यादिवचनस्योत्कृष्टसकामनिर्जरास्वामिकथनपरत्वाद्, उत्कृष्टा हि सकामनिर्जरा तेषामेव भवेदिति ।

अन्यथा देशविरतानामविरतसम्यग्दृशां चाकामनिर्जरैव प्राप्नोति, तेषामपि यमिशब्दाव्यपदेश्यत्वेन विशेषाभावाद् । न चैतदिष्टम्, तस्मादेतद्वचनमुत्कृष्टसकामनिर्जराधिकारिकथनपरमिति न दोषः । किञ्च–ज्ञेया सकामेत्यादिश्लोकव्याख्यानेऽप्यकामनिर्जरास्वामिनो निरभिलापं निरभिप्रायं च कष्टं सहमाना एकेन्द्रियादय एवोक्ताः, न तु बालतपस्व्यादयो मिथ्यादृशोऽपि । तथा हि–"सकामा निर्जराऽभिलापवतां(ती), यमिनां यतीनां विज्ञेया । ते हि कर्मक्षयार्थं तपस्तप्यन्ते । अकामा तु कर्मक्षयलक्षणफलनिरपेक्षा निर्जरा, अन्यदेहिनां यतिव्यतिरिक्तानामेकेन्द्रियादीनां प्राणिनाम् । तथाहि–एकेन्द्रियाः पृथिव्यादयो वनस्पतिपर्यन्ताः शीतोष्णवर्षजलाग्निशस्त्राद्यभिघातच्छेदभेदादिनाऽसद्वेद्यं कर्मानुभूय नीरसं तत्स्वप्रदेशेभ्यः परिशाटयन्ति, विकलेन्द्रियाश्च क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातादिभिः. पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चश्च छेदभेददाहशस्त्रादिभिः, नारकाश्चत्रिविधया वेदनया. मनुष्याश्च क्षुत्पिपासाव्याधिदारिद्र्यादिना, देवाश्च पराभियोगकिल्बिषत्वादिनाऽसद्वेद्यं कर्मानुभूय स्वप्रदेशेभ्यः परिशाटयन्तीत्येषामकामनिर्जरेति ॥" समयसारसूत्रवृत्त्योरप्येवमेवोक्तम् (अ० ६) तथाहि–"इदानीं निर्जरातत्त्वं निगद्यते–"अणुभूअरसाणं कम्मपुग्गलाणं परिसडणं णिज्जरा ।" अनुभूतरसानां उपभुक्तविपाकानां कर्मपुद्गलानां, परिशटनमात्मप्रदेशेभ्यः प्रच्यवनं निर्जरा । अथ तस्या भेदावाह–" सा दुविहा पण्णत्ता सकामा अकामा य ।" सह कामेन 'निर्जरा मे भूयाद्' इत्यभिलापेण न त्विहपरलोकादिकामेन युक्ता सकामा । अनन्तरोक्तकामवर्जिता त्वकामा । च–शब्दः समुच्चये । उपायात्स्वतोऽपि वा फलानामिव कर्मणां पाकस्य भावान्निर्जराया इदं द्वैविध्यमिति भावः । तत्राकामा केषाम् ? इत्याह–" तत्थ अकामा सव्वजीवाणं " निर्जराभिलापिणां तपस्तप्यमानानां सकामनिर्जरेति वक्ष्यमाणत्वाद् तद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषां जीवानामकामा, कर्मक्षयलक्षणाभिलापवर्जितत्वाद् । एतदेव चतुर्गतिगतजन्तुषु व्यक्तीकुर्वन्नाह । तथाहि—"एगिंदिआई तिरिआ

जहासंभवं छेअ-भेअ-सी-उण्ह-वास-जल-ग्गि-छुहा-पिवासा-कसंकुमाईएहि, नारगा तिविहाए वेअणाए, मणुआ छुहा-पिवासा-वाहि-दालिद्द-चारगणिरोहणाइणा, देवा परमभिओग-किव्विसिअत्ताइणा असायावेअणिज्जं कम्ममणुभविउं पडि(रि)साडिंति, तेसिमकामणिज्जरा॥" [एकेन्द्रियादयस्तिर्यञ्चो यथासम्भवं छेद-भेद-शीतोष्ण-वर्षा-जलाग्नि-क्षुधा-पिपासा-कशा-ऽङ्कुशादिभिः, नारकास्त्रिविधया वेदनया, मनुजाः क्षुधा-पिपासा-व्याधि-दारिद्र्य-चारकनिरोधनादिना, देवाः पराभियोग-किल्बिषिकत्वादिना असातावेदनीयं कर्मानुभूय प्रति-(परि)शातयन्ति तेषामकामनिर्जरा।] "तया त्तीति पूर्वोक्तस्यैवोपक्षेपे। छेद-भेद-शीतोष्ण-वर्ष-जला-ग्नि-क्षुधा-पिपासा-कशाङ्कुशादय एकेन्द्रियादिषु पञ्चेन्द्रियपर्यन्ततिर्यक्षु यथायोगं योज्याः। नारकाणां त्रिविधा वेदना क्षेत्रजा-ऽन्योन्योदीरित-परमाधार्मिकजनितस्वरूपा। 'वाहि' त्ति व्याधिः, चारकनिरोधः कारागारग्रहः। शेषं सुबोधम्। सकामनिर्जरामाह-"सकामणिज्जरा पुण णिज्जराभिलासीणं अणसण-ऊणो(ओमो)यरिआ-भिक्खायरिय रसचाय-कायकिलेस-पडिसंलिणआभेयं छव्विहं बाहिर, पायच्छित्त-विणअ-वेयावच्च-सज्झाय-झाण-विउस्सग्गभेअं छव्विहमब्भितर च तवं तवंताणं॥" [सकामनिर्जरा पुनर्निर्जराभिलाषिणामनशनो-नोदरिका-भिक्षाचर्या रसत्याग-कायक्लेश-प्रतिसंलीनताभेदं षड्विधं बाह्यं, प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-ध्यान-व्युत्सर्गभेदं षड्विधमाभ्यन्तर तपस्तप्यमानानाम्॥] "निर्जराभिलाषिणामनशनादिभेदं षड्विधं बाह्यं, प्रायश्चित्तादिभेदं षड्विधमाभ्यन्तरं च तपस्तप्यमानानां भवति सकामा निर्जरेति संटंक इत्यादि॥" न चात्रापि तपसः सकामनिर्जरारूपत्वप्रतिपादनाद् मिथ्यादृशां च तदभावान्न सकामनिर्जरेति वाच्यम्, मिथ्यादृशामपि मार्गानुसारिणां 'तपश्चा(तच्च चा)न्द्रायणं कृच्छ्रम्" इत्यादिना (योगबिं० १३१) तपसः प्रतिपादनात्। किञ्च—मार्गानुसार्यनुष्ठानमात्रमेव सकामनिर्जरायां बीजम्, अविरतसम्यग्दृष्ट्यनुरोधात् न तु तपोमात्रमेवेति न काप्यनुपपत्तिः। अत एव स्फुटे मोक्षा-

भिलापत्वेऽपि मिथ्यादृशां प्रबलासदग्रहदोषवता तदभाववतामादिधार्मिकाणामिव फलतो न सकामनिर्जरा, मार्गानुसार्यनुष्ठानाभावात्, तदभावेऽपि च स्वाभाविकानुकम्पादिगुणवतां मेघकुमारजीवहस्त्यादीनां फलतः साऽव्याहितेति विभावनीयम्। युक्तं चैतत् पञ्चस्वनुष्ठानेषु तद्धेत्वमृतानुष्ठानयोरिव सकामनिर्जराङ्गत्वव्यवस्थितेः। अत एवानुचितानुष्ठानमकामनिर्जराङ्गमुक्तम्। तथा च धर्मबिन्दुसूत्रवृत्तिवचनम्। "अननुष्ठानमन्यदकामनिर्जराङ्गमुक्तविपर्ययादिति" अ०६सू०१५॥ अननुष्ठानमनुष्ठानमेव न भवति, 'अन्यद्' विलक्षणमुचितानुष्ठानाद्। तर्हि कीदृशं तत्? इत्याह-'अकामनिर्जराङ्गम्' अकामस्य निरभिलाषस्य तथाविधबलीवर्दादेरिव या निर्जरा कर्मक्षपणा तस्या अङ्गं निमित्तम्, न तु मुक्तिफलाया निर्जरायाः, कुतः? इत्याह–'उक्तविपर्ययाद्' उदग्रविवेकाभावेन रत्नत्रयाराधनाऽभावादिति॥ उचितानुष्ठानं च साध्वादीनां यथा शुद्धचारित्रपालनादिकं, तथा मार्गानुसारिणा मिथ्यादृशामपि सामान्यतः सदाचारादिकम्, भूमिकाभेदेनौचित्यव्यवस्थानात्, ततोऽधिकारिभेदेन यद् यदोचितमनुष्ठानं तत्तदा साक्षात्पारम्पर्येण वा निर्वाणफलमिति सकामनिर्जराङ्गम्। यच्चानुचितं तदनुचितप्रतिपत्तौ नियमादसदभिनिवेशोऽन्यत्रानाभोगमात्रादिति॥" वचनात् अभिनिवेशसहकृतत्वेन विपरीतफलमिति तत्त्वतोऽकामनिर्जराङ्गमिति मन्तव्यम्। इत्थं च "तओ भणियं नाइलेण, जहा मा वच्छ! तुमं एतेणं परिओसमुवयासु। जहा अहयं आसवारेण परिमुसिओ अकामणिज्जराए वि किंचि कम्मक्खओ हवइ किं पुण जं बालतवेणं। ता एते बालतवस्सिणो दट्ठव्वे, जओ णं किंचि उस्सुत्तुम्मग्गयारित्तमेएसि य दीसइ"। [ततो भणितं नागिलेन, यथा मा वत्स! त्वमेतेन परितोषमुपयाहि। यथाऽहमश्ववारेण परिमुषितोऽकामनिर्जरयाऽपि किञ्चित्कर्मक्षयो भवति किं पुनर्यद् बालतपसा?। तस्मादेते बालतपस्विनो द्रष्टव्याः। यतः खलु किञ्चिदुत्सूत्रोन्मार्गचारित्वमेतेषां च दृश्यते।] इत्यादि महानिशीथचतुर्थाध्ययनवचनाद् अकामनिर्जराजन्यात्कर्मक्षयाद्

बालतपोजन्यस्य तस्य भूयस्त्वसिद्धेः। "अणुकंपकामणिज्जर-बालतवे दाणविणयविब्भंगे।" [अनुकम्पाऽकामनिर्जराबालतपोदानविनयवि-भङ्गाः।] इत्यादौ सम्यक्त्वप्राप्तिहेतुषु—"महव्वयअणुव्वएहि य, बालतवोकामणिज्जराए य॥ देवाउअं णिबंधई, सम्मद्दिट्ठी य जो जीवो ॥१॥" [महाव्रताणुव्रतैश्च बालतपोऽकामनिर्जराभ्यां च। देवायुर्निबध्नाति सम्यग्दृष्टिश्च यो जीवः॥] इत्यादौ देवायुःकारणेषु च भेदे-नाभिधानादकामनिर्जरा-बालतपसोर्भेदो यः प्रोच्यते स स्वरूपभेदं निजनिजफलभेदं चापेक्ष्य बालतपः सर्वमेवाकामनिर्जराङ्गमिति परस्य भ्रान्तिनिरासाय। तत्त्वतस्तु यदुचितानुष्ठानं तन्नाकामनिर्जराङ्गम्, यच्चानुचितानुष्ठानं तन्निर्वाणानङ्गत्वात्फलतो बालतपो वोच्यताम्, अकामनिर्जराङ्गं वा नाऽत्र कश्चिद्विशेष इति युक्तं पश्यामः॥ किञ्च—मिथ्यादृष्टीनामपि मार्गसाधनयोगा गुणस्थानकत्वाभ्युपगमादेव हरिभद्राचार्यैः प्रदर्शिताः, तथा च तेषामपि सकामनिर्जराया न बाधकम्, गुणलक्षणायास्तस्याः कुशलमूलत्वात्। तदुक्तं तत्त्वा-र्थभाष्ये नवमाध्याये—"निर्जरा वेदना विपाक इत्यनर्थान्तरम्। स द्विविधोऽबुद्धिपूर्वः कुशलमूलश्च। तत्र नरकादिषु कर्मफलवि-पाको योऽबुद्धिपूर्वकस्तमवद्यतोऽनुचिन्तयेद् अकुशलानुबन्ध इति। तपःपरिषहजयकृतः कुशलमूलस्तं गुणतोऽनुचिन्तयेत्—शुभानुबन्धो निरनुबन्धो वेति। एवमनुचिन्तयन् कर्मनिर्जरणायैव घटते इति॥" अत्र ह्यकुशलानुबन्धो विपाक इत्यकामनिर्जरायाः कुशलमूलश्च स-कामनिर्जरायाः संज्ञान्तरमेवेति। अथ मिथ्यादृष्टेर्बुद्धिरबुद्धिरेवेति न बुद्धिपूर्विका निर्जरेति चेद्। न, मार्गानुसारिण्या बुद्धेरबुद्धित्वेना-पह्नोतुमशक्यत्वाद्, अन्यथा माषतुषादीनामप्यकामनिर्जराप्रसङ्गात्, तेषां निर्जराया अबुद्धिपूर्वकत्वात्फलतो बुद्धिसद्भावस्य चोभ-यत्राविशेषाद्। उचितगुणस्थानपरिणतिसत्त्वे फलतो बुद्धिमत्त्वमबाधितमेवेति। तदुक्तम् (उपदेशपद६०३) "गुणठाणगपरिणामे, संते तह बुद्धिमंपि पाएण॥ जायइ जीवो तप्फल-मवेक्खमन्ने उ णियमत्ति॥" गुणविशेषस्य जीवदयादिरूपस्यात्मनि परिणामे सति,

तथेति समुच्चये, बुद्धिमानपि युक्तायुक्तविवेचनचतुरशेमुषीपरिगतोऽपि न केवलं धर्मसारः सदा भवति, प्रायेण बाहुल्येन, जायते जीवः। महतामप्यनाभोगसम्भवेन कदाचित्कृत्येष्वबुद्धिमत्त्वमपि कस्यचित्स्यादिति प्रायोग्रहणम्। अत्र मतान्तरमाह-तत्फलं बुद्धिमत्त्वफलं स्वर्गापवर्गादिप्राप्तिलक्षणम्, अपेक्ष्यान्ये पुनराचार्याः, नियमोऽवश्यंभावो बुद्धिमत्त्वस्य अनाभोगेऽपि गणस्थानपरिणतौ सत्यामिति ब्रुवते। अयमभिप्रायः—'सम्पन्ननिर्व्रणव्रतपरिणामाः प्राणिनो जिनभणितमिदमिति श्रद्दधानाः कचिदर्थेऽनाभोगबहुलतया प्रज्ञापकदोषाद् वितथश्रद्धानवन्तोऽपि न सम्यक्त्वादिगुणभङ्गभाजो जायन्ते'। यथोक्तम् (उत्तराध्ययननिर्युक्ति) "सम्मद्दिट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ ॥ सद्दहइ असब्भावं, अयाणमाणो गुरुणिओगा ॥१६३॥" [सम्यग्दृष्टिर्जीव उपदिष्टं प्रवचनं तु श्रद्दधाति। श्रद्दधात्यसद्भावमजानन् गुरुनियोगात् ॥] इति ॥ बुद्धिमत्त्वे सति ते व्रतपरिणामफलमविकलमुपलभन्त एवेति। यथा च सम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानावान्तरपरिणतितारतम्येऽपि बुद्धिमत्त्वसामान्यफलाभेदस्तथा मार्गानुसारिणां मिथ्यादृशां मिथ्यात्वगुणस्थानावान्तरपरिणतितारतम्येऽपि। अत एवापुनर्बन्धकादीनामादित एवारभ्यानाभोगतोऽपि 'मदन्धन्यायेन' मार्गगमनमेवेत्युपदिशन्त्यध्यात्मचिन्तकाः। यत्तु मिथ्यादृशां सकामनिर्जरासम्भवे सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्योरविशेषप्रसङ्ग इति केनचिदुच्यते, तदसत्। एवं सति मिथ्यादृष्ट्यादीनां सयोगिकेवलिपर्यन्तानां शुक्ललेश्यावत्त्वेनाविशेषप्रसङ्गात्। अवान्तरविशेषान्न तदविशेष इति चेत्? । सोऽयं प्रकृतेऽपि तुल्यः, सम्यग्दृष्टिनिर्जराऽपेक्षया मिथ्यादृष्टिनिर्जराया अल्पत्वस्याभ्युपगमादिति यथाशास्त्रं भावनीयम् ॥ ३७ ॥

नन्वेवं मिथ्यादृशां गुणानुमोदनेन परपाषण्डिप्रशंसालक्षणः सम्यक्त्वातिचारः स्यादित्याशङ्कां परिहर्तुमाह—

परपाखंडिपसंसा, इहइं खलु कोवि णेवमइआरो ॥ सो तम्मयगुणमोहा, अणवत्थाए व होज्जाहि ॥ ३८ ॥

[परपाखण्डिप्रशंसा, इह खलु कोऽपि नैवमतिचारः ॥ स तन्मतगुणमोहाद् , अनवस्थया वा भवेद् ॥ ३८ ॥]

परपाखंडिपसंसत्ति । एवमुक्तप्रकारेण, इह मार्गानुसारिगुणानुमोदने, परपाखण्डिप्रशंसाऽतिचारः, कोऽपि न स्यात् । यतः स परपाखण्डिप्रशंसातिचारः तन्मताः परपाखण्डिमात्रसंमता ये गुणा अग्निहोत्रपञ्चाग्निसाधनकष्टादयस्तेषु मोहोऽज्ञानं तत्त्वतो जिनप्रणीततुल्यत्वादिमिथ्याज्ञानलक्षणं ततो भवेत्, 'परपाखण्डिनः परदर्शनिनः तेषां प्रशंसा' इत्यत्र व्युत्पत्तावर्थात् पाखण्डताऽवच्छेदकजिनप्रणीततुल्यत्वादिमिथ्याज्ञानलक्षणं ततो भवेत्, धर्मप्रशंसाया एवातिचारत्वलाभाद् । यथा हि 'प्रमादिनो न प्रशंसनीयाः' इत्यत्र प्रमादिना प्रमादितावच्छेदकधर्मेणाप्रशंसनीयत्वं लभ्यते, न त्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनां सम्यक्त्वादिनाऽपि, 'तथा पाखण्डिनो न प्रशंसनीयाः' इत्यत्रापि पाखण्डिनां पाखण्डतावच्छेदकधर्मेणैवाप्रशंसनीयत्वं लभ्यते, न तु मार्गानुसारिणां क्षमादिगुणेनापि । अभिनिवेशविशिष्टक्षमादिगुणानामपि पाखण्डतावच्छेदकत्वमेवेति तद्रूपेण प्रशंसायामप्यतिचार एव । अत एवोग्रकष्टकारिणामप्याज्ञोल्लङ्घनवृत्तीनां प्रशंसाया दोषावहत्वमुक्तं—तेसिं बहुमाणेणं, उम्मग्गणुमोअणा अणिट्ठफला ॥ तम्हा तित्थयराणा-ठिएसु जुत्तोत्थ बहुमाणो ॥३९॥पंचाशक ११मुं ॥(तेषां बहुमानेनोन्मार्गानुमोदनाऽनिष्टफला । तस्मात्तीर्थकराज्ञास्थितेषु युक्तोऽत्र बहुमानः ॥) इत्यादिना श्रीहरिभद्रसूरिभिः । वा अथवा, अनवस्थया मार्गभ्रंशलक्षणया, अतिचारो भवेद् । मुग्धपर्षदि क्षमादिगुणमादायापि मिथ्यादृष्टिप्रशंसाया परदर्शनिभक्तत्वप्रसङ्गादेकैकाममञ्जसाचाराद्, एवं मार्गोच्छेदापत्तेः । अत एवाभिमुखमुग्धपर्षद्गतस्य परपाखण्डिसम्बन्धिकष्टप्रशंसादिना महानिशीथे परमाधार्मिकमध्योत्पत्तिरुक्ता । तथा च तत्पाठः "जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा परपासंडीणं पसंसं करेज्जा, जे यावि णं णिण्हवाणं पससं करेज्जा, जे णं णिण्हवाणं आययणं पविसेज्जा, जे णं णिण्हवाणं गंथ-सत्थ-पय-क्खर वा परूवेज्जा, जे णं णिण्हवाणं संतिए कायकिलेमाइए तवे इ वा संजमे इ वा नाणे इ

वा विन्नाणे इ वा सुए इ वा पंडित्ते इ वा अभिमुहमुद्धपरिसागए सिलाहेज्जा सेवि य णं परमाहम्मिएसु उववज्जेज्जा, जहा सुमतित्ति"॥ (यो भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा परपाखण्डिना प्रशंसा कुर्यात्, योऽपि च निह्नवाना प्रशंसा कुर्यात्, यः खलु निह्नवानामायतनं प्रविशेत्, यः खलु निह्नवाना ग्रन्थशास्त्रपदाक्षर वा प्ररूपयेत्, यः खलु निह्नवानां सत्कान् कायक्लेशादीन् तपो वा संयमं वा ज्ञानं वा विज्ञानं वा श्रुतं वा पाण्डित्यं वा अभिमुखमुग्धपर्षद्गतः श्लाघयेत् सोऽपि च परमाधार्मिकेषु उपपद्येत, यथा सुमतिरिति ॥) तथा च यः स्वस्य परेषां च गुणानुरागवृद्धिकारणमवगम्यैव जिनप्रणीतक्षमादिगुणगणमादाय मार्गानुसारिणा मिथ्यादृशा प्रशंसा करोति तस्य न दोषगन्धोऽपि, प्रत्युत 'अहो सकलगुणसारं जिनप्रवचनम्', इति धर्मोन्नतिरेव स्यादिति भावः ॥ ३८ ॥

अथ भवन्तु मिथ्यादृशामपि केऽपि केऽपि गुणास्तथापि हीनत्वादेव ते नानुमोद्या इत्याशङ्काशेषं निराकर्तुमाह—

जइ हीणं तेसि गुण, सम्मत्तधरो ण मन्नइत्ति मई ॥ ता कस्सवि सुहजोगं, तित्थयरो णाणुमन्निज्जा ॥३९॥

[यदि हीनं तेषा गुणं, सम्यक्त्वधरो न मन्यते इति मतिः ॥ ततः कस्यापि शुभयोगं, तीर्थकरो नानुमन्येत ॥ ३९ ॥]

जइ हीणंति। यदि हीन तेषां मिथ्यादृशां, गुण क्षमादिकं, न मन्यते नानुमन्यते, सम्यक्त्वधरः, उत्कृष्टपदत्वादिति तव मतिः स्यात्, तदा कस्यापि शुभयोग तीर्थकरो नानुमन्येत, तीर्थकरापेक्षया सर्वेषामपि छद्मस्थानामधस्तनस्थानवर्तित्वात्। न चैतदिष्टम्, तत उपरितनगुणस्थानस्थानामपि सर्व मार्गानुसारिकृत्यमनुमोदनीयमेव । यच सम्यक्त्वगुणविशेषप्रदर्शनार्थं मिथ्यादृग्गुणमात्रस्य शास्त्रेऽकिञ्चित्करत्वप्रतिपादनं तेनानता सर्वथा तद्विलोप एव सिध्यति, चारित्रगुणविशेषप्रदर्शनार्थं (आवश्यके) "दसारसीहस्स य सेणियस्स, पेढालपुत्तस्स य सच्चइस्स ॥ अणुत्तरा दंसणसंपया सिया, विणा चरित्तेण हरगइं गया ॥११७२॥"(दशारसिंहस्य

च श्रेणिकस्य पेढालपुत्रस्य च सत्यकेः । अनुत्तरा दर्शनसम्पदासीद्विना चारित्रेणाधरां गतिं गता॥) इत्यादिना सम्यक्त्वस्यापि तत्प्रतिपादनादिति द्रष्टव्यम् ॥३९॥ तदेवमन्येषामपि मार्गानुसारिगुणानामनुमोद्यत्वसिद्धौ 'सम्यग्दृशाऽन्येषां गुणा नानुमोद्या एव' इत्युत्सूत्रं त्यक्तव्यम्, स्तोकस्याप्युत्सूत्रस्य महानर्थहेतुत्वादित्युपदेशमाह—

ता उस्सुत्तं मोत्तुं, अणुमोइज्जा गुणे उ सव्वेसिं ॥ ज थोवा वि तओ (लहु), लहेज्ज दुक्खं मरीइव्व ॥४०॥

[तत उत्सूत्रं मुक्त्वाऽनुमोदेत गुणान् सर्वेषां तु । यत्स्तोकादपि ततः (लघु) लभेत दुःखं मरीचिरिव ॥ ४० ॥]

ता उस्सुत्तंति । तत् तस्मात्कारणात्, उत्सूत्रं मुक्त्वा, तुरेवकारार्थः, स च सर्वेषाम् इत्यनन्तरं योज्यः; सर्वेषामेव गुणाननुमोदेत; भव्य इति शेषः । यद् यस्मात्, स्तोकादपि ततः उत्सूत्रात्, मरीचिरिव दुःखं लभेत । मरीचिर्हि "कविला इत्थंपि इहयंपि" (कपिल ! इत्थमपीहापि ।) इति स्तोकादप्युत्सूत्रात्सागरोपमकोटाकोटीमानसंसारपरिभ्रमणजन्यदुःखं लब्धवान्, ततो यो मार्गानुसार्यनुमोदनां लुम्पन्नुत्सूत्रसहस्रवादी तस्य किं वाच्यमिति भावः॥ अत्र केचिदाहुः-"मरीचिरुत्सूत्राद् दुःखं लब्धवानिति वयं न सहामहे, उत्सूत्रस्य नियमतोऽनन्तसंसारकारणत्वात्, तेन चासंख्येयसंसारार्जनात्, तत उत्सूत्रमिश्रितमेवेदं मरीचिवचनं, नतूत्सूत्रमिति प्रतिपत्तव्यम्। तथा हि-साधुधर्मे द्विरुक्तेऽपि साधुधर्मानभिमुखेन कपिलेन 'युष्मत्समीपे कश्चिद्धर्मोऽस्तीति' पृष्टे, आवश्यकवृत्त्यभिप्रायेण तु 'भवद्दर्शने किञ्चिद्धर्मोऽस्तीति' पृष्टे, 'अहो! अयं प्रचुरकर्मा द्विरुक्तोऽपि साधुधर्मानभिमुखो मदुचितः सहायः संवृत्त' इति विचिन्त्य मम देशविरतिधर्मोऽस्तीत्यभिप्रायेण मनागिहाप्यस्तीति मरीचिरुक्तवान् । तत्र मरीचेर्यदि देशविरतिविमर्शना नाभविष्यत् तर्हि मनागिति नाभणिष्यत् । एतद्वचनं परिव्राजकवेषे सति परिव्राजकदर्शने किञ्चिद्धर्मव्यवस्थापकं सम्पन्नम् । इह शब्दस्यास्पष्टा-

र्थवाचकत्वेन श्रोतुः कपिलस्य परिव्राजकदर्शनेऽपि किञ्चिद्धर्मोऽस्तीत्यवबोधात्, अन्यथा कपिलः परिव्राजकवेषं नाग्रहीष्यत्, तस्य धर्मचिकीर्षयैव तद्वेषोपादानात्, राजपुत्रत्वेनान्यकारणासम्भवात्, ततश्च कापिलीयदर्शनप्रवृत्तिः। सा च कपिलस्य मरीचेरन्येषां च महानर्थकारणम्, कुप्रवचनरूपत्वात्। तदेवम्भूतं वचनमुत्सूत्रमिश्रं, मरीच्यपेक्षया सत्यत्वेऽपि कपिलापेक्षया उत्सूत्रत्वात्। मम पार्श्वे मनाग् धर्मोऽस्तीति देशविरतस्य मरीचेरभिप्रायान्मरीच्यपेक्षया हि सत्यमेतत्, परिव्राजकदर्शने मनाग् धर्मोऽस्तीति कपिलस्य बुद्धिजनकत्वेन कपिलापेक्षया चासत्यरूपमेवेति॥" तदसत्, उत्सूत्रकथनाभिप्रायेण प्रवृत्तस्यास्य वचनस्य मायानिश्रितासत्यरूपस्योत्सूत्रत्वाद्। आपेक्षिकसत्यासत्यभावाभ्यामुत्सूत्रमिश्रितत्वाभ्युपगमे च भगवद्वचनस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। तदपि हि भगवतस्तद्भक्तानां चापेक्षया सत्यं पाखण्डिनां चापेक्षयाऽसत्यमिति। अथ भगवता वचनं परस्यासत्यबोधाभिप्रायेण न प्रयुक्तमिति नोत्सूत्रम्, मरीचिना तु प्रकृतवचनं कपिलस्यासत्यबोधाभिप्रायेणैव प्रयुक्तम्। स ह्येवं ज्ञातवान्—एतन्मद्वचनं कपिलस्य परिव्राजकदर्शने धर्मबुद्धिजनकं भविष्यतीत्येवमेवायं बोधनीय इति, कथमन्यथाऽस्य परिव्राजकवेषमयमदास्यद्? इति महद्वैषम्यमिति चेत्। हन्त तर्हि उत्सूत्रमेवेदं प्राप्तमिति गतमुत्सूत्रमिश्रेण। द्रव्यतोऽसत्यस्य किशलयपाण्डुपत्रालापरूपसूत्रवचनस्येव द्रव्यतः सत्यस्य प्रकृतवचनस्योत्सूत्ररूपस्यापि मिश्रत्वायोगात्, शुद्धाशुद्धद्रव्यभावाभ्यां मिश्रत्वाभ्युपगमे जिनपूजादावपि मिश्रपक्षाभ्युपगमप्रसङ्गाच्च। अथ देशविरत्यभिप्रायेण मदपेक्षया मया सत्यं वक्तव्यम्, परिव्राजकवेषाभिप्रायेण कपिलापेक्षया त्व(ना)सत्यमित्येवं भावभेदादेवेदमुत्सूत्रमिश्रमिति चेत्, न, एतादृशभावयोरेकदाऽसम्भवात्, उपयोगद्वययौगपद्याभ्युपगमस्यापसिद्धान्तत्वाद्। एक एवायं समूहालम्बनोपयोग इति चेत्, तर्हि केन कस्य मिश्रत्वम्?। नियमतः पदार्थद्वयापेक्षयैतदिति विषयभेदादेकत्रापि मिश्रत्वमिति चेत्, तर्हि गतं केव-

लेनोत्सूत्रेण, सर्वस्याप्यसत्याभिप्रायस्य धर्म्यंशे सत्यत्वात् " सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः " इति शास्त्रीयप्रवादप्रसिद्धेः। तर्हि प्रकारभेदादस्तु मिश्रत्वम्, एकत्रैव वचने सत्यासत्यबोधकत्वावच्छिन्नप्रकारभेदोपरक्ताभिप्रायोपश्लेषादुत्सूत्रमिश्रत्वसम्भवादिति चेत्। न, सूत्रकथनांशेऽभिप्रायस्य प्राबल्येऽनुत्सूत्रस्योत्सूत्रकथनांशे तत्प्राबल्ये चोत्सूत्रस्यैव सम्भवान्मिथ्यान्यपदेशेन मिश्रस्यानवकाशाद्। अन्यथा 'क्रियमाण न कृतम्' इत्यंशेऽसत्यं प्रतिपादयामि इतरांशे च सत्यमिति मिथ्यान्यपदेशेन वदतो जमाल्यनुसारिणोऽपि नोत्सूत्रं स्यात् किन्तूत्सूत्रमिश्रमिति महदसमञ्जसम्। अपि च-इदं मरीचिवचनमुत्सूत्रमिश्रमिति वदता मूलत एव जैनी प्रक्रिया न ज्ञाता। यतः सूत्रोत्सूत्रव्यवस्था तावच्छ्रुतभावभाषामाश्रित्य क्रियते। सा च सत्यासत्यानुभयरूपत्वात् त्रिविधैव दशवैकालिकनिर्युक्त्यादिसिद्धान्तप्रतिपादिता। पराभिप्रायेण तु मिश्ररूपाया अपि तस्याः सिद्धौ भगवद्भद्रबाहूक्तविभागव्याघातप्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत्। इत्थं च मरीच्यपेक्षया मरीचेरनुत्सूत्रमेवेदं वचनं कपिलापेक्षया च विपर्यासबुद्धिजनकत्वज्ञानेऽपीत्थमुच्यमानमेतद्वचनं ममोत्सूत्रमिति परिज्ञानाभावात्कथञ्चिदनाभोगहेतुकमुत्सूत्रमिति वदतो माता च मे वन्ध्या चेति न्यायापात इति द्रष्टव्यम्। किञ्च-तस्योत्सूत्राभोगो नासीदित्यपि दुःश्रद्धानम्, व्युत्पन्नस्य तस्य तादृशास्पष्टवचनेऽप्युत्सूत्रत्वप्रत्ययावश्यकत्वाद्। न च साधुभक्तस्य तस्य तथोत्सूत्रभाषणमसम्भव्येवेति शङ्कनीयम्, कर्मपरिणतेर्विचित्रत्वाद्। अस्पष्टत्वं च तत्राभिमतानभिमतविधिनिषेधावधारणाऽक्षमत्वलक्षण न, उत्सूत्राभोगाभावात्; किन्त्वनभिमतनिषेधांशे देशविध्यारोपप्रयोजकतथाविधसङ्क्लेशात्। अत एव स्फुटाप्ररूपणमप्यस्यास्पष्टताख्यजातिविशेषशालिन्युत्सूत्रप्ररूपण एव पर्यवस्यति। तदुक्तं पाक्षिकसप्ततिकावृत्तौ-"उत्सूत्रप्ररूपणायाः संसारहेतुत्वात्। यथोक्तम्—"फुडपागडमकहंतो, जहट्ठियं बोहिलाभमुवहणइ॥ जह भगवओ विसालो, जरामरणमहोअही आसि॥" त्ति।

उपदेशमाला १०६ [स्फुटप्रकटमकथयन् यथास्थितं बोधिलाभमुपहन्ति । यथा भगवतो विशालो जगमरणमहोदधिगगीन् ॥१॥]"
किञ्च-इहत्ति देशविरत्यभिप्रायेण वोक्तमिति कुतो निर्णीतम् । उपदेशमालावृत्तौ "कपिल ! इहान्यत्रापीति" मत्सम्बन्धिनि साधु-
सम्बन्धिनि चानुष्ठाने धर्मोऽस्तीति भणनात् । न च तत्र 'साधुसम्बन्धिनि' इति भणनेन 'मत्सम्बन्धिनि देशविरत्यनुष्ठाने धर्मोऽस्ति'
इत्येवाभिप्राय इति वाच्यम्॥"जिनधर्मालसं ज्ञात्वा, शिष्यमिच्छन् स तं जगौ॥मार्गे जैनेऽपि धर्मोऽस्ति,मम मार्गेऽपि विद्यते॥१॥"इति
हैमवीरचरित्रवचनात्स्वमार्गेऽपि तेन धर्माभिधानात् । स्वमार्गश्च तस्य स्वपरिगृहीतलिङ्गाचारलक्षणं कापिलदर्शनमेव । तत्र न मार्गे
नियतकारणताविशेषसम्बन्धेन धर्ममात्रमेव नास्ति कुतो देशविरत्यनुष्ठानम् ? इत्युत्सूत्रमेवैतदिति । अनियमाभिप्रायेण त्वस्योत्सू-
त्रपरिहारेऽन्यलिङ्गादिसिद्धाभ्युपगमाचारित्रादेरपि तत्राभ्युपगमापत्तिरिति न किञ्चिदेतत् । एतेन 'कविला इत्थंपि'त्ति अपिशब्दस्यैवका-
रार्थत्वान्निरुपचरितः खल्वत्रैव साधुमार्गे 'इहयंपि'त्ति स्वल्पस्त्वत्रापि विद्यते । स चैवमाकर्ण्य तत्सकाश एव प्रव्रजितः । मरीचिनाऽप्य-
नेन दुर्वचनेन संसारोऽभिनिर्वर्तित इति ज्ञानसागरसूरिवचनमपि व्याख्यातम्॥तत्रापि मार्गभेदाभिप्रायेणैव धर्मभेदाभिधानाद् । न हि
साधुश्रावकयोर्मार्गभेदेन धर्मभेदः सम्भवदुक्तिकोऽपीति विचारणीयम् । यत्तु मरीचिवचनमिदमावश्यकनिर्युक्तौ 'दुर्भाषितमेवोक्तं न
तूत्सूत्रमिति' नेदमुत्सूत्रं वक्तव्यमिति केनचिदुच्यते । तदसत् ,दुर्भाषितपदस्यानागमिकार्थोपदेशे रूढत्वात् ,तदुत्सूत्रताया व्यक्तत्वात् ।
तदुक्तं १२ पञ्चाशकसूत्रवृत्त्योः-"संविग्गोणुवएसं, ण देइ दुब्भासियं कडुविवागं। जाणंतो तंमि तहा, अतहक्कारो उ मिच्छत्तं ॥१७॥"
व्याख्या—संविग्नो भवभीरुर्गुरुः, अनुपदेश नञः कुत्सितार्थत्वेन कुत्सितोपदेशमागमबाधितार्थानुशासनं, न ददाति-परस्मै
न करोति, तद्दाने संविग्नत्वहानिप्रसङ्गात् । किम्भूतः सन् ? इत्याह-दुर्भाषितमनागमिकार्थोपदेशं, कटुविपाक दारुणफलं दुरन्तसंसा-

सटिप्पण ॥लोक्त दृष्टिः ॥ गाथा-४० ॥१४२॥

रावहं मरीचिभवे महावीरस्येव, जानन्—अवबुध्यमानः। को हि पश्यन्नेवात्मानं कूपे क्षिपतीत्यादि ॥" तथा श्रावकदिनकृत्यवृत्तावप्युक्तम्—"विपरीतप्ररूपणा उन्मार्गदेशना । इयं हि चतुरन्तादभ्रभवभ्रमणहेतुर्मरीच्यादेरिवेति ॥" धर्मरत्नप्रकरणसूत्रवृत्त्योरप्युक्तम् "अइसाहसमेयं जं, उस्सुत्तपरूवणा कडुविवागा ॥ जाणंतेहि वि दिज्जइ, णिद्देस्सो सुत्तवज्झत्थे ॥१॥"'"ज्वलज्ज्वालानलप्रवेशकारिनरसाहसादप्यधिकमतिसाहसमेतद्वर्तते, यदुत्सूत्रप्ररूपणा(णाः)—सूत्रनिरपेक्षदेशना(नाः) कडुविपाका दारुणफला, जानानैः अवबुध्यमानैः, अपि, दीयते-वितीर्यते, निर्देशो निश्चयः,सूत्रबाह्ये-जिनेन्द्रा(जिनागमा)नुक्ते,अर्थे-वस्तुविचारे। किमुक्तं भवति "दुब्भासिएण इक्केण, मरीई दुक्खसागर पत्तो ॥ भमिओ कोडाकोडी, सागरसरिणामविज्जाणं ॥आव०४३८॥ उस्सुत्तमायरतो, बंधइ कम्मं सुचिक्कणं जीवो ॥ संसार च पवड्डइ, मायामोसं च कुब्बइ य ॥उपदेशमा० २२१॥ [दुर्भाषितेनैकेन मरीचिर्दुःखसागर प्राप्तः । भ्रान्तः कोटाकोटीसागरसदृग्नामधेयानाम् ॥ उत्सूत्रमाचरन् बध्नाति कर्म सुचिक्कणं जीवः । संसार च प्रवर्धयति मायामृषा च करोति च ॥१॥] उम्मग्गदेसओ मग्ग-णासओ गूढहियमाइल्लो॥ सढसीलो अ ससल्लो, तिरिआउं (अआउं-गइं) बंधइ (ए) जीवो ॥पंचव० १६५५॥ उम्मग्गदेसणाए, चरणं णासंति जिणवरिंदाणं ॥ वावण्णदंसणा खलु, न हु लब्भा तारिसा दट्ठुं ॥प्रवचनसा० ६४६॥" [उन्मार्गदेशको मार्गनाशको गूढहृदयमायावान् । शठशीलश्च सशल्यः तिर्यग्गतिं(गायुः) बध्नाति जीवः ॥ उन्मार्गदेशनया चरणं नाशयन्ति जिनवरेन्द्राणाम् । व्यापन्नदर्शनाः खलु नैव लभ्यास्तादृशा द्रष्टुं ॥] इत्या(त्या)गमवचनानि श्रुत्वाऽपि स्वाग्रहग्रस्तचेतसो यदन्यथाऽन्यथाऽव्याचक्षते विदधति च तन्महासाहसमेव, अनर्वाक्पारासारसंसारापारपारावारोदरविवरभाविभूरिदुःखभाराङ्गीकारादिति ॥ तथा श्राद्धविधिवृत्तावप्याशातनाधिकारे प्रोक्तम्—"एतासु चोत्सूत्रभाषणार्हद्गुर्वाद्यवज्ञादिर्महत्याशात-

नाऽनन्तसंसारहेतुश्च सावद्याचार्य-मरीचि-जमालि-कूलवालकादेरिव । यतः—उस्सुत्तभासगाणं, बोहिणासो अणंतसंसारो ॥ पाणच्चएवि धीरा, उस्सुत्तं ता ण भासंति ॥१॥ तित्थयरपवयणसुअं, आयरिअं गणहरं महिड्ढीयं।" इत्यादि ॥ [उत्सूत्रभापकानां बोधिनाशोऽनन्तसंसारः । प्राणत्यागेऽपि धीरा उत्सूत्रं ततो न भापन्ते ॥ तीर्थंकर प्रवचनं श्रुतमाचार्यं गणधर महर्द्धिकञ्च ।] तथा योगशास्त्रवृत्तावप्युक्तम्—"भगवानपि हि भुवनगुरुरुन्मार्गदेशनात्सागरोपमकोटाकोटी यावद्भवे भ्रान्तस्तत्काऽन्येपा स्वपापप्रतीकार कर्तुमशक्नुवता गतिरिति । तथा तत्रैव—" अल्पादपि मृपावादाद् " इत्यस्य व्याख्यायाम्, अल्पस्यापि मृपावादस्य महानर्थहेतुत्वे संमतिवचनमिदमुपदर्शितम्—अहह सयलन्नपावा, वितहपन्नवणमणुमवि दुरंतं॥ जं मरीइभवउवज्जियदुक्कयअवसेसलेसवसा ॥१॥ सुरथुअगुणो वि तित्थं-करो वि तिहुअणअतुल्लमल्लो वि ॥ गोवाईहिं वि बहुसो, कयत्थिओ तिजयपहू तं सि ॥ २ ॥त्ति ॥ गोबंभणभूणंतगावि, केइ इह दढप्पहारगई ॥ बहुपावा वि य सिद्धा, सिद्धा किर तंमि चेव भवे ॥ ३ ॥"त्ति । [अहह सकलान्यपापाद् वितथप्रज्ञापनमण्वपि दुरन्तम्। यन्मरीचिभवोपार्जितदुष्कृतावशेषलेशवशात्॥ सुरस्तुतगुणोऽपि तीर्थंकरोऽपि त्रिभुवने अतुल्यमल्लोऽपि गोपादिभिरपि बहुशः कदर्थितस्त्रिजगत्प्रभुस्त्वमसि ॥ गो-ब्राह्मण-भ्रूणान्तका अपि केचिदिह दृढप्रहार्यादयः। बहुपापा अपि च सिद्धाः, सिद्धाः किल तस्मिन्नेव भवे॥] तथोपदेशरत्नाकरेऽपि प्रोक्तम्-"तथा केपाञ्चिद्देशना पुनः प्रस्तावौचित्यादिसर्वगुणसुभगा परं केवलेनोत्सूत्रप्ररूपणदूपणेन कलिता, साऽपि पुरनिर्द्धमनजलतुल्या, अमेध्यलेशेन निर्मलजलमिवोत्सूत्रलेशप्ररूपणेनापि सर्वेऽपि गुणा यतो दूपणतामिव भजन्ति, तस्य विषमविपाकत्वाद् । यदागमः—" दुब्भासिएण इक्केण" इत्यादि" । तथा तत्रैव प्रदेशान्तरे प्रोक्तम्-"केचिद् गुरव आलम्बनं विनैव सततं बहुतरप्रमादसेवितया कुचारित्रिणः देशनायामप्यचातुर्यभृतश्च, यथा तथाविधाः पार्श्वस्थादयः, यथा वा मरीचिः

"कविला इत्थंपि इहयंपि" इत्यादिदेशनाकृद्। "देशनाचातुर्यं(सौभाग्यं) चोत्सूत्रपरीहारेण सम्यक् सभाप्रस्तावौचित्यादिगुणवत्त्वेन च ज्ञेयं ॥" (तट१ अंश २ तरंग ११) इत्यादि॥ यत्तु कश्चिदाह–उत्सूत्रलेशवचनसामर्थ्यादेव प्रतीयते मरीचेर्वचनं न केवलमुत्सूत्रं किन्तुत्सूत्रमिश्रमिति। तन्न, एवं सति "जो चेव भावलेसो, सो चेव भगवओ बहुमओ उ ॥ ३३॥"त्ति [यश्चैव भावलेशः स एव भगवतो बहुमतस्तु।] पञ्चपञ्चाशकवचनाद्॥ य एव, भावलेशो भगवद्बहुमानरूपो द्रव्यस्तवाद् भवति, स एव भगवतो मुख्यवृत्त्याऽनुमत इत्यर्थप्रतीतौ तत्र भावलेशस्याभावमिश्रितस्य भगवद्बहुमतत्वापत्तेः; तस्माल्लेशपदमपकर्षाभिधायकं न तु मिश्रितत्वाभिधायकमिति मन्तव्यं। स्यादयमभिप्रायः—धर्मस्यापि ह्यशुभानुबन्धादिति, आह–"धम्मो वि सवलओ होइ" [धर्मोऽपि शबलो भवति।] इत्यादिना शास्त्रे शबलत्वमुच्यते, शबलत्वं च मिश्रत्वमेव मरीचिवचनस्यापि कुदर्शनप्रवृत्त्याऽशुभानुबन्धान्मिश्रत्वमविरूद्धं, कुदर्शनप्रवृत्तेरेव तस्य संसारवृद्धिहेतुत्वेनावश्यकचूर्णावुक्तत्वादिति। सोऽय दुरभिप्रायः, यतः इत्थं सति फलत एवेदमुत्सूत्रं स्याद् न तु स्वरूपतः, उच्यते स्वरूपतोऽपीदमुत्सूत्रं, उत्सूत्रत्वादेव च संसारहेतुरिति, यत्किञ्चिदेतत्। अत एव श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णावपि "पडिसिद्धाणं करणे" इति व्याख्याने विपरीतप्ररूपणा विविच्य तत्कृताशुभफलभागित्वेन मरीचिरेव दृष्टान्ततयोपदर्शितः। तथा हि–"विवरीअपरूवणाए य"त्ति, चशब्दः पूर्वापेक्षया "विवरीअं वितहं उस्सुत्तं भण्णइ, परूवणा पन्नवणा देसनत्ति णे पज्जाया" [विपरीतं वितथं उत्सूत्रं भण्यते, प्ररूपणा प्रज्ञापना देशनेति एषां पर्यायाः।] विपरीता चासौ प्ररूपणा च विपरीतप्ररूपणा तस्यां सत्या प्रतिक्रमणं भवति॥ सा चैवंरूपा–"सिअवायमए समए, परूवणेगंतवायमहिगिच्च॥ उस्सग्ग-ववायाइसु, कुग्गहरूवा मुणेयव्वा ॥१॥ पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ णत्थि॥ चारित्तंमि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थिया ॥२॥" एवं उस्सग्गमेव केवल पण्ण-

वेइ ॥ अववायं च-"चेइअपूआकज्जा, जइणा वि हु नयरगामिणव्व किल ॥ अन्नियसुअसूरीण व, नीआवासे वि न हु दोसो॥३॥" [स्याद्वादमये समये प्ररूपणैकान्तवादमधिकृत्य । उत्सर्गापवादादिषु कुग्रहरूपा ज्ञातव्या ॥ पिण्डमशोधयन्नचारित्री अत्र संशयो नास्ति। चारित्रेऽसति सर्वा दीक्षा निरर्थका ॥ एवमुत्सर्गेण केवलं प्रज्ञापयति । अपवादं च—चैत्यपूजा कार्या यतिनापि खलु नगरस्वामिनेव किल । अन्निकासुतसूरिण इव नित्यावासेऽपि नैव दोषः ॥ ३ ॥] तहा—"लिंगावसेसमित्तेवि, वंदणं साहुणा वि दायव्वं ॥ 'मुक्कधुरा संपागड-सेवी' इच्चाइ वयणाओ ॥१॥" अहवा-[लिङ्गावशेषमात्रेऽपि वन्दनं साधुनाऽपि दातव्यम् । 'मुक्तधुः संप्रकटसेवी' इत्यादि वचनात् ॥ अथवा] पासत्थो-सन्न-हाछंदे, कुसीले सबले तहा । दिट्ठीए वि इमे पंच, गोयमा न निरिक्खए ॥१॥ जो जहावायं न कुणइ, मिच्छदिट्ठी तओ हु को अन्नो॥ वड्ढइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो॥२॥ (पिंडनि०गा०१८६ उपदेशमा०५०४)[पार्श्वस्थो-वसन्न-यथाछन्दाः कुशीलः शबलस्तथा। दृष्ट्याऽपि इमान् पञ्च गौतम ! न निरीक्षेत॥ यो यथावादं न करोति मिथ्यादृष्टिस्ततः खलु कोऽन्यः। वर्द्धयति च मिथ्यात्वं परस्य शङ्कां जनयन् ॥] इच्चाइ णिच्छयमेव पुरओ करेइ। किरिया कारणं(मोक्खस्स)न नाणं, नाणं वा न किरिया, कम्मं पहाणं न ववसाओ, ववसाओ वा न कम्मं, एगंतेण णिच्चमणिच्चं वा दव्वमयं पज्जायमयं वा सामन्नरूवं विसेसरूवं वा वत्थुं पयासेइ, एवंविहा एगंतवायप्पहाणा परूवणा विवरीयपरूवणा भवइ। अओ तेसिं पडिक्कमणंति चउत्थो हेऊ। [इत्यादि निश्चयमेव पुरतः करोति। क्रिया कारणं न ज्ञानं, ज्ञानं वा न क्रिया, कर्म प्रधानं न व्यवसायो, व्यवसायो वा न कर्म्म, एकान्तेन नित्यमनित्यं वा द्रव्यमयं पर्यायमयं वा सामान्यरूपं विशेषरूपं वा वस्तु प्रकाशयति, एवंविधा एकान्तवादप्रधाना प्ररूपणा विपरीतप्ररूपणा भवति। अतस्तेषां प्रतिक्रमणमिति चतुर्थो हेतुः।] इयमयुक्ततरा दुरन्तानन्तसंसारकारणम् । यदुक्तमागमे-"दुब्भासिएण इक्केण, मरीई दुक्खसागर पत्तो ॥ भमिओ कोडाकोडी,

सागरसरिणामधिज्ञाणं॥ ॥इत्यादि(आव० ४३८)[दुर्भाषितेनैकेन मरीचिर्दुःखसागर प्राप्तः। भ्रान्तः कोटाकोटी सागरसदृग्नामधेयानाम्॥] अत्र कश्चिदाह-'नन्वत्र दुरन्तानन्तशब्दौ दुःखलभ्यान्तत्वेनाऽन्ताभावेन चासंख्यातानन्ताभिधायकौ विरुद्धार्थाविति कथमेतदुपपत्तिरिति, स भ्रान्तः। "वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे॥ काल-मणंतदुरंतं, समयं गोअम! मा पमाएह(यए)॥१॥"(उत्तरा० अ० १०)[वनस्पतिकायमतिगत उत्कृष्टं जीवस्तु संवसेत्। कालनन्तं दुरन्तं समयं गौतम मा प्रमादीः॥] इत्यादावनन्तशब्दसमानाधिकरणस्य दुरन्तमशब्दस्य दर्शनाद् दुरन्तानन्तवचनस्यातिशयितानन्तवाचकत्वेन विरोधाभावाद्। इत्थं सति विपरीतप्ररूपणाया दुरन्तानन्तसंसारकारणत्वे मरीचिदृष्टान्तोपन्यासस्य साक्षात्तस्यासंख्यातभववाचकप्रमाणविरोधेनानुपपत्तिस्तु तस्या दुरन्तानन्तसंसारकारणत्वोपलक्षितायुक्ततरत्वोपनयनाभिप्रायेण निरसनीया॥ यत्तु श्रावकस्य विपरीतप्ररूपणाया अत्र प्रकृतत्वात्तस्य चानाभोगाद् गुरुनियोगाद्वा तत्सम्भवात्तथाविधक्लिष्टपरिणामाभावान्नासावनन्तसंसारहेतुः,अत एव श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रस्य वृत्तौ केवल दुरन्तशब्दस्यैवाभिधानम्। या च विपरीतप्ररूपणा मार्गपतितानामनन्तसंसारहेतुः सा सभाप्रबन्धेन धर्मदेशनाधिकारिणा बहुश्रुतत्वेन लोकपूज्यानामाचार्यादीनां कुतश्चिन्निमित्तान्निजलज्जादिहानिभयेन सावद्याचार्यादीनामिव, परविषयकमात्सर्येण गोष्ठामाहिलादीनामिव, तीर्थकृद्वचनस्याश्रद्धाने(न) जमाल्यादीनामिवाभोगपूर्विकाऽवसातव्या। ते चेहाधिकाराभावेनानुक्ता अप्यनन्तसंसारित्वेन स्वत एव भाव्याः। येन कारणेन कस्यचिदनाभोगमूलकमप्युत्सूत्रं कुदर्शनप्रवृत्तिहेतुत्वेन दीर्घसंसारहेतुरपि भवति, तेन दुरन्तसंसारमधिकृत्य मरीचिरिव(रेव) दृष्टान्ततया दर्शितः। तस्य च तथाभूतमप्युत्सूत्रं तथैव सञ्जातम्, श्रीआवश्यकचूर्णावपि तथैवोक्तत्वात्; अन्यथा द्वित्रादिभवभाविमुक्तीनामपि मुनिप्रभृतीनामनन्तसंसारित्ववक्तव्यताऽऽपत्तौ जैनप्रक्रियाया मूलत एवोच्छेदः स्यादित्यादि परेणोक्तं, तदसत्। श्रावकस्यापि "जणस्स धम्मं परिक-

हेइ''त्ति [जनस्य धर्मं परिकथयति ।] वचनाद् गुरूपदेशायत्ततया धर्मकथनाधिकारित्वश्रवणात्कर्मपरिणतिवैचित्र्येण तस्यापि गुरूपदेशायत्ततां परित्यज्य कथञ्चित्स्वातन्त्र्याचार्यादीनामिव विपरीतप्ररूपणासम्भवात् तस्याश्च स्वरूपतोऽनन्तसंसारकारणत्वात् तत्प्रतिक्रमणार्थमिहेत्थमुपनिबन्धाद्। न चान्यत्र दुरन्ताभिधानमनन्तत्वप्रतिक्षेपकम्, दुरन्तत्वस्यानन्तत्वाविरोधित्वाद्। अनन्तसंसाराधिकाराभावादिह दृष्टान्तानुक्तिरिति तु प्रकृतग्रन्थस्य खण्डन न तु मण्डनम्। सा चायुक्ततरा, 'दुरन्तानन्तसंसारहेतुः' इत्यत्रस्थितपाठपरित्यागेनैव तद्दृष्टान्ताध्याहारसम्भवात्, तस्मादुक्तोपलक्षणव्याख्यानरीत्यैव प्रकृतोपनयसमर्थनं न्याय्यम्। ईदृशोत्सूत्रवचने स्वरूपतोऽनन्तसंसारहेतुत्ववचने चरमशरीरिक्रियमाणारम्भेऽपि स्वरूपतो नरकहेतुत्ववचनवत् प्रक्रियाविरोधादिति सम्यग्विभावनीयम्। इत्थं च—''आयरिअपरपरएण, आगयं जो उ आणुपुव्वीए(छेयबुद्धीए)॥कोवेइ छेयवाई,जमालिणासं व णासीहि॥१॥''''आचार्याः श्रीसुधर्मस्वामि-जम्बूनामप्रभवार्यरक्षिताद्यास्तेषां परम्परा-प्रणालिका पारम्पर्यं तेन, आगतं यद्व्याख्यानं सूत्राभिप्रायः,तद्यथा-व्यवहारनयाभिप्रायेण क्रियमाणमपि कृतं भवति। यस्तु कुतर्कदर्पाध्मातमनसा(मानसो) मिथ्यात्वोपहतदृष्टितया छेकबुद्ध्या-निपुणबुद्ध्या 'कुशाग्रीयशेमुषीकोऽहम्' इति कृत्वा, कोपयति दूषयति—अन्यथा तमर्थं सर्वज्ञप्रणीतमपि व्याचष्टे 'कृतं कृतम्' इत्येवं ब्रूयाद् ॥ वक्ति च न हि मृत्पिण्डक्रियाकाल एव घटो निष्पद्यते, कर्मगुणव्यपदेशानामनुपलब्धेः, स एवं छेकवादी—निपुणोऽहम् इत्येवंवादी पण्डिताभिमानी, जमालिनाशं-जमालिनिह्नववत्सर्वज्ञमतविगो(को)पको, विनङ्क्ष्यति-अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारचक्रवालं बम्भ्रमिष्यति'' इत्यादिसूत्रकृताङ्गयाथातथ्याध्ययननिर्युक्तिवृत्तिवचनमात्रमवलम्ब्य ये जमालेररघट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारचक्रवालभ्रमणे साध्ये दृष्टान्ततयोपदर्शितत्वाद् दृष्टान्तस्य च निश्चितसाध्यधर्मवत्त्वात् तस्यानन्तसंसारित्वसिद्धिरिति वदन्ति ते पर्यनुयोज्याः। नन्वयमपि दृष्टान्तः प्रागुक्त-

मरीचिदृष्टान्तनदुपलक्षणपर एवेत्यरघट्टघटीयन्त्रन्यायोपलक्षितसंसारचक्रवालपरिभ्रमणे साध्ये नाऽयुक्त इति कथमस्माद्भवतामिष्टसिद्धिः ?, अन्यथाऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायोऽत्र प्रकरणमहिम्ना पुनः पुनश्चतुर्गतिभ्रमणपर्यवसित इति चतुर्गतिभ्रमणमपि जमालेरनेन न्यायेन सिद्ध्येत् । यत्तु यस्यैकेन्द्रियादिषु पुनः पुनरुत्पादेन द्राघीयसी संसारस्थितिस्तमुद्दिश्यैवायं न्यायः प्रवर्तते ॥ तदुक्तम्—'एयं पुण एवं खलु, अन्नाणपमायदोसओ णेयं ॥ जं दीहा कायठिई, भणिआ एगिंदियाईणं ॥१६॥'ति [एतत्पुनरेवं खलु अज्ञानप्रमाददोषतो ज्ञेयम् । यद्दीर्घा कायस्थितिर्भणिता एकेन्द्रियादीनाम्]॥ इति उपदेशपदे। व्याख्यायां च—"एकेन्द्रियादिजातिषु दूरं मनुजत्वविलक्षणास्वरघट्टघटीयन्त्रन्यायक्रमेण पुनः पुनरावर्तते । एतदपि कुतः सिद्धम् ? इत्याह यद् यस्मात्कारणाद्, दीर्घा द्राघीयसी, कायस्थितिः पुनः पुनर्मृत्वा तत्रैव काये उत्पादलक्षणा, भणिता प्रतिपादिता सिद्धान्ते, एकेन्द्रियादीनां जातीनामिति एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिलक्षणानां जीवानामिति ॥" तत एकेन्द्रियादिजात्याश्रितस्यैवारघट्टघटीयन्त्रन्यायस्याश्रयणान्न दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमिति । तदसत् । तत्र मनुजत्वगतिदौर्लभ्याधिकारादरघट्टघटीयन्त्रन्यायसामान्यस्यैकेन्द्रियादिजातिमात्रेण विशेषविवक्षायामप्यत्र सर्वज्ञमतविकोपकस्य चतुरशीतिलक्षजीवयोनिसङ्कुलसंसारपरिभ्रमणाधिकारात्पुनः पुनर्गतिचतुष्टयभ्रमणाश्रितस्यैव विवक्षितत्वाद् । अत एव श्रुतविराधनातश्चातुर्गतिकसंसारपरिभ्रमणं भवतीति स्फुटमेवान्यत्राभिहितम्, जमालिदृष्टान्तश्च तत्रोपन्यस्त इति। तथा हि—"इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं तीते काले अणंता जीवा आणाए विराहेत्ता चातुरतसंसारकंतार अणुपरिअट्टिसु १। इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पन्ने काले परित्ता जीवा आणाए विराहित्ता चातुरंतसंसारकंतार अणुपरिअट्टंति २। इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरिअट्टिस्संतित्ति"॥ नन्दिसूत्रे—"तद्वृत्तिर्मलयगिरिकृता यथा—इच्चेइयमि-

त्यादि इत्येतद्द्वादशाङ्गं गणिपिटकम्, अतीतकालेऽनन्ता जीवा आज्ञया यथोक्ताज्ञापरिपालनाभावतो विराध्य, चतुरन्तसंसारकान्तारं विविधशारीरमानसानेकदुःखविटपिशतसहस्रदुस्तरं भवगहनं, अणुपरिअट्टिंसुत्ति अनुपरावृत्तवन्त आसन्। इह द्वादशाङ्गं सूत्रार्थोभयभेदेन त्रिविधं, द्वादशाङ्गमेव चाज्ञा "आज्ञाप्यते जन्तुगणो हितप्रवृत्तौ यया साऽऽज्ञेति" व्युत्पत्तेः, ततः सा आज्ञा च त्रिधा तद्यथा–सूत्राज्ञा अर्थाज्ञा तदुभयाज्ञा च। सम्प्रत्यमूषामाज्ञाना विराधनाश्चिन्त्यन्ते॥ तत्र यदाऽभिनिवेशतोऽन्यथा सूत्रं पठति तदा सूत्राज्ञाविराधना। सा च यथा जमालिप्रभृतीनाम्। यदाऽभिनिवेशवशतोऽन्यथा द्वादशाङ्गार्थं प्ररूपयति तदाऽर्थाज्ञाविराधना। सा च गोष्ठामाहिलादीनामिवावसातव्या। यदा पुनरभिनिवेशवशतः श्रद्धाविहीनतया हास्यादितो वा द्वादशाङ्गस्य सूत्रमर्थं च विकुट्टयति तदोभयाज्ञाविराधना; सा च दीर्घसंसारिणामभव्यानां चानेकेषां विज्ञेयेति। तथा आज्ञया सूत्राज्ञयाऽभिनिवेशतोऽन्यथापाठादिलक्षणया विराधनया विराध्यातीते कालेऽनन्ता जीवाश्चतुरन्तं संसारकान्तारं नारकतिर्यग्नरामरविविधवृक्षजालदुस्तरं भवाटवीगहनमित्यर्थः, अनुपरावृत्तवन्त आसन् जमालिवद्। अर्थाज्ञया पुनरभिनिवेशतोऽन्यथाप्ररूपणादिलक्षणया विराधनया गोष्ठामाहिलवत्, उभयाज्ञया पुनः पञ्चविधाचारपरिज्ञानकरणोद्यतगुर्वादेशादिलक्षणया गुरुप्रत्यनीकद्रव्यलिङ्गधार्यनेकश्रमणवद्, इति तु हारिभद्र्यामेतद्वृत्तावुक्तमिति॥" तस्मादुपलक्षणव्याख्यान एव यथोक्तदृष्टान्तोपपत्तिरिति स्मर्तव्यम्। यत्तु आशातनाबहुलानां नियमेनानन्तसंसारो भवतीति ज्ञापनार्थमेवेदं जमालिदृष्टान्तोपदर्शनं, चतुरन्तशब्दस्तु संसारविशेषणत्वेन संसारस्वरूपाभिधायको न पुनः सर्वेषामप्याशातनाकारिणां गतिचतुष्टयाभिधायकः, न हि गतिचतुष्टयगमनमेवानन्तसंसारित्वाभिव्यञ्जकं, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारात्, तस्माद् गत्यादीनां प्रति प्राणिनं भिन्नत्वान्न तौल्यमिति परेणात्र समाधानं क्रियते, तदसम्बद्धवाग्वादमात्रम्। चतुरन्तश-

ब्दार्थस्य संसारविशेषणत्वे चतुरन्तसंसारपरिभ्रमणस्य विशिष्टसाध्यस्य पर्यवसानात् चतुरन्तान्वितसंसारस्य भ्रमणेऽन्वयात्, तथा च दृष्टान्ते जमालौ साध्यवैकल्यदोषानुद्धारात्। न हि विशिष्टे साध्ये विशेष्यांशसद्भावमात्रेण दृष्टान्ते साध्यवैकल्यदोष उद्धर्तुं शक्यते। अनभिज्ञस्यार्हच्चैत्यानगारशब्दाभ्यामिव चतुरन्तसंसारकान्तारशब्दाभ्यामेकस्यैवार्थस्य बोधनमित्यभ्युपगमे च प्रेक्षावतामुपहासपात्रत्वापत्तिः। गत्यादीनां च यथा प्रति प्राणिनं भिन्नत्वं तथा संसारस्याप्यध्यवसायविशेषाद् भिन्नत्वं किं नेष्यते?। "उम्मग्गमग्गसंपट्ठियाणं" इत्यादिनोत्सूत्रभाषिणां नियमादनन्तसंसारसिद्धौ च "सीअलविहारओ खलु, भगवंतासायणाणिओगेण॥ तत्तो भवो अणंतो, किलेसबहुलो जओ भणिअं॥४२२॥ 'तित्थयरपवयणसुअं' ॥४२३॥ [शीतलविहारतः खलु भगवदाशातनानियोगेन। ततो भवोऽनन्तः क्लेशबहुलो यतो भणितम्॥ तीर्थंकरप्रवचनश्रुतं] इत्याद्युपदेशपदवचनाच्छीतलविहारिणां पार्श्वस्थादीनां नियमादनन्तसंसारापत्तिः। इष्यते च तत्र परिणामभेदाद्भेद इत्यत्राप्यध्यवसायप्रत्ययः संसारविशेषो महानिशीथोक्तरीत्या श्रद्धेयः। किञ्च—अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन यत्र संसारपरिभ्रमणप्रदर्शनं तत्र नियमादनन्तसंसार इत्यभ्युपगमे उत्सूत्रभाषिणामिव कामासक्तानामपि नियमतोऽनन्तसंसाराभ्युपगमप्रसङ्गः, तेषामपि संसारभ्रमणे तन्न्यायप्रदर्शनात्। तदुक्तमाचाराङ्गशीतोष्णीयाध्ययन उ० २ गाथा २ वृत्तौ-"संसिच्चमाणा पुणरिंति गब्भं" इत्यवयवव्याख्याने "तेन-कामोपादानजनितेन कर्मणा, संसिच्यमाना आपूर्यमाणाः, गर्भाद् गर्भान्तरमुपयान्ति-संसारचक्रवालेऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन पर्यटन्त आसते इत्युक्तं भवतीति॥" एवमनेकेषु प्रदेशेष्वितथमभिधानमस्तीति न किञ्चिदेतत्। यच्च "जमाली णं भंते! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव कहिं उववज्जिहिइ?, गोयमा! चत्तारि पंच तिरिक्खजोणिय-मणुअ-देवभवग्गहणाइं संसार अणुपरिअट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति।" [जमालिर्भगवन्! देवस्तस्माद् देवलोकादायुःक्ष-

येण यावत्क्व उत्पत्स्यते ? गौतम ! चत्वारि पञ्च तिर्यग्योनिक-मनुज देवभवग्रहणानि संसारमनुपर्यट्य ततः पश्चात्सेत्स्यति यावदन्तं करिष्यतीति ॥] इत्यत्र चत्वारो द्वीन्द्रियादयः पञ्च चैकेन्द्रियाः पृथिव्यादयस्ते च ते तिर्यग्योनिकाश्च तेषु देवमनुष्येषु भवग्रहणानि भ्रान्त्वा" इति व्याख्यानादत्र च तीर्थकराशातनाकृतोऽधिकृतत्वाद् भवानन्त्यलक्षणबहुत्वस्य स्पष्टत्वाद् भगवत्यपेक्षयैव जमालेरनन्तभवसिद्धिरिति परस्य मतं तदपूर्वबुद्धिपाटवमूलम्। एतादृशस्य गम्भीरार्थस्य वृत्तिकृताऽस्पष्टीकृतस्य स्वयमेव स्पष्टीकरणात् कथं चायं तपस्वी नाकलयत्येतावदपि, यदमू चतुष्पञ्चशब्दौ भवग्रहणसमानाधिकरणौ भिन्नविभक्त्यन्तौ व्यस्तौ समासान्तःपातिनः तिर्यग्योनिकशब्दस्य विशेषणतामापद्यते इति। न चेमौ न विभक्त्यन्ताविति वाच्यम्, विभक्त्यन्तमन्तरेण शसन्तचतुःशब्दनिष्पन्नस्य 'चत्तारि' इति शब्दस्य सर्वथाऽसिद्धेः। नाप्यत्रालुप्(क्)समासोऽस्तीति, एतेन चतसृषु पञ्चसु च जातिषु तिर्यग्मनुजदेवभवग्रहणानीति भणनादनन्तभवसिद्धिरित्यप्यपास्तम्, 'चत्तारि' इत्यत्र द्वितीयाबहुवचने सप्तमीबहुवचनार्थत्वस्य 'पञ्च' इत्यत्र तु सप्तमीबहुवचनलोपस्य समुच्चयार्थकचकाराध्याहारस्य च प्रसङ्गात्। किञ्च—चतुष्पञ्चशब्दयोः संख्यावाचकयोर्व्यक्तिवचनत्वेन कुतस्ताभ्यां जातिरूपस्थितिरिति विभावनीयम्। यदि च जमालेरनन्तः संसारः सूत्रे वक्तव्योऽभविष्यत् तदा 'तिरिय-मणुस्सदेवेसु अणंता- भवग्गहणाइं संसारमणुपरिअट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिस्सइ' [तिर्यग्मनुष्यदेवेष्वनन्तानि ग्रहणानि संसारमनुपर्यट्य ततः पश्चात्सेत्स्यति ॥] इत्यादि। अथवा "जहा गोसाले मंखलिपुत्ते तहेव णेरइअवज्जं संसारमणुपरिअट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिस्सइ" [यथा गोशालो मंखलिपुत्रस्तथैव नैरयिकवर्जं संसारमनुपर्यट्य ततः पश्चात्सेत्स्यति ॥] इत्यादि भणनीयमभविष्यद्। न यथा नवसु जातिषु भवग्रहणेन भ्रमणादपि कुत आनन्त्यलाभः ?, नवभिरपि वारैः तत्पूर्तिसम्भवात्, प्रतिव्यक्तिभ्रमणं च नाक्षरबलाल्लभ्यते बाधितं च सर्वतिर्यग्देवमनुजेषु तत् स्वेच्छामात्रेण

नियतानन्ततिर्यग्योनिकभवग्रहणाश्रयणे च किं सूत्रावलम्बनव्यपदेशेन?, स्वकल्पनाया महत्सूच्यारोपस्य महदाशातनारूपत्वात्। एतेन "च्युत्वा ततः पञ्चकृत्वो, भ्रान्त्वा तिर्यग्नृनाकिषु॥ अवाप्तबोधिर्निर्वाणं, जमालिः समवाप्स्यति॥१०६॥" इति हैमवीरचरित्रीयपर्व १० (सर्ग ८) श्लोके पञ्चकृत्वशब्दः पञ्चवाराभिधायकः, स च तिर्यक्शब्देन योजितः सन् जमालिस्तिर्यग्योनौ पञ्चवारान् यास्यतीत्यर्थाभिधायकः सम्पन्नः, तथा च तिर्यग्योनौ वारपूर्तिर्मनुजादिगत्यन्तरभवान्तरप्राप्तिमन्तरेण न भवति, सा च प्राप्तिराशातनाबहुलस्य जमालेरनन्तकालान्तरितैव स्याद्, एवं पञ्चवारगमनेऽनन्तभवग्रहणमनन्तगुणमपि सम्भवति। मनुजगतिवारपूर्तिस्तूत्कर्षतोऽपि सप्ताष्टभवैरेव स्याद्। देवनारकयोस्त्वनन्तरं पुनरुत्पादाभावेनैकेनैव भवेन वारपूर्तिः स्याद् इत्यादिकापि परस्य कल्पना दूरमपास्ता वेदितव्या। 'पञ्चकृत्वः' इत्यस्य तिर्यक्शब्देनैव योजनाया असम्भवात्, द्वन्द्वसमासमर्यादया प्रत्येकमेव तदन्वयाद् भवग्रहणव्यक्त्यपेक्षस्य पञ्चवारत्वस्यानन्तवारभवग्रहणेषु जात्यपेक्षसङ्कोचेन समर्थयितुमशक्यत्वात्, तादृशशाब्दबोधस्याकाङ्क्षां विनाऽनुपपत्तेः। न ह्येकत्रानन्तवारभवग्रहणाभ्युपगमेऽप्येकवारभ्रमणमेव वक्तुं युक्तम्, स्थानभेदेन तत्स्थानावच्छिन्नाविकृतक्रियाजन्यव्यापारोपहितकाललक्षणवारभेदाद्; विजातीयस्थानगमनानन्तरिततज्जातीयस्थानावच्छिन्नभ्रमणक्रियाजन्यभवग्रहणव्यापारोपहितो यावान् कालस्तावत एकवारत्वाभ्युपगमे च "तिर्यक्ष्वनन्तवार भ्रान्तः" इति वदत एव व्याघातः। किञ्च एवं "बहवो जीवा नित्यनिगोदेष्वनन्तवार जन्ममरणानि कुर्वन्ति" इत्याद्यखिलप्रवचनवचनविलोपप्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत्। किञ्च-'च्युत्वा ततः पञ्चकृत्वः' इत्यादिश्लोकैकवाक्यतया हि 'चत्तारि पंच' इत्यादि भगवतीसूत्रं त्वया व्याख्यातुमिष्टं तथा च तत्र विजातीयभवान्तरिततया तिर्यक्षु पञ्चवारमेवानन्तभवग्रहणसिद्धिरिति सर्वेषामपि प्रत्यनीकानामीदृशमेव संसारपरिभ्रमणं सिध्येत् न त्वनन्तान्यान्यभवान्तरितभवबहुलम्; यतो "देवकिब्बिसिया णं भंते! ताओ

देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिंति? कहिं उववज्जिहिंति? गोयमा! जाव चत्तारि पंच णेरइय-तिरिक्खजोणिय-मणुस्स देवभवग्गहणाइं संसारं अणुपरियट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिहिंति, बुज्झिहिंति, जाव अंतं करेहिंति" त्ति [देवकिल्बिषिका भदन्त! तस्माद्देवलोकादायुःक्षयेण भवक्षयेण स्थितिक्षयेण अनन्तरं चयं च्युत्वा क्व गमिष्यन्ति? क्व उत्पत्स्यन्ते? गौतम! यावच्चत्वारि पञ्च नैरयिक-तिर्यग्योनिक-मनुष्य-देवभवग्रहणानि संसारमनुपर्यट्य ततः पश्चात्सेत्स्यन्ति, भोत्स्यन्ति यावदन्तं करिष्यन्तीति।] तथा सामान्यसूत्रमङ्गीक्रियते ततश्चोक्तस्य 'चत्तारि पंच' इत्यादिविशेषसूत्रस्य नारकगतिप्रतिषेधमात्रेणैव विशेषोऽभ्युपगम्यते न त्वधिकः कश्चिदपीति। अथास्त्वन्यत्र यथा तथा भगवत्यपेक्षया (श० ९ उ० ३३) तु जमालेरनन्ता एव भवा लभ्यन्ते, यतो यावच्छब्दः सामान्यसूत्रेऽस्ति, तस्य च प्रयोगः कस्मिंश्चिद्विशेष्यत्वेन कस्मिंश्च विशेषणत्वेन स्यात्, तत्र विशेष्यत्वेन प्रयुक्तो यावच्छब्द उक्तगणसम्बन्ध्याद्यावसानशब्दाभ्यां विशिष्टः सन् गणमध्यवर्तिनां पदार्थानां सङ्ग्राहको भवति। यथा—"जमाली णं भंते! अणगारे अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे पंताहारे लूहाहारे तुच्छाहारे अरसजीवी विरसजीवी जाव तुच्छजीवी उवसंतजीवी पसंतजीवी विवित्तजीवी? हंता गोयमा!" [जमालिर्भदन्तानगारोऽरसाहारो विरसाहारोऽन्ताहारः प्रान्ताहारो रूक्षाहारस्तुच्छाहारोऽरसजीवी विरसजीवी यावत्तुच्छजीवी उपशान्तजीवी प्रशान्तजीवी विविक्तजीवी? हन्त गौतम!।] इत्यादिसामान्यसूत्रोक्तस्य गणस्याद्यन्तशब्दाभ्यां विशिष्टो 'गोअमा! जमाली णं अणगारे अरसाहारे जाव विवित्तजीवी'ति सूत्रोक्तवाक्यगतो यावच्छब्दस्तस्य च सर्वादित्वेन बुद्धिस्थवाचकत्वान्मध्यवर्तिनामपि पदार्थानां नानारूपाणां नानासंख्याकानां च सङ्ग्राहकत्वम्, एवमाद्यन्तशब्दयोरपि गणानुरोधेन भिन्नत्वमेव बोध्यं न पुनर्यावच्छब्दोऽपि घटपटादिवन्नियतपदार्थवाचक इति। विशेषणभूतस्तु यावच्छब्द उक्तपदानामर्थानां देशकालादिनियामको

भवति । तत्र देशनियामकत्वं-यावत्पञ्चविंशतिर्योजनानि पत्तन तावद्गन्तव्यमित्यादौ । कालनियामकत्वं च—"जाव णं से जीवे सया समिअं तं तं भावं परिणमइ ताव च णं से जीवे आरभइ सारभइ समारभइ" [यावत्स जीवः सदा समितं तं तं भावं परिणमति, तावच्च स जीव आरम्भते संरम्भते समारम्भते ।] इत्यादौ प्रसिद्धम् । विशेषणत्वविशेष्यत्वस्वरूपविकलस्तु यावच्छब्दो डित्थडवित्थादिवदर्थशून्य एव स्यात्; तदिह यावच्छब्दो नानर्थको न वा विशेष्यभूतः, आद्यन्तशब्दाभ्यामविशिष्टत्वाद्; विशेष्यभूतस्य च तस्य ताभ्यां विशिष्टस्यैव प्रयोगात्, किन्तु विशेषणभूतः; 'प्राक् पतितं विशेषणम्' इति वचनात्, स चात्राधिकारात्कालनियामक इति । यावत्कालं चतुष्पञ्चसूत्रे स स्थावरजातिषु नारकतिर्यग्योनिकमनुजदेवानां भवग्रहणानि यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तावत्कालं संसारमनुपरावृत्त्य ततः पश्चात्सेत्स्यन्ति, यावत्सर्वदुःखानामन्तं करिष्यन्तीति सामान्यसूत्रार्थः पर्यवस्यति । एव सामान्यसूत्रोक्तानुसारेण विशेषसूत्रेऽपि कालनियमार्थं तावच्छब्दवद् यावच्छब्दोऽप्यध्याहार्यः, तमन्तरेण वाक्यद्वयानुपपत्त्या कालनियमानुपपत्तिरिति व्यक्तेन सामान्यसूत्रादिव विशेषसूत्रादप्यनन्तभवसिद्धिरिति चेत्, तदिदमसिद्धमसिद्धेन साधयतो महातार्किकत्वमायुष्मतः । यतो 'जाव चत्तारि' इत्यादावपि शसन्तचतुष्पञ्चपदसमानाधिकरणभवग्रहणपदोत्तरद्वितीयाविभक्तेरेव "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" [सिद्धहेम०-२-२-४२] इत्यनुशासनात्कालनियमसिद्धौ न पुनस्तदभिधानाय यावच्छब्दप्रयोगः, व्यर्थपुनरुक्ततयोः प्रसङ्गात्, तस्मात्तदनुरोधेन तावच्छब्दस्य विशेषसूत्रे यावत्तावच्छब्दयोश्चाध्याहारकल्पनाऽतिजघन्यैवेति । नन्वेवं "स्थितेर्गतिश्चिन्तनीया" इति यावच्छब्दस्य सूत्रस्थस्य कोऽर्थः ? इति चेत्, ततो देवलोकादायुःक्षयादिना च्युत्वेति पूर्वप्रक्रान्तपदसमुदायार्थ एवेत्यवेहि, अथैवं गणसम्बन्धाद्यन्तपदविशिष्टस्यैव यावच्छब्दस्य पूर्वप्रक्रान्तगणवाक्यार्थवाचकत्वमिति व्युत्पत्तिभङ्ग इति चेत्. न, तादृशनियमे प्रमाणाभावात्, पूर्वप्रक्रान्तवाक्यार्थवाचकत्वे यावच्छब्दस्य स्वस-

म्बन्धिपदोपसन्दानमात्रस्य तात्पर्यग्राहकत्वेनापेक्षितत्वाद्। अत एव क्वचिद्गणसम्बन्ध्याद्यन्तपदविशिष्टादिव क्वचिदन्त्यपदविशिष्टादपि यावच्छब्दात्तदुपस्थितिः। तथा हि–एगंतपंडिए णं भंते! मणुस्से किं णेरइआउं पकरेइ ४? पुच्छा। गोअमा! एगंतपंडिए णं मणुस्से आउअं सिअ पकरेइ, सिअ णो पकरेइ। जइ पकरेइ णो णेरइआउअं पकरेइ, णो तिरि०, णो मणु०, देवाउअं पकरेइ। णो णेरइआउअं किच्चा णेरइएसु उववज्जइ, णो तिरि०, णो मणु०, देवाउअं किच्चा देवेसु उववज्जइ?॥ गोअमा! एगंतपंडिअस्स णं मणुस्सस्स केवलमेव दो गतीओ पण्णत्ताओ, तं० अंतकिरिया चेव कप्पोववत्तिया चेव, से तेणट्ठेणं गोअमा! जाव देवाउअं किच्चा देवेसु उववज्जइत्ति॥" [एकान्तपंडितो भदन्त! मनुष्यः किं नैरयिकायुः प्रकरोति ४ पृच्छा? गौतम! एकान्तपण्डितः आयुः स्यात्प्रकरोति स्यान्न प्रकरोति। यदि प्रकरोति नो नैरयिकायुः प्रकरोति, नो ति०, नो म०, देवायुः प्रकरोति॥ नो नैरयिकायुः कृत्वा नैरयिकेषूत्पद्यते नो ति०, नो म०, देवायुः कृत्वा देवेषूत्पद्यते? गौतम! एकान्तपण्डितस्य मनुष्यस्य केवले एव द्वे गती प्रज्ञप्ते तद्यथा अन्तक्रियैव कल्पोपपत्तिरेव अथ तेनार्थेन गौतम! यावद्देवायुः कृत्वा देवेषूत्पद्यते] अत्र हि यावच्छब्दस्य न गणसम्बन्ध्याद्यन्त्यपदविशिष्टतयैव पूर्वप्रक्रान्तवाक्यार्थवाचकत्वं, किन्तु स्वसम्बन्ध्यन्त्यपदोपसन्दानादेव, तद्वदिहापि चत्वारि पञ्चेत्यादिस्वसम्बन्धिपदोपसन्दानाद् यावच्छब्दस्य पूर्वप्रक्रान्तवाक्यार्थवाचकत्वे न किञ्चिद्बाधकमिति युक्तं पश्यामः। किञ्च–सूत्रे द्योतकरचनारूपमपि यावत्पदं दृश्यते। यथा स्कन्दकाधिकारे श. २ उ० १ "भावओ णं सिद्धे अणता नाणपज्जवा अणता दसणपज्जवा जाव अणता अगुरुअलहुअपज्जवा"[भावतः सिद्धे अनन्ता ज्ञानपर्यवा अनन्ता दर्शनपर्यवा यावदनन्ता अगुर्वलघुपर्यवाः] इत्यत्र। न ह्यत्र गणमध्यस्थस्यान्यस्यार्थस्य परामर्शो यावच्छब्देन कर्तुं शक्यते, यतोऽसौ गणस्तावदित्थमुपदर्शितः "भावओ णं जीवे अणंता नाणपज्जवा अणंता दसणपज्जवा अणंता चरित्तपज्जवा अणता गुरुअलहुअपज्जवा अणता अगुरु-

अलहुपज्जव त्ति" [भावतो जीवे अनन्ता ज्ञानपर्यवा अनन्ता दर्शनपर्यवा अनन्ताश्चारित्रपर्यवा अनन्तगुरुलघुकपर्यवा अनन्ता अगुर्वलघुकपर्यवाः] तत्र ज्ञानदर्शनपर्यायाः सिद्धस्य साक्षादेवोक्ताः, चारित्रपर्यायाश्च तस्य न सम्भवन्ति "णो पारभविए चरित्ते" [नो पारभविकं चारित्रं] इत्यत्र सिद्धानां चारित्रस्य व्यक्तमेव निषिद्धत्वाद्। गुरुलघुपर्यायाश्चौदारिकादिशरीराण्याश्रित्य व्याख्याता इति तेऽपि सिद्धस्य न सम्भवन्ति। अगुरुलघुपर्यायाश्च कार्मणादिद्रव्याणि जीवस्वरूपं चाश्रित्य व्याख्याताः, तत्र कार्मणादिद्रव्याश्रितास्ते सिद्धस्य न सम्भवन्ति, जीवस्वरूपं त्वाश्रित्य सर्वांशशुद्धास्ते सम्भवन्ति परं तेऽपि साक्षाच्छब्देनोक्ता इति यावच्छब्दवाच्यं नावशिष्यते इति ततो यथा तत्र वाक्यार्थद्योतक एव यावच्छब्दस्तद्वदिहापि स्यादिति किमनुपपन्नमिति निपुणधिया निभालनीयं प्रेक्षावद्भिः। किञ्च— 'जाव चत्तारि पंच' इत्यादिसूत्रमपि नरकोपपातातिरिक्तविशेषाभावमादाय परिमितभवजमालिजातीयदेवकिल्बिषिकविषयं जमालिसादृश्यप्रदर्शनायोपन्यस्तं न तु देवकिल्बिषिकसामान्यविषयमिति सम्भाव्यते, अन्यथा "अत्थेगइआ अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरिअट्टंति" [सन्त्येकेऽनादिकमनवदग्रं संसारकान्तारमनुपरिवर्तन्ते] इत्यग्रिमसूत्राभिधानानुपपत्तेः, ततो 'अत्थेगइआ' इत्यादिकमपरिमितभवाभिधायकं 'जाव चत्तारि' इत्यादिकं च परिमितभवाभिधायकमिति युक्तम्, भवति हि सामान्याभिधानस्याप्येकविशेषप्रदर्शने तदितरविशेषपरत्वम्। यथा 'ब्राह्मणा भोजयितव्याः कौडिन्यो न भोजयितव्य' इत्यत्र ब्राह्मणा भोजयितव्या इति वचनस्य कौण्डिन्येतरब्राह्मणभोजनविधिपरत्वमिति। यत्तु 'अत्थेगइआ' इत्यादिसूत्रमभव्यविशेषमधिकृत्यावसातव्य, तद्व्यञ्जकं तु अन्ते निर्वाणाभणनमेवेति परेणोच्यते। तदसत्, अन्ते निर्वाणाभणनादीदृशसूत्राणामभव्यविशेषविषयत्वे— "असंवुडे णं अणगारे आउअवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालठितिआओ दीहकालठितिआओ पकरेइ, मंदाणु-

भागा(वा)ओ तिव्वाणुभागा(वा)ओ पकरेइ, अप्पपदेसग्गाओ बहुप्पदेसग्गाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं सिअ बंधइ, सिअ णो बंधइ, असायावेअणिज्ज च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारमणुपरिअट्टइ।" "कोहवसट्टे णं भंते जीवे किं बंधइ? किं पकरेइ? किं चिणाइ? किं उवचिणाइ? संखा?। कोहवसट्टे णं जीवे आउअवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ, एवं जहा पढमसए असंवुडस्स अणगारस्स जाव अणुपरिअट्टइ। माणवसट्टे णं भंते! जीवे एवं चेव, एवं मायावसट्टेवि, एवं लोभवसट्टेवि, जाव अणुपरिअट्टइ" [असंवृतोऽनगारः आयुर्वर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः शिथिलबन्धनबद्धा दृढबन्धनबद्धाः प्रकरोति ह्रस्वकालस्थितिका दीर्घकालस्थितिकाःप्रकरोति मन्दानुभावास्तीव्रानुभावाःप्रकरोति अल्पप्रदेशाग्रा बहुप्रदेशाग्राः प्रकरोति। आयुश्च कर्म स्याद्बध्नाति स्यान्न बध्नाति अशातावेदनीय च कर्म भूयोभूय उपचिनोति अनादिकं चानवदाग्र दीर्घाध्वं चातुरन्तसंसारकान्तारमनुपरिवर्तते क्रोधवशार्तो भदन्त जीवः किं बध्नाति किं प्रकरोति किं चिनाति किमुपचिनाति शंस (श्रावक)? क्रोधवशार्तो जीवः आयुर्वर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः शिथिलबन्धनबद्धा एव यथा प्रथमशतके असंवृतस्यानगारस्य यावदनुपरिवर्तते। मानवशार्तो भदन्त जीव एवमेव, एवं मायावशार्तोऽपि। एवं लोभवशार्तोऽपि यावदनुपरिवर्तते] भ० श० १२ उ० १ इत्यादिसूत्राणामपि तथात्वापत्तेरिति। ननु यद्येवं 'चत्तारि पंच' इत्यादिसूत्रे जमालेर्नानन्तभवविपयता तदा निर्विपयता स्यात्, चतुःपञ्चशब्दाभ्यामेकार्थानभिधानादिति चेद्। न, "सिअ भंते! जीवे जाव चत्तारि पंच पुढवीकाइआ एगतओ साहारणसरीरं बंधंति, एगतओ पच्छाहारेंति परिणामेंति वा सरीरं वा बंधंति? गो० णो इणट्ठे समट्ठे। सिअ भंते जाव चत्तारि पंच आउक्काइआ, एवं सिअ भंते जाव चत्तारि पंच तेउक्काइआ" [स्याद्भदन्त यावच्चत्वारः पंच पृथ्वीकायिका एकतः साधारणशरीरं बध्नन्ति एकतः पश्चादाहारयन्ति परिणामयन्ति वा शरीरं बध्नंति? गौतम! नायमर्थः समर्थः

स्याद्भदन्त यावच्चत्वारः पंच अप्कायिकाः यावत्स्याद्भदन्त यावच्चत्वारः पंच तेजस्कायिकाः] इत्यादिषु सूत्रेषु भगवत्यां "जया णं भंते! तेसिं देवाणं इंदे चयइ से कहमिआणिं पकरेइ? जाव चत्तारि पंच सामाणिआ त तं ठाणं उवसंपज्जित्ता णं विहरति" [यदा भदन्त तेषां देवानामिन्द्रश्च्यौति स कथमिदानी प्रकरोति? यावचत्वारः पञ्च सामानिका देवास्तत्तत्स्थानमुपसम्पद्य विहरन्ति] इत्यादि जीवाभिगमसूत्रेऽन्येषु च बहुषु स्थानेषु तयोः "सत्तट्ठ भवग्गहणाइ, सत्तट्ठ पयाइ" इत्यत्र सप्ताष्टपदयोरिव संकेतविशेषादेकसंख्यावाचकत्वसिद्धेः। पच तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देवभवग्गहणाइ' इत्यादिकोऽप्यादर्शान्तरे पाठोऽस्ति, तत्र च शङ्कालेशस्याप्यभाव एव। नन्वेवमपि 'पञ्चशब्दो गतित्रयानुरोधेन त्रिगुणितः किं पञ्चदशभवाऽभिधायकः? उत तिर्यग्योनिकदेवसम्बन्धिनौ द्वौ द्वौ भवौ एकश्च मनुजसम्बन्धी, अथवा त्रयो भवास्तिर्यक्सम्बन्धिन एको देवसम्बन्धी एकश्च मनुष्यसम्बन्धीत्येवं पञ्चभवाभिधायकः? इत्येवं सन्देहानिवृत्तिरेवेति चेद्। न, शास्त्रव्युत्पन्नस्यैतादृशसन्देहानुदयाद्, द्वन्द्वसमासस्य सर्वपदप्रधानत्वेन प्रत्येकमेव पञ्चसंख्याऽन्वयाद्, अनेनैव वाऽभिप्रायेण "च्युत्वा ततः पञ्चकृत्वः" इत्याद्यभिधानात्। "जिणणाहेण भणियं, सुरतिरियनरेसु पंचवेलाओ। भमिऊण पत्तबोही, लहिही निव्वाणसुक्खाइं ॥१॥" [जिननाथेन भणित सुरतिर्यग्नरेषु पञ्चवेलाः। भ्रान्त्वा प्राप्तबोधिर्लप्स्यते निर्वाणसौख्यानि] इति श्रीअभयदेवसूरिसन्तानीयगुणचन्द्रगणिकृते प्राकृतवीरचरित्रेऽपीत्थमेवोक्तम्। " तिर्यग्मनुष्यदेवेषु, भ्रान्त्वा स कतिचिद् भवान् ॥ भूत्वा महाविदेहेषु, दूरान्निर्वृतिमेष्यति ॥ १ ॥" इत्युपदेशमालाकर्णिकायामपीत्थमेव निगदितम्। अत्र यत्परेणोच्यते 'कतिचिद् भवान्' इति यद् भणितं तत्किल्बिषिकदेवभवाच्च्युतो जमालिरनन्तर सर्वलोकगर्हणीयान् मनुष्यादिदुर्गतिसम्बन्धिनः कतिचिद् भवानवाप्य पश्चात्सूक्ष्मैकेन्द्रियादिषु यास्यतीति ज्ञापनार्थमेव। तथा चागमोऽपि दश०अ०५उ० २"लद्धूण वि देवत्त, उववन्नो देवकिब्बिसे ॥

तत्थवि से न याणेइ, किं मे किच्चा इमं फलं ॥ ४७ ॥ तत्तो वि से चइत्ता णं, लब्भिही एलमूअगं ॥ णरगं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥४८॥" [लब्ध्वापि देवत्व उपपन्नो देवकिल्बिषे। तत्रापि स न जानाति किं मम कृत्वेदं फलम् ॥ ततोऽपि स च्युत्वा लप्स्यते एडमूकत्वं ॥ नारकतिर्यग्योनिं वा बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥] इति। तदतिकदाग्रहविजृम्भितम्, अत्र तिर्यगादिषु प्रत्येकं परिमितभवश्रमणस्य व्यक्तमेवाभिधानात्, इच्छामात्रेणाविशिष्टानन्तभवकल्पनस्याप्रामाणिकत्वात्, स्थूलभवाभिधानमात्रमेतदित्यत्र प्रमाणाभावात्, न च 'दूरान्निर्वृतिं मेष्यतीति' वचनानुपपत्तिरेवात्र प्रमाणम्, आसन्नतादूरतयोरापेक्षिकत्वात्। किञ्च दूरपदं विनाऽप्येवंविधोऽर्थोऽन्यत्र दृश्यते। तदुक्तं सर्वानन्दसूरिविरचितोपदेशमालावृत्तौ—"तिर्यक्षु कानपि भवानतिनाह्य कांश्चि–द्देवेषु चोपचितसञ्चितकर्मवश्यः ॥ लब्ध्वा ततः सुकृतजन्मगृहे विदेहे, जन्मायमेष्यति सुसैकसनिर्विमुक्तिम् ॥ १ ॥" इति। यत्तु जमालेः साक्षात्तीर्थकरदूषकस्यापि पञ्चदश भवाः, सुबाहुकुमारस्य च जिनाज्ञाराधकस्यापि षोडश भवा इति जिनाज्ञाराधनापेक्षया तद्विराधनमेव सम्यगिति परस्याभिधानं तदविवेकमूलम्। एवं हि दृढप्रहारिप्रभृतीनां घोरपापकारिणां तद्भवमुक्तिगामित्वम्, आनन्दादीनां च देवमनुजभवप्राप्तिक्रमेणेति सुकृतापेक्षया दुष्कृतमेव सम्यगिति वदतोऽपि मुखं कः पिदध्यादिति। यदपि साधुभक्तस्य द्रव्यतस्तीर्थकृतोऽपि मरीचेः कापिलीयदर्शनप्रवृत्तिहेतुसन्दिग्धोत्सूत्रभाषणनिमित्तदुर्वचनमात्रेणाप्येकेन्द्रियादिष्वसंख्येयभवभ्रमणं, जमालेश्च साक्षात्तीर्थकरदूषकस्यापि पञ्चदश भवा इति महदसमञ्जसमिति परेणोद्घुष्यते तदपि तथाभव्यताविशेषादेव न पर्यनुयोगार्हम्, अन्यथा सन्दिग्धोत्सूत्रभाषिणोऽपि मरीचेर्नरकभवदुःखप्राप्तिः, निश्चितोत्सूत्रभाषिणश्च जमालेर्नैयमित्यत्र भवतोऽपि किमुत्तरं वाच्यमिति रागद्वेषरहितेन चेतसा चिन्तनीयम्। दोघट्टीसंज्ञकायां वृत्तौ तु 'ततश्च्युतश्चत्वारि पंच तिर्यग्मनुष्यदेवभवग्रहणानि संसारमनुपर्यट्य महाविदेहे

सेत्स्यति'-इति शब्दसन्दर्भेण भगवतीसूत्रालापकानुवाद्येव दृश्यते। सिद्धर्षीयोपदेशमालाटीकायास्त्वादर्शभेदात्पाठभेदो दृश्यते। तथा हि-"आजीवन्ति द्रव्यलिङ्गेन लोकमित्याजीवका निह्नवास्तेषां गणो गच्छस्तस्य नेता नायको गुरुरित्यर्थः, राज्यश्रियं प्रहाय-परित्यज्य, प्रव्रज्यां गृहीत्वा, चशब्दादागमं चाधीत्य, जमालिर्भगवज्जामाता, हितमात्मनोऽकरिष्यद्, 'यदि' इत्यध्याहारः, ततो न-नैव, वचनीये निन्द्यत्वे, इह-लोके प्रवचने वा अपतिष्यत्। तथा हि-मिथ्यात्वाभिनिवेशादसौ भगवद्वचनं 'क्रियमाण कृतम्' इत्यश्रद्दधानः "कृतमेव कृतम्" इति विपरीतप्ररूपणालक्षणादहिताचरणादेव लोकमध्ये वचनीये पतितोऽति दुष्करतपोविधानेऽपि किल्बिपदेवत्वं भवं चानन्तं निर्वर्तितवान्" इत्ययं(त्येवं) केषुचिदादर्शेषु पाठो दृश्यते॥ "विपरीतप्ररूपणादहिताचरणादेव 'निह्नवोऽयम्'-इति लोकमध्ये वचनीये पतितोऽतिदुष्करतपोविधानेऽपि किल्बिपदेवत्वं निर्वर्तितवान्।" इत्ययमपि क्वचिदादर्शे पाठो दृश्यते॥ क्वचिच्च "तथामिथ्यात्वाभिनिवेशादसौ भगवद्वचनं 'क्रियमाण कृतम्'—इत्यश्रद्दधानः" कृतमेव कृतम् इति विपरीतप्ररूपणलक्षणादहिताचरणादेव 'निह्नवोऽयम्'-इति लोकमध्ये वचनीये पतितोऽतिदुष्करतपोविधानेऽपि किल्बिपदेवत्वं भवं चानन्तं निर्वर्तितवान्। उक्तं च प्रज्ञप्तौ 'जइ ण भंते! जमाली अणगारे अरसाहारे विरसाहारे जाव विवित्तजीवी कम्हा णं भंते! जमाली अणगारे कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे तेरससागरोवमठिइएसु देवकिब्बिसिएसु देवेसु देवकिब्बिसियत्ताए उववन्ने?, गोयमा! जमाली णं अणगारे आयरियपडिणीए इत्यादि यावत् लंतए कप्पे जाव उववन्ने। जमाली ण भंते! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव कहि उववज्जिहिति?, गोयमा! चत्तारि पंच तिरिक्खजोणियमणुस्सदेवभवग्गहणाइ संसारमणुपरिअट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिहिति जाव अंतं काहेति।" [यदि भदन्त जमालिरनगारोऽरसाहारो विरसाहारो यावद्विविक्तजीवी कस्माद्भदन्त जमालिरनगारः कालमासे कालं

कृत्वा लांतके कल्पे त्रयोदशसागरोपमस्थितिकेषु देवकिल्बिषिकेषु देवेषु देवकिल्बिषिकतया उत्पन्नः, गौतम जमालिरनगारः आचार्यप्रत्यनीक इत्यादि यावत् लान्तके कल्पे यावदुत्पन्नः ॥ जमालिर्भदन्त ततो देवलोकादायुःक्षयेण यावत्कुत्रोत्पत्स्यते गौतम चत्वारि पञ्च तिर्यग्योनिकमनुष्यदेवभवग्रहणानि संसारमनुपर्यट्य ततः पश्चात्सेत्स्यति यावदन्तं करिष्यति] इत्येवम्भूतः पाठोऽस्ति।'' हेयोपादेयवृत्तावपि केषुचिदादर्शेष्वयमेव पाठोस्ति। आदर्शान्तरे च-''अतिदुष्करतपोविधानेऽपि किल्बिषदेवत्वं निर्वर्तितवान्''-इति। उक्तं च प्रज्ञप्तौ-'जइ णं भंते०'' इत्यादिरचनया पाठोऽस्ति। एवंस्थिते मध्यस्था गीतार्था इत्थं प्रतिपादयन्ति-यदुत भगवत्यादिबहुग्रन्थानुसारेण परिमितभवत्वं जमालेर्ज्ञायते, सिद्धर्षीयवृत्तिपाठविशेषाद्यनुसारेण चानन्तभवत्वमिति, तत्त्व तु तत्त्वविद्वेद्यमिति; परं भगवतीसूत्र प्रकृतार्थेन विवृतमस्ति, तत्सामुख्यं च वीरचरित्रादिग्रन्थं तेषु दृश्यते, संमतिप्रदर्शन त्वर्थद्वयाभिधानप्रक्रमेऽप्येकार्थापुरस्कारेणापि सम्भवति। यथा ''नानाकार कायेन्द्रियम्, असंख्येयभेदत्वात्, अस्य नान्तर्बहिर्भेदो निर्वृत्तेर्न कश्चित् प्रायः, प्रदीर्घत्र्यस्रसंस्थित कर्णाटकायुधं क्षुरप्रस्तदाकार रसनेन्द्रियम्, अतिमुक्तकपुष्पदलचन्द्रकाकार किंचिन्मकेसरवृत्ताकारमध्यविनत घ्राणेन्द्रियम्, किंचित्समुन्नतमध्यपरिमण्डलाकारं धान्यमसूरवच्चक्षुरिन्द्रियम्, पाथेयभाण्डकयवनालिकाकार श्रोत्रेन्द्रियं नालिककुसुमाकृति चानसेयम्, तत्राद्यं स्वकायपरिमाण द्रव्यमनश्च, शेषाण्यङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणानि सर्वजीवानाम्। तथा चागमः(प्रज्ञापना) ''फासिंदिए ण भंते किंसंठिए पण्णत्ते ?, गोयमा! णाणासंठाणसंठिए। जिब्भिदिए णं भंते किंसंठिए पण्णत्ते ?, गोयमा ? खुरप्पसंठिए। घाणिंदिए ण भंते किंसंठिए पण्णत्ते ?, गोयमा! अतिमुत्तयचंदगसंठिए पण्णत्ते। चक्खुरिंदिए ण भंते किंसंठिए पण्णत्ते ? गोयमा! मसूरयचंदसंठिए। सोइंदिए णं भंते! किं संठिए पण्णत्ते ?, गोयमा! कलंबुआपुप्फसंठिए पण्णत्ते'' [स्पर्शनेन्द्रिय भदन्त कि संस्थितं प्रज्ञप्तं, गौतम नानासंस्थानसंस्थितं।

जिह्वेन्द्रियं भदन्त किं संस्थितं प्रज्ञप्तं, गौतम क्षुरप्रसंस्थितं। घ्राणेन्द्रियं भदन्त किं संस्थितं प्रज्ञप्तं, गौतम अतिमुक्तकचन्द्रकसंस्थितं। चक्षुरिन्द्रियं भदन्त किं संस्थितं प्रज्ञप्तं, गौतम मसूरकचन्द्रसंस्थितं। श्रोत्रेन्द्रियं भदन्त किं संस्थितं प्रज्ञप्तं, गौतम कदम्बपुष्पसंस्थितं प्रज्ञप्तं] इति तत्त्वार्थवृत्तौ अ० २ सू० १७।" अत्र हीन्द्रियसंस्थानं तत्परिमाणं चेति द्वयमुपक्रान्तं, संमतिप्रदर्शनं तु पूर्वार्थ एवेत्येवं सिद्धर्षीयवृत्त्यादर्शविशेषेऽपि जमालेरनन्तभवस्वामित्वप्रदर्शनं चतुरन्तसंसारकान्तारदृष्टान्तत्वप्रदर्शनसदृशम्, सूत्रसमतिस्तु देवकिल्बिषिकत्वांश एव-इत्ययमर्थो न्याय्योऽन्यो वा तत्र कश्चित्सुन्दरोऽभिप्राय इति यथा बहुश्रुताः प्रतिपादयन्ति तथा प्रमाणीकर्तव्यं न तु कुविकल्पचक्रेण ग्रन्थकदर्थना कर्तव्या। यत्तु वस्तुगत्या समयभाषया तिर्यग्योनिकशब्द एवानन्तभवाभिधायको भवति। यदुक्तं "तिर्यग्योनीनां च" इति तत्त्वार्थसूत्र अ० ३ सू० १८ भाष्यवृत्तौ-'तिर्यग्योनयः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियास्तेषामपि परापरे स्थिती इत्यादि यावत्साधारणवनस्पतेरनन्ता अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यः"-इत्यादि इति। परेणोक्तं तत्त्वनाकलितग्रन्थानां विभ्रमापादकं प्रेक्षावता तूपहासपात्रम्। परापरभवस्थितिकायस्थितिविवेकस्य तत्र प्रतिपादितत्वात्, उत्कृष्टकायस्थितेरेव तिर्यग्योनीनामनन्तत्वपर्यवसानात् प्रकृते च भवग्रहणाधिकारात् न तत्कायस्थितिग्रहणं कथमपि सम्भवतीति किं पल्लवग्राहिण्या समधिकविचारणयेति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ॥ ४० ॥ तदेवं मरीचेरिव स्तोकस्याप्युत्सूत्रस्य दुःखदायित्वात् 'अन्येषां गुणानुमोदनं न कर्त्तव्यम्'-इत्युत्सूत्रं त्याज्यम्, कर्त्तव्या च गुणानुमोदना सर्वेषामपीति व्यवस्थापितम्। अथ सूत्रभाषकाणां गुणमाह—

सुत्तं भासंताणं, णिच्चं हिययट्ठिओ हवइ भयवं ॥ हिययट्ठिअंमि तंमि य, णियमा कल्लाणसंपत्ती ॥ ४१ ॥

[सूत्रं भाषमाणानां नित्यं हृदयस्थितो भवति भगवान्। हृदयस्थिते तस्मिंश्च नियमात्कल्याणसंपत्तिः ॥ ४१ ॥]

'सुत्तं भासंताणं'ति। सूत्र भाषमाणानां, नित्यं निरन्तर, भगवांस्तीर्थङ्करो, हृदयस्थितो भवति, भगवदाज्ञाप्रणिधाने भगवत्प्रणिधानस्यावश्यकत्वात्, आज्ञायाः ससम्बन्धिकत्वात्। हृदयस्थिते च तस्मिन् भगवति सति, नियमान्निश्चयात्, कल्याणसम्पत्तिः, समापत्त्यादिभेदेन तीर्थकृद्दर्शनस्य महाकल्याणावहतायाः पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितत्वादिति ॥ ४१ ॥

कल्याणप्रापकत्वं च हृदयस्थितस्य भगवतोऽनर्थनिराकरणद्वारा स्यादित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यानर्थनिराकरणहेतुत्वगुणमभिष्टुवन्नाह—

हियय‌ट्ठिओ अ भयवं, छिंदइ कुविगप्पमत्तभत्तस्स ॥ तयभत्तस्स उ तंमि वि, भत्तिमिसा होइ कुविगप्पो ॥४२॥

[हृदयस्थितश्च भगवान् छिनत्ति कुविकल्पमात्मभक्तस्य । तदभक्तस्य तु तस्मिन्नपि भक्तिमिषाद् भवति कुविकल्पः ॥ ४२ ॥]

'हियय‌ट्ठिओ अ'त्ति हृदयस्थितश्च भगवानात्मभक्तस्य स्वाराधकस्य, कुविकल्पं कुतर्काभिनिवेशरूपं, छिनत्ति। दुर्निवारो हि प्राणिनामनादिभवपरम्परापरिचयान्मोहमाहात्म्यजनितः कुविकल्पः, केवलं भगवद्भक्तिरेव तमुच्छिद्य तदुत्पादं निरुद्ध्य वा तत्कृताशुभविपाकान्निस्तारयतीति। तदुक्तमन्यैरपि—"पुण्ये मनः कस्य मुनेरपि स्यात्, प्रमाणमेतस्य हि (मेनसापि) हृद्यवृत्तिः ॥ तच्चिन्तितचित्तं परमेश्वरस्तु, भक्तस्य हृष्यत्करुणो रुणद्धि ॥ १ ॥" इति। अन्वयप्रदर्शनमेतद्। व्यतिरेकमाह—तदभक्तस्य तु कुतर्काध्माततया भगवद्भक्तिरहितस्य तु, तस्मिन्नपि सकलदोषरहिते जगज्जीवहिते भगवत्यपि, भक्तिमिषाल्लोकसाक्षिककृत्रिमभक्तिव्यपदेशात्, कुविकल्पोऽसद्दोषाध्यारोपलक्षणो भवतीति, भगवतो हृदयेऽवस्थानाभावादिति भावः ॥ ४२ ॥

कथं भगवत्यपि भक्तिमिषात् कुविकल्पो भवतीत्याह—

जेणं भणंति केइ, जोगाउ कयावि जस्स जीववहो ॥ सो केवली ण अम्हं, सो खलु सक्खं मुसावाई ॥४३॥

[येन भणन्ति केचिद् योगात् कदापि यस्य जीववधः । स केवली नास्माकं, स खलु साक्षान्मृषावादी ॥ ४३ ॥]

'जेणं'ति। येन कारणेन, भणंति केचिद्, यदुत यस्य योगात्कदाचिदपि जीववधो भवति, सोऽस्माकं केवली न भवति। स खलु साक्षान्मृपावादी, जीववधं प्रत्याख्यायापि तत्करणात् इदं हि भक्तिवचन मुग्धैर्ज्ञायते, परमार्थतस्तु भगवत्यसद्दोषाध्यारोपात् कुविकल्प एवेति भावः ॥ ४३ ॥ एतन्निराकरणार्थमुपक्रमते—

ते इय पज्जणुजुज्जा, कह सिद्धो हंदि एस णियमो भे ॥ जोगवओ दुव्वारा, हिंसा जमसक्कपरिहारा ॥४४॥

[ते इति पर्यनुयोज्याः कथं सिद्धो हदि एप नियमो भवताम्। योगवतो दुर्वारा हिंसा यदशक्यपरिहारा ॥ ४४ ॥]

'ते इय'त्ति। ते एवं वादिनः पर्यनुयोज्याः प्रतिप्रष्टव्याः, इत्यमुनाप्रकारेण, यदुत एष नियमो-यस्य योगात् कदाचिदपि जीववधो भवति स न केवलीत्येवंलक्षणः, कथ भे भवतां, सिद्धः?, यद्यस्मात्कारणाद्, योगवतः प्राणिन आत्रयोदशगुणस्थानम्, अशक्यपरिहारा हिंसा दुर्वारा, योगनिरोधं विना तस्याः परिहर्तुमशक्यत्वात्, तदीययोगनिमित्तकहिंसानुकूलहिंस्यकर्मविपाकप्रयुक्ता हि हिंसा तदीययोगाद् भवन्ती केन वार्यतामिति। अथैवं सर्वेपामपि हिंसाऽशक्यपरिहारा स्यादिति चेत्, न। अनाभोगप्रमादादिकारणघटितसामग्रीजन्यायास्तस्या आभोगाप्रमत्ततादिना कारणविघटनेन शक्यपरिहारत्वाद्, योगमात्रजन्यायास्त्वनिरुद्धयोगस्याशक्यपरिहारत्वादिति विभावनीयम्। नन्वीदृश्यां जीवविराधनाया जायमानायां केवलिना जीवरक्षाप्रयत्नः क्रियते न वा?, आद्ये न क्रियते चेत्, तदाऽसंयतत्वापत्तिः। क्रियते चेत्, तदा चिकीर्पितजीवरक्षणाभावात्प्रयत्नवैफल्यापत्तिः; सा च केवलिनो न सम्भवति, तत्कारणस्य वीर्यान्तरायस्य क्षीणत्वाद्, अत एव देशनाविपयकप्रयत्नविफलतायां केवलिनः केवलित्वं न सम्भवतीति परेषां सम्यक्त्वाद्यलाभे धर्मदेशनामप्यसौ न करोतीत्यभ्युपगम्यते। तदुक्तमावश्यकनिर्युक्तौ-"सव्वं च देसविरइ, सम्मं पिच्छइ य होइ कहणाउ ॥ इहरा

अमूढलक्खो, ण कहेड भविस्सइ ण तं वत्ति ॥५६४॥" [सर्वां च देशविरतिं सम्यक्(त्त्व) पश्यति च भवति कथनात्। इतरथा अमूढलक्ष्यो न कथयति भविष्यति न तद्वेति ॥ १ ॥] ततः क्षीणवीर्यान्तरायत्वादशक्यपरिहारापि जीवविराधना केवलिनो न सम्भवतीति चेत् ॥ न, यथा हि–भगवतः सामान्यतः सर्वजीवहितोद्देशविषयोऽपि वाक्प्रयत्नः स्वल्पसंसारिष्वेव सफलो भवति, न तु बहुलसंसारिषु, प्रत्युत तेषु कर्णशूलायते। यत्त उक्तं सिद्धसेनदिवाकरैः(द्वा०२)"सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् ॥ तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु, सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥१३॥" इति। अत एव च लोकनाथत्वमपि भगवतो बीजाधानादि-संविभक्तभव्यलोकापेक्षया व्याख्यातं ललितविस्तरायाम्, "अनीदृशि नाथत्वानुपपत्तेरिति"। न चैतावता भगवतो वाक्प्रयत्नस्य विफलत्वं, शक्यविषय एव विशेषतः साध्यत्वाख्यविषयतया तत्प्रवृत्तेस्तत्फलवत्त्वव्यवस्थितेः। तथा सामान्यतः सर्वजीवरक्षाविषयोऽपि भगवतः कायप्रयत्नो विशेषतः शक्यजीवरक्षाविषयत्वेन सफलः सन् नाशक्यविषये वैफल्यमात्रेण प्रतिक्षेप्तुं शक्यत इति। न चाधि-कृतविषये वाक्प्रयत्नो न विफलः, स्वल्पसंसार्यपेक्षया साफल्याद्, इतरापेक्षया वैफल्यस्य तत्रावास्तवत्वाद्; अशक्यपरिहारजीवविरा-धनायां तु तद्रक्षाप्रयत्नः सर्वथैव विफल इति वैषम्यमिति तत्र वीर्यान्तरायक्षयवैफल्यापत्तिरिति तत्साफल्यार्थं भगवद्योगानां हिंसाया स्वरूपायोग्यत्वमेवाभ्युपेयमिति शङ्कनीयम्। एवं सति हि भगवतः क्षुत्पिपासापरीषहविजयप्रयत्नः क्षुत्पिपासानिरोधं विना विफल इति वीर्यान्तरायक्षयवैफल्यापत्तिनिरासार्थं भगवतः क्षुत्पिपासयोरपि स्वरूपायोग्यत्वं कल्पनीयमिति दिगम्बरस्य वदतो दूषणं न दातव्यं स्यादिति। यदि च क्षुत्पिपासयोर्निरोद्धुमशक्यत्वात् तत्परीषहविजयप्रयत्नो भगवतो मार्गाच्यवनादिस्वरूपेणैव फलवानिति विभाव्यते तदाऽशक्यपरिहारजीवविराधनाया अपि त्यक्तुमशक्यत्वात्, तत्र जीवरक्षाप्रयत्नस्यापि भगवतस्तथा स्वरूपेणैव फलवत्त्वमिति किं वैष-

म्यम् १॥ इत्थं च–"तस्स असंचेययओ, संचेययओ अ जाइं सत्ताइं ॥ जोगं पप्प विणस्संति, णत्थि हिंसाफलं तस्स ॥७५१॥" "तस्यैवंप्रकारस्य ज्ञानिनः कर्मक्षयार्थमभ्युद्यतस्य, असञ्चेतयतोऽजानानस्य, किं ? सत्त्वानि, कथं ? प्रयत्नं कुर्वतोऽपि, कथमपि न दृष्टः प्राणी, व्यापादितश्च । तथा सञ्चेतयतो जानानस्य, कथम् ? अस्त्यत्र प्राणी ज्ञातो दृष्टश्च, न च प्रयत्नं कुर्वताऽपि रक्षितुं पारितः, ततश्च तस्यैवंविधस्य, यानि सत्त्वानि, योग कायादिव्यापार, प्राप्य विनश्यन्ति । तत्र नास्ति तस्य साधोः, हिंसाफलं साम्परायिकं संसारजननं दुःखजननमित्यर्थः । यदि परमीर्याप्रत्ययं कर्म भवति, तच्चैकस्मिन् समये बद्धमन्यस्मिन्समये क्षिप(क्षपय)तीति" ओघनिर्युक्तिसूत्रवृत्तिवचने "न च प्रयत्नं कुर्वतापि रक्षितुं पारितः" इति प्रतीकस्य दर्शनाज्जीवरक्षोपायानाभोगादेव तदर्थोपपत्तेः, केवलिभिन्नस्यैव ज्ञानिनो योगानामीर्यापथप्रत्ययकर्मबन्धानुकूलसत्त्वहिंसाहेतुत्वं सिद्ध्यति न तु केवलिन इति निरस्तम् । न च प्रयत्न कुर्वतापीत्यनेन प्रयत्नवैफल्यासिद्धिः, निजकायव्यापारसाध्ययतनाविषयत्वेन तत्साफल्याद्, अन्यथा तेन केवलिनो वीर्यविशुद्धिमापादयतो निर्ग्रन्थस्य चारित्राविशुद्ध्यापत्तेः, तस्याप्याचाररूपप्रयत्नघटितत्वाद् यतनात्वेन चोभयत्र शुद्ध्यविशेषाद् । न चाशक्यजीवरक्षास्थलीययतनायां तद्रक्षोपहितत्वाभावो रक्षोपायानाभोगस्यैव दोषो, न तु निर्ग्रन्थस्य चारित्रदोषः, स्नातकस्य तु केवलित्वान्न तदनाभोगः सम्भवतीति तद्योगा रक्षोपहिता एव स्वीकर्त्तव्या इति वाच्यम् । तथाविधप्रयत्नस्यैव जीवरक्षोपायत्वात्, केवलिनापि तदर्थमुल्लङ्घनप्रलङ्घनादिकरणात् ॥ तदुक्तं प्रज्ञापनायां समुद्घातान्निवृत्तस्य केवलिनः काययोगव्यापाराधिकारे—"कायजोगं जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा, गच्छेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिसीएज्ज वा, तुअट्टेज्ज वा, उल्लंघेज्ज वा, पलंघेज्ज वा, पाडिहारिय पीढफलगसेज्जासंथारगं पच्चप्पिणेज्जत्ति ॥ [पद ३६]" अत्र उल्लंघेज्ज वा पलंघेज्जवे'त्येतत्पदव्याख्यानं यथा—" अथवा विवक्षिते स्थाने तथाविधस-

स्यातिममत्त्वाकुलां भूमिमवलोक्य तत्परिहाराय जन्तुरक्षानिमित्तमुल्लङ्घनं प्रलङ्घनं वा कुर्यात् । तत्र सहजात्पादविक्षेपान्मनागधिकतरः पादविक्षेप उल्लङ्घनं, स एवातिनिकटः प्रलङ्घनमिति ॥ " न च जीवरक्षोपायप्रयत्नो निर्ग्रन्थेन ज्ञात एवेति तस्याशक्यपरिहारजीवविराधनायां तद्रक्षाविघटको नाऽनाभोगः, किन्त्वशक्तिः, सा च योगापकर्षरूपा निर्ग्रन्थस्नातकयोः स्थानौचित्येनाविरुद्धेति प्रतिपत्तव्यम् ॥ यदि च तादृशरक्षोपायाः केवलियोगा एव, तदनाभोगश्च निर्ग्रन्थस्य तद्विघटक इति वक्रः पन्थाः समाश्रीयते तदा प्रेक्षावत्तामुपहासयताऽऽयुष्मतः, यत एवमनुपायादेव तस्य तद्रक्षाभाव इति वक्तव्यं स्यात्, न तूपायानाभोगादिति कारणवैकल्येन हि कार्यविघटने तन्त्रं न तु कारणज्ञानवैकल्यमपि। न च केवलियोगानां स्वरूपत एव जीवरक्षाहेतुत्वमित्यपि युक्तिमद् , उल्लङ्घनप्रलङ्घनादिवैफल्यापत्तेः, केवलियोगेभ्यः स्वत एव जीवरक्षासिद्धौ तत्र तदन्यथासिद्धेः, अनुपायनिषेवेऽपि क्रियाव्यापाराभ्युपगमे च रोगादिस्थितिसाधनार्थमपि तदभ्युपगमप्रसङ्गात्। यदि च साध्वाचारविशेषपरिपालनार्थं एव केवलिनोऽसौ व्यापारो न तु जन्तुरक्षानिमित्तः, तस्याः स्वतः सिद्धत्वेन तत्साधनोद्देशवैयर्थ्यात्, जन्तुरक्षानिमित्तत्वं तूपचारादुच्यते, मुख्यप्रयोजनसिद्धेश्च न तद्वैफल्यमिति च वक्रकल्पना त्वयाऽऽश्रीयते, तदा 'स्वशस्त्रं स्वोपघाताये'ति न्यायप्रसङ्गः । एवं ह्यशक्यपरिहारजीवहिंसास्थलेऽपि साध्वाचारविशेषपरिपालनार्थस्य भगवत्प्रयत्नस्य सार्थक्यसिद्धौ 'संचेयओ अ जाइं सत्ताइं जोगं पप्प विणस्संती'त्यत्र छद्मस्थ एवाधिकृत इति स्वप्रक्रियाभङ्गप्रसङ्गात् । तस्मादाभोगादनाभोगाद्वा जायमानाया हिंसायां प्राणातिपातप्रत्ययकर्मबन्धजनकयोगशक्तिविघटनं यतनापरिणामेन क्रियत इत्येतदर्थप्रतिपादनार्थं " न च प्रयत्नं कुर्वताऽपि रक्षितुं पारितः " इत्युक्तम् । अत एव सूत्रेऽपीत्थमेव व्यवस्थितम् । तथा हि—"वज्जेमित्तिपरिणओ, संपत्तीए विमुच्चई वेरा ॥ अवहंतो वि ण मुच्चइ, किलिट्ठभावोऽतिवायस्स ॥६१॥" इति ॥ [ओघनिर्युक्ति] एतद्वृत्तिर्यथा—वर्जयाम्यहं

प्राणातिपातादीत्येवं परिणतः सन्, सम्प्राप्तावपि,कस्य? अतिपातस्य प्राणिप्राणविनाशस्येत्युपरिष्टात् सम्बन्धः, तथाऽपि विमुच्यते वैरात् कर्मबन्धाद् । यस्तु पुनः, क्लिष्टपरिणामः सोऽव्यापादयन्नपि न मुच्यते वैरादिति ज्ञात्वा जीवघातस्येर्यापथप्रत्ययकर्मबन्धजनने यतनापरिणामस्य सहकारित्वप्रतिपादनार्थं 'न च प्रयत्नं कुर्वतापि रक्षितुं पारितः' इत्युक्तमित्यपरे ॥ यत्तु वर्जनाभिप्राये सत्यनाभोगवशेन जायमानो जीवघातो द्रव्यहिंसात्मको न कर्मबन्धहेतुः, वर्जनाभिप्रायस्य कारणं तु जीवघाते नियमेन दुर्गतिहेतुकर्मबन्धो भवतीत्यभिप्राय एव, अन्यथा सुगतिहेतुषु ज्ञानादिष्वपि वर्जनाभिप्रायः प्रसज्येत । केवलिनस्तु वर्जनाभिप्रायो न भवत्येव, सर्वकालं सामयिकसातवेदनीयकर्मबन्धकत्वेन दुर्गतिहेतुकर्मबन्धाभावस्य निर्णीतत्वात् तस्माज्जीवघातस्तज्जनितकर्मबन्धभावश्चेत्युभयमप्यनाभोगवन्तं तं संयतलोकमासाद्यैव सिद्ध्यतीति परस्य मतं तदसद् । वर्जनाभिप्रायस्य भगवतः प्रज्ञापनावृत्तावेवोक्तत्वात्, स्वकीयदुर्गतिहेतुकर्मबन्धहेतुत्वाज्ञानेपि स्वरूपेण वर्जनीये वर्जनाभिप्रायस्य भगवत उचितप्रवृत्तिप्रधानसामयिकफलमहिम्नैव सम्भवाद्; अन्यथाऽनेषणीयपरिहाराभिप्रायोऽपि भगवतो न स्याद् अनेषणीयस्यापि स्वापेक्षया क्लिष्टकर्मबन्धहेतुत्वनिश्चयात्, तथा च 'तत्थ णं रेवतीए गाहावइणीए मम अट्ठाए दुवे कवोअसरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठोत्ति।" [तत्र च रेवत्या गाथापतिन्या मदर्थं द्वे कपोतशरीरे (कूष्मांडफले) उपस्कृते ताभ्या नार्थ इति ॥] अनेषणीयपरिहाराभिप्रायाभिव्यञ्जकं प्रज्ञप्तिसूत्रं शतक १५ व्याहन्येत, तस्माद्यथोचितकेवलिव्यवहारानुसारेण वर्जनाद्यभिप्रायस्तस्य सम्भवत्येव; प्रयत्नसाफल्यं तु शक्यविषयापेक्षया न त्वितरापेक्षयेति मन्तव्यम् । एतेन केवलज्ञानोत्पत्तिसमय एव केवलिना सर्वकालीनं सर्वमपि कार्यं नियतकारणसामग्रीसहितमेव दृष्टं, तत्र केवलिना निजप्रयत्नोऽपि विवक्षितजीवरक्षाया नियतकारणसामग्र्यामन्तर्भूतो दृष्टोऽनन्तर्भूतो वा, आद्ये केवलिप्रयत्नस्य वैफल्यं न स्यात्, तस्य तस्या नियतकारणसा-

मध्यन्तर्भूतत्वेन दृष्टत्वाद्, द्वितीये विवक्षितजीवरक्षार्थं केवलिनः प्रयत्न एव न भवेत्, केवलिना तत्सामग्र्यनन्तर्भूतत्वेन दृष्टत्वादिति, 'न च प्रयत्नं कुर्वतापि रक्षितुं न पारित' इति वचनं छद्मस्थसंयतमधिकृत्यैवेति कल्पनाऽप्यपास्ता, व्यवहारविषयनियतत्वेनैव केवलिना सप्रयत्नस्य दृष्टत्वादिति दिग् ॥ ४४ ॥ ननु जीवहिंसा गर्हणीयाऽगर्हणीया वा ?, अन्त्ये लोकलोकोत्तरव्यवहारबाधः । आद्ये च गर्हणीयं कृत्यं भगवतो न भवतीति भगवतस्तदभावसिद्धिरित्याशङ्कायामाह—

खीणे मोहे णियमा, गरहाविसओ ण होइ किच्चंति ॥ सा ण जिणाणंति मई, दव्ववहे होइ णिव्विसया ॥४५॥

[क्षीणे मोहे नियमाद् गर्हाविषयो न भवति कृत्यमिति । सा न जिनानामिति मतिर्द्रव्यवधे भवति निर्विषया ॥ ४५ ॥]

'खीणे मोहे'त्ति क्षीणे मोहे निस्सत्ताकीभूते मोहनीयकर्मणि, नियमान्निश्चयेन, गर्हाविषयः । कृत्यं गर्हणीयं प्राणातिपातादिकर्म, न भवति, कस्यापि प्राणिनः । तदुक्तमुपदेशपदे—"इत्तो उ वीयरागो, ण किंचि वि करेइ गरहणिज्जं तु"त्ति । एतद्वृत्त्येकदेशो यथा—"इतस्त्वत एवाकरणनियमात्मकतरूपाद्, वीतरागः क्षीणमोहादिगुणस्थानवर्त्ती मुनिः, न नैव, किञ्चिदपि करोति जीवघातादिकं सर्वं; गर्हणीयं त्ववद्य, देशोनपूर्वकोटीकालं जीवन्नपीति।" इति हेतोः । सा हिंसा, जिनानां विगलितसकलगर्हणीयकर्मणां क्षीणमोहवीतरागाणां न भवतीति तव मतिः, केवलं भावप्राणातिपातनिषेधापेक्षया सविषया स्याद्, द्रव्यवधे तु निर्विषया भवति, तस्याशक्यपरिहारत्वेनागर्हणीयत्वात्; द्रव्यभावोभयरूपस्य केवलभावरूपस्य च प्राणातिपातादेर्व्रतभङ्गरूपत्वेन शिष्टलोकगर्हणीयत्वाद् शिष्टगर्हायाश्चाप्रयोजकत्वात् । क्रूरकर्माणो हि 'न स्वयंभूरयं किन्तु मनुष्य इति कथमस्य देवत्वम् ?, कवलाहारवतो वा कथं केवलित्वम् ?' -इत्यादिकां भगवतोऽपि गर्हां कुर्वन्त्येवेति । न चेदेवं तदोपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो गर्हणीयप्राणातिपाताद्यभ्युपगमे यथाख्यातचारि-

त्रविलोपप्रसङ्गः। अथोपशान्तमोहवीतरागस्य मोहनीयसत्ताहेतुकः कदाचिदनाभोगसहकारिकारणवशेन गर्हापगयणजनस्य प्रत्यक्षत्वाद् गर्हणीयो जीवघातो भवत्येव, न तु यथाख्यातचारित्रलोपस्तेन भवति, उत्सूत्रप्रवृत्तेरेव तल्लोपहेतुत्वात्। न च प्रतिषिद्धप्रतिषेवणमात्रेणोत्सूत्रप्रवृत्तिः, किन्तु साम्परायिकक्रियाहेतुमोहनीयोदयसहकृतेन प्रतिषिद्धप्रतिषेवणेन। सा चोपशान्तवीतरागस्य न भवति, तस्या मोहनीयानुदयजन्येर्यापथिकीक्रियया बाधितत्वात्; उत्सूत्रप्रवृत्तीर्यापथिकीक्रिययोः सहानवस्थानाद्। यदागमः—"जस्स णं कोहमाणमायालोभा वुच्छिण्णा भवन्ति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जति। तहेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइआ किरिया कज्जति, से णं उस्सुत्तमेव रीयइत्ति॥" [यस्य खलु क्रोधमानमायालोभा व्युच्छिन्ना भवन्ति, तस्य खलु ईर्यापथिकी क्रिया क्रियते तथैव यावत् उत्सूत्रं रीयमाणस्य साम्परायिका क्रिया क्रियते। स खलु उत्सूत्रं रीयते॥ भ०श०७उ०१] तथाऽस्मादुत्सूत्रप्रवृत्तिप्रतिबन्धिका भावत ईर्यापथिकी क्रियैव, यथाख्यातचारित्रप्रतिबन्धिका च मोहनीयोदयजन्या साम्परायिकी क्रिया भवतीति सम्यक्पर्यालोचनायामुपशान्तवीतरागस्य नोत्सूत्रप्रवृत्तिर्न वा यथाख्यातचारित्रहानिरिति चेत्। न, द्रव्यवधस्य गर्हणीयत्वे प्रतिषिद्धप्रतिषेवणरूपत्वे च तेनोपशान्तमोहस्यापि यथाख्यातचारित्रस्य निर्ग्रन्थत्वस्य च विलोपप्रसङ्गस्य वज्रलेपत्वात्। "परिहारविसुद्धियसंजए पुच्छा, गो० णो पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा। एवं जाव अहक्खायसंजए" उद्देश६॥ "कसायकुसीले णं पुच्छा, गो०णो पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा, एव णिग्गथेवि, एवं सिणाएवि।" भ० श० २५ उद्देश७ [परिहारविशुद्धिकसंयते पृच्छा, गौतम! न प्रतिषेवको भवेत्, अप्रतिषेवको भवेद्, एवं यावत् यथाख्यातसंयते॥ कषायकुशीले पृच्छा, नो प्रतिषेवको भवेद् अप्रतिषेवको भवेत्। एव निर्ग्रन्थेऽपि, एवं स्नातकेऽपि॥] इत्याद्यागमेन प्रतिषिद्धप्रतिषेवणस्योपरितनचारित्रनिर्ग्रन्थत्रयविरोधिताप्रतिपादनात्, 'प्रति संयमप्रतिकूलार्थस्य सञ्ज्वलनकषायोद-

यात्, सेवकः-प्रतिषेवक' इति प्रतिषेवणाद्वारे व्याख्यानात् प्रतिषेवणाविशेषेणैव यथाख्यातचारित्रादिविरोधव्यवस्थितेः ॥ अनाभोगजद्रव्यहिंसायाः प्रतिषिद्धप्रतिषेवणरूपत्वे उपशान्तमोहवृत्तित्वे च न बाधकमिति चेत् । न, प्रतिषेवापदविषयविभागेऽनाभोगजप्रतिषेवाया अपि परिगणनाद् । यदागमः—"दसविहा पडिसेवणा पण्णत्ता । तं० दप्प१प्पमाय२ऽणाभोगे ३, आउरे ४ आवईइ(सु)५ य ॥ संकिए ६ सहसक्कारे ७, भय८प्पदोसा ९ य वीमंस १०त्ति ॥१॥" [दर्पप्रमादानाभोगे आतुरे आपत्सु च ॥ शंकिते सहसात्कारे भयात्प्रद्वेषाद्विमर्शाच्च ॥ स्थानांग सू० ७३३] तस्माद् द्रव्यहिंसायाः प्रतिषेवणारूपत्वाभ्युपगमे तथाप्युपशान्तमोहस्य प्रतिषेवित्वं स्यादित्यप्रतिषेवित्वव्याप्ययथाख्यातचारित्रनिर्ग्रन्थत्वयोस्तत्र का प्रत्याशा? मोहोदयविशिष्टप्रतिषेवणत्वेनोत्सूत्रप्रवृत्तिहेतुमभ्युपगम्य वीतरागे मोहसत्ताजन्यप्रतिषेवणाश्रयणेऽपसिद्धान्तादिदोषा दुर्द्धरा एव प्रसज्येरन्, मोहोदयसत्ताजन्योत्सूत्रप्रवृत्तिहेतुप्रतिषेवणाभेदस्य क्वापि प्रवचनेऽश्रुतत्वात्, प्रत्युत कषायकुशीलादिपरिहारविशुद्धिकाद्युपरितननिर्ग्रन्थसंयमत्रयस्याप्रतिषेवित्वाभिधानाद् । मोहोदयमात्रमपि न प्रतिषेवणाजनकमिति तत्सत्ताजन्यप्रतिषेवणवार्त्तापि दूरोत्सारितैवेति तस्या उत्सूत्रप्रवृत्तिहेतुत्वे मोहोदयविशिष्टत्वं तन्त्रमित्यत्र सूत्रसम्मतिप्रदर्शनमत्यसमञ्जसम्, ततः पुलाकबकुशप्रतिसेवाकुशीलत्रयवृत्त्यपकृष्टसंयमस्थाननियतसञ्ज्वलनोदयव्याप्य एव व्यापारविशेषः प्रतिषेवणारूपः स्वीकर्त्तव्यः, स एव च साधूनां गर्हणीय इति । " इत्तो उ वीयरागो, ण किंचि वि करेइ गरहणिज्जं तु ॥ " इत्यनेन तदत्यन्ताभाव एव वीतरागस्य प्रतिपाद्यते, न तु द्रव्यहिंसाभावोऽपीति प्रतिपत्तव्यम् ॥ ४५ ॥ एतदेव स्फुटीकुर्वन्नाह—

अकरणणियमावेक्खं, एयं भणिअंति अपडिसेवाए ॥ इत्तो जिणाण सिद्धी, ण उ दव्ववहस्स पडिसेहो ॥४६॥

[अकरणनियमापेक्षमेतद् भणितमिति अप्रतिषेवायाः । इतो जिनानां सिद्धिर्न तु द्रव्यवधस्य प्रतिषेधः ॥ ४६ ॥]

'अकरणणियमावेक्खं' त्ति । एतद् 'वीतरागो न किञ्चिद् गर्हणीयं करोति' इत्यकरणनियमापेक्षं भणितमुपदेशपदे, तत्र तस्यैवाधिकाराद्, अकरणनियमश्च पापशरीरकार्श्यहेतुराजयक्ष्मरोगस्थानीयः क्षयोपशमविशेषः, स च ग्रन्थिभेदादारभ्याऽऽक्षीणमोहं प्रवर्द्धते, यथा यथा च तत्प्रवृद्धिस्तथा तथा पापप्रवृत्त्यपकर्ष इति क्षीणमोहे मोहक्षयरूपस्याकरणनियमस्यात्यन्तोत्कर्षस्य सिद्धौ पापप्रवृत्तेरत्यन्तापकर्ष इति तत्र पापप्रवृत्त्यत्यन्ताभावः सिद्ध्यतीति सूत्रसन्दर्भेणैव तत्र (उपदेशपदे) स्फुटं प्रतीयते । तथा हि—"पावे अकरणणियमो, पायं परतिन्निवित्तिकरणाओ ॥ णेओ य गंठिभेए, भुज्जो तयकरणरूवो उ ॥६९५॥ [पापे अकरणनियमः प्रायः परतन्निवृत्तिकरणात् । ज्ञेयश्च ग्रन्थिभेदे भूयस्तदकरणरूपस्तु ॥१॥] कियदन्तरे च–"देसविरइगुणठाणे, अकरणणियमस्स एव सब्भावो ॥ सव्वविरइगुणठाणे, विसिट्ठतरओ इमो होइ ॥७२९॥ जं सो पहाणतरओ, आसयभेओ अओ य एसो त्ति ॥ एत्तो चिय सेढीए, णेओ सव्वत्थवी एसो ॥७३०॥ एत्तो उ वीयरागो, ण किंचि वि करेइ गरहणिज्जं तु। ता तत्तग्गइखवणाइ–कप्पमो एस विण्णेओ ॥७३१॥" त्ति । [देशविरतिगुणस्थाने अकरणनियमस्य एव सद्भावः । सर्वविरतिगुणस्थाने विशिष्टतरश्चायं भवति ॥ १ ॥ यत्स प्रधानतर आशयभेदोतश्च एप इति । इत एव श्रेण्या ज्ञेयः सर्वत्राप्येषः ॥२॥ इतश्च वीतरागो न किंचिदपि करोति गर्हणीयं तु । ततस्तत्तद्गतिक्षपणादिविकल्प एप विज्ञेयः ॥ ३ ॥ इति] तथा चैतो वचनादप्रतिसेवाया जिनानां सिद्धिः, प्रतिपेवारूपपापस्यैव(वा)प्रवृत्तेः पूर्वगुणस्थानेष्वपकर्षतारतम्याज्जिनानां तदत्यन्तापकर्षसम्भवाद् न तु द्रव्यवधस्य प्रतिषेधः, तस्यापकर्षतारतम्यादर्शनाद्, न हि सम्यग्दृष्टिदेशविरत्यादियोगाज्जायमानायां द्रव्यहिंसायामपकर्षभेदो दृश्यते, येन जिनेषु तदत्यन्ताभावः सिद्ध्येद्, अभ्यन्तरपापप्रतिषेवणे तु प्रतिगुणस्थानं महानेन भेदो दृश्यत इति केवलिनि तदत्यन्ताभावसिद्धिरनाबाधैवेति ॥ ४६ ॥

नन्वेव वीतरागपदेनोपशान्तमोहोऽपि (उपदेशपद) वृत्तिकृता कथं न गृहीतः ? तस्याप्यप्रतिषेविन्वाद्-इत्याशङ्कायामाह—

परिणिट्ठियवयणमिणं, जं एसो होइ खीणमोहंमि ॥ उवसमसेढीए पुण, एसो परिणिट्ठिओ ण हवे ॥४७॥

[परिनिष्ठितवचनमिदं यदेषो भवति क्षीणमोहे । उपशमश्रेण्यां पुनः, एष परिनिष्ठितो न भवेद् ॥ ४७ ॥]

'परिणिट्ठियवयणमिणं' त्ति । परिनिष्ठितवचनं सम्पूर्णफलवचनमेतद्, यदेषोऽकरणनियमः, क्षीणमोहे भवतीति । उपशमश्रेण्यां त्वयमकरणनियमः, परिनिष्ठितो न भवेत्, तस्याः प्रतिपातस्य नियमात्, तत्राकरणनियमवैशिष्ट्यासिद्धेः, परिनिष्ठितविशिष्टाकरणनियमाधिकारादेव क्षीणमोहादिर्वीतरागो वृत्तिकृता विवक्षित इति न कोऽपि दोष इति भावः । परिनिष्ठिताप्रतिषेवित्वफलभागित्वादेव च क्षीणमोहस्य कषायकुशीलादेर्विशेषोऽप्रतिषेवित्वं वा भगवतोऽभिधीयमानमपकृष्यमाणसकलपापाभावोपलक्षणमिति सर्त्तव्यम् ॥४७॥ ननु 'वीतरागो गर्हणीयं पाप न करोतीति' वचनाद् गर्हणीयपापाभावः क्षीणमोहस्य सिद्ध्यति, गर्हणीयं च पापं द्रव्याश्रव एव, तस्य गर्हापरायणजनस्य प्रत्यक्षत्वादिति द्रव्याश्रवाभावस्तत्र सिद्ध एव, अत एव क्षीणमोहस्य कदाचिदनाभोगमात्रजन्यसम्भावनारूढाश्रवच्छायारूपदोषसम्भवेऽपि न क्षतिः, तस्याध्यवसायरूपस्य छद्मस्थज्ञान(ना)गोचरत्वेनागर्हणीयत्वाद्, गर्हणीयद्रव्याश्रवाभावादेव तत्र वीतरागत्वाहानेः-इत्याशङ्कायामाह—

दव्वासवस्स विगमो, गरहाविसयस्स जइ तहिं इट्ठो ॥ ता भावगयं पावं, पडिवक्खं अत्थओ होइ ॥ ४८ ॥

[द्रव्याश्रवस्य विगमो गर्हाविषयस्य यदि तत्रेष्टः ॥ ततो भावगतं पापं प्रतिपक्षमर्थतो भवति ॥ ४८ ॥]

'दव्वासवस्स'त्ति । गर्हाविषयस्य द्रव्याश्रवस्य विगमो यदि, तर्हीति तत्र क्षीणमोहे, इष्टोऽभिमतो भवतः, तर्हि अर्थतोऽर्थापत्त्या, भावगतं पापं तत्र, प्रतिपन्नं भवति, गर्हणीयपापत्वावच्छिन्नं प्रति त्वन्मते मोहनीयकर्मणो हेतुत्वात्, तन्निवृत्तौ गर्हणीयपापनिवृत्तावप्यगर्हणीयभावरूपपापानिवृत्तेः अगर्हणीयपापेऽप्यनाभोगस्य हेतुत्वात् तन्निवृत्तौ केवलिनस्तन्निवृत्तिः । क्षीणमोहस्य त्वाश्रवच्छायारूपमगर्हणीयपापमभ्युपगम्यत एवेति न दोष इति चेत्, न । अभ्यन्तरपापमात्रस्य गर्हापरायणजनाप्रत्यक्षत्वेन त्वन्मते-ऽगर्हणीयत्वात् तत्सामान्येनाभोगस्य हेतुत्वात् । मोहाजन्यागर्हणीयपापेऽनाभोगस्यान्यत्र च तत्र मोहस्य हेतुत्वान्न दोष इति चेत्, न, गर्हणीयपापहेतोर्मोहस्यागर्हणीयपापहेतुत्वाभावाद्, अन्यथा तज्जन्यगर्हणीयागर्हणीयोभयस्वभावैकपापप्रसङ्गादिति न किञ्चिदेतत् ॥४८॥

द्रव्याश्रवस्य मोहजन्यत्वमेव व्यक्त्या निराकुर्वन्नाह—

णियणियकारणपभवा, दव्वासवपरिणई ण मोहाओ। इहरा दव्वपरिग्गह—जुओ जिणो मोहवं हुज्जा ॥४९॥

[निजनिजकारणप्रभवा द्रव्यास्रवपरिणतिर्न मोहात् । इतरथा द्रव्यपरिग्रहयुतो जिनो मोहवान् भवेत् ॥ ४९ ॥]

व्याख्या—द्रव्याश्रवाणां प्राणातिपात-मृषावादादीनां, परिणतिः, निजनिजानि कारणानि यानि नोदनाभिघातादियोगव्यापारमृषाभाषावर्गणाप्रयोगादीनि, तत्प्रभवा सती, न मोहान्मोहनीयकर्मणो भवति-मोहजन्या नेत्यर्थः । क्वचित्प्रवृत्त्यर्थं मोहोदयापेक्षायामपि द्रव्याश्रवत्वावच्छिन्ने मोहनीयस्याहेतुत्वाद्, अन्यथाऽऽहारसंज्ञावतां कवलाहारप्रवृत्तौ बुभुक्षारूपमोहोदयापेक्षणात्कवलाहारत्वावच्छिन्नेऽपि मोहस्य हेतुत्वात् केवली कवलभोज्यपि न स्यादिति दिगम्बरसगोत्रत्वापत्तिरायुष्मतः । अथ कवलाहारस्य वेदनीयकर्मप्रभवत्वान्न तत्र मोहनीयस्य हेतुत्वम्, आश्रवस्य तु मोहप्रभवत्वप्रसिद्धेर्द्रव्याश्रवपरिणतिरपि मोहजन्यैव, तत्रोदितं चारित्रमोहनीयं

भावाश्रवहेतुरसंयतानां सम्पद्यते, संयतानां तु प्रमत्तानामपि मत्तानर्त्तिचारित्रमोहनीयं द्रव्याश्रवमेव सम्पादयति, सुमङ्गलसाधोरिवाऽऽभोगेनापि जायमानस्य तस्य ज्ञानाद्यर्थमत्यापवादिकत्वेन तज्जन्यकर्मबन्धाभावात्संयमपरिणामस्यानपायेनाविरतिपरिणामस्याभावात्तदुपपत्तेः। या तु तेषामारम्भिकी क्रिया सा न जीवघातजन्या, किन्तु प्रमत्तयोगजन्या; "सव्वो पमत्तजोगो आरंभोत्ति" [सर्वः प्रमत्तयोगः आरम्भ इति ।] वचनात्; अन्यथाऽऽरम्भिकी क्रिया कस्यचित्प्रमत्तस्य कादाचित्क्येव स्यात्, तत्कारणस्य जीवघातस्य कस्यचित्कादाचित्कत्वात्, अस्ति चाऽऽरम्भिकी क्रिया प्रमत्तगुणस्थानं यावदनारतमेव । किञ्च-यदि जीवघातेनाऽऽरम्भिकी क्रिया भवेत्। तदाऽपरोऽप्रमत्तो दूरे, उपशान्तवीतरागस्याप्यारम्भिकी क्रिया वक्तव्या स्याद्; अस्ति च तस्य सत्यपि जीवघाते ईर्यापथिक्येव क्रियेति न जीवघातात्संयतस्यारम्भिकी क्रिया, किन्तु प्रमत्तयोगादिति स्थितम् । स च प्रमत्तो योगः प्रमादैर्भवति । ते च प्रमादा अष्टधा शास्त्रे प्रोक्ताः-१अज्ञान२संशय३विपर्यय४राग५द्वेष६मतिभ्रंश७योगदुष्प्रणिधान८धर्मानादरभेदात्। ते चाज्ञानवर्जिताः सम्यग्दृष्टेरपि सम्भवन्तोऽतः प्रमत्तसंयतपर्यन्तानामेव भवन्ति न पुनरप्रमत्तानामपि, प्रमादाप्रमादयोः सहानवस्थानात् । तेनेहाष्टासु प्रमादेषु यौ रागद्वेषौ प्रमादत्वेनोपात्तौ तौ योगानां दुष्प्रणिधानजननद्वाराऽऽरम्भिकीक्रियाहेतू ग्राह्यौ; तयोश्च तथाभूतयोः फलोपहितयोग्यतया जीवघातं प्रति कारणत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि स्वरूपयोग्यतया तथात्वं सार्वदिकमेव । यद्यपि सामान्यतो रागद्वेषावप्रमत्तसंयतानामपि कदाचित्फलोपहितयोग्यतयापि जीवघातहेतू भवतस्तथापि तेषां तौ न प्रमादौ; यतनाविशिष्टया प्रवृत्त्या सहकृतयोस्तयोरारम्भिकीक्रियाया अहेतुत्वात्, तदप्यनाभोगसहकृतयतनाविशिष्टयो रागद्वेषयोर्योगाना दुष्प्रणिधानजनने सामर्थ्याभावात्, सम्यगीर्यया प्रवृत्त्या तयोस्तथाभूतसामर्थ्यस्यापहरणात्। न चैवं प्रमत्तानां सम्भवति, तेषामयतनया विशिष्टयोस्तयोर्योगानामशुभताजनकत्वेनारम्भिकीक्रियाहेतुत्वाद्,

अत एव प्रमत्ताना विनाऽपवादं जीवघातादिकं प्रमादसहकृतानाभोगजन्यम्। तदुक्तं दशवैकालिकअ० ४वृत्तौ-"अयतनया चरन् प्रमादानाभोगाभ्यां प्राणि(ण)भूतानि हिनस्तीति।" ततः संयताना सर्वेषां द्रव्याश्रव एव भवति। तत्र प्रमत्तसंयतानामपवादपदप्रतिषेवणावस्थायामाभोगेऽपि ज्ञानादिरक्षाभिप्रायेण संयमपरिणामानपायाद् द्रव्यत्वम्, अन्यावस्थायां त्वनाभोगाद्। अप्रमत्तसंयतानां त्वपवादानधिकारिणां घात्यजीवविषयकाभोगप्रमादयोरभाव एवेत्यर्थादनाभोगसहकृतमविशेषितं मोहनीयं कर्मैव जीवघातादिकारणं सम्पन्नम्, तयोरेकतरस्याभावेऽप्यप्रमत्तसंयतानां द्रव्याश्रवो न भवत्येवेति ततः प्रमत्तान्तानां प्रमादाद् अप्रमत्तानां तु मोहनीयानाभोगाभ्या द्रव्याश्रवपरिणतिरिति सिद्धमिति॥ मोहं विना द्रव्याश्रवपरिणतिर्न स्वकारणप्रभवा केवलिनः सम्भवतीति चेत्, तत्राह-**इतरथा** द्रव्याश्रवपरिणतेर्मोहजन्यत्वनियमे, **द्रव्यपरिग्रहेण** वस्त्रपात्ररजोहरणादिलक्षणेन, **युतो जिनो मोहवान् भवेत्**, द्रव्यहिंसाया इव द्रव्यपरिग्रहपरिणतेरपि त्वन्मते मोहजन्यत्वाद्। न च धर्मोपकरणस्य द्रव्यपरिग्रहत्वमशास्त्रीयमिति शङ्कनीयम्। "दव्वओ णाम एगे परिग्गहे णो भावओ १; भावओ णामेगे णो दव्वओ २, एगे दव्वओवि भावओवि ३, एगे णो दव्वओवि णो भावओवि ४। तत्थ अरत्तदुट्ठस्स धम्मोवगरणं दव्वओ परिग्गहो णो भावओ १। मुच्छियस्स तदसंपत्तीए भावओ णो दव्वओ २, एवं चेव संपत्तीए दव्वओवि भावओवि ३ चरिमभंगो पुण सुन्नोत्ति ४॥ [द्रव्यतो नाम एकः परिग्रहः, नो भावतः। भावतो नाम एकः परिग्रहः, नो द्रव्यतः। एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि। एको नो द्रव्यतोऽपि नो भावतोऽपि। १ तत्र अरक्तद्विष्टस्य धर्मोपकरणं द्रव्यतः परिग्रहः, नो भावतः। २ मूर्छितस्य तदसंप्राप्त्या भावतो नो द्रव्यतः। ३ एवं चैव संप्राप्त्या द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि। ४ चरमभङ्गः पुनः शून्य इति।] इति चतुर्भङ्ग्या दशवैकालिक-पाक्षिकसूत्रवृत्तिचूर्ण्यादौ सुप्रसिद्धत्वात्। न च द्रव्यपरिग्रहयुतस्यापि भगवतो मोहवत्त्वमिष्यते, अतो

न द्रव्याश्रवपरिणतिर्मोहजन्येति भावः ॥४९॥ अनयैव प्रतिबन्द्या केवलिनो द्रव्यहिंसाया मत्यां रौद्रध्यानप्रसङ्गं परापादितं परिहरन्नाह—

एएणं दव्ववहे, जिणस्स हिंसाणुबंधसंपत्ती ॥ इय वयणं पक्खित्तं, सारक्खणभावसारिच्छा ॥ ५० ॥

[एतेन द्रव्यवधे जिनस्य हिंसानुबंधसंप्राप्तिः । इति वचनं प्रक्षिप्तं संरक्षणभावसादृश्यात् ॥ ५० ॥]

'एएणं'ति । एतेन द्रव्यपरिग्रहयुतस्यापि भगवतो मोहाभावेन, द्रव्यवधेऽभ्युपगम्यमाने, जिनस्य हिंसानुबन्धसम्प्राप्तिः हिंसानुबन्धिरौद्रध्यानप्रसङ्गः; छद्मस्थसंयतानां हि घात्यजीवविषयकानाभोगसहकृतमोहनीयलक्षणसहकारिकारणवशेन कायादिव्यापारा जीवघातहेतवो भवन्ति, त एव च योगा घात्यजीवविषयकाभोगसहकृततथाविधमोहनीयक्षयोपशमादिसहकारिकारणविशिष्टा जीवरक्षाहेतव इत्यनुभवसिद्धम् । केवलिनस्तु योगाः पराभिप्रायेणानाभोगमोहनीयाद्यभावेन परिशेषात् केवलज्ञानसहकृता एव जीवघातहेतवो भवन्ति, केवलज्ञानेन 'एतावन्तो जीवा अमुकक्षेत्रादौ ममावश्यं हन्तव्याः' इति ज्ञात्वैव केवलिना तद्घातात्, तथा च तस्य जीवरक्षादिकं कदापि न भवेत्, केवलज्ञानसहकृततद्योगानां सदा घातकत्वात्, जीवघातस्येव जीवरक्षायाम(अ)प्यवश्यभावित्वेन परिज्ञानाद्, उभयत्र केवलज्ञानस्य सहकारिकारणत्वकल्पने च केवलिनो योगानां जीवघातजीवरक्षाहेतू शुभाशुभत्वे सर्वकालं युगपद् भवतः ॥ एतच्चानुपपन्नम्, परस्परं प्रतिबन्धकत्वादित्येकतरस्याभ्युपगमे पराभिप्रायेण सर्वकालमशुभत्वमेव सिद्ध्यतीति हन्तव्यचरमजीवहननं यावद्धिंसानुबन्धिरौद्रध्यानप्रसङ्गः, इति–एतद्वचनं परस्य, प्रक्षिप्तम्, संरक्षणभावस्य संरक्षणानुबन्धिरौद्रध्यानस्य, सादृश्याद् द्रव्यपरिग्रहाभ्युपगमे भगवतस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् । शक्यं ह्यत्रापि भवादृशेन वक्तुम्, छद्मस्थसंयतानां परिग्राह्यवस्तुविषयकानाभोगसहकृतमोहनीयलक्षणसहकारिकारणवशेन कायादिव्यापाराः परिग्रहग्रहणहेतवः, अत एव च परिग्राह्यवस्तुविषयकाऽऽभोगसहकृततथावि

धर्मोहनीयक्षयोपशमादिसहकारिकारणविशिष्टाः परिग्रहत्यागहेतव इत्यनाभोगमोहनीयाभावे केवलियोगानां परिग्रहग्रहणे केवलज्ञानमेव सहकारिकारणमिति यावत्केवलिनो धर्मोपकरणधरणं तावत् संरक्षणानुबन्धिरौद्रध्यानमक्षतमेवेति । द्रव्यपरिग्रहेऽभिलापमूलसंरक्षणीयत्वज्ञानाभावान्न रौद्रध्यानमिति यदि विभाव्यते, तदा द्रव्यहिंसायामपि स्वयोगनिमित्तकहिंसाप्रतियोगिनि जीवे स्वेष्टहिंसाप्रतियोगित्वरूपघात्यत्वज्ञानाभावादेव न तदिति प्रगुणमेव पन्थानं किमिति न वीक्षसे ? ॥५०॥ अथ वस्त्रादिधरणं साधोरुत्सर्गतो नास्त्येव, कारणिकत्वात्; "तिहिं ठाणेहि वत्थं धरेज्जा, हिरिवत्तियं परीसहवत्तियं दुगंछावत्तियं' (स्थानांग) [त्रिभिः स्थानैः वस्त्रं धारयेत्–ह्रीप्रत्ययं परिषहप्रत्ययं जुगुप्साप्रत्ययम् ॥] इत्यागमेऽभिधानात्, किन्त्वापवादिकम् । तद्धरणकारणं च जिनकल्पायोग्याना स्थविरकल्पिकानां सार्वदिकमेव, निरतिशयत्वादिति तद्धरणमपि सार्वदिकं प्राप्तम् । तदुक्त विशेषावश्यके—"विहियं सुए चिय जओ, धरेज्ज तिहि कारणेहिं वत्थं ति ॥ तेणं चिय तदवस्सं, णिरतिसएणं धरेयव्वं ॥ २६०२ ॥ जिणकप्पाजोग्गाणं, ही-कुच्छ-परिसहा जओ वस्सं ॥ ही लज्जत्ति व सो सं-जमो, तयत्थं विसेसेणं ॥ २६०३ ॥"ति [विहितं श्रुत एव यतो धारयेत् त्रिभिः कारणैः वस्त्रमिति । तेनैव तदवश्यं निरतिशयेन धारयितव्यं ॥ जिनकल्पायोग्यानां ह्रीकुत्सापरिषहा यतोऽवश्यम् । ह्री लज्जेति वा स संयमस्तदर्थं विशेषेण ॥ इति ।] भगवतश्च यद्यपि वस्त्रादिधरणं ह्री-कुत्सापरिषहप्रत्ययं न सम्भवति, तस्य तदभावात्, तथापि शीतोष्णादिपरीषहप्रत्ययं तत्, आहारनिमित्तक्षुत्पिपासापरीषहवद्वस्त्रधरणनिमित्तशीतोष्णादिपरिषहसत्ताया अपि भगवत्यविरोधात्, तथाप्रकारेण तथाविधं कर्म क्षपणीयमित्यभिप्रायाच्च न रागादिविकल्पः, तथाविधसाध्वाचारस्थितिपरिपालनाभिप्रायेणैव वा तदिति धर्मार्थमत्युपगृहीतत्वाद् द्रव्यपरिग्रहे भगवतो न दोषः । यज्जातीयद्रव्याश्रवे संयतानामनाभोगेनैव प्रवृत्तिस्तज्जातीयद्रव्याश्रवस्यैव मोहजन्यत्वाभ्युपगमादनर्थदण्डभूतद्रव्य-

हिंसादेरेव तथात्वाद्, धर्मोपकरणरूपे द्रव्याश्रवे तु संयतानां नानाभोगेनैव प्रवृत्तिः, किन्तु धर्माधर्मार्थमत्याऽपरिग्रहत्वाभोगेनैवेति स्वकारणलब्धजन्मनस्तस्य भगवत्यविरोधः-इत्याशङ्कायामाह—

अववाओवगमे पुण, इत्थं नूणं पइण्णहाणी ते ॥ पावंति असुहजोगा, एवं च जिणस्स तुज्झ मए ॥५१॥

[अपवादोपगमे पुनरित्थं नूनं प्रतिज्ञाहानिस्ते । प्राप्नुवन्ति अशुभयोगा एवं च जिनस्य तव मते ॥ ५१ ॥]

'अववाओवगमे पुण'त्ति, अत्र भगवतो द्रव्यपरिग्रहे, अपवादोपगमेऽपवादाङ्गीकारे, पुनस्ते तव, प्रतिज्ञाहानिः, अपवादप्रतिषेवणं च संयतेष्वपि प्रमत्तस्यैव भवतीति तव प्रतिज्ञेति। च पुनः, एव धर्मोपकरणमङ्गानेनापवादतो द्रव्याश्रवाभ्युपगमे, तव मते जिनस्याशुभयोगाः प्राप्नुवन्ति । इदं हि तव मतम्—योगानामशुभत्वं तावन्न जीवघातहेतुत्वमात्रेण, उपशान्तगुणस्थानं यावदप्रमत्तसंयतानां कदाचित्सद्भूतजीवघातसम्भवेन भग०शत०१उ०१ "तत्थ णं जे ते अपमत्तसंजया ते णं णो आयारंभा, णो परारंभा, णो तदुभयारभा, अणारंभा" [तत्र ये ते अप्रमत्तसंयतास्ते नो आत्मारम्भा नो परारम्भा नो तदुभयारम्भाः अनारम्भाः ॥] इत्यागमप्रतिपादितानारम्भकत्वानुपपत्तिप्रसक्तेरशुभयोगानामारम्भकत्वव्यवस्थितेः, किन्तु फलोपहितयोग्यतया घात्यजीवविषयकाभोगपूर्वकजीवघातहेतुत्वेन; अत्र फलोपहितयोग्यतयेति पदं केवलियोगानामशुभत्वनिवारणार्थमेव, तेषां स्वरूपयोग्यतयैव यथोक्तजीवघातहेतुत्वाद्, न पुनः फलोपहितयोग्यतयापि, कारणानामभावात् । तथाऽशुभत्व प्रमत्तयोगानामेव. तदभिव्यञ्जकं तु प्रमत्तयोगानां फलवच्छुभाशुभत्वाभ्यां द्वैविध्याभिधायकमागमवचनमेव। तथा हि–"तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते णं सुहं जोगं पडुच्च णो आयारभा, जाव अणारभा। असुहं जोगं पडुच्च आयारभावि जाव णो अणारभत्ति।" [तत्र ये ते प्रमत्तसंयतास्ते शुभं योगं प्रतीत्य नो आत्मारम्भा

यावदनारम्भाः । अशुभं योगं प्रतीत्य आत्मारम्भा अपि यावद् नो अनारम्भा इति ॥] अत्रापि प्रमत्तसंयतानां सामान्यतः प्रमत्ततासिद्ध्यर्थं तदीययोगानां स्वरूपयोग्यतयाऽऽभोगपूर्वकजीवघातहेतुत्वं वक्तव्यम्, कादाचित्काशुभयोगजन्यारम्भकत्वसिद्ध्यर्थं चाभोगोऽपि घात्यजीवविषयत्वेन व्यक्तो वक्तव्यः, तद्वत एव कस्यचित्प्रमत्तस्य सुमङ्गलसाधोरिवापवादावस्था प्राप्तस्यात्माद्यारम्भकत्वात्, संयतत्व च तस्य तदानीमपवादपदोपाधिकविरतिपरिणामस्यानपायाद्, न चैवमप्रमत्तसंयतस्य भवति, तस्यापवादपदाधिकारित्वाभावेनाभोगपूर्वकजीवघातहेतूना योगानामभावात् । यस्त्वपवादप्रतिषेवणागहित्यावस्थायामप्यप्रमत्तानामिव सद्भूतजीवघातः स चानाभोगजन्य एव, तदानीमनाभोगस्यापि तस्य विद्यमानत्वाद्, अत एवाप्रमत्तानामिव योगाना शुभत्वेन नात्माद्यारम्भकत्वमिति । फलोपहितयोग्यतास्वरूपयोग्यतयोश्चायं भेदः–'यस्य यदन्तर्गतत्वेन विवक्षितकार्यं प्रति कारणता तस्य तदन्तर्गतत्वेनैव फलवत्तया फलोपहितयोग्यता', 'अन्यथा तु स्वरूपयोग्यता,' सत्यपि तस्य कारणत्वे तदितरसकलकारणराहित्येन विवक्षितकार्याजनकत्वात्, पर स्वरूपयोग्यता एकस्मिन्नपि कारणे सजातीयविजातीयानेकशुभाशुभकार्याणां नानाप्रकारा आधाराधेयभावसम्बन्धेन सह जाताः कारणसमानकालीनाः, फलोपहितयोग्यतास्तु स्वरूपयोग्यताजनिता अपि कादाचित्का एव, तदितरसकलकारणसाहित्यस्य कादाचित्कत्वात्, यच्च कादाचित्क तत्केपाञ्चित्कारणाना सम्भवन्त्योऽपि कादाचित्क्य एव मन्तव्याः; अत एव केवलिना योगा अशुभकार्यमात्रं प्रति सर्वकालं स्वरूपयोग्यताभाज एव भवन्ति, न पुनः कदाचिदपि फलोपहितयोग्यताभाजोऽपि, अशुभकार्यमात्रस्य कारणानां ज्ञानावरणोदयादिघातिकर्मणामभावेन तदितरसकलकारणसाहित्याभावात् । शुभकार्याणां तु यथासम्भवं कदाचित्फलोपहितयोग्यतापि स्यात्, तथैव तदितरसकलकारणसाहित्यस्य सम्भवादिति न कश्चिद्विरोधः । इत्थं चापवाददशाया प्रमत्तसंयतानां योगानां फलोपहितयोग्यतया

ऽऽभोगपूर्वकजीवघातहेतुत्वेन यथाऽशुभत्वं तथा केवलिन आपवादिकस्य धर्मार्थमन्या धर्मोपकरणस्य धरणेऽपि त्वन्मतनीत्याऽऽभोगपूर्वकपरिग्रहग्रहणस्य फलोपहितयोग्यतया हेतूनां योगानामशुभत्वापत्तिः स्फुटैवेति। अथ यद्यपवादेन धर्मोपकरणग्रहणं भगवतोऽभ्युपगम्येत तदा स्यादयं दोषः, अपवादं च केवलिनः कदाऽपि नाभ्युपगच्छामः, तस्य प्रतिषिद्धप्रतिसेवनात्मकत्वेन स्वरूपतः सावद्यत्वात्; निरवद्यत्वं चास्य पुष्टालम्बनप्रतिसेवितस्य रोगविशेषविनाशकस्य परिकर्मितवत्सनागस्येव प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना सोपाधिकमेव। यापि 'गंगाए णाविओ णंदो" ['गंगाया नाविको नन्दः' इत्यादि धर्मरुचिकथानके द्रष्टव्यम्।] इत्यादिव्यतिकरोपलक्षितस्य धर्मरुचेरनगारस्य नाविकादिव्यापादनप्रवृत्तिः सापि परमार्थपर्यालोचनाया पुष्टालम्बनेन, तत्कृतोपसर्गस्य ज्ञानादिहानिहेतुत्वाद्, ज्ञानादिहानिजन्यपरलोकानाराधनाभयेन प्रतिषिद्धप्रवृत्तेः पुष्टालम्बनमूलत्वात्; केवलं शक्त्यभावभावाभ्यां पुष्टालम्बनतदितरापवादयोः प्रशस्ताप्रशस्तसञ्ज्वलनकषायोदयकृतो विशेषो द्रष्टव्यः; ज्ञानादिहानिभयं च केवलिनो न भवतीति तस्य नापवादवार्त्तापि। यच्च धर्मोपकरणधरणं तद्व्यवहारनयप्रामाण्यार्थम्, व्यवहारनयस्यापि भगवतः प्रमाणीकर्त्तव्यत्वाद्। इत्थं च श्रुतोदितरूपेण धर्मोपकरणधरणे न केवलिलक्षणहानिः, 'इदं सावद्यम्' इति प्रज्ञाप्य तत्प्रतिसेवनाद्, अत एव–"ववहारो वि हु बलवं, जं वंदइ केवली वि छउमत्थं॥ आहाकम्मं भुंजइ, सुअववहार पमाणंतो" ॥२२९॥ (पुष्पमाला) तद्वृत्तिः–"न केवलं निश्चयोऽपि तु स्वविषये व्यवहारोऽपि बलवान्। यच्चसारकारणात् समुत्पन्नकेवलज्ञानोऽपि शिष्यो यद्यपि निश्चयतो विनयसाध्यस्य कार्यस्य सिद्धत्वात्केवली न कस्यचिद्वन्दनादिविनयं करोति, तथापि व्यवहारनयमनुवर्त्तमानः पूर्वविहितविनयो गुरुं वन्दते–आसनदानादिकं च विनयं तस्य तथैव करोति, यावदद्यापि न ज्ञायते, ज्ञाते पुनर्गुरुरपि निवारयत्येवेति भावः। अपरं च—अतीवगूढाचारेण केनचिद् गृहिणा विहितमाधाकर्म तच्च श्रुतोक्त

परीक्षया परीक्षमाणेनाप्यशठेन छद्मस्थसाधुनाऽविज्ञातं गृहीत्वा केवलिनिमित्तमानीतं यथावस्थितं च केवलिनस्तज्ज्ञानतो निश्चयनयमतेनाभोक्तव्यमपि श्रुतरूपं व्यवहारनयं प्रमाणीकुर्वन्नसौ भुङ्क्त एव, अन्यथा श्रुतमप्रमाणं कृतं स्यात्, एतच्च किल न कर्त्तव्यम्, व्यवहारस्य सर्वस्य प्रायः श्रुतेनैव प्रवर्तमानत्वात्, तस्माद् व्यवहारनयोऽपि बलवानेव केवलिना समर्थितत्वाद्।" इति पुष्पमालासूत्रवृत्त्यादिवचनात् केवलिनोऽनेषणीयाहारस्य प्रवृत्तिसिद्धावपि नापवादसिद्धिः, ज्ञानादिहानिभयेन तत्राऽप्रवृत्तेः, श्रुतव्यवहारशुद्ध्यर्थमेव तत्र प्रवृत्तेः, तत्र 'इद सावद्यम्' इति भणितेरभावान्न वचनविरोधः। 'यदि च तदनेषणीयं कथञ्चित् कदाचिदपि केवलिना भुक्तम्' इति छद्मस्थज्ञानगोचरीभवेत् तर्हि केवली न भुङ्क्त एव केवल्यपेक्षया श्रुतव्यवहारशुद्धेरेवाभावाद्, 'अशुद्धमिति ज्ञात्वापि केवलिना भुक्तम्' इति छद्मस्थेन ज्ञातत्वात्। अत एव रक्तातिसारोपशमनार्थं रेवतीकृतकूष्माण्डपाको भगवता श्रीमहावीरेण ज्ञात्वैव भुक्तं इति प्रतिपिद्धः, कदाचित्साधुना श्रुतव्यवहारशुद्ध्यानीतोऽपि रेवती तु जानात्येव—यद् भगवता श्रीमहावीरेण ज्ञात्वैन भुक्तं इति छद्मस्थज्ञानगोचरत्वेन श्रुतव्यवहारभङ्ग एवेति। एतेन केवलिनोऽभिप्रायाभावाज्जीवघातादौ सत्यपि न दोष इति पराशङ्कापि परास्ता, रेवतीकृतकूष्माण्डपाकपरित्यागानुपपत्तिप्रसक्तेः। किञ्च—स्वतन्त्रक्रियावतो ज्ञानपूर्वकप्रवृत्तावभिप्रायाभावं वक्तुं कः समर्थः?। न च श्रुतव्यवहारशुद्धमनेषणीयं भुञ्जानः केवली सावद्यप्रतिषेधि(वि)ता भविष्यतीति शङ्कनीयम्, सर्वेषामपि व्यवहाराणां जिनाज्ञारूपत्वेन श्रुतव्यवहारस्य सावद्यत्वाभावात्, तच्छुद्ध्यानीतस्य निरवद्यत्वाद्। अयं भावः-यथाऽप्रमत्तसंयतो जीवघातेऽप्यवधकः, 'अवहगो सो उ' [अवधकः स तु।] ओघनिर्युक्तिवचनात्, अनाभोगे सत्यप्यप्रमत्ततायास्तथामाहात्म्यात्, यथा चोपशान्तमोहवीतरागो मोहसत्तामात्रहेतुके सत्यपि जीवघाते केवलिवद्वीतरागो नोत्सूत्रचारी च, मोहनीयानुदयस्य तथामाहात्म्यात्, तथा श्रुतव्य-

गा० ७५०'त्ति

वहारशुद्धेर्माहात्म्यादनेषणीयमपीतरेषणीयमेवेति कुतः सावद्यप्रतिषेवित्वगन्धोऽपीति चेत्, तदिदमखिलं गूढशब्दमात्रेण मुग्धप्रतारणम्। यतो यदि भगवत्स्वीकृतद्रव्यपरिग्रहानेषणीयाहारयोः स्वरूपतः सावद्यत्वेऽपि श्रुतव्यवहारशुद्धस्योपादेयत्वधिया दोषानावहत्वं तदाऽपवादस्थानीयत्वमेव तयोः प्राप्तम्, औपाधिकशुद्धताशालित्वात्। न चापवादः स्थविरकल्पनियत इति कल्पातीतस्य भगवतस्तदभावः, एवं सत्युत्सर्गस्याप्यभावापत्तेः, तस्यापि जिनकल्पस्थविरकल्पनियतत्वात्। यदि चोत्सर्गविशेष एव कल्पनियत इति तत्सामान्यस्य भगवति नासम्भवस्तदाऽपवादविशेषस्यैव तथात्वे तत्सामान्यस्यापि भगवत्यनपायत्वमेव। युक्तं चैतत्, तीर्थकृतोऽप्यतिशयाद्युपजीवनरूपस्वजीतकल्पादन्यत्र साधुसामान्यधर्मताप्रतिपादनात्। तदुक्तं बृहत्कल्पभाष्यवृत्त्योः उद्दे० १—"अत्र परः प्राह- यदि यद्यत्प्राचीनगुरुभिराचीर्णं तत्तत्पाश्चात्यैरप्याचरितव्यम्, तर्हि तीर्थकरैः प्राकारत्रयच्छत्रत्रयादिका प्राभृतिका तेषामेवार्थाय सुरैर्विरचिता यथा समुपजीविता, तथा वयमप्यस्मन्निमित्तकृतं किं नोपजीवामः?। सूरिराह-कामं खलु अणुगुरुणो धम्मा तह वि हु ण सव्वसाहम्मा॥ गुरुणो जं तु अइसए, पाहुडिआई समुवजीवे ॥९९६॥ काममनुमतमस्माकं, यदनुगुरवो धर्मास्तथापि न सर्वसाधर्म्या चिन्त्यते, किन्तु देशसाधर्म्यादेव। तथाहि-गुरवस्तीर्थकराः, यत्तु यत्पुनः, अतिशयान् प्राभृतिकादीन्, प्राभृतिका सुरेन्द्रादिकृता समवसरणरचना तदादीन्, आदिशब्दादवस्थितनखरोमाधोमुखकण्टकादिसुरकृतातिशयपरिग्रहः; समुपजीवन्ति स तीर्थकृज्जीतकल्प इति कृत्वा न तत्रानुधर्मता चिन्तनीया, यत्र पुनस्तीर्थकृतामितरेषां च साधूनां सामान्यधर्मत्वं तत्रैवानुधर्मताचिन्त्यते ॥ सा चेयमाचीर्णेति दर्श्यते ॥ सगड-दह-समभोमे, अविअ विसेसेण विरहिअतरागं ॥ तहवि खलु अणाइन्नं, एसऽणुधम्मो पवयणस्स ॥९९७॥ यदा भगवान् श्रीमन्महावीरस्वामी राजगृहनगरादुदायननरेन्द्रप्रव्राजनार्थं सिन्धुसौवीरदेशावतंसं वीतभयनगरं प्रस्थितस्तदा

किलापान्तराले बहवः साधवः क्षुधार्त्तास्तृपार्दिताः संज्ञाबाधिताश्च बभूवुः। यत्र च भगवानावासितस्तत्र तिलभृतानि शकटानि, पानीयपूर्णश्च हृदः, समभौम च गर्त्ताबिलादिवर्जितं स्थण्डिलमभवद्, अपि च विशेषेण तत्तिलोदकस्थण्डिलजातं विरहिततरमतिशयेनागन्तुकैस्तदुत्थैश्च जीवैर्वर्जितमित्यर्थः। तथापि खलु भगवताऽनाचीर्णं नानुज्ञातम्, एषोऽनुधर्मः प्रवचनस्य, सर्वैरपि प्रवचनमध्यमध्यासीनैरशस्त्रोपहतपरिहारलक्षण एव धर्मोऽनुगन्तव्य इति भावः। अथैतदेव विवृणोति–"व(वु)कंतजोणि–थंडिल–अतसा, दिन्ना ठिई अवि छुहाइ॥ तहवि ण गेण्हेसुं जिणो, मा हु पसंगो असत्थहए॥९९८॥" यत्र भगवानावासितस्तत्र बहूनि तिलशकटान्यावामितान्यासन्। तेषु च तिला व्युत्क्रान्तयोनिका अशस्त्रोपहता अप्यायुःक्षयेणाचित्तीभूताः। ते च यद्यस्थण्डिले स्थिता भवेयुस्ततो न कल्पेरन्, इत्यत आह स्थण्डिले स्थिताः, एवंविधा अपि त्रसैः संसक्ता भविष्यन्ति, अत आह–अत्रसाः–तदुद्भवागन्तुकत्रसविरहिताः, तिलशकटस्वामिभिर्गृहस्थैश्च दत्ताः, एतेनादत्तादानदोषोऽपि तेषु नास्तीत्युक्तं भवति, अपि च ते साधवः, क्षुधा पीडिता आयुषः स्थितिक्षयमकार्षुः, तथापि श्रीजिनो वर्द्धमानस्वामी नाऽग्रहीत्, मा भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः, 'तीर्थङ्करेणापि गृहीतम्' इति मदीयमालम्बनं कृत्वा मत्सन्तानवर्त्तिनः शिष्या अशस्त्रोपहतं मा ग्राहिषुरिति भावः। 'व्यवहारनयबलीयस्त्वख्यापनाय भगवता न गृहीता' इति हृदयम्॥ युक्तियुक्तं चैतत् प्रमाणस्थपुरुषाणाम्। यत उक्तम्–"प्रमाणानि प्रमाणस्थैः, रक्षणीयानि यत्नतः॥ विषीदन्ति प्रमाणानि, प्रमाणस्थैर्विसंस्थुलैः॥१॥ इत्यादि॥" अत्र हि स्वजीतकल्पातिरिक्तस्थले तीर्थकृतः साधुसमानधर्मता प्रोक्ता, सा चाशस्त्रोपहतसचित्तवस्तुनोऽग्रहणेनोपपादिता, तच्चातिप्रसङ्गनिराकरणाभिप्रायेण, स च श्रुताप्रामाण्यबुद्ध्यैव स्यात् न तु भगवता प्रतिषेवितमिति छद्मस्थबुद्धिमात्रेण, छद्मस्थैरुत्सर्गतः प्रतिषिद्धत्वेन ज्ञायमानाया अपि भगवतो निशाहिण्डन–भेषजग्रहणादिप्रवृत्तेः श्रवणाद्, अपवादतोऽप्र-

तिषिद्धत्वज्ञानात्, तद्दर्शनेन छद्मस्थानामतिप्रसङ्ग इत्युक्तौ च सिद्धान्तानायासेनैव भगवतोऽपवादप्रवृत्तिः, तस्मादुक्तनिम्नस्थान्तप्रदर्शित-परस्परप्रतियोगिकप्रकर्षापकर्षशालिगुणोपहितक्रियारूपोत्सर्गापवादाभावेऽपि साधुसमानधर्मतावचनाद् भगवति सूत्रोदितक्रियाविशेषरू-पयोस्तयोर्यथोचिततया सम्भवोऽविरुद्ध इति युक्तं पश्यामः, तथा च धर्मोपकरणानेषणीयादिविषयप्रवृत्तेर्भगवतः स्वरूपत आपवादिक-त्वेन तत्र मते आभोगेन प्रतिषिद्धविषयप्रवृत्त्युपधानस्य योगाशुभतानियामकत्वात्, तथा भगवद्योगानामशुभत्वापत्तिर्वज्रलेपायिता । यदि च यत्तु श्रुतव्यवहारशुद्धस्याप्यनेषणीयत्वेनाभिधानं तत् श्रुतव्यवस्थामधिकृत्यैवावसातव्यम्, 'यथाऽय साधुरूपनो राजा' इत्यत्र राजत्वमगृहीतश्रामण्यावस्थामपेक्ष्यैवेति स्वप्रवचनाश्रयणाद्, भगवत्स्वीकृतानां श्रुतव्यवहारसिद्धानां प्रतिषिद्धत्वाभिमतविषयप्रवृत्तीना वस्तुतो न प्रतिषिद्धविषयत्वम्, न वा ताभिः 'इदं सावद्यम्' इति प्रज्ञाप्य प्रतिषेवितम्, इदमित्यनेन प्रत्यक्षव्यक्तिग्रहणात् तस्याश्चानवद्यत्वादिति विभाव्यते, तदा 'अनेषणीयं न ग्राह्यम्' इत्यादिप्रतिषेधवाक्ये श्रुतव्यवहारशुद्धानेषणीयातिरिक्तानेषणीयादेर्निषे-ध्यत्वं वक्तव्यम्; तथा चापवादिकमन्यदपि कृत्यं श्रुतव्यवहारसिद्धमित्यप्रतिषिद्धमेवेत्याभोगेन प्रतिषिद्धविषयप्रवृत्तिः साधूना क्वापि न स्यादिति त्वदपेक्षया यतीनामशुभयोगत्वमुच्छिद्येतैवेति प्रमत्तानां शुभाशुभयोगत्वेन द्वैविध्यप्रतिपादकागमविरोधः, तस्मादाभोगेन जीवघातोपहितत्वं न योगानामशुभत्वम्, अशुभयोगजन्यजीवघातो जीवारम्भकत्वव्यवहारविषयः, अशुभयोगारम्भकपदयोः पर्यायत्व-प्रसङ्गाद्, एकेन्द्रियादिष्वारम्भकत्वव्यवहाराभावप्रसङ्गाच्च ॥ न हि ते आभोगेन जीवं घ्नन्तीति । अस्ति च तेष्वारम्भकत्वव्यवहारः । तदुक्तं भगवतीवृत्तौ—'तत्थ णं जे ते असंजया ते अविरइं पडुच्च आयारंभा वि जाव णो अणारंभा ॥" [तत्र ये ते असंयतास्ते अविरतिं प्रतीत्य आत्मारम्भा अपि यावद् नो अनारम्भाः ।] इत्यस्य व्याख्याने "इहायं भावः-यद्यप्यसंयतानां सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां

नात्मारम्भकादित्वं साक्षादस्ति, तथाप्यविरतिं प्रतीत्य तदस्ति तेषाम्, न हि ते ततो निवृत्ताः अतोऽसंयतानामविरतिस्तत्र कारणमिति। निवृत्तानां तु कथञ्चिदात्माद्यारम्भकत्वेऽप्यनारम्भकत्वम्। यदाह—'जा जयमाणस्स' इत्यादि; किन्तु सूत्रोदितेतिकर्त्तव्यतोपयोगपूर्वकव्यापारत्वं च शुभयोगत्वम्, तदुक्तं भगवतीवृत्तौ—"शुभयोग उपयुक्ततया प्रत्युपेक्षणादिकरणम्, अशुभयोगस्तु तदेवानुपयुक्ततयेति। तत्र शुभयोगः संयतानां पष्ठेऽपि गुणस्थाने संयमस्वभावादेव, अशुभयोगश्च प्रमादोपाधिकः। तदुक्तं तत्रैव—"प्रमत्तसंयतस्य हि शुभोऽशुभश्च योगः स्यात्, संयतत्वात्प्रमादपरत्वाच्चेति" तत्र प्रमत्तसंयतानामनुपयोगेन प्रत्युपेक्षणादिकरणादशुभयोगदशायामारम्भिकीक्रियाहेतुव्यापारवत्त्वेन सामान्यत आरम्भकत्वादात्मारम्भकादित्वम्, शुभयोगदशायां तु सम्यक्क्रियोपयोगस्यारम्भिकीक्रियाप्रतिबन्धकत्वात्, तदुपहितव्यापाराभावेनानारम्भकत्वम्, प्रमत्तगुणस्थाने सर्वदाऽऽरम्भिकीक्रियाभ्युपगमस्त्वयुक्तः, अनियमेन तत्र तत्प्रतिपादनात्। तदुक्तं प्रज्ञापनाया २२ क्रियापदे—'आरभिया णं भंते! किरिया कस्स कज्जइ? गोयमा! अण्णयरस्सावि पमत्तसंजयस्स॥" इति। [आरम्भिकी भदन्त! क्रिया कस्य क्रियते? गौतम! अन्यतरस्यापि प्रमत्तसंयतस्य।] एतद्वृत्तिर्यथा "आरभिया णं इत्यादि अण्णयरस्सावित्ति। अत्रापिशब्दो भिन्नक्रमः, प्रमत्तासंयतस्याप्यन्यतरस्यैकतरस्य कस्यचित्प्रमादे सति कायदुष्प्रयोगभावतः पृथिव्यादेरुपमर्दसम्भवाद्, अपिशब्दोऽन्येषामधस्तनगुणस्थानवर्त्तिना नियमप्रदर्शनार्थः। प्रमत्तसंयतस्याप्यारम्भिकी क्रिया भवति किं पुनः शेषाणां देशविरतप्रभृतीनामिति"॥ अस्या व्यवस्थायां सिद्धायां जानतोऽपि भगवतो धर्मोपकरणधरणेऽवर्जनीयस्य द्रव्यपरिग्रहस्येव गमनागमनादिधर्म्यव्यापारेऽवर्जनीयद्रव्यहिंसायामप्यप्रमत्तत्वादेव नाशुभयोगत्वमिति प्रतिपत्तव्यं। न च भगवतो धर्मोपकरणसत्त्वेऽपि मूर्च्छाऽभावेन परिग्रहत्वत्यागान्न परिग्रहदोषः, द्रव्यहिंसाया तु सत्यां प्राणवियोगरूपतल्लक्षणसत्त्वात्तद्दोषः

स्याद्वेति व्यामूढधिया शङ्कनीयम् ; 'प्रमादयोगेन प्राणव्यपरोपणं हिंसा'—इति तत्त्वार्थे तल्लक्षणकरणाद् भगवति तदभावादेव, अत एव 'हिंसा नियतो दोषः, परिग्रहस्त्वनियतो दोषः' इत्यप्यपास्तम्, मैथुनादन्यत्राश्रवेऽनियतदोषत्वप्रतिपादनात्। तदुक्तं तत्त्वार्थवृत्तौ— अ०७सू०११ 'प्रमत्तयोगादसदभिधानमनृतम्, प्रमत्तयोगाददत्तादानं स्तेयम्, प्रमत्तयोगान्मूर्च्छा परिग्रहः, मैथुने प्रमत्तयोगादिति पदं न, यत्राप्रमत्तस्य तथाभावे सति कर्मबन्धाभावस्तत्र प्रमत्तयोगग्रहणमर्थवद् भवति, प्रमत्तस्य कर्मबन्धो नाप्रमत्तस्येति, प्राणातिपातवत्, मैथुने तु रागद्वेषान्वयाविच्छेदात् सर्वावस्थासु मैथुनासेविनः कर्मबन्ध इत्यादि।" एतेन द्रव्यहिंसया भगवतः प्राणातिपातकत्वप्रसङ्गोऽपि निरस्तः, द्रव्यपरिग्रहेण परिग्रहित्वप्रसङ्गतुल्ययोगक्षेमत्वात्। किञ्च वीतरागाणामप्रमत्तानां च जीवविराधनायां सत्यामप्यारम्भिकीप्राणातिपातिकीक्रियाऽभाव एव भणितः। तदुक्तं भगवत्यां शतक १ उद्देश २ "तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पण्णत्ता। तंजहा—सरागसंजया य वीयरागसंजयाय। तत्थणं जे ते वीयरागसंजया ते णं अकिरिया। तत्थ णं जे ते सरागसंजया, ते दुविहा पण्णत्ता। तंजहा-पमत्तसंजया य अपमत्तसंजया य। तत्थ णं जे ते अपमत्तसंजया तेसि णं एगा मायावत्तिया किरिया कज्जइ, तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया तेसि णं दो किरियाओ कज्जंति। तंजहा-आरंभिया य मायावत्तिआ य इत्यादि॥" [तत्र च ये ते संयतास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा—सरागसंयताश्च वीतरागसंयताश्च। तत्र च ये ते वीतरागसंयतास्ते चाक्रियाः। तत्र ये ते सरागसंयतास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-प्रमत्तसंयताश्च अप्रमत्तसंयताश्च। तत्र ये ते अप्रमत्तसंयतास्तेषामेका मायाप्रत्ययिकी क्रिया क्रियते। तत्र ये ते प्रमत्तसंयतास्तेषां द्वे क्रिये क्रियेते, तद्यथा आरम्भिकी मायाप्रत्ययिकी च॥] एतद्वृत्तिर्यथा "सरागसंजय"त्ति अक्षीणानुपशान्तकषायाः, 'वीयरागसंजय'त्ति उपशान्तकषायाः क्षीणकषायाश्च। 'अकिरिय'त्ति वीतरागत्वेनारम्भादीनामभावादक्रियाः। 'एगा मायावत्तिय'त्ति

अप्रमत्तसंयतानामेकैव मायाप्रत्यया क्रिया 'कज्जइ'त्ति क्रियते भवति; कदाचिदुड्डाहरक्षणप्रवृत्तानामक्षीणकपायत्वादिति । 'आरम्भिय'त्ति प्रमत्तसंयताना च 'सर्व॰ प्रमत्तयोग आरम्भ इति कृत्वाऽऽरम्भिकी स्यात्, अक्षीणकपायत्वाच्च मायाप्रत्ययेति ।" तथा तत्रैवाष्टमशते पष्ठोद्देशके प्रोक्तं-"जीवे णं भंते! ओरालियसरीराओ कइकिरिए? गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंच किरिए, सिय अकिरिएत्ति॥" एतद्वृत्तिर्यथा—"परशरीरमौदारिकाद्याश्रित्य जीवस्य नारकादेश्च क्रिया अभिधातुमाह-'जीवेणमि'त्यादि । 'ओरालियसरीराओ'त्ति औदारिकशरीरात्परकीयमौदारिकशरीरमाश्रित्य कतिक्रियो जीव इति प्रश्नः । उत्तर तु 'सिय तिकिरिए'त्ति यदैकजीवोऽन्यस्य पृथिव्यादेः सम्बन्ध्यौदारिकशरीरमाश्रित्य कार्यं व्यापारयति तदा त्रिक्रियः, कायिक्यधिकरणिकीप्राद्वेपिकीनां भावाद्, एतासां च परस्परेणाविनाभूतत्वात् स्यात् 'त्रिक्रियः' इत्युक्तम्, न पुनः स्याद् 'एकक्रियः' स द् 'द्विक्रिय' इति । अविनाभावश्च तासामेवमधिकृतक्रिया ह्यवीतरागस्यैव नेतरस्य, तथाविधकर्मबन्धहेतुत्वाद्, अवीतरागकायस्य चाधिकरणत्वेन प्रद्वेषान्वितत्वेन च कायक्रियासद्भावे इतरयोरवश्यंभावः, इतरभावे च कायिकीसद्भावः । उक्तं च प्रज्ञापनायामिहार्थे-"जस्स णं जीवस्स काइआ किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणिया किरिया णियमा कज्जइ, जस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ तस्स वि काइया किरिया णियमा कज्जइ"इत्यादि । [यस्य जीवस्य कायिकी क्रिया क्रियते, तस्याधिकरणिकी नियमात्क्रियते । यस्याधिकरणिकी क्रिया क्रियते तस्यापि कायिकी क्रिया नियमात्क्रियते ।] तथाऽऽद्यक्रियात्रयसद्भावे उत्तरक्रियाद्वयं भजनया भवति । यदाह—' जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ, तस्स पारियावणिया सिय कज्जइ, सिय णो कज्जइ" इत्यादि। [यस्य जीवस्य कायिकी क्रिया क्रियते तस्य पारितापनिकी स्यात् क्रियते, स्यात् नो क्रियते ।] ततश्च यदा कायव्यापारद्वारेण द्यक्रियात्रय एव वर्त्तते, न तु परितापयति न चातिपातयति, तदा

त्रिक्रिय एवेति, अतोऽपि स्यात् 'त्रिक्रिय' इत्युक्तम्। यदा तु परितापयति तदा चतुष्क्रियः, आद्यक्रियात्रयस्य तत्रावश्यंभावाद्। यदा त्वतिपातयति तदा पञ्चक्रियः, आद्यक्रियाचतुष्कस्य तत्रावश्यंभावाद्। उक्तं च-"जस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया णियमा कज्जइ" इत्यादि। [यस्य पारितापनिकी क्रिया क्रियते तस्य कायिकी नियमात् क्रियते।] अत एवाह-"सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए" त्ति तथा 'सियअकिरिए' त्ति वीतरागावस्थामाश्रित्य, तस्या(स्या)हि वीतरागत्वादेव न मन्त्यभिहननक्रिया इति।" एतद्वचनानुसारेण ह्येतत्प्रतीयते-यदारम्भिकी क्रिया प्रमादपर्यन्तमेव, न तु जीवविराधनाया गत्यामप्युपरिष्टादपि। प्राणातिपातक्रिया च प्रद्वेषेण प्राणातिपातकाल एव, न च पृथिव्यादीनां तदसम्भवः, तत्कृताकुशलपरिणामानिवृत्त्यैव तत्प्रतिपादनादिति। साप्यप्रमत्तस्य न सम्भवति। न चावीतरागकायस्याधिकरणत्वेन प्रद्वेषान्वितत्वेन च कायिकीक्रियासद्भावे त्रिक्रियत्वस्य नियमप्रतिपादनाद् एवंभूतस्याप्रमत्तस्यापि प्राणातिपातव्यापारकाले प्राणातिपातिकीक्रियासम्भव इतिवाच्यम्, कायिकीक्रियाया अपि प्राणातिपातजनकप्रद्वेषविशिष्टाया एव ग्रहणाद्, इत्थमेवाद्यक्रियात्रयनियमसम्भवात्। तदुक्तं 'प्रज्ञापनावृत्तौ'-"इह कायिकी क्रिया औदारिकादिका(कि)याश्रिता प्राणातिपातनिर्वर्तनसमर्था प्रतिविशिष्टा परिगृह्यते, तथा(न या)काचन कार्मणकायाश्रिता वा, तत आद्यानां तिसृणां क्रियाणां परस्परं नियम्यनियामकभावः। कथमिति चेत्; उच्यते-कायोऽधिकरणमपि भवतीत्युक्तं प्राक्, ततः कायस्याधिकरणत्वात् कायिक्यां सत्यामवश्यमाधिकरणिकी, आधिकरणिक्यामवश्यं कायिकी, सा च प्रतिविशिष्टा कायिकी क्रिया प्रद्वेषमन्तरेण न भवति, ततः प्राद्वेषिक्यापि सह परस्परमविनाभावः। प्रद्वेषोऽपि च काये स्फुटलिङ्ग एव, वक्त्ररूक्षत्वादेस्तदविनाभाविनः प्रत्यक्षत एवोपलम्भाद्। उक्तं च—"रूक्षयति रुष्यतो ननु, वक्त्रं स्निह्यति च रज्यतः पुंसः। औदारिकोऽपि देहो, भाववशात् परिणमत्येवम् ॥ १ ॥ इति।" यदि च प्रद्वेषान्वयाविच्छे-

दमात्रादवीतरागमात्रस्य कायिक्यादिक्रियात्रयनियमः स्यात्, तदा सूक्ष्मसंपराये प्राणातिपातसम्पत्तौ प्राणातिपातक्रियया षड्विधबन्धकत्वस्याप्युपपत्तौ "जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोअमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा ।" [जीवो भदन्त ! प्राणातिपातेन कति कर्मप्रकृतीर्बध्नाति ?, गौतम !, सप्तविधबन्धको वाऽष्टविधबन्धको वा ।] इत्युक्तव्यवस्थानुपपत्तिः । नन्वेवं "जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइकिरिए ?, गोअमा !, सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । [जीवो भदन्त ! ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नन् कतिक्रियः ? गौतम ! स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः स्यात् पञ्चक्रियः ।] इति प्रज्ञापनासूत्रस्य पद२२ का गतिः ? भवदुक्तरीत्या ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नतो दशमगुणस्थानवर्तिनोऽक्रियत्वस्यापि सम्भवेन 'स्यादक्रियः' इति भङ्गन्यूनत्वादिति चेत्, स्वसहचरिते स्वकार्ये वा ज्ञानावरणीये प्राणातिपातस्य परिसमाप्तिनिर्वृत्तिभेदप्रकारोपदर्शनपरमेतत् सूत्रम्, न तु तद्बन्धे क्रियाविभागनियमप्रदर्शनपरम्–इत्येषा गतिरिति गृहाण । तदुक्तं तद्वृत्तौ "इह प्रागुक्तं जीवः प्राणातिपातेन सप्तविधमष्टविधं वा कर्म बध्नाति, स तु तमेव प्राणातिपातं ज्ञानावरणीयादि कर्म बध्नन् कतिभिः क्रियाभिः समापयतीति प्रतिपाद्यते । अपि च कार्येण ज्ञानावरणीयाख्येन कर्मणा कारणस्य प्राणातिपाताख्यस्य निर्वृत्तिभेद उपदर्श्यते, तद्भेदाच्च बन्धविशेषोऽपीति । उक्तं च–"तिसृभिश्चतसृभिरथ, पञ्चभिश्च (क्रियाभिः)हिंसा समाप्यते क्रमशः ॥ बन्धोऽस्य विशिष्टः स्याद्, योगप्रद्वेषसाम्यं चेद् ॥१॥" इति तमेव प्राणातिपातस्य निर्वृत्तिभेदं दर्शयति–'सिय तिकिरिए'इत्यादीति," अथैवमप्रमत्तस्यैवाक्रियत्वस्वामिनः सुलभत्वाद् भगवतीवृत्तौ अक्रियत्वं वीतरागावस्थामाश्रित्यैव कथमुपपादितम् ?, इति चेत्, स्पष्टतार्थम् । बादरसम्परायं यावत् प्रद्वेषान्वयेन त्रिक्रियत्वाभ्युपगमेऽपि सूक्ष्मसम्परायस्याऽक्रियत्वस्थानस्य परिशिष्टत्वेनैतदुपपादनार्थम्, एतत्प्रकारस्यावश्याश्रयणीयत्वात् । प्रद्वेषाभावेन तत्र कायिक्यधिकरणिकी-

क्रियाभ्युपगमे च कायिक्यादिक्रियात्रयस्य परस्पर नियमानुपपत्तिरिति ॥ कायिकी क्रिया द्विविधा-अनुपरतकायिकी क्रिया दुष्प्रयुक्तकायिकी क्रिया चेति सिद्धान्तेऽभिधानात्, कायिकी क्रियाऽऽरम्भिक्यासमनियता, प्राणातिपातिकी च प्राणातिपातव्यापारफलोपहितत्वात् तद्व्याप्यैवेति प्रतिपत्तव्यम्, तत आरम्भकत्वं प्राणातिपातकत्वं च सत्यामपि द्रव्यहिंसायां प्रमत्तस्यैव नाप्रमत्तस्येति भगवतस्तया तदापादनमयुक्तमेवेति दिक् ॥५१॥ अथावश्यंभाविन्यां जीवविराधनायामाभोगवतो भगवतो यद् घातकत्वमापाद्यते तत्किं लोकोत्तरव्यवहाराद्, उत लौकिकव्यवहाराद्, उताहो स्वमतिविकल्पितव्यवहाराद् ? । नाद्यः, लोकोत्तरघातकत्वव्यवहारे आभोगेन जीवविराधनामात्रस्यातन्त्रत्वाद्, आभोगेनापि जायमानायां तस्यामपवादपदप्रतिसेविणोऽघातकत्वस्य, अनाभोगेनापि जायमानायां तस्यां प्रमादिनो घातकत्वस्य च तद्व्यवहारेणेष्टत्वाद्। नापि द्वितीयः, यतो लोका अपि नाभोगेन जीवघातमात्रादेव घातकत्वं व्यवहरन्ति, कूपनष्टायां गवि तत्कर्तुर्गोवधकर्तृत्वप्रसङ्गाद्, गोराभोगस्यापि तदा स्फुटत्वाद्, आभोगजन्यस्य च हिंसायामसिद्धत्वाद् । हिंसायां हि जिघांसाहेतुराभोगस्त्वन्यथा सिद्ध इत्येतद्दोषवारणार्थं 'मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारत्वं हिंसा वक्तव्या, तथापि काशीमरणोद्देशपूर्वकानुष्ठाने आत्महिंसात्वापत्तिवारणार्थमदृष्टाद्वारकत्वं विशेषणं देयम्, इत्यदृष्टाद्वारकमरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारत्वमेव हि हिंसा न्यायशास्त्रसिद्धा। तृतीयस्तु पक्षोऽवशिष्यते । स तु स्वमतिविकल्पितत्वादेव स्वशास्त्रप्रतिज्ञाबाधया महादोषावह इत्यभिप्रायेणाह—

अणुसंगयहिंसाए, जिणस्स दोसं तुहं भणतस्स ॥ साहूण वि आभोगा, णइउत्ताराइ विहडिज्जा ॥ ५२ ॥

[अनुषङ्गजहिंसया, जिनस्य दोषं तव भणतः । साधूनामप्याभोगाद्, नद्युत्तारादि विघटेत ॥ ५२ ॥]

'अणुसंगयहिंसाए'त्ति अनुषङ्गजया—धर्मदेशनामात्रोद्देश्यकप्रवृत्त्युपजायमानक्लमतखेदादिवत्स्वानुद्देश्यकप्रवृत्तिजनितया

हिंसया जिनस्य दोष भणतस्तत्र साधूनामप्यनाभोगान्नद्युत्तारादि विघटेन, तेषामपि नद्युत्तारादौ जलजीवादिविराधनाया अध्यक्षसिद्धत्वादिति। नन्वेतदसिद्धम्, नहि जलजीवानामप्रत्यक्षत्वेन तद्विराधनायाः प्रत्यक्षत्वं सम्भवति, प्रतियोगिनोऽप्रत्यक्षत्वे तदनुयोगिनोऽप्यप्रत्यक्षत्वात्। न च जलस्य प्रत्यक्षत्वेन तज्जीवानामपि प्रत्यक्षत्वमिति वाच्यम्, इदं जलमिति ज्ञानमात्रेणेदं जलं सचित्तमिति विवेकेन परिज्ञानोदयप्रसक्तेः। तस्मात् "दुविहा पुढविकाइआ पन्नत्ता तंजहा परिणया चेव अपरिणया चेव, जाव वणप्फइकाइअ' त्ति [द्विविधाः पृथ्वीकायिकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–परिणताश्चैव अपरिणताश्चैव यावद् वनस्पतिकायिका इति ॥] श्रीस्थानाङ्ग सू० ७३। "तत्र परिणताः स्वकायपरकायशस्त्रादिना परिणामान्तरमापादिता अचित्तीभूता इत्यर्थः-इत्यादिप्रवचनवचनेन नद्यादिजले सचित्ताचित्तयोरन्यतरत्वेन परिज्ञाने सत्यपि इदं जलं सचित्तम्, इदं वा अचित्तम्-इति व्यक्त्या विवेकमधिकृत्य परिज्ञानाभावेन छद्मस्थसंयतानामनाभोग एव, तेन सिद्धा नद्युत्तारादौ जलजीवविराधनाऽनाभोगजन्याऽशक्यपरिहारेण-इत्याशङ्कायामाह—

वज्जंतो अ अणिट्ठं, जलजीवविराहणं तहिं सक्खं। जलजीवाणाभोगं, जंपंतो किं ण लज्जेसि ॥ ५३ ॥

[वर्जयँश्चानिष्टां जलजीवविराधनां तत्र साक्षात्। जलजीवानाभोगं जल्पन् किं न लज्जसे ॥ ५३ ॥

'वज्जंतो य'त्ति। तत्र नद्युत्तारे, जलजीवविराधनामनिष्टां साक्षाद्वर्जयन् वर्जनीयाभ्युपगच्छंश्च, जलजीवानाभोगं जल्पन् किं न लज्जसे ?॥ अयं भावः–नद्युत्तारे बहुजलप्रदेशपरित्यागेनाल्पजलप्रदेशप्रवेशरूपा यतना तावत्त्वयापि स्वीक्रियते, सा च जलजीवानाभोगाभ्युपगमे दुर्घटा, स्वल्पजलं सचित्तं भविष्यति बहुजलं चाऽचित्तमिति विपरीतप्रवृत्तिहेतुशङ्कापिशाचीप्रचारस्यापि दुर्वारत्वाद्। भगवदुक्तयतनाक्रमप्रामाण्यान्नेयं शङ्केति चेत्, तर्हि यतनाया अपि बहुतरासत्प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपाया विवेकेन परिज्ञानं

न्यूनाधिकजलजीवविराधनाभोगाधीनमिति व्यवहारमचित्ततया जलजीवाभोगाभ्युपगमावश्यकत्वात् तत्र वदतो व्याघात एव महा-
त्रपाकारणमिति। किञ्च—नद्यादिजलजीवानां निश्चयतश्छद्मस्थानां सचित्तत्वापरिज्ञानेऽपि तत्र स्थितपनकसेवालादीनां निश्चयतोऽपि
सचित्तत्वं परिज्ञायते एव। तदुक्तमोघनिर्युक्तौ–"सव्वो वऽणंतकाओ, सचित्तो होइ णिच्छयणयस्स। ववहारओ अ सेसो, मीसो
पम्हाणरोट्टाइ ॥ ३६३ ॥" पिंडनि० ४४ "एतद्वृत्तिर्यथा–सर्व एवानन्तवनस्पतिकायो निश्चयनयेन सचित्तः, शेषः
परीतवनस्पतिर्व्यवहारनयमतेन सचित्तो मिश्रश्च प्रम्लानानि यानि फलानि कुसुमानि पर्णानि च, "रोट्टो लोट्टो तंदुलाः कुट्टिताः
तत्थ तंदुलमुहाइं अच्छंति, तेण कारणेन सो मीसो भवइत्ति।" ते च पनकसेवालादयो जलेऽवश्यं भाविन इति तद्विषयविराधना निश्च-
यतोऽप्याभोगेन सिद्धेति। तत्रानाभोगेनैव जीवविराधनेति दुर्वचनम्। न च ते तत्रास्माभिः प्रत्यक्षतो न दृश्यन्ते, अतस्तद्विराधनाऽना-
भोगजैवेति वक्तव्यम्, स्वच्छस्तोकजलनद्यादिषु पनकादीनामस्माभिरप्युपलभ्यमानत्वेन 'नास्माभिस्ते तत्र दृश्यन्ते'-इत्यस्यासिद्धत्वात्।
किञ्च आगमवचनादपि तत्र तदवश्यंभावो निश्चीयते। तदुक्तं–प्रज्ञापनातृतीयपदवृत्तौ–"बादरतेजस्कायिकेभ्योऽसङ्ख्येय-
गुणाः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः, तेभ्यो बादरनिगोदा असङ्ख्येयगुणाः, तेषामत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वात्, जलेषु सर्वत्रापि च
भावात्। पनकसेवालादयो हि जलेऽवश्यंभाविनः, ते च बादरानन्तकायिका इति। तथा बादरेष्वपि मध्ये सर्वबहवो वनस्पतिकायिकाः,
अनन्तसङ्ख्याकतया तेषां प्राप्यमाणत्वात्। ततो यत्र ते बहवस्तत्र बहुत्वं जीवानाम्, यत्र स्वल्पे तत्राल्पत्वम्। वनस्पतयश्च तत्र बहवो
यत्र प्रभूता आपः, 'जत्थ जलं तत्थ वणं' इति वचनात्, तत्रावश्यं पनकसेवालादीनां भावात्, ते च पनकसेवालादयो बादरनामक-
र्मोदये वर्त्तमाना अपि अत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वाद् अतिप्रभूतपिण्डीभावाच्च सर्वत्र सन्तोऽपि न चक्षुषा ग्राह्याः। तथा चोक्तमनुयोग-

द्वारेषु ' ते णं वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जइभागमेत्ता सुहुमपणगजीवस्स सरीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा ॥ इति ।" [तानि च वालाग्राणि दृष्ट्यवगाहनातोऽसंख्येयभागमात्राणि सूक्ष्मपनकजीवस्य शरीरावगाहनातोऽसंख्येयगुणानि ॥] ततो यत्रापि नैते दृश्यन्ते, तत्रापि ते सन्तीति प्रतिपत्तव्याः । आह च मूलटीकाकारः—इह " सर्वबहवो वनस्पतयः इति कृत्वा यत्र ते सन्ति तत्र बहुत्वं जीवानाम्, तेषां च बहुत्वम्, "जत्थ आऊकाओ तत्थ णियमा वणस्सइकाइआ इति पणगसेवालहढाई बायरा वि होंति, सुहुमा आणाज्झा, ण चक्खुण"त्ति ॥" पनकसेवालहढादयो बादरा अपि भवन्ति सूक्ष्मा आज्ञाग्राह्या न चक्षुषेति ॥] किञ्च-नद्युत्तारादौ मण्डूकादित्रसविराधना "तसा य पचक्खया चेव"त्ति वचनात् अवश्यं जायमानाभोगपूर्विकैव, इत्येवं च सति जीवोऽयमिति साक्षात्कृत्वा यो जीवघातं करोति तस्य विरतिपरिणामो दूरे, निश्चयतः सम्यक्त्वमपि न स्यात्, अनुकम्पाया अभावेन सम्यक्त्वलक्षणाभावाद्-इत्यादि परोक्तं यत्किञ्चिदेव, आप्तवचनाज्जीवत्वेन निश्चितस्य विराधनायाः स्वादर्शनमात्रेणाभोगपूर्वपूर्वकत्वाभावे आप्तोक्तवस्त्राद्यन्तरिततसादिविराधनायामपि तदापत्तेः, दृष्ट्वा स्थूलत्रसविराधनायामाभोगविशेषाद्विषयविशेषाच्च पातकविशेषस्तु स्याद्, न चैतावताऽन्यत्रानाभोग एव व्यवस्थापयितुं शक्यते। न खलु राजदारगमने महापातकाभिधानादन्यत्र परदारगमने परदारगमनत्वमेव नेति वक्तुं युक्तम्। एतेनाभोगमूलाऽऽभोगपूर्विका च जीवविराधना निनापराधं मिथ्यादृशोऽपि प्रायोऽनार्यजनस्यैव भवति, सा च नावश्यंभाविनी, प्रायः सम्भविसम्भवात् । संयतानां त्वनाभोगमूलैव सा, नत्वाभोगमूला, अत एव नद्युत्तारादौ सत्यामपि जलजीवविराधनायां संयमो दुराराधो न भणितः, भणितश्च कुन्थूत्पत्तिमात्रेणापि, तत्र निदानं तावदाभोगाऽनाभोगावेव । तत्र यद्यपि संयतानामुभयत्रापि जीवविराधनाऽनाभोगादेव, तथापि स्थावरसूक्ष्मत्रसजीवविषयकोऽनाभोगः सर्वांशैरपि सर्वकालीनो न पुनः क्वाचित्कः कादाचित्कश्च, तस्य चापगमः

प्रयत्नशतैरप्यशक्यः, केवलज्ञानसाध्यत्वात्, शक्यश्च कुन्थ्वादिस्थूलत्रसजीवविषयकस्तदनाभोगस्य भूयो निरीक्षणादिनेति, तथाभूतं च निरीक्षणं दुःसाधमिति संयमो दुराराधो भणितः। एवं सम्यक् प्रयत्नपरायणानामपि कदाचित् कुन्थ्वादिस्थूलत्रसजीवविराधना स्यात्। सा च प्रायोऽसम्भविसम्भवेनावश्यंभाविनीति वक्तव्यम्, शक्यपरिहारजीवविषयकप्रयत्नवतोऽपि तत्परिहरणोपायस्यापरिज्ञानात्साऽप्यवश्यंभाविनी, विराधना द्वेधा–अनाभोगमूला अनाभोगपूर्विका, अनाभोगमूला आभोगपूर्विका चेति। तत्राद्या जीवघाते जाते सत्येव तत्परिज्ञानाद्। द्वितीया तु निम्नप्रदेशादौ पिपीलिकादिकमदृष्ट्वैवोत्पादिते पादे दृष्ट्वाऽपि पादं प्रत्याहर्तुमशक्तस्य जीवघातानन्तरे जीवविषयकाभोगस्य विद्यमानत्वात्, परमनाभोगमूलिकापि स्थूलत्रसजीवविराधना संयतानां तज्जन्यकर्मबन्धाभावेऽपि लोकनिन्द्या भवत्येव, तत्कर्तुर्हिंसाव्यपदेशहेतुत्वात्, तथाव्यपदेशः स्थूलत्रसजीवसम्बन्धित्वेन निजसाक्षात्कारविषयत्वात्। न चैवं केवलिवत्सा निश्चिताऽपि सूक्ष्मत्रसजीवविराधना तस्याश्छद्मस्थसाक्षात्कारविषयत्वाभावेन हिंसकव्यपदेशहेतुत्वाभावात्। अत एवात्रासेनायामने-कशतसहस्रपञ्चेन्द्रियजीवविराधकोऽपि देशविरतिश्रावको 'जीवविराधकः' इति व्यपदेशविषयो न भवति, भवति चैकस्या अपि पिपी-लिकाया विराधनेनाऽभोगेनापि, आभोगे च स्वज्ञातिज्ञातेऽपास्तेयोऽपि स्यात्, तेन निजसाक्षात्कारविषयीभूताविषयीभूतयोर्जीवविरा-तयोर्महान् भेदः, अन्यथाऽत्रासेनी श्रावको व्याघ्रादिभ्योऽपि जीवघातकत्वेनाधिको वक्तव्यः स्यात्–इत्यादि परस्य कल्पनाजालमपा-स्तम्, संयतानां नद्युत्तारे जलजीवविराधनाया आभोगमूलत्वेऽप्याज्ञाशुद्धत्वेनानादुष्टत्वात्। यच्च तया न संयमस्य दुराराधत्वम्, तस्याः कादाचित्कत्वादालम्बनशुद्धत्वाच्च। यथा च कुन्थूत्पत्तिमात्रेण सार्वदिकयतनाहेत्वाभोगदौर्लभ्यात् संयमस्य दुराराधत्वम्, तथा तथावि-धक्षेत्रकालादिवशात् सूक्ष्मबीजहरितादिप्रादुर्भावेऽपि सार्वदिकतद्यतनाहेत्वाभोगदौर्लभ्यात् संयमस्य दुराराधत्वमेवेति तु दशवैकालिका

घ-ध्ययनवतामपि सूक्ष्माष्टकविदा परिणतलोकोत्तरदयास्वरूपाणां प्रतीतमेव । स्थावरसूक्ष्मत्रसविषयकोऽनाभोगः केवलज्ञानं विना दुरत्यय इति तु सूक्ष्माष्टकयतनाविधानान्यथानुपपत्त्यैव बाधितं परिणामशुद्धयर्थं तद्, न तु तदाभोगार्थम्—इत्येवं तदाभोगापलापे च स्थूलत्रसाभोगाभ्युपगमोऽप्युच्छिद्येत, तत्रापीत्थं वक्तुं शक्यत्वात्, चेष्टालिङ्गाभिव्यक्तेः स्थूलत्रसाभोगोऽभिव्यक्त एवेति चेत्, पृथिव्यादिजीनाभोगोऽपि जिनवचनाभिहितलिङ्गादाज्ञाप्रामाण्याद्वा किं नाभिव्यक्तः ? व्यक्तीयत्तयाऽनाभोगस्तु मनाक्स्पन्दत्कुन्थुतदनुकारिरजस्त्रुटिपुञ्जेऽपि वक्तुं शक्यत इति न किञ्चिदेतत्। ततो यतनां कुर्वतामशक्यपरिहारा हिंसा सूक्ष्मस्थूलजीवविषयकभेदेऽप्यशक्यपरिहारत्वेन समानैव, विषयभेदात् तद्भेदं तु व्यवहारेण न वारयामः। अत एवात्रसेवायामपि देशविरतस्य कृतसङ्कल्पमूलस्थूलजीवहिंसाप्रत्याख्यानाभङ्गान्न व्याधादिवद्दुष्टत्वम्। न चैवं देशविरतस्येव साधोरप्याभोगेन पृथिव्यादिवधे न दुष्टत्वमिति साधोः प्रत्याख्यानभङ्गदोषविशेषसमर्थनार्थं पृथिव्यादिजीवाभोगोऽप्यवश्यमभ्युपेयः। यदि च स्थूलत्रसविषयक एवाभोगोऽभ्युपगम्येत, तदा तद्विषयैव हिंसैकान्ततो दुष्टा स्यात्, न चैवं जैनप्रक्रियाविदो वदन्ति, तैः क्षुद्रमहत्सत्त्ववधसादृश्यवैसदृश्ययोरनेकान्तस्यैवाभ्युपगमात्। तदुक्तं सूत्रकृताङ्गे श्रु०२ अ०५ "जे केइ खुद्दगा पाणा, अदुवा संति महालया॥ सरिसं तेहि वेर ति, असरिसं ति य णो वए॥६॥ एतेहि दोहिं ठाणेहि, ववहारो ण विज्जई। एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायार तु जाणए॥७॥" त्ति एतद्वृत्तिर्यथा—"ये केचन क्षुद्रकाः सत्त्वाः प्राणिन एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादयोऽल्पकाया वा पञ्चेन्द्रिया अथवा महालया महाकायाः सन्ति विद्यन्ते, तेषां च क्षुद्रकाणामल्पकायानां कुन्थ्वादीनां महान् चाऽऽलयः शरीरं येषां ते महालया हस्त्यश्वादयस्तेषां च व्यापादने सदृशं वैरमिति वज्रं—कर्म विरोधलक्षणं वा वैरं, सदृशं समानम्, तुल्यप्रदेशत्वात् सर्वजन्तूनामित्येवमेकान्तेन नो वदेत्। तथा विसदृशमसदृशम्, तद्व्यापत्तौ वैरं कर्मबन्धो विरोधो वा,

इन्द्रियविज्ञानकायानां विसदृशत्वात्, सत्यपि प्रदेशतुल्यत्वे न सदृशं वैरमित्येवमपि नो वदेत्। यदि हि वध्यापेक्षयै(क्ष्यै)व कर्मबन्धः स्यात् ततस्तद्वशात् कर्मणोऽपि सादृश्यमसादृश्यं वा वक्तुं युज्यते, न च तत्तद्वशादेव बन्धः, अपि तु अध्यवसायवशादपि; ततश्च तीव्राध्यवसायि-नोऽल्पकायसत्त्वव्यापादनेऽपि महद्वैरम्, अकामस्य तु महाकायसत्त्वव्यापादनेऽपि स्वल्पमिति। एतदेव सूत्रेणैव दर्शयितुमाह-'एतेही'-त्यादि। आभ्यामनन्तरोक्ताभ्यां स्थानाभ्यामनयोर्वा स्थानयोरल्पकायमहाकायव्यापादनापादितकर्मबन्धसदृशत्वासदृशत्वयोर्व्यव-हरणं व्यवहारो निर्युक्तिकत्वान्न युज्यते। तथाहि-न वध्यस्य सदृशत्वमसदृशत्वं वा केवलं कर्मबन्धस्य कारणम्, अपि तु वधकस्य तीव्रभावो मन्दभावो ज्ञात(न)भावोऽज्ञात(न)भावो महावीर्यत्वमल्पवीर्यत्वं चेत्येतदपि; तदेवं वध्यवधकयोर्विशेषात् कर्मबन्धविशेष इत्येवं व्यवस्थिते वध्यमेवाश्रित्य सदृशत्वासदृशत्वव्यवहारो न विद्यत इति। तथाऽनयोरेव स्थानयोः प्रवृत्तस्यानाचारं विजानीयादिति॥ तथाहि-यजीवसाम्यात् कर्मबन्धसदृशत्वमुच्यते, तदयुक्तम्, यतो नहि जीवव्यापत्त्या हिंसोच्यते, तस्य शाश्वतत्वेन व्यापादयितुमशक्यत्वात्, अपि त्विन्द्रियादिव्यापत्त्या। तथा चोक्तम्-पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः॥ प्राणा दशैते भगवद्भि-रुक्ता-स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥१॥'इत्यादि। अपि च भावसव्यपेक्षस्यैव कर्मबन्धोऽभ्युपेतुं युक्तः। तथाहि-वैद्यस्यागमसव्य-पेक्षस्य सम्यक् क्रियां कुर्वतो यद्यप्यातुरविपत्तिर्भवति, तथापि न वैरानुषङ्गीभवेद्भावदोषाभावात्। अपरस्य तु सर्पबुद्ध्या रज्जुमपि घ्नतो भाव-दोषात् कर्मबन्धः, तद्रहितस्य तु न बन्ध इति, उक्तं चागमे—'उच्चालिअंमि पाए'[उच्चालिते पादे।]इत्यादि। तन्दुलमत्स्याख्यानकं तु सुप्रसिद्धमेव। तदेवंविधवध्यवधकभावापेक्षया स्यात्सदृशत्वम्, स्यादसदृशत्वमिति, अन्यथाऽनाचार इति॥" एतेन लौकिकघातक-त्वव्यवहारविषयीभूतैव हिंसा महाऽनर्थहेतुरिति परस्य यत्र तत्र प्रलपनमपास्तम्॥ अपि चैवमापवादिकोऽपि वधो महानर्थाय सम्पद्यते,

ज्ञानादिहानिनिवारणमात्राभिप्रायस्य संयमपरिणतेऽ(रन)पायहेतुत्वेऽपि तत्कृतवधे लौकिकपातकव्यवहारविषयत्वेनाशुद्धत्वानिवृत्तेः। पठ्यते च यतनादिनाऽपवादस्य शुद्धत्वमेव। तदुक्तं बृहत्कल्पभाष्ये—"गीयत्थो जयणाए, कडजोगी कारणंमि णिद्दोसो॥ एगेसिं गीयकडो, अरत्तदुट्ठो य जयणाए ॥४९४६॥"त्ति। [गीतार्थो यतनया कृतयोगी कारणे निर्दोषः। एकेषा गीतकृतोऽरक्तद्विष्टश्च यतनया॥] तस्मादागमोदितयतनयाऽध्यात्मशुद्धिरेव संयमरक्षाहेतुर्नत्वनाभोग इति स्थितम्। अत एव विरताविरतयोर्जानतोरजानतोश्च विराधनायां यतनाऽयतनानिमित्तकाऽध्यात्मशुद्धि-तदशुद्धिविशेषात् कर्म्मनिर्जरा बन्धविशेषो व्यवस्थितः। तदुक्तं बृहत्कल्पभाष्यवृत्त्योर्द्वितीयखण्डे-"अथ ज्ञाताज्ञातद्वारमाह-जाणं करेइ इक्को, हिंसमजाणमपरो अविरओ अ॥ तत्थवि बंधविसेसो, महंतरं देसिओ समए॥३९३८॥ इह द्वावविरतौ, तत्रैकस्तयोर्जानन् हिंसां करोति विचिन्त्येत्यर्थः, अपरः पुनरजानन्, तत्रापि तयोरपि बन्धविशेषः 'महतरं'ति महतान्तरेण देशितः समये-सिद्धान्ते। तथाहि-यो जानन् हिंसां करोति, स तीव्रानुभावं बहुतर पापकर्मोपचिनोति; इतरस्तु मन्दतरविपाकमल्पतरं तदेवोपादत्ते। "विरतो पुण जो जाणं, कुणति अजाणं व अप्पमत्तो य। तत्थवि अज्झत्थसमा, संजायति णिज्जरा ण चओ ॥३९३९॥" यः पुनर्विरतः प्राणातिपातादिनिवृत्तः स जानानोऽपि सदोपमिदम् इत्यवबुध्यमानोऽपि गीतार्थतया द्रव्यक्षेत्राद्यागाढेषु प्रलम्बादिग्रहणेन हिंसां करोति, यद्वा न जानाति परमप्रमत्तो विकथादिप्रमादरहित उपयुक्तः सन् यत्कदाचित् प्राण्युपघातं करोति तत्राप्यध्यात्मसमा चित्तप्रणिधानतुल्या निर्ज्जरा सञ्जायते। यस्य यादृशस्तीव्रो मन्दो मध्यमो वा शुभाध्यवसायस्तस्य तादृश्येव कर्मनिर्जरा भवतीति भावः। 'न चओ'त्ति न पुनश्चयः कर्मबन्धः सूक्ष्मोऽपि भवति, प्रथमस्य भगवदाज्ञया यतनया प्रवर्त्तमानत्वाद्, द्वितीयस्य तु प्रमादरहितस्याजानतः कथञ्चित्प्राण्युपघातसम्भवेऽप्यदुष्टत्वादिति। यत्तु जीवघातवर्जनाभिप्रायवतां

यतनया प्रवर्त्तमानानां छद्मस्थसंयतानामनाभोगजन्याशक्यपरिहारेण जायमानं जीवघातानृतभाषणादिकं संयमपरिणामानपायहेतुः,संयमपरिणामानपायहेतुत्वं हि वर्जनाभिप्रायोपाधिकमेव, जीवविराधनायाः संयमपरिणामापगमहेतोर्जीवघातपरिणामजन्यत्वलक्षणस्य निजस्वरूपस्य वर्जनाभिप्रायेण परित्याजनात् ॥ अयं भावः–"यद्धर्मविशिष्टं यद्वस्तु निजस्वरूपं जहाति स धर्मः तत्रोपाधिरिति" नियमाद्, वर्जनाभिप्रायविशिष्टा हि जीवविराधना जीवघातपरिणामजन्यत्वं संयमनाशहेतुं परित्यजति, तेन संयमपरिणामानपायद्वारा वर्जनाभिप्रायजन्या निर्जरां प्रति जीवविराधनाया अपि प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणतापि। यदागमः ओघनि० "जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ णिज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥७५९॥"त्ति ७६० पिंडनिर्युक्ति। अत्र हि 'सुत्तविहिसमग्गस्स'त्ति कृतसर्वसावद्यप्रत्याख्यानस्य वर्जनाभिप्रायवतः साधोरित्यर्थः। तत्र जायमानाया निर्जराया जीवविराधना प्रतिबन्धिका न भवति, जीवघातपरिणामजन्यत्वाभावेन वर्जनाभिप्रायोपाध्यपेक्षया दुर्बलत्वाद्, एतेन जीवविराधनापि यदि निर्जरां प्रति कारणं भवेत्, तर्हि तथाभूतापि विराधना तपःसंयमादिवद्भूयस्येव श्रेयस्करी, भूयोनिर्जराहेतुत्वादिति पराशङ्कापि परास्ता, स्वरूपतः कारणभूतस्य तथा वक्तुं शक्यत्वात्। न चैवं जीवविराधना तथा, तस्याः संयमपरिणामापगमद्वारा स्वरूपतो निर्जरायाः प्रतिबन्धकत्वात्। प्रतिबन्धकं च यथायथाऽल्पमसमर्थं च तथातथा श्रेयः, तेन तस्याः कारणत्वं प्रतिबन्धकाभावत्वेन, प्रतिबन्धकाभावस्य च भूयस्त्वं प्रतिबन्धकानामल्पत्वेनैव स्याद्. अन्यथा तदभावस्य कारणता न स्यादित्यादिकूटकल्पनारसिकेणोच्यते। तदसत्, निश्चयतः सर्वत्र संयमप्रत्ययनिर्जरायामध्यात्मशुद्धिरूपस्य भावस्यैव हेतुत्वात्, तदङ्गभूतव्यवहारेण चापवादपदादिप्रत्ययाया हिंसाया अपि निमित्तत्वे बाधकाभावात्, "जे आसवा ते परिस्सवा" [ये आस्रवास्ते परिस्रवाः] इत्यादिवचनप्रामाण्यात्। निमित्तकारणोत्कर्षापकर्षौ च न कार्योत्कर्षापकर्ष-

प्रयोजकाविति न निर्ज्जरोत्कर्षार्थं तादृशहिंसोत्कर्षाश्रयणापत्तिः, यच्च 'जा जयमाणस्से'त्यादिवचनपुरस्कारेण वर्जनाभिप्रायेणानाभोगजन्याशक्यपरिहारहिंसायाः प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणत्वाभिधानं तत्तु तद्वृत्त्यर्थानाभोगविजृम्भितम्, तत्रापवादप्रत्ययाया एव हिंसाया व्याख्यानात्। तथाहि यतमानस्य सूत्रोक्तविधिसमग्रस्य-सूत्रोक्तविधिपरिपालनपूर्णस्य, अध्यात्मविशोधियुक्तस्य रागद्वेषाभ्यां रहितस्येति भावः, या भवेद्विराधनाऽपवादपदप्रत्यया, सा भवति निर्ज्जराफला। इदमुक्तं भवति—कृतयोगिनो गीतार्थस्य कारणवशेन यतनयाऽपवादपदमासेवमानस्य या विराधना सा सिद्धिफला भवतीति पिण्डनिर्युक्तिवृत्तौ। न चेयमनाभोगजन्या वर्जनाभिप्रायवती वा, किन्तु ज्ञानपूर्वकत्वेनर्जुसूत्रनयमतेन विलक्षणैव सती व्यवहारनयमतेन च विलक्षणा कारणसहकृता सती बन्धहेतुरपि निर्ज्जराहेतुर्घटकारणमिव दण्डो घटभङ्गाभिप्रायेण गृहीतो घटभङ्गे, अत एवेयमनुबन्धतो हिंसारूपा सत्यैदम्पर्यार्थापेक्षया 'न हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि' इति निषेधार्थलेशमपि न स्पृशति, अविधिहिंसाया एवात्र निषेधाद्। विधिपूर्वकस्वरूपहिंसायास्तु सदनुष्ठानान्तर्भूतत्वेन परमार्थतो मोक्षफलत्वात्। तदुक्तमुपदेशपदसूत्रवृत्त्योः—"अथ साक्षादेव कतिचित्सूत्राण्याश्रित्य पदार्थादीनि व्याख्याङ्गानि दर्शयन्नाह—"हिंसिज्ज ण भूयाइं, इत्थ पयत्थो पसिद्धगो चेव॥ मणमाइएहिं पीडां, सव्वेसिं चेव ण करिज्जा" ॥८६५॥ "हिंस्याद् व्यापादयेद्, न नैव, भूतानि पृथिव्यादीन् प्राणिनः, अत्र सूत्रे, पदार्थः प्रसिद्धश्चैव प्रख्यातरूप एव, तमेव दर्शयति—मनआदिभिर्मनोवाक्कायैः, पीडां बाधां, सर्वेषां चैव समस्तानामपि जीवानां, न कुर्याद् न विदध्यादिति॥ तथा "आरंभिपमत्ताणं, इत्तो चेइहरलोचकरणाई॥ तक्करणमेव अणुवं-धओ तहा एस वक्कत्थो" ॥८६६॥ व्याख्या—आरम्भः-पृथिव्याद्युपमर्दः स विद्यते येषां ते आरम्भिणो गृहस्थाः, प्रमाद्यन्ति निद्राविकथादिभिः प्रमादैः सर्वसावद्ययोगविरतावपि सत्यां ये ते प्रमत्ता यतिविशेषाः, आरम्भिणश्च

प्रमत्ताश्च आरम्भिप्रमत्ताः तेषाम् ,इतः पदार्थात्, चैत्यगृहलोचकरणादि, चैत्यगृहमर्हतो भगवतो बिम्बाश्रयः, लोचकरणं च केशोत्पा-
टनरूपम्, आदिशब्दात् तत्तदपवादपदाश्रयणेन तथा तथा प्रवचनदुष्टनिग्रहादिपरपीडाग्रहस्तेषां करणं, तत्करणमेव प्राप्तिषिद्धहिंसादि-
करणमेव प्राप्तम्। कुतः? इत्याशङ्कयाह-अनुबन्धतोऽनुगमात्, तथा तत्प्रकारायाः परपीडाया इत्येष चालनारूपो वाक्यार्थ इत्यर्थः॥
"अविहिकरणंमि आणा-विराहणा दुट्ठमेव एएसिं। तो विहिणा जइअव्वं, ति महावक्कत्थरूवं तु" ॥८६७॥ व्याख्या-अविधिकरणेऽनी-
तिविधाने चैत्यगृहलोचादेरर्थस्य, आज्ञाविराधनाद् भगवद्वचनविलोपनाद्, दुष्टमेव,एतेषां चैत्यगृहादीनां करणम्, तत्र चैत्यमाश्रि-
"जिनभवनकारणविधिः, शुद्धा भूमिर्दलं च काष्ठादि॥ भृतकानतिसन्धानं, स्वाशयवृद्धिः समासेन॥१॥" लोचकर्मविधिस्तु-"धुवलोओ
अ जिणाणं, वासावासेसु होइ थेराणं॥ तरुणाणं चउमासे, वुड्ढाणं होइ छम्मासे ॥१॥" इत्यादि। [ध्रुवलोचश्च जिनानां वर्षावासेषु भवति
स्थविराणाम्। तरुणानां चतुर्मास्यां वृद्धानां भवति षण्मास्याम्॥] तत्तस्माद्, विधिना जिनोपदेशेन यतितव्यम्-इत्येव महावा-
क्यार्थस्य प्राक्चालितप्रत्यवस्थानरूपस्य, रूपं तु स्वभावः पुनः॥८६७॥ महावाक्यार्थमेव गाथापूर्वार्धेनोपसंहरन्नैदम्पर्यमाह॥ "एवं एसा
अणुबंध-भावओ तत्तओ कया होइ॥ अइदंपज्जं एवं, आणा धम्मम्मि सारोत्ति"॥८६८॥ एवं विधिना यत्ने क्रियमाणे, एषा हिंसा, अनु-
बन्धभावतउत्तरोत्तरानुबन्धभावान्मोक्षप्राप्तिपर्यवसानानुगमात्,तत्त्वतःपरमार्थतः,कृता भवति,मोक्षमस्याःघ्राज्ञिनाज्ञाया उपरमाभा-
वादिति ऐदम्पर्यमेतदत्र यदुताज्ञा धर्मे सारः। इतिः परिसमाप्ताविति।" प्रतिबन्धकाभावत्वेनोक्तहिंसाया निर्जराहेतुत्वे चाभ्युपगम्य-
माने केवलायास्तस्याः प्रतिबन्धकत्वाभावाज्जीवघातपरिणामविशिष्टत्वेन प्रतिबन्धकत्वे विशेषणाभावप्रयुक्तस्य विशिष्टाभावस्य शुद्धविशे
ष्यस्वरूपत्वे विशेष्याभावप्रयुक्तस्य तस्य शुद्धविशेषणरूपस्यापि सम्भवाज्जीवघातपरिणामोऽपि देवानाप्रियस्य निर्जराहेतुः प्रसज्येतेत्यहो!

काचनापूर्वेयं तर्कागमचातुरी । वर्जनाभिप्रायेण जीवघातपरिणामजन्यत्वलक्षणं स्वरूपमेव विराधनायास्त्याज्यतेऽतो नेयमगती प्रतिबन्धिकेति चेत्, किमेतद्विराधनापदप्रवृत्तिनिमित्तमुत विशेषणं विराधनापदार्थस्य । आद्ये पदप्रवृत्तिनिमित्तं नास्ति, पदार्थश्च प्रतिपाद्यते इत्ययमुन्मत्तप्रलापः । अन्त्ये च विशिष्टप्रतिबन्धकत्वपर्यवसाने उक्तदोषतादवस्थ्यमिति मुग्धशिष्यप्रतारणमात्रमेतत् । न च 'यद्धर्म्मविशिष्टं यद्वस्तु निजस्वरूपं जहाति स धर्म्मस्तत्रोपाधिः' इति नियमाद् वर्जनाभिप्रायविशिष्टा हि जीवविराधना जीवघातपरिणामजन्यत्वं संयमनाशहेतुं परित्यजतीति भावार्थपर्यालोचनादनुपहितविराधनात्वेन प्रतिबन्धकत्वं लभ्यत इत्युपहितायास्तस्याः प्रतिबन्धकाभावत्वं स्वरूपेणैवाक्षतमित्यपि युक्तम्, प्रकृतविराधनाव्यक्तौ जीवघातपरिणामजन्यत्वस्यासत्त्वेन त्याजयितुमशक्यत्वाद्, अत एव तत्प्रकारकप्रमितिप्रतिबन्धरूपस्यापि तद्धानस्यानुपपत्तेः । अथ वर्जनाभिप्रायाभावविशिष्टविराधनात्वेन प्रतिबन्धकत्वे न कोऽपि दोषः, प्रत्युत वर्जनाभिप्रायस्य पृथक्कारणत्वाकल्पनाल्लाघवमेवेति चेत्, न । वर्जनाभिप्रायमात्रस्याज्ञाबाह्यानुष्ठानेऽपि सत्त्वान्नोत्तेजकत्वमित्याज्ञाशुद्धभावस्येहोत्तेजकत्वं वाच्यम्, स च विशिष्टनिर्जरामात्रे स्वतन्त्रकारणमिति न तत्रास्येहोत्तेजकत्वं युज्यते; अन्यथा दण्डाभावविशिष्टचक्रत्वादिनापि घटादौ प्रतिबन्धकता कल्पनीया स्यादिति न किञ्चिदेतत् । तस्मादाज्ञाशुद्धभाव एव सर्वत्र संयमरक्षाहेतुर्न त्वनाभोगमात्रमिति । नद्युत्तारेऽपि यतीनां तत एवादुष्टत्वम्, न तु जलजीवानाभोगादिति स्थितम् ॥ ५३ ॥

अथ तत्र जलजीवानाभोगे व्यक्तं दूषणमाह—

जलजीवाणाभोगा, णइउत्तारंमि जइ ण तुह दोसो ॥ पाणेवि तस्स ता सो, मूलच्छेज्जो ण हुज्जाहि ॥५४॥

[जलजीवानाभोगाद् नद्युत्तारे यदि न तव दोषः । पानेऽपि तस्य तर्हि स मूलच्छेद्यो न भवेद् ॥ ५४ ॥]

व्याख्या—'जलजीवाणाभोग'त्ति नद्युत्तारे जलजीवानाभोगाद् यदि तत्र न दोष', तर्हि तस्य जलस्य, पानेऽपि स दोषो, मूलच्छेद्यो मूलप्रायश्चित्तविशोध्यो न भवेत्, नहि नदीमुत्तरतो जलजीवानाभोगस्तत्पाने च तदाभोग इति त्वया वक्तुं शक्यते, तदनाभोगस्य त्वया केवलज्ञाननिवर्त्तनीयत्वाभ्युपगमात्, तथा चोभयत्रैव मिथ्यादुष्कृतप्रायश्चित्तशोध्यमेव पापं स्यात्। ननु ज्ञात्वा जलपानेऽपि मूलच्छेद्यम्, तच्च श्रुतपरम्पराविरुद्धमित्याभोगविषयतापि जलजीवानामवश्यं वक्तव्या, प्रायश्चित्तभेदस्तु यतनाऽयतनाविशेषादिति। यदि च ज्ञात्वा जलपाने न जलजीवाभोगात्प्रायश्चित्तविशेषः, किन्तु निःशूकत्वादित्युच्यते, तर्हि स्थूलत्रसाभोगोऽप्युच्छिद्येत, तद्वधेऽपि निःशूकताविशेषादेव पातकविशेषोपपत्तेः। ज्ञात्वाभोगाऽनाभोगाव कर्त्तव्यन्वज्ञानतदभावरूपावेवोक्तौ। नदुक्तं पञ्चाशकवृत्तौ—"तत्राभोगोऽकर्त्तव्यमिति ज्ञानम्, अनाभोगस्तदज्ञानमिति। तौ चोभयविराधनायामपि सम्भवत एव॥" प्रतिपादितं च प्रायश्चित्तमाभोगानाभोगभेदात् पृथिव्यादिविराधनायामपि पृथगेवेति न किञ्चिदेतत्। एतेन यदुच्यते विनापवादं ज्ञात्वा जीवघातको ह्यसंयतो न भवेत्, तर्हि असंयतत्वमुच्छिन्नं कथं भवेद्-इत्यादि परेण तदपास्तम्। अपवादमन्तरेणापि सामान्यसाधूनामपवादपदानधिकारिणा चोत्कृष्टचारित्रवता प्रतिमाप्रतिपन्नजिनकल्पिकादीनां नद्युत्तारादावाभोगपूर्वकजीवविराधनायाः साधितत्वात्। नद्युत्तारश्च जिनकल्पिकादीनामपि, 'जत्थत्थमेइ सूरो' (यत्रास्तमियात्सूर्यः) इत्यादि प्रवचनेषु दिनस्य तृतीयपौरुष्यतिक्रमे नद्याद्युत्तरतस्ते जलात्पदमात्रमपि बहिर्न निक्षिपन्ति किन्तु तत्रैव तिष्ठन्ति-इत्यादिभणनेन प्रतीत एव। सोऽप्यापवादिकश्चेत्, तर्हि विहाराऽऽहारादिक्रियास्वौत्सर्गिकीषु जीवविराधनया योगसमुत्थया जिनकल्पिकादीनामसंयतत्वप्रसक्तेर्वज्रलेपत्वमेव, तस्या योगावश्यंभावित्वस्य प्रवचनादेव निश्चयाद्, अङ्गीकृतं चैतत्परेणापि। यदुक्तं तेन—"यत्रानुष्ठाने आरम्भस्तज्जिनैः प्रतिषिद्धमेव, उत जिनोपदिष्टक्रियायामारम्भो न

भवत्येव" इति लुम्पकीयपक्षद्वयदूषणार्थं ग्रन्थान्तरे। आद्यपक्षे साधूनां विहारा-ऽऽहार नीहार-नद्युत्तार-प्रतिक्रमण-प्रतिलेखनो-पाश्रय-प्रमार्जनादिक्रियाणां प्रवचनप्रसिद्धानामारम्भाविनाभाविनीना प्रतिषेधे सम्पन्ने तवैव गलपादुका। द्वितीयेऽध्यक्षबाधा, नद्युत्तारादिषु षण्णामपि जीवानां विराधनासम्भवात्, 'जत्थ जलं तत्थ वणं' [यत्र जलं तत्र वनम्।] इत्यागमवचनात् प्रतिक्रमणप्रतिलेखनादिषु च वायुजीवादीनामारम्भस्यागमप्रसिद्धत्वात्, एजनादिक्रियायुक्तस्यारम्भाद्यवश्यंभावात्। यदागमः—"जाव णं एस जीवे एअइ वेयइ चलइ फंदइ इत्यादि यावदारभे वट्टइ" [यावदेष जीव एजते व्येजते चलति स्पन्दते इत्यादि यावदारम्भे वर्तते।] इत्यादि। किंच—अपवादे आभोगपूर्विकायामपि जीवविराधनायां सम्यक्त्वनाशादिदूषणं यत् त्वया नोच्यते, तत्र किं म्रियमाणानां जीवानां प्राणत्यागाभावः, सद्गतिर्वा कारणं, द्वयमप्यागमबाधितमित्याशयशुद्धत्वमेव तत्र कारणं वाच्यमित्यशक्यपरिहारजीवविराधनायामप्याशयशुद्धत्वादेव दोषाभावोऽस्तु, किमनाभोगप्रपञ्चेन अत एव जीवघातेऽपि लोके द्रव्यहिंसाया भावहिंसायां शब्दादीनां रताविवानैकान्तिककारणत्वात्, जीवरक्षाविषयकप्रयत्नेनैव साधोरन्तस्तत्त्वशुद्धेरदुष्टत्वं विशेषावश्यके उपपादितं नत्वनाभोगेनैव, तथा च तद्ग्रन्थः—"एवमहिंसाऽभावो, जीवघणंति ण य तं जओ भिहियं॥ सत्थोवहयमजीवं, ण य जीवघणंति तो हिंसा॥१७६२॥" नन्वेवं सति लोकस्यातीवपृथिव्यादिजीवघनत्वादहिंसाभावः, संयतैरप्यहिंसाव्रतमित्थं निर्वाहयितुमशक्यमिति भावः, तदेतद् न, यतोऽनन्तरमेवाभिहितमस्माभिः-शस्त्रोपहत पृथिव्यादिकमजीव भवति। तदजीवत्वे चाकृताकारितादिपरिभोगेन निर्वहत्येव यतीनां संयमः। न च 'जीवघनो लोकः' इत्येतावन्मात्रेणैव हिंसा सम्भवतीति॥१॥ आह ननु जीवाकुले लोकेऽवश्यमेव जीवघातः सम्भाव्यते (सम्भवी) जीवांश्च घ्नन् कथं हिंसको न स्याद्? इत्याह। "ण य घायउत्ति हिंसो, णाघायंतोत्ति णिच्छियमहिंसो। ण विरलजीवमहिंसो,

ण य जीवघणंति तो हिंसो ॥१७६३॥ अहणंतोवि हु हिंसो, दुट्ठत्तणओ मओ अहिमरोव्व। बाहिंतो ण वि हिंसो, सुद्धत्तणओ जहा विज्जो ॥१७६४॥" नहि घातक इत्येतावता हिंस्रः, नचाघ्नन्नपि निश्चयनयमतेनाहिंस्रः, नापि विरलजीवम् इत्येतावन्मात्रेणाहिंस्रः, न चापि जीवघनम् इत्येतावता च हिंस्र इति॥ किं तर्हि? अभिमरो गजादिघातकः स इव दुष्टाध्यवसायोऽघ्नन्नपि हिंस्रो मतः। बाधमानोऽपि च शुद्धपरिणामो न हिंस्रः, यथा वैद्य इति॥ घ्नन्नप्यहिंस्रोऽघ्नन्नपि च हिंस्र उक्तः। स इह कथंभूतो ग्राह्यः? इत्याह—"पंचसमिओ तिगुत्तो, नाणी अविहिंसओ ण विवरीओ। होउ व संपत्ती से, मा वा जीवोवरोहेणं ॥१७६५॥" पञ्चभिः समितिभिः समितः तिसृभिश्च गुप्तिभिर्गुप्तो ज्ञानी जीवस्वरूपतद्रक्षाक्रियाभिज्ञः सर्वथा जीवरक्षापरिणामपरिणतस्तत्प्रयतश्च कथमपि हिंसन्नप्यविहिंसको मतः। एतद्विपरीतलक्षणस्तु नाहिंसकः, किन्तु हिंस्र एवायम्, अशुभपरिणामत्वाद्, बाह्य(बाह्य) जीवहिंसायास्तु, जीवोपरोधेन जीवस्य कीटादेरुपरोधेनोपघातेन, सम्पत्तिर्भवतु मा भूद्वा, स तस्य साध्वादेः हिंसकत्वे तस्या अनैकान्तिकत्वादिति॥ कुतस्तस्या अनैकान्तिकत्वम्? इत्याह—"असुहो जो परिणामो, सा हिंसा सो उ बाहिरणिमित्तं। कोवि अवेक्खेज्ज ण वा, जम्हा णेगंतियं बज्झं ॥१७६६॥" यस्मादिह निश्चयनयतो योऽशुभपरिणामः स एव हिंसेत्याख्यायते। स च बाह्यं सत्त्वातिपातक्रियालक्षणं निमित्तं कोऽप्यपेक्षते, कोऽपि पुनस्तन्निरपेक्षोपि भवेत्, यथा तन्दुलमत्स्यादीनाम्, य(त)स्मादनैकान्तिकमेव बाह्यनिमित्तम्, तत्सद्भावेऽप्यहिंसकत्वात्, तदभावेऽपि च हिंसकत्वादिति॥ नन्वेवं तर्हि बाह्यो जीवघातः किं सर्वथैव हिंसा न भवति?; उच्यते, कश्चिद् भवति, कश्चित्तु न, कथम्? इत्याह—"असुहपरिणामहेऊ, जीवाबाहोत्ति तो मयं हिंसा। जस्स उ ण सो णिमित्तं, संतोवि ण तस्स सा हिंसा" ॥१७६७॥ ततस्तस्माद् यो जीवाबाधोऽशुभपरिणामस्य हेतुरथवाऽशुभपरिणामो हेतुः कारणं यस्याबाध-

शुभपरिणामहेतुर्जीवाबाधो जीवघातः स एव हिंसेति मतं तीर्थंकरगणधराणाम्। यस्य तु जीवाबाधस्य सोऽशुभपरिणामो, न निमित्त स जीवाबाधः, मन्नपि तस्य साधोर्न हिंसेति ॥ अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयन्नाह—"सद्दादओ रइफला, ण वीयमोहस्स भावसुद्धीओ। जह तह जीवाबाहो ण सुद्धमणसो वि हिंसाए ॥१७६८॥" यथेह वीतरागद्वेषमोहस्य भगवत, इष्टाः शब्दरूपादयो, भावविशुद्धितो न कदाचिद्रतिफला रतिजनकाः सम्पद्यन्ते, यथा वेह शुद्धात्मनो रूपवत्यामपि मातरि न विषयाभिलाषः सञ्जायते, तथा शुद्धपरिणामस्य यत्नवतः साधोः सत्त्वोपघातोऽपि, न हिंसायै सम्पद्यते, ततोऽशुभपरिणामजनकत्वे बाह्यं निमित्तमनैकान्तिकमेवेति ॥" यदि चाशक्यपरिहारविराधनाभोगः साधूनां सम्यक्त्वक्षतिकरः स्यात् तदौत्सर्गिकविहारादिक्रियापरित्याग एव स्यात्, तत्रापि योगजन्यविराधनानिश्चयाद्, न च प्रमाणान्तरेण निश्चितेऽपि स्वादर्शनमात्रेणानाभोगः शक्यो वक्तुमित्युक्तमेव, न चेदेवं तदा निरन्तरजीवाकुलभूमिं निर्णीयापि रात्रौ तत्रैव स्वैरगमने जीवाप्रत्यक्षत्वेन तत्र तज्जीवविराधनाऽनाभोगजा वक्तव्या स्यात्। तथा च लोकशास्त्रविरोधः। किंचैवमब्रह्मसेवायामपि केवलिवचसा निश्चीयमानाया अपि त्रसविराधनाया अनाभोगपूर्वकत्वे साधोः प्रथममहाव्रतभङ्गो न स्यात्, स्याच्च प्रकृष्टावधिमतां प्रत्यक्षयोगजन्यविराधनानामिति न किञ्चिदेतत् ॥ ५४ ॥

एवं व्यवस्थिते सत्यत्र विश्रान्तस्य परस्याक्षेपं समाधत्ते—

नणु आभोगा इत्थं, विरयाणं हुज्ज देसविरयत्तं ॥ णेवं, जं पडिपुन्ना, पडिवत्ती सुत्तआणा य ॥ ५५ ॥

[नन्वाभोगादत्र विरतानां भवेद् देशविरतत्वम्। नैवं, यत्प्रतिपूर्णा प्रतिपत्तिः सूत्राज्ञा च ॥ ५५ ॥]

व्याख्या—नणुत्ति। नन्वत्र नद्युत्तारे जलजीवविराधनायामाभोगाद्विरतानां, सर्वसंयमवतां देशविरतत्वं भवेत्, निश्चि-

तेऽपि जलजीवघातेऽवस्थितस्य विरतिपरिणामस्याभ्युपगमे तस्य देशविरतिरूपस्यैव पर्यवसानाद्, निश्चितेऽपि जलजीवघाते तज्जीवविषयकविरतिपरिणामस्यानपायेन चारित्राखण्डताभ्युपगमे च सर्वेषामपि सम्यग्दृशां सर्वविरतिप्रतिपत्तौ न किञ्चिद्बाधकमिति देशविरत्युच्छेद एव स्यादिति भावः। नैवम्, यद्-यस्मात् कारणाद्विरतानां प्रतिपूर्णा प्रतिपत्तिः-अष्टादशशीलाङ्गसहस्रग्रहणलक्षणा सूत्राज्ञा; तेन न निश्चितायामपि जलजीवविराधनाया नद्युत्तारादौ देशविरतत्वम्, प्रतिपन्नसर्वविरतेः सूत्राज्ञयाऽखण्डनात्। न च प्रतिदिनकर्त्तव्यविचित्रोत्सर्गापवादगहनाष्टादशशीलाङ्गसहस्रप्रतिपत्तियोग्यतां स्वात्मन्यनिश्चित्यादित एव तत्प्रतिपत्तिर्युक्तेति तदधस्तनगुणस्थानयोग्यतया देशविरतिप्रतिपत्तिसम्भवान्न तदुच्छेद इति भावः। इदं तु ध्येयम्-निश्चयनयमतेनाष्टादशापि शीलाङ्गसहस्राण्यसङ्ख्येयात्मप्रदेशवत्परस्परनियतान्येवेत्येकस्यापि सुपरिशुद्धस्य शीलाङ्गस्य सत्त्वं शेषसद्भाव एव स्यादिति समुदितैरेव तैः सर्वविरतिसम्भवः। तदुक्तं हरिभद्राचार्यैः पंचाशक १४ "एत्थ इमं विण्णेयं, अइदंपज्जं तु बुद्धिमंतेहिं। इक्कंपि परिसुद्धं, सीलंगं सेससब्भावे ॥१०॥ एको वाऽऽयपएसोऽसंखेज्जपएससंगओ जह उ। एयंपि तहा णेयं, सतत्तचाओ इहरहा उ ॥११॥ जम्हा समग्गमेयंपि, सव्वसावज्जजोगविरई उ॥ तत्तेणेगसरूवं, ण खंडरूवत्तणमुवेइ ॥१२॥ (अत्रेदं विज्ञेयमैदंपर्यं तु बुद्धिमद्भिः। एकमपि सुपरिशुद्धं शीलाङ्गं शेषसद्भावे॥ एकोऽप्यात्मप्रदेशोऽसंख्येयप्रदेशसंगतो यथा तु। एतदपि तथा ज्ञेयं स्वतत्त्वत्याग इतरथा तु॥ यस्मात्समग्रमेतदपि सर्वसावद्ययोगविरतिस्तु। तत्त्वेनैकस्वरूपं न खण्डरूपत्वमुपैति॥) व्यवहारनयमते त्वेकाद्यङ्गभङ्गेऽपि सञ्ज्वलनोदयस्य चरणैकदेशभङ्गहेतुत्वादपरशीलाङ्गसद्भावादवशिष्टप्रतिपन्नचारित्रसद्भावान्न देशविरतत्वम्; न हि पर्वतैकदेशलोष्टाद्यपगमेऽपि पर्वतस्य लोष्टुत्वमापद्यते, मूलभङ्गे तु चारित्रभङ्ग एव, "अत एव यो मन्यते 'लवणं भक्षयामीति' इति तेन मनसा न करोत्याहारसंज्ञाविहीनो रसने-

न्द्रियसंवृतः पृथिवीकायसमारम्भं मुक्तिसम्पन्न इत्येकतद्भङ्गः कृतः। ततस्तद्भङ्गेन च प्रतिक्रमणप्रायश्चित्तेन शुद्धिः स्यात्, अन्यथा मूलेनैव स्यादिति । न च तद्भङ्गक्षणेऽपि शेषाङ्गसत्त्वान्न मूलापत्तिरिति शङ्कनीयम्; मण्डपशिलादृष्टान्तेनैकस्यापि गुरुदोषस्य मूलनाशकत्वाभ्युपगमात् । इदं च शीलाङ्गान्यूनत्वं भावविरतिमपेक्ष्य द्रष्टव्यम्, न तु बाह्यामपि प्रवृत्तिमपेक्ष्य, यतः सा परतन्त्रस्य स्वतन्त्रस्य वा पुष्टालम्बनदशायां स्वतन्त्रभङ्गेच्छारूपाविरतिभावं विना द्रव्यहिंसादिकारिण्यपि स्यादेव, न च तया सर्वार्थानभिष्वङ्गस्य भावविरतिबाधनम्, उत्सूत्रा तु प्रवृत्तिर्बाधत एव विरतिभावम्, केवलं सा गीतार्थप्रज्ञापनायोग्या निरनुबन्धा, अभिनिवेशवती तु न मूलच्छेद्यातिचारजातमन्तरेण स्यादिति गीतार्थस्य तन्निश्रितस्य वाऽऽज्ञापरतन्त्रस्योत्सूत्रप्रवृत्तिरहितस्याष्टादशशीलाङ्गसहस्रमयो सर्वविरतिपरिणामः पूर्णो भवति, बाह्यप्रवृत्तिपूर्णतामात्रं त्वत्रातन्त्रमिति। तदुक्तं—"एयं च एत्थ एवं, विरईभावं पडुच्च दट्ठव्वं। ण उ बज्झंपि पवित्तिं, जं सा भावं विणा वि भवे ॥ १३ ॥ जह उस्सग्गंमि ठिओ, खित्तो उदगंमि केणइ तवस्सी। तव्वहपवित्तकाओ, वचलियभावोऽपवित्तो उ(अ)॥ १४ ॥ एवं चिय मज्झत्थो. आणाओ(इ)कत्थई पयट्टंतो। सेहगिलाणादट्ठा, अपवत्तो चेव णायव्वो ॥ १५ ॥ आणापरतंतो सो, सा पुण सव्वन्नुवयणओ चेव। एगंतहिया वेज्जग–णाएणं सव्वजीवाणं ॥१६॥ भाव विणावि एवं, होइ पवित्ती ण बाहए एसा। सव्वत्थ अणभिसंगा, विरईभावं सुसाहुस्स ॥ १७ ॥ उस्सुत्ता पुण बाहइ, समइविअप्पसुद्धा वि णियमेण। गीयणिसिद्धपवज्जग–रूवा णवरं णिरणुबंधा ॥ १८ ॥ इह(य)रा उ अभिणिवेसा, इयरा नय मूलछेज्जविरहेण। होएसा एत्तो च्चिय, पुव्वायरिआ इमं बाहु॥ १९॥ गीयत्थो अ विहारो, बीओ गीयत्थमीसिओ चेव(भणिओ)। इत्तो तइअविहारो णाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥२०॥ गीयस्स ण उस्सुत्ता, तज्जुत्तस्सेयरस्स य(वि)तहेव। णियमेणं चरणवं जं ण जाउ आणं विलंघेइ ॥२१॥ ण य तज्जुत्तो (गीयत्थो) अण्ण, न णिवारए

जोग्गय मुणेऊणं । एव दोण्हवि चरण, परिसुद्धं अण्णहा णेव ॥ २२ ॥ ता एवं विरतिभावो. संपुन्नो एत्थ होइ णायव्वो । णियमेणं अट्ठारससीलगसहस्सरूवो उ ॥ २३ ॥ त्ति [एतच्च अत्रैवं विरतिभावं प्रतीत्य द्रष्टव्यम् । न तु बाह्यामपि प्रवृत्तिं यस्मा भावं विनाऽपि भवेद् ॥ यथा कायोत्सर्गे स्थितः क्षिप्त उदके केनचित्तपस्वी । तद्वधप्रवृत्तकायोऽप्यचलितभावोऽप्रवृत्तस्तु ॥ एवमेव मध्यस्थ आज्ञया (आज्ञातः) क्वचित्प्रवर्तमानः । शैक्षग्लानाद्यर्थमप्रवृत्त एव ज्ञातव्यः ॥ आज्ञापरतन्त्रः सः, सा पुनः सर्वज्ञवचनतश्चैव । एकान्तहिता वैद्यकज्ञातेन सर्वजीवानाम् ॥ भावं विनाऽप्येवं भवति प्रवृत्तिर्न बाधते एषा । सर्वत्रानभिष्वङ्गाद्(ङ्गा) विरतिभावं सुगाभोः ॥ उत्सूत्रा पुनर्बाधते स्वमतिविकल्पशुद्धाऽपि नियमेन । गीतार्थनिषिद्धप्रपदनरूपा नवर निग्गुवन्धा ॥ इतरथा त्वभिनिवेशादितरात्(रा) न न मूलच्छेद्यविरहेण । भवत्येषाऽत एव पूर्वाचार्या इदं चाहुः ॥ गीतार्थश्च विहारो द्वितीयो गीतार्थमिश्रितश्चैव । इतस्तृतीयो विहारो नानुज्ञातो जिनवरैः ॥ गीतार्थस्य नोत्सूत्रा तद्युक्तस्येतरस्य च तथैव । नियमेन चरणवान् यन्न जातवानां लिङ्घयति ॥ न च तद्युक्तोऽन्य न निवारयति योग्यतां ज्ञात्वा । एवं द्वयोरपि चरणं परिशुद्धमन्यथा नैव ॥ तस्मादेवं विरतिभावः सपूर्णोऽत्र भवति ज्ञातव्यः । नियमेनाष्टादशशीलांगसहस्ररूपस्तु ॥ इति] ततो नद्युत्तारादावुत्सर्गप्रवृत्त्यभावादाज्ञाशुद्धस्य साधोर्न सातिचारतामपीति कुतस्तरां देशविरतत्वम् ? तदेवं नद्युत्तारेऽन्यत्र वाऽपवादपदे भगवदाज्ञया द्रव्याश्रवप्रवृत्तावपि न दोषत्वमिति स्थितम् । एव चात्र विहितानुष्ठानेऽनुबन्धतोऽहिंसात्वेन परिणतायां द्रव्यहिंसायामपीति भगवदाज्ञैव प्रवृत्तिहेतुरिति सम्पन्नम्, आज्ञातः कश्चिद् द्रव्यहिंसादौ प्रवर्तमानोऽप्यप्रवृत्त इति 'पश्चाशकवृत्ति' वचनात् । यत्तूच्यते परेण नद्युत्तारादौ जलजीवविराधनाऽनुज्ञा किं साक्षादादेशरूपा, उत कल्पनाभिव्यञ्जिता ?, नाद्यः, 'स साधुर्जीवविराधनां करोतु' इत्यादिरूपेण केवलिनो वाक्प्रयोगासम्भवात् । यदुक्त—'अरिहंता भगवंतो' इत्यादि । अत एव

दीक्षा जिघृक्षताऽपि विज्ञप्तो भगवान् 'जहासुहं' इत्येवोक्तवान् न पुनस्त्वं गृहाणेत्यादि । यत्तु क्रियाकालेऽभ्यर्थितो भगवानादेशमुखेनाप्यनुज्ञां ददाति, तत्रानुज्ञायाः फलवत्त्वेन भाषाया निरवद्यत्वात् । नापि द्वितीयः, यतः कल्प्यता नद्युत्तारस्येष्टफलहेतुत्वेनैव स्यात्, इष्टफलं सहेतुत्वं च नद्युत्तारस्य यतनाविशिष्टस्यैव भणितम्, अयतनाविशिष्टस्य तु तस्य प्रतिषेध एवेत्ययतनाजन्यजीवविराधनयैव नद्युत्तारोऽप्यनिष्टफलहेतुत्वेनाकल्प्यो भणित इति जलजीवविराधनाविशिष्टो नद्युत्तारः केवलिनाऽनुज्ञात इति वक्तुमप्यकल्प्यम् । न च यतनया नदीमुत्तरतः साधोरनाभोगजन्याशक्यपरिहारेण या जलजीवविराधना साऽनुज्ञातेत्युच्यत इति वाच्यम्, तस्यामनुज्ञाया अनपेक्षणान्निष्फलत्वाद्, ज्ञातेऽपि प्रायश्चित्तानुपपत्तिप्रसक्तेश्च, जिनाज्ञया कृतत्वात् । एवमन्यत्रापि कल्प्यताऽकल्प्यता च फलद्वारा साक्षाद्वोक्ताऽवसातव्या; पर सर्वत्रापि वस्तुस्वरूपनिरूपणोपदेशेन न पुनः क्वाप्यादेशेनापि । अयं भावः–जिनोपदेशो हि सम्यग्दृशां वस्तुस्वरूपपरिज्ञानार्थमेव भवति । तत्र वस्तुनः स्वरूपं हेयत्वज्ञेयत्वोपादेयत्वभेदेन त्रिधा । तत्र किञ्चिद्वस्तु जीवघाताद्याश्रवभूतं हेयम्, दुर्गतिहेतुत्वात् । किञ्चिच्च जीवरक्षादि संवररूपमुपादेयम्, सुगतिहेतुत्वात्, किञ्चिच्च स्वर्गनरकादिकं ज्ञेयमेव, उभयस्वभावविकलत्वात् । यत्तु ज्ञातं सर्वमपि वस्तु सुगतिहेतुस्तत्र "सविशेषणे०" इत्यादिन्यायेन ज्ञानस्यैव प्राधान्यम्, तच्चोपादेयान्तर्भूतमवसातव्यम् । एवं च किञ्चिदेकमेव वस्तु विशेषणाद्यपेक्षया त्रिप्रकारमपि भवति । यथा एकैव गमनक्रिया जीवघातादिहेतुत्वेनाऽयतनाविशिष्टा साधूनां हेयैव, हेयत्वेन चाकल्प्यैव; तथा सैव क्रिया जीवरक्षादिहेतुत्वेन यतनाविशिष्टा साधूनामुपादेया, उपादेयत्वेन च कल्प्या; उभयविशेषणरहिता तु ज्ञेयैव । एवं धार्मिकानुष्ठानमात्रे वक्तव्ये "सविशेषणे०"-इत्यादिन्यायेन विधिनिषेधमुखेन यतनाऽयतनाविषयक एव जिनोपदेशः सम्पन्नः, तथा च जीवरक्षार्थं यतनोपादेयत्वेन कल्प्या, अयतना च जीवघातहेतुत्वेन हेयत्वेनाकल्प्येत्येवंविधिनिषेधमुखेन वस्तुस्वरूपावबोधको

जिनोपदेशो ज्ञानाद्यर्थमपवादपदप्रतिषेवणेऽप्यनादिसिद्धकल्प्यत्वादिलक्षणवस्तुस्वरूपावबोधको जिनोपदेशो भवति। यथा भाष्ये उपसर्गकर्त्तारमधिकृत्य "पंचिंदियववरोवणा कप्पिअ"त्ति [पञ्चेन्द्रियव्यपरोपणा कल्प्या इति ॥] निशीथचूर्णावुक्तं पुनः न हन्तव्य इति विधिमुखेन जिनोपदेशो भवति; "सव्वे पाणा सव्वे भूआ सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हन्तव्वा" [सर्वे प्राणाः सर्वे भूताः सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वा न हन्तव्याः ॥] इत्यागमेन विरोधप्रसङ्गात्। यच्च दशाश्रुतस्कन्धचूर्णौ—"अवण्णवाइं पडिहणेज्ज"त्ति [अवर्णवादिनं प्रतिहन्यात्।] भणितं तदाचार्यशिष्याणां परवादनिराकरणे सामर्थ्यं दर्शितम्। यथा—"मिच्छदिट्ठीसु पडिहएसु सम्मत्तं थिरं होइ"-त्ति [मिथ्यादृष्टिषु प्रतिहतेषु सम्यक्त्वं स्थिरं भवति।] श्रीसूत्रकृदङ्गचूर्णौ भणितम्। अत एव "साहूण चेइआण य" [साधूनां चैत्यानां च ।] इत्यादौ सर्वबलेनेति स्वप्राणव्यपरोपणं यावदित्येवं भणितम्, न पुनर्जिनप्रवचनाहितकर्त्ता 'हन्तव्य' इति, जैनानां तथाभाषाया वक्तुमप्यनुचितत्वात्। यद्यपि सर्वबलेन निवारणे पञ्चेन्द्रियव्यापादनं कादाचित्कं भवत्यपि, तथापि 'स व्यापादनीयो व्यापाद्यतां च' इत्यादिरूपेण मनोव्यापारवानपि केवली न भवति, तथाभूतस्यापि मनोव्यापारस्य सावद्यत्वेन प्रत्याख्यातत्वाद्। न चापवादिकस्तथाव्यापारः सावद्यो न भविष्यतीति शङ्कनीयम्, यतोऽपवादप्रतिषेवणं न संयतेष्वपि प्रमत्तस्यैव भवति, कथं तर्हि सर्वोत्कृष्टनियताप्रमत्तस्य केवलिनोऽपीति ?, परं पञ्चेन्द्रियव्यापादनभयेन यदि सति सामर्थ्ये प्रवचनाहितं न निवारयति, तर्हि संसारवृद्धिर्दुर्लभबोधिता चेत्यादि श्रीकालिकाचार्यकथादौ भणितम्। अहितनिवारणे न क्रियमाणे कदाचित्पञ्चेन्द्रियव्यापत्तौ प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्याशयस्य शुद्धत्वाज्जिनाज्ञाऽऽराधकः सुलभबोधिश्चेत्यादिरूपेण वस्तुस्वरूपावबोधको जिनोपदेशो भवतीति तात्पर्यम्। एवं जिनोपदेशेन वस्तुस्वरूपमवगम्य स्वत एव यथौचित्येन प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां जिनाज्ञाराधको भवतीति जिनोपदेशस्य कल्प्याकल्प्यतावबोध

एव चरितार्थत्वाज्जलजीवविराधनानुज्ञा केवलिनः कलङ्क एव । न च नद्युत्तारस्य कारणत्वेन जलजीवविराधनाऽऽप्यापवादिकीति तत्र जिनोपदेशो भविष्यतीति शङ्कनीयम्, अचित्तजलनद्युत्तारस्याभावापत्त्या तस्या नद्युत्तारे कारणत्वाभावात् । तस्मान्नद्युत्तारस्य कारणं न जलजीवविराधना, किन्तु पादादिक्रियैवेति । एतेन 'जलं वस्त्रगलितमेव पेयम् नागलितम्, इत्युपदिशता केवलिना जले जीवविराधना सचित्तजलपानं चोपदिष्टं भविष्यतीति शङ्काऽपि परास्ता । यतः "सविशेषणे०" इत्यादिना न्यायेन तत्र जलगलनमेवोपदिष्टम्, तच्च त्रसजीवरक्षार्थमिति । न च केवलिना जीवघातादिकं साक्षादनुज्ञातमिति न ब्रूमः, विहारादिकमनुजानता तदविनाभावेन जायमानमनुज्ञातमित्यस्यापि वचनस्यावकाशः, एवं सति गजसुकुमालश्मशानकायोत्सर्गमनुजानतः श्रीनेमिनाथस्य तदविनाभावितदीयशिरःप्रज्वालनस्याप्यनुज्ञापत्तेः । न च नद्युत्तारे जलजीवविराधना यतनया कर्त्तव्येति जिनोपदेशो भविष्यतीत्यपि सम्भावनीयम्, यतनाविराधनयोः परस्पर विरोधाद्, यतना हि जीवरक्षाहेतुरयतना च जीवघातहेतुरिति । तस्माज्जीवविराधना नियमादयतनाजन्यैव, अयतना चान्ततो जीवघातवदनाभोगजन्याशक्यपरिहारेणैव, जीवरक्षा च यतनाजन्यैवेत्यनादिसिद्धो नियमो मन्तव्यः । अत एव छद्मस्थसंयतानामुपशान्तवीतरागपर्यन्तानां यतनया प्रवर्त्तमानानामपि या विराधना सा नियमादनाभोगवशेनायतनाजन्यैव, परमप्रमत्तसंयतानां नातिचारहेतुरपि, आशयस्य शुद्धत्वात् । एतच्च सम्भावनयाप्यात्मकृतत्वेनाज्ञाताया छद्मस्थसाक्षात्कारगम्यजीवविराधनायामवसातव्यम्, ज्ञातायां च प्रायश्चित्तप्रतिपित्सोरेव, अन्यथा तु निःशूकतया संयमापगमः प्रतीत एव । न चाप्रमत्तानामयतना न भविष्यतीति शङ्कनीयम्, अनाभोगजन्यायतनायाश्छद्मस्थमात्रस्य सत्त्वेनाप्रमत्तताया अनाबाधकत्वात्, तेन संयतानां सर्वत्राप्यनाभोगजन्याशक्यपरिहारेण जायमाने जीवघातमृपाभाषणाद्यंशे जिनोपदेशो न भवत्येव, तथाभूताया अपि विराधनाया अयतनाजन्यत्वेन निषिद्धत्वाद्, अत एव संय-

तानां द्रव्यतोऽपि हिंसा कर्मबन्धकारणम्, असत्यपि कृतप्रत्याख्यानभङ्गनालोचनाविषयः । यदागमः—"से अ पाणाइवाए चउव्विहे पण्णत्ते, तं०—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ" [स च प्राणातिपातश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः ॥] इत्यादि प्रत्याख्यानं च सर्वविरतिसिद्ध्यर्थमेव, तस्या अपि द्रव्यत आश्रवरूपत्वात्, सूक्ष्मपृथिव्यादीनामिवाविरतिप्रत्ययकर्मबन्धहेतुत्वात्, धार-हिंसायाः कारणत्वाच्च; एतेन यत्र क्वापि धार्मिकानुष्ठाने सम्भावनयाप्यवश्यं भवति तदनुष्ठानविषयको जिनोपदेशो न भवति, नारम्भा-त्रसाप्याश्रवस्योपदेशविषयत्वापत्त्या कृतसर्वसावद्यप्रत्याख्यानतः प्रत्याख्यानभङ्गेन 'कोली यथा गर्ती तथा कर्ता न भवेद्' इत्येवं प्ररू-पणात्मकं पाशचन्द्रमतमप्युपेक्षितं द्रष्टव्यम्, जैनप्रवचने प्रागुक्तप्रकारेण तदंशे जिनोपदेशापत्तेरनवतारात्; तस्मादयं भावः॥ यद्वस्तुजातं चिकीर्षितकार्यस्य प्रतिकूलमनुकूलं वा अविनाभावसम्बन्धेन जायमानमप्यनुकूलकारणतयोपदेशविषयो न भवति। यथा नद्युत्तारादुपदेशे जीवघातो यथा वा क्षुद्वेदनाद्युपशमनार्थाहारविधौ तिक्तमधुरादिरसास्वादः, परं यानि चिकीर्षितकार्यानुकूलकारणान्यपि व्यवहारतः सावद्यानि भवन्ति तद्विषया जिनानुज्ञा क्रियाकालेऽप्यादेशमुखेन न स्यात्, एवं व्यवहारतो भाषायाः सावद्यत्वप्रसक्तेः; किं त्विष्टफलोपदर्शनेन कल्प्यत्वाभिव्यञ्जितोपदेशमुखेनैवानुमन्तव्या। सा चानुज्ञा निश्चयतो निरवद्यैव, संसारप्रतनुकरणपुण्यानुबन्धिपुण्य-प्रकृतिबन्धहेतुत्वात्। एतेन कुसुमादिभिर्जिनेन्द्रपूजामुपदिशता कुसुमादिजीवविराधनाप्युपदिष्टा, पूजाविनाभावित्वेन वाचा पूजायामु-पदिष्टत्वादिति वचनमपास्तम्, कुसुमादिजीवविराधनायाः पूजायाः कर्तृशुभाध्यवसायत्वेन पूजाविषयकपरिणामस्य लाभहेतुत्वेन कल्पित-कुसुमादीनामिव द्रव्यपूजायामप्यनन्तर्भूतत्वात्, उपदेशमन्तरेणापि जायमानत्वात्, पूजा कुर्वता त्यक्तुमशक्यत्वात्, अन्यथा कुसुमादी-नामिव तस्या अपि भूयस्त्वमेव विशिष्टपूजाङ्गं वाच्यं स्यात्, न च कुसुमादिभूयस्त्वं तद्भूयस्त्वव्याप्यकम्, कुसुमादीनां सचित्ताचित्ततया

द्वैविध्यव्यवस्थानात्। तस्मात्तीर्थकृतामाज्ञोपदेशः कर्मक्षयनिमित्तं प्रत्युपेक्षणेर्यासमित्यादिषु संयता यतनया प्रवर्त्तेरन् नान्यथा, संसारवृद्धिहेतुत्वादित्येवंविधिनिषेधमुखाभ्यामेवावसातव्यो न पुनस्त्वमित्थं कुरु इत्यादिसाक्षादादेशमुखेनापि। न च यतनया नद्युत्तारवत्तया द्रव्यपूजापि संयतानां भवत्विति शङ्कनीयम्, साधूनां त्रसस्थावरजीवरक्षायतनाधिकाराद्, नद्युत्तारे 'एगं पायं जले किच्चा' [एकं पादं जले कृत्वा ॥] इत्यादिविधिना तन्निर्वाहाद्, द्रव्यस्तवे च त्रसजीवरक्षार्थयतनावतां श्राद्धानामेवाधिकारात्, सर्वारम्भपरिजिहीर्षापूर्वकपृथिव्यादियतनापरिणामे च तेषामपि चारित्र एवाधिकार इति तत्कारापणं च साधूनामुपदेशमुखेन युक्तम्, निश्चयतोऽनुज्ञाविषयत्वाद्, न त्वादेशमुखेन; पृथिवीदलादीनां तत्कारणानां व्यवहारतः सावद्यत्वात्, सोऽप्युपदेशो जिनपूजायतनाविषय एवेति सर्वत्र यतनायामेव भगवदाज्ञा, नतु क्वचिद् द्रव्यहिंसायामपीति। तत्र ब्रूमः—अनुज्ञा तावद्भगवतो विधिवचनरूपा नद्युत्ताराद्यविनाभाविन्यां जलजीवप्राणवियोगरूपायां जलजीवविराधनायां न कथञ्चिदेव, तस्या उदासीनत्वात्। तदनुकूलव्यापाररूपाया तु तस्या नद्युत्तारादिव्यापाररूपाया साऽवर्जनीयैव उभयस्वभावस्यानैकान्तिकस्य निमित्तकारणस्य बुद्धिभेदेन पृथक्कर्तुमशक्यत्वाद्, यत एव च यतनाविशिष्टस्य नद्युत्तारस्येष्टफलहेतुत्वं भणितम्। अत एव नैमित्तिकविधिरूपाया भगवदाज्ञाया बहुलाभाल्पव्ययद्रव्यहिंसायां व्यवहारतः पर्यवसानमुत्सर्गतः प्रतिषिद्धं हि केनचिन्निमित्तेनैव विधीयत इति तत इदमुच्यते "अप्पेण बहुं इच्छइ विसुद्धआलंबणो समणो।" [अल्पेन बहु इच्छति विशुद्धालम्बनः श्रमण इति ॥] निश्चयतस्तु नैकान्ततो बाह्यं वस्तु विधीयते निषिध्यते वा, केवलं शुभभावो विधीयतेऽशुभभावस्तु निषिध्यते, अत एव भावानुरोधेन बाह्ये वस्तुनि विधिनिषेधकामचारः। तदुक्तं सङ्घदासगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादैः—(बृ० कल्पभाष्ये) "ण य(वि) किंचि अणुण्णायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं। एसा तेसिं आणा, कज्जे सच्चेण होअव्वं ॥३३३०॥ ति। [नापि किञ्चिदनुज्ञातं प्रतिषिद्धं

वाऽपि जिनवरेन्द्रैः । एषा तेषामाज्ञा कार्यं सत्येन भवितव्यम् ॥] तथा च 'यदेव निश्चयव्यवहारेण नद्युत्तारादेरनुज्ञातत्वं तदेव द्रव्यहिंसाया अपि' इत्यनशिष्टकल्पनाजालमनुत्थानोपहतम् । इदं तु ज्ञेयम्-अनुज्ञाविषयतावच्छेदकं न हिंसात्वं नद्युत्तारत्वादिकं वा, किन्तु सामान्यविशेषविधिविधेयतावच्छेदकविधिशुद्धव्यापारत्वं यतनाविशिष्टनद्युत्तारत्वादिकं वा फलतस्तु विधिशुद्धहिंसाया अप्यनुज्ञाविषयत्वं व्यवहारबाधितमेव अत एव विधिना क्रियमाणाया जिनपूजादिविषयहिंसाया अनुबन्धभावतो मोक्षप्राप्तिपर्यवसानत्वमुपदेशपदपञ्चवस्तुकादावुक्तम् । यत्तु 'अरिहंता भगवंतो' इत्यादि सम्मतिप्रदर्शनेन भगवतो विराधनाविषयकवाक्प्रयोगासम्भव उपपादितस्तदत्यन्तमसमञ्जसम्, सम्मतिवचनस्य कायव्यापारेणैव प्रवर्त्तकत्वनिवर्त्तकत्वाभावाभिधानतात्पर्याद्वाक्प्रयोगस्याप्यप्रवर्त्तकनिवर्त्तकत्वविधिनिषेधव्यापारैवयर्थ्याद् । यदपि "सविशेषणे०"इत्यादिन्यायेन यतनाऽयतनाविषयत्वमेव सर्वत्र जिनोपदेशस्योपदर्शितं तदपि विशेष्यभागस्याकिञ्चित्करत्वप्रदर्शनार्थं महावाक्यार्थपर्यवसानार्थमैदम्पर्यार्थपर्यवसानार्थं वा ?, नाद्यः, नद्युत्तारजन्यस्य भिक्षाचर्याविहारादिफलस्य यतनामात्रादसिद्धेर्विशेष्यभागस्याकिञ्चित्करत्वासम्भवाद् । न द्वितीयः, महावाक्यार्थस्य सर्वत्र पदार्थैः पर्यवसानाद् । नापि तृतीयः, 'आज्ञा धर्मे सार' इति सार्वत्रिकैदम्पर्यार्थस्य प्रकृतवाक्यार्थे योजनायामपि विशेष्यस्य त्यागायोगात् । किञ्चैवं 'जय चरे' [यतं चरेत् ।] इत्यादौ यतनांश एवोपदेशो न तु चरणांश इत्येकत्र वाक्ये कथं पदपदार्थयोजना ?, यदपि ज्ञानाद्यर्थमपवादप्रतिसेवणेऽयतनादिसिद्धकल्प्यत्वादिलक्षणवस्तुस्वरूपाववोधक एव जिनोपदेशः, प्रवृत्तिस्त्वौचित्यज्ञानेन स्वत एवेत्युक्तं, तदप्यगाधभ्रमसमुद्रमज्जनविजृम्भितम्, जिनोपदेशात् कल्प्यत्वादिबोधे स्वत एव प्रवृत्तिवचनस्याविचारितरमणीयत्वात्, कल्प्यताबोधकस्योपदेशस्यैव प्रवृत्तिजनकेच्छाजनकज्ञानविषयेष्टसाधनतादिबोधकत्वेन प्रवर्त्तकत्वाद्, एतदेव हि सर्वत्र विधेः प्रवर्त्तकत्वमभ्युपयन्ति शास्त्रविदः । विधेः प्रवर्त्तकत्वादेव च

कल्प्यतादिबोधकादर्थवादादपि विधिकल्पनमाद्रियते, इत्थं च 'पञ्चेन्द्रियववरोवणा वि कप्पिय'त्ति [पञ्चेन्द्रियव्यपरोपणाऽपि कल्प्या' इति ।] निशीथचूर्णावुक्त न पुनः 'स हन्तव्य' इतीति यदुक्तं तत् ध्वनिभेदेनार्थपरावर्त्तमात्रम्। यच्च 'सव्वे पाणा' इत्यादिना विरोधोद्भावनं कृतं तत् 'न हन्तव्य' इत्यादिशब्दसादृश्यमात्रेणैव, किन्तु हिसाविषयकोपदेशार्थमात्रेण स्यात्, तन्निराकरणं चैतत्सूत्रस्याविधिकृतहिसाविषयत्वेनैव हरिभद्रसूरिभिः कृतमिति नात्र पर्यनुयोगावकाशः। किञ्च सामान्यतः सर्वजीवपरितापनानिषेधेऽपि क्वचिदपवादतस्तदुपदेशो विधिमुखेनापि दृश्यते, यथा भगवत्यां-"तं छंदेण अज्जो तुब्भे गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएह, धम्मिआए पडिसारणाए पडिसारेह, धम्मिएणं पडोआरेणं पडोआरेह; धम्मियाएहि अट्ठेहि हेऊहिं पसिणेहि य णिप्पिट्ठपसिणवागरणं करेह"। त्ति [तच्छन्देन आर्य! यूयं गोशालं मंखलिपुत्रं धार्मिकया प्रतिचोदनया प्रतिचोदयत, धार्मिकया प्रतिसारणया प्रतिसारयत, धार्मिकेण प्रत्यवतारेण प्रत्यवतारयत धार्मिकैरर्थैर्हेतुभिः प्रश्नैश्च निष्पृष्टप्रश्नव्याकरणं कुरुतेति।] एतद्धि गोशालस्य परितापजनकं वचनं भगवतैव लाभं दृष्ट्वाऽऽज्ञप्तम्, न चोत्सर्गतः परपरितापजनकं वचनं साधूनां वक्तुं युज्यत इत्यवश्यमपवादविधिरुत्सर्गविधिवदङ्गीकर्त्तव्यः। इत्थं च 'अवण्णवाइ पडिहणेज्ज'त्ति '[अवर्णवादिनं प्रतिहन्यात्।] दशाश्रुतस्कन्धचूर्णिवचनस्य यदन्यार्थपरिकल्पनं तदयुक्तमेव, मिथोविरुद्ध चेद यदुतापवादविधिप्रतिषेधः, पञ्चेन्द्रियव्यापादनभयेन सति सामर्थ्ये प्रवचनाहितानिवारणे संसारवृद्धिर्दुर्लभबोधिता चेति। इत्थं हि प्रवचनाहितनिवारणे निमित्ते पञ्चेन्द्रियव्यापादनस्य बलवदनिष्टाननुबन्धित्वबोधार्थमपवादविधिरवश्यं कल्पनीयः, अन्यथा सामान्यनिषेधजनितभयानिवृत्तेरिति। यच्चाहितनिवारणे क्रियमाणे कदाचित्पञ्चेन्द्रियव्यापत्तौ प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्याशयस्य शुद्धत्वाज्जिनाराधकत्वं सुलभबोधिकत्वं चोक्तं तदविचारितरमणीयम्, यतनावतोऽपवादेऽपि प्रायश्चित्तानुपदेशात्। तदुक्तं बृहत्कल्पवृत्तौ

तृतीयखण्डे—"तथा मूलगुणप्रतिसेव्यप्यालम्बनसहितः पूज्यः, पुलाकवत्; स हि तुलादिकार्ये चक्रवर्तिस्कन्धावारमपि गृह्णीयाद्, विनाशयेद्वा, न च प्रायश्चित्तमाप्नुयाद्।" इत्यादि। यत्तु तस्य "हिट्ठट्ठाणठिओ वि" ॥४५२५॥ [अधस्तनस्थानस्थितोऽपि।]—इत्यादिनाऽधस्तनस्थानस्थायित्वमुक्तं तत्स्वाभाविकम्, न तु प्रतिसेवनाकृतमिति बोध्यम्। किञ्च तस्य प्रायश्चित्तं स्यात् तदा पुनर्व्रतारोपणादि स्याद्, आकुट्या पञ्चेन्द्रियघाते मूलादिमहाप्रायश्चित्ताभिधानाद्। उक्तं च—"तस्य हस्तशताद्बहिर्गमन इव निरतिचारतामभिव्यञ्जकं सम्यगाश्रवविशोधकमालोचनाप्रायश्चित्तमेव। तथा च द्वितीयखण्डे बृहत्कल्पभाष्यवृत्तिग्रन्थः—" आयरिए गच्छम्मि य, कुलगणसंघे अ चेइअविणासे। आलोइअपडिकंतो, सुद्धो जं णिज्जरा विउला ॥२९६३॥" व्या॰ षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात्, आचार्यस्य वा गच्छस्य वा कुलस्य वा गणस्य वा सङ्घस्य वा चैत्यस्य वा विनाशे उपस्थिते सति सहस्रयोधिप्रभृतिना स्ववीर्यमक्षापयता तथा पराक्रमणीयं यथा तेषामाचार्यादीनां विनाशो नोपजायते, स च तथा पराक्रममाणो यद्यपराधमापन्नस्तथाऽप्यालोचितप्रतिक्रान्तः शुद्धः—गुरुसमक्षमालोच्य मिथ्यादुष्कृतप्रदानमात्रेणासौ शुद्ध इति भावः। कुतः? इत्याह—यद्यस्मात्कारणाद्, विपुला महती, निर्जरा कर्मक्षयलक्षणा तस्य भवति, पुष्टालम्बनमवगम्य भगवदाज्ञया प्रवर्त्तमानत्वादिति॥" इत्थं च सर्वत्र वस्तुस्वरूपावबोधक एवापवादोपदेशो न तु विधिरूप इति यत्किञ्चिदेव, बहूनां छेदग्रन्थस्थापवादसूत्राणां विधिमुखेन स्पष्टमुपलम्भात्। तथा आचाराङ्गेऽपि "से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा रुक्खाणि वा गुच्छाणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा तणगहणाणि वा हरिआणि वा अवलंबिया उत्तरिज्जा, से तत्थ पाडिपहिआ उवागच्छंति ते पाणि जाएज्जा, तओ संजयामेव अवलंबिय २ उत्तरेज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा।" [अथ स तत्र प्रचलन् प्रपतन् वृक्षान् गुच्छान् वा लता वा वल्लीर्वा तृणानि वा तृणगहनानि वा हरितानि वा अवलम्ब्य उत्तरेत्, अथ तत्र

प्रातिपथिका उपागच्छन्ति तेपा पाणि याचेत, ततः संयत एव अवलम्ब्य उत्तरेत्, ततः संयत एव ग्रामानुग्राम गच्छेत् ॥] इत्यत्र गच्छगतस्य साधोर्वल्ल्याद्यालम्बनस्य विधिमुखेनैवोपदेशात्। न च "से भिक्खू वा २ गामाणुगाम दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा गत्ताओ वा दरीओ वा सति परक्कमे संजयामेव परक्कमिज्जा णो उज्जुअं गच्छिज्जा। केवली बूआ, आयाणमेयंति" ॥ [अथ भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य वप्रा वा परिखा वा प्राकारा वा तोरणानि वा अर्गला वा अर्गलपाशका वा गर्ता वा दर्यो वा सति पराक्रमे संयत एव पराक्रमेत, नोऋजुकं गच्छेत्। केवली ब्रूयादादानमेतत्][द्वि.श्रु.अ०३ उ०२] प्रागुक्तनिषेधकारणानिष्टसम्भावनावचनमेतद्, नतु विधिवचनमिति वाच्यम्; विधिवचनत्वेनापि वृत्तिकृता वृत्त्यां व्याख्यानात्। तथाहि "से इत्यादि। स भिक्षुर्ग्रामान्तराले यदि वप्रादिकं पश्येत्, ततः सत्यन्यस्मिन् सङ्क्रमे तेन ऋजुना पथा न गच्छेद्, यतस्तत्र गर्तादौ निपतन् सचित्तं वृक्षादिकमवलम्बेत, तच्चायुक्तम्। अथ कारणिकस्तेनैव गच्छेत्, कथञ्चित्पतितश्च गच्छगतो वल्ल्यादिकमप्यवलम्ब्य प्रातिपथिकं हस्तं वा याचित्वा संयत एव गच्छेदिति।" तथा सामान्यतः प्रतिषिद्धं लवणभक्षणमप्यपवादतो विधिमुखेन तत्रैवानुज्ञातं दृश्यते। तथाहि "से भिक्खू वा २ जाव समाणे सिया से परो अवहट्टु अंतो पडिग्गहे बिडं वा लोणं वा उब्भियं वा लोणं परिभाइत्ता णीहट्टु दलइज्जा, तहप्पगार पडिग्गहं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुअं जाव णो पडिग्गहिज्जा, से आहच्च पडिग्गाहिए सिया, तं च णाइदूरगयं जाणेज्जा, से तमादाय तत्थ गच्छेज्जा, पुव्वामेव आलोइज्जा, आउसोत्ति वा भगिणित्ति वा इम ते किं जाणया दिन्नं, उदाहु अजाणया? से य भणेज्जा, नो खलु मे जाणया दिन्नं, अजाणया दिन्नं, कामं खलु आउसो इदाणि णिसिरामि तं भुंजह वा णं परिभाएह वा णं तं परेहिं समणुन्नायं समणुसिट्ठं तओ संजयामेव भुंजेज्ज वा पिवेज्ज वा, जं च णो

संचाएति भोत्तए वा पायए वा साहम्मिया तत्थ वसंति, संभोइआ समणुण्णा अपरिहारिआ अदूरगया तेसिं अणुप्पदायव्वं सिया, णो जत्थ साहम्मिआ सिआ, जहेव बहुपरिआवन्ने कीरइ तहेव कायव्वं सिया, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गिअंति।" (द्वि. श्रु. अ० १उ० १०) एतद्वृत्तिर्यथा—"स भिक्षुर्गृहादौ प्रविष्टःस्यात्, तस्य च कदाचित्परो गृहस्थः 'अभिहट्टु अंतो' इति अन्तः प्रविश्य पतद्ग्रहे काष्ठच्छब्बकादौ, ग्लानाद्यर्थं खण्डादियाचने सति बिडं वा लवणं खनिविशेषोत्पन्नं, उद्भिज्जं वा लवणाकराद्युत्पन्नं, परिभाइत्ता दातव्यं विभज्य दातव्यद्रव्यात् कश्चिदंशं गृहीत्वेत्यर्थः। ततो निःसृत्य दद्यात्, तथाप्रकारं परहस्तादिगतमेव प्रतिषेधयेत्, 'तचाहच्चे'ति सहसा प्रतिगृहीतं भवेत्। तं च दातारमदूरगतं ज्ञात्वा स भिक्षुस्तल्लवणादिकमादाय तत्समीपं गच्छेद्, गत्वा च पूर्वमेव तल्लवणादिकमालोकयेद्दर्शयेद्, एतच्च ब्रूयाद् 'अमुक' इति वा, भगीनीति वा! एतच्च लवणादिकं किं त्वया जानता दत्तमुताजानता? एवमुक्तः सन् पर एवं वदेद्, यथा पूर्वं मयाऽजानता दत्तम्, साम्प्रतं तु यदि भवतोऽनेन प्रयोजनं ततो दत्तमेतत्परिभोगं कुरुध्वम्। तदेव परैः समनुज्ञातं समनुसृष्टं सत्प्रासुकं कारणवशादप्रासुकं वा भुञ्जीत पिबेद्वा, यच्च न शक्नोति भोक्तुं पातुं वा तत् साधर्मिकादिभ्यो दद्यात्, तदभावे बहुपर्यापन्नविधिं प्राक्तनं विदध्याद्, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति।' न चापवादविषयोऽपि मनोव्यापारः सावद्यत्वात् केवलिनो न सम्भवतीति शङ्कनीयम्, अधिकृतपुरुषविशेषेऽधिकनिवृत्तितात्पर्यावगाहित्वेनास्य निरवद्यत्वाद्. अन्यथा देशविरत्युपदेशोऽपि न स्यात्, तस्य चरणाशक्तपुरुषविषयत्वेनापवादिकत्वात्, अत एव चारित्रमार्गमनुपदिश्य देशविरत्युपदेशे स्थावरहिंसाऽप्रतिषेधानुमतेः क्रमभङ्गादपसिद्धान्त उपदर्शितः। यत्तु 'जलं वस्त्राऽऽगलितमेव पेयम्' इत्यत्र "सविशेषणे०" [सविशेषणे हि प्रयुज्यमानौ विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतः] इत्यादिन्यायाज्जलगलनमेवोपदिष्टं न तु विधिमुखेन निषिद्धोपदेशः कारणतोऽपीति, तदसद्,

यतो जलगालनमपि जलगसमेव, तदुक्तमाचाराङ्गनिर्युक्तौ—"उस्सिचण–गालण–धोअणे य उवगरण–कोस(मत्त)भंडे अ ॥ बायरआउक्काए एयं तु समासओ सत्थं" ॥११३॥ [उत्सेचन–गालन–धावनं चोपकरण–कोशभाण्डं च। बादराप्काये एतत्तु समासतः शस्त्रम् ॥] ति अत्र गालनं 'घनमसृणवस्त्राद्यन्तेन' इति वृत्तौ सम्पूर्ण व्याख्यातम्। तच्च त्रिविधं त्रिविधेन निषिद्धमिति विधिमुखेन तदुपदेशे निषिद्धस्यापवादतस्तथोपदेशाविरोधाद्, निषिद्धमपि हि क्वचित्कदाचित्कथञ्चिद्विहितमपि भवतीति। यत्तूक्तं द्रव्यहिंसाया अयनाभोगवशादयतनाजन्यत्वेन निषिद्धत्वमेवेति तत्रायतनाजन्यहिंसायाः कटुकफलहेतुत्वात्, तन्न, आशयशुद्धेः प्रतिबन्धिकाया यतनातिरिक्ताया असिद्धेः, तस्याश्चायतनया सह विरोधात्, स्थूलयतनाया स्थूलायतनायाः प्रतिबन्धकत्वेन सूक्ष्मायतनाकल्पने प्रमाणाभावाद्, अयतनासत्त्वेऽप्रमत्तानामप्रमत्तताऽसिद्धेः। या च सूक्ष्मा विराधना द्वादशगुणस्थानपर्यन्तमालोचनाप्रायश्चित्तबीजमिष्यते सा न सूक्ष्मायतनारूपा, सूक्ष्माया अप्ययतनायाश्चारित्रदोषत्वेनोपशान्तक्षीणमोहयोर्यथाख्यातचारित्रिणोस्तदनुपपत्तेः; किन्त्वनाभोगलक्षणसूक्ष्मप्रमादजनितचेष्टाश्रवरूपा, अत एव द्वादशगुणस्थानपर्यन्तं तन्निमित्तालोचनाप्रायश्चित्तसम्भवः। तदुक्तं प्रवचनसारोद्धारवृत्तौ—"इयं चालोचना गमनागमनादिष्ववश्यंकर्त्तव्येषु सम्यगुपयुक्तस्यादुष्टभावतया निरतिचारस्य छद्मस्थस्याप्रमत्तयतेर्द्रष्टव्या, सातिचारस्य तूपरितनप्रायश्चित्तसम्भवात्, केवलज्ञानिनश्च कृतकृत्यत्वेनालोचनाया अयोगात्। आह—यतीनामवश्यकर्त्तव्यानि गमनागमनादीनि तेषु सम्यगुपयुक्तस्यादुष्टभावतया निरतिचारस्याप्रमत्तस्य किमालोचनया? तामन्तरेणापि तस्य शुद्धत्वाद्, यथासूत्रं प्रवृत्तेः। सत्यमेतत्, केवलं याश्चेष्टानिमित्ताः सूक्ष्मप्रमादनिमित्ता वा सूक्ष्मा आश्रवक्रियास्ता आलोचनामात्रेण शुद्ध्यन्तीति तच्छुद्धिनिमित्तमालोचनेति। तथा व्यवहारदशमोद्देशकवृत्तावप्युक्त—"निर्ग्रन्थस्यालोचना–विवेकरूपे द्वे प्रायश्चित्ते, स्नातकस्यैको विवेक इति। तथाऽऽलोचना गुरोः पुरतः

स्थापगमस्य प्रकटनम् कश्चित्तानमात्रेणैव शुद्धिः, यथाऽवश्यकृत्ये हस्तशतात् परतो गमनागमनादौ सम्यगुपयुक्तस्य निरतिचारस्य यतेः, सातिचारस्य तूत्तरितनप्रायश्चित्तसम्भवात् । यतेरवश्यकृत्ये गमनागमनादौ निरतिचारस्यालोचना विनाऽपि कथं न शुद्धिः, यथामूरं प्रवृत्तेः । सत्यम् ; परं याश्चेष्टानिमित्ताः सूक्ष्मा आश्रवक्रियास्तासां शुद्ध्यर्थमालोचनेति ॥" तथा यतिजीतकल्पवृत्तावप्युक्तम्–"अ-त्राह शिष्यः–निरतिचारो यतिः करणीयान् योगान् करोति, ततः किमालोचनया विशोध्यम् ?, गुरुराह–सूक्ष्मा आश्रवक्रियाः सूक्ष्मप्र-मादनिमित्तका अविज्ञातास्तासामालोचनमात्रेण शुद्धिरित्यादि।" तथा १६ पञ्चाशकसूत्रवृत्त्योरप्युक्तम्–"ता एव चिय एयं, विहियाणु-ट्ठाणमेत्थ हवइत्ति । कम्माणुबंधछेअण-मणहं आलोअणाइजुअं ॥५॥"' "यस्मात्सर्वावस्थासु कर्मबन्धोऽस्ति कर्मबन्धानुमेया च विराधना, उच्यते चासौ द्रव्यतो वीतरागस्यापि छद्मस्थस्य, चतुर्णामपि मनोयोगादीनामभिधानात्, ता तस्माद्, एवं चिय त्ति एवमेव विराधनायाः शोध-नीयत्वेन, एतद् भिक्षाटनादिकं, विहितानुष्ठानं विधेयक्रिया, अत्र कर्मानयनप्रक्रमे, भवति स्याद् । इति शब्दः समाप्त्यर्थो गाथान्ते योज्यः । किंविधं भवति ? इत्याह–कर्मानुबन्धच्छेदनं कर्मसन्तानच्छेदकं, अनघ–अदोषम्, परोक्तदूषणाभावात् । किंभूतं सद् ? इत्याह–आलोचनादियुतं आलोचनाप्रतिक्रमणादिप्रायश्चित्तसमन्वितमिति गाथार्थ इति ॥" वस्तुतः कर्मबन्धानुमेया द्रव्यविराधना निर्ग्रन्थस्य स्नातकस्य च तुल्या, द्वयोरपि सामयिककर्मबन्धहेतुत्वात् ; परं छद्मस्थानां विहितानुष्ठानमालोचनादियुतमिष्टसाधनम्, तथैव विधानात् छद्मस्थयोगानां शोध्यत्वेन प्रायश्चित्तस्य च शोधकत्वेन व्यवस्थितेरित्यकषायस्य योगा ऐर्यापथिककर्मबन्धहेतुत्वेन नायतनयाऽशुद्धा । अकषायश्च वीतरागः सरागश्च सञ्ज्वलनकषायवानप्यविद्यमानतदुदयो मन्दानुभावत्वात् तत्त्वार्थवृत्तौ निर्दिष्टः, अनुदराकन्यानिर्देशवद् इत्यकषायस्य नायतना, न वा तस्यावश्यंभाविद्रव्यहिंसादिकमप्ययतनाजन्यमिति प्रतिपत्तव्यम् । यत्तूक्तं 'द्रव्यतोऽपि हिंसायाः कृतप्रत्या-

ख्यानभङ्गेनालोचनाविपयत्वमिति' तज्जैनसिद्धान्तपरिभाषाज्ञानाभावविजृम्भितम्, द्रव्याद्याश्रयेण हिंसादिभावस्यैव प्रत्याख्याततत्वाद्, द्रव्यहिंसादिना हिंसादिप्रत्याख्यानभङ्गाभावाद् अनेनैवाभिप्रायेण धर्मोपकरणाङ्गीकरणे "से अ परिग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते, दव्वओ खित्त-ओ०"(स च परिग्रहश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, द्रव्यतः क्षेत्रतः०।) इत्यादिक्रमेण प्रत्याख्यातस्य परिग्रहस्य न भङ्गदोष इति विशेषावश्यके दिग-म्बरनिराकरणस्थलेऽभिहितम्। तथा च तद्ग्रन्थः–' अपरिग्गहया सुत्तत्ति, जा य मुच्छा परिग्गहोऽभिमओ। सव्वदव्वेसु न सा, कायव्वा सुत्तसब्भावो ॥२५८०॥ या च "सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणम्" इत्यादिनाऽपरिग्रहता सूत्रे प्रोक्तेति त्वया गीयते, तत्रापि मूर्च्छै-व परिग्रहस्तीर्थकृताऽभिमतो नान्यः। सा च मूर्च्छा यथा वस्त्रे तथा सर्वेष्वपि शरीराहारादिद्रव्येषु न कर्त्तव्येति सूत्रसद्भावः सूत्रपरमार्थः, न पुनस्त्वदभिमतः सर्वथावस्त्रपरित्यागोऽपरिग्रहतेति सूत्राभिप्रायः, तस्मादपरिज्ञातसूत्रभावार्थो मिथ्यैव खिद्यसे त्वमिति हृदयमिति॥" किञ्च यदि द्रव्यहिंसया कृतप्रत्याख्यानभङ्गः स्यात् तदा तवाप्युपशान्तमोहस्य यथाख्यातचारित्रं न स्यात्, अंशतो भङ्गा-वश्यंभावादिति। यच्च सर्वविरतिसिद्ध्यर्थं द्रव्यहिंसाया अपि प्रत्याख्यानमुपपादितम्, तदयुक्तम्, एवं योगानामपि प्रत्याख्यानापत्तेः "अयोगिकेवलिष्वेव, सर्वतः संवरो मतः॥" इति वचनादयोगिन्येव सर्वसंवरसिद्धेः। यच्च द्रव्याश्रवस्य सूक्ष्मपृथिव्यादीनामिवाविरतिप्रत्यय-कर्मबन्धहेतुत्वमुक्तं तद् वृथैव तेषामविरतिभावं प्रतीत्यैव कर्मबन्धाभिधानात्, तद्योगानां द्रव्यहिंसाऽहेतुत्वाद्, भावहिंसाकारणत्वं च योगानामिव द्रव्यहिंसाया अपि न बाधकमिति। 'यच्चैतेनेत्यादिना पाशचन्द्रमतमुपेक्ष्य तस्मादयं भावः इत्यादिना किञ्चित् सम्प्र-दायानुसारि भणितं तदर्द्धजरतीयन्यायानुकारि, हिंसांशे जिनोपदेशाभावेन तन्मताश्रयणे 'पूजाद्युपदेशाभावापत्तेः, तदविनाभाविहिंसांशे उपदेशाभावेन प्रकृतोपदेशसमर्थनसम्भवेऽपि तदङ्गकुसुमार्चनाद्यंशे तस्य कुसुमादिजीववधानुकूलव्यापाररूपहिंसावगाहित्वस्य निराकर्त्तु-

मशक्यत्वाद्, एवमनिष्टबीजरूपमनभोगेऽप्यनिष्टफलहेतुत्वेन कल्प्यत्वाभिव्यक्त्याप्यनुपपत्तेः, कुसुमादिहिंसायाः सन्दिग्धत्वेन तथात्वे विरागकाहेतुत्वे मिथ्यादृशामपि तस्यास्तथात्वापत्तेः, तस्माद् द्रव्यस्तवस्थलीयहिंसायामनुबन्धशुद्ध्येनेव भगवदाज्ञा सम्यक्त्वादिभावहेतुत्वा दिति ॥ ५५ ॥ तदेवमाभोगेऽपि द्रव्यहिंसाया दोषानावहत्वं यत्सिद्धं तदाह—

तम्हा दव्वपरिग्गह–दव्ववहाण सममि(मेवि)आभोगे ॥ ण हु दोसो केवलिणो, केवलनाणे व चरणे वा ॥५६॥

[तस्माद् द्रव्यपरिग्रह–द्रव्यवधयोः समेऽप्याभोगे ॥ नव दोषः केवलिनः केवलज्ञाने वा चरणे वा ॥ ५६ ॥]

'तम्ह'त्ति। तस्माद् द्रव्यपरिग्रह–द्रव्यवधयोः समेऽप्याभोगे साक्षात्कारे, केवलिनो नैव दोषः, केवलज्ञाने चारित्रे वा ज्ञानावरण–चारित्रमोहनीयक्षयजन्ययोः केवलज्ञान–चारित्रयोर्द्रव्याश्रवमात्रेणानपवादात्। यत्तु 'क्षीणमोहस्यापि स्नातकचारित्राभावात्सम्भावनारूढातिचाररूपस्यापि द्रव्याश्रवस्य यदि तत्प्रतिबन्धकत्वं तदा साक्षाज्जीवघातस्य द्रव्यरूपस्यापि तन्न्यायप्राप्तमेवेति केवलिनोऽपि द्रव्यहिंसा चारित्रदोष एवेति परेण प्रोच्यते,' तदसत्, स्नातकस्य निर्ग्रन्थभेदत्वाद् यथाख्यातस्यैव चारित्रभेदत्वात् तत्प्रतिबन्धकत्वस्य च द्रव्यहिंसायां त्वयाऽप्यनभ्युपगमात्। यदि च स्नातकचारित्रस्य द्रव्यहिंसा दोषः स्यात् तदा निर्ग्रन्थचारित्रस्यापि दोषः स्यादेव, निर्ग्रन्थस्नातकयोरेकसंयमस्थानाभ्युपगमात्। "णिग्गंथसिणायाणं इक्कं च संजमट्ठाणं" (निर्ग्रन्थस्नातकयोस्तुल्यमेकं च संयमस्थानम्) इति पञ्चनिर्ग्रन्थीवचनादिति द्रष्टव्यम् ॥ ५६ ॥ हिंसाचतुर्भङ्ग्यनुसारेणव द्रव्यहिंसया भगवतो दोषाभावमाह—

णोदव्वा णोभावा, जह तह हिंसा ण दव्वमित्तेणं ॥ तेण तीए दोसं, जिणस्स को भासए सण्णी ॥५७॥

[नोद्रव्याद् नोभावाद् यथा तथा हिंसा न द्रव्यमात्रेण ॥ तेन तया दोषं जिनस्य को भाषते संज्ञी ॥ ५७ ॥]

व्याख्या—'णोदव्व'त्ति। नोद्रव्याद् नोभावाद् यथा न हिंसा, तथा द्रव्यमात्रेणापि हिसा, तत्त्वतो न हिंसा। तेन तया द्रव्यहिंसया, दोषं जिनस्य कः संज्ञी भाषेत–अपि तु न कोऽपीत्यर्थः। इदमुक्तं भवति–हिंसामधिकृत्य द्रव्यभावाभ्यां चतुर्भङ्गी तावदियं श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रवृत्तावुक्ता, १ द्रव्यतो भावतश्च हिंसा–'हन्मि' इति परिणतस्य व्याधादेर्मृगवधे। २ द्रव्यतो न भावतः–ईर्यासमितस्य साधोः सत्त्ववध। यदागमः–"वज्जेमित्ति परिणओ, संपत्तीए विमुच्चइ वेरा॥ अवहंतो वि ण मुच्चइ, किलिट्ठभावोऽतिवायस्स ॥६१॥ [चतुश्चत्वारिंशगाथावृत्तौ १६८ पृष्ठे विवरणमस्या गाथायाः]"त्ति। ३ भावतो न द्रव्यतः–अङ्गारमर्दकस्य कीटबुद्धयाऽङ्गारमर्दने, मन्दप्रकाशे रज्जुमहिबुद्धया घ्नतो वा। ४ न द्रव्यतो न भावतः–मनोवाक्कायशुद्धस्य साधोरिति ॥ अत्र परश्चतुर्थभङ्गस्वामिनं सयोगिकेवलिनमेवाह। यत्तु चूर्णिकारेण "चउत्थो सुण्णो"त्ति भणितम्, तत्र स्वामिनमधिकृत्य केवलिनस्तत्स्वामिनो विद्यमानत्वात् तस्य सर्वोत्कृष्टचारित्रान्यथानुपपत्त्या मनोवाक्कायैः शुद्धत्वाद्, अन्यथा स्नातकः केवली न स्यात्, किन्तु हिंसास्वरूपमधिकृत्यैवोक्तम्, तच्चैवम्–यदि हिंसा तर्हि न द्रव्यतो न भावत इति वक्तुमप्यशक्यम्, द्रव्यभावयोरन्यतरत्वेनावश्यम्भावात्, तेन चतुर्थो भङ्गः शून्यो भणितः, विरोधाद्। न च शैलेश्यवस्थायां केवली स्वामी भविष्यतीति शङ्कनीयम्, तस्य सिद्धस्येव योगाभावेन मनोवाक्कायैः शुद्धत्वाभावाद्, नह्यविद्यमाने वस्त्रे 'वस्त्रेण शुद्ध' इति व्यवह्रियत इत्याद्यसौ समर्थयामास। तच्चायुक्तम्, हिंसाव्यवहाराभावमधिकृत्यैव चतुर्थभङ्गशून्यत्वाभिधानाद् विरुद्धधर्माभ्या तदभावस्येव तद्भेदस्यापि सम्भवेन तच्छून्यत्वव्यवहारोपपत्तेः। हिंसास्वरूपमधिकृत्य तु द्रव्यमात्रहिंसायामप्यहिंसात्वं प्रवचने प्रतीतमिति कदाचिद् द्वितीयभङ्गस्वामित्वेऽपि भगवतः स्नातकस्य निर्ग्रन्थस्येव चतुर्थभङ्गस्वामित्वाऽविरोध एव, अहिंसापरिणत्यभेदाश्रयणेन तद्भङ्गस्यापि सम्भवदुक्तिकत्वात्। न चैवं द्वितीयभङ्गकालेऽपि चतुर्थभङ्गा-

पत्तिद्रव्यहिंसाकालेऽप्यप्रमत्तयतीनां मनोवाक्कायशुद्धत्वानपायादिति वाच्यम्, चतुर्थभङ्गोपपादकमनोवाक्कायशुद्धताया गुप्तिरूपाया एव ग्रहणाद्, अत एव नियतचतुर्थभङ्गस्वामित्वमयोगिकेवलिनोऽपि नानुपपन्नम्, शुद्धप्रवृत्तिव्यापारेणेव निरोधव्यापारेणापि मनोवाक्कायशुद्धताऽनपायाद्, अन्यथा तदविनाभाविध्यानानुपपत्तेः। उक्तं हि—"ध्यानं करणाना मनःप्रवृत्ति–निरोधान्यतरनियतम्"—"सुदृढप्पयत्तवावारणं, णिरोहो व विज्जमाणाणं ॥ झाणं करणाण मयं, ण उ चित्तणिरोहमेत्तागं ॥ ३०७१ ॥ [सुदृढप्रयत्नव्यापारणं निरोधो वा विद्यमानानाम्। ध्यानं करणाना मतं न तु चित्तनिरोधमात्रकम् ॥] इत्यादिग्रन्थेन विशेषावश्यके शोधकेन च व्यापारमुपगम्य परतेनापि शुद्धत्वव्यवहारो भवत्येव, यथा जलेन शुद्धं वस्त्रमिति। मनोवाक्कायशुद्धतयाऽयोगिकेवली नियमेनैव चतुर्थभङ्गस्वामी युज्यत इति। न च शैलेश्यवस्थायामपि शारीरस्पर्शमागताना मशकादीनां व्यापत्तौ चतुर्थभङ्गस्वामित्वनियमानुपपत्तिः, द्रव्यहिंसायास्तदनुकूलनोदनाख्ययोगव्यापारनियतत्वात्, तत्र तदभावात्तत्सम्बन्धमात्रस्यातिप्रसञ्जकत्वादिति दिक् ॥ ५७ ॥

यदि च 'न द्रव्यतो न भावतो मनोवाक्कायशुद्धस्य साधोः' इति वचनानुरोधेन सयोगिकेवलिनश्चतुर्थभङ्गस्वामित्वमेवाभिमतं भवेत् तदाऽप्रमत्तादीनां सयोगिकेवलिपर्यन्तानां द्रव्यहिंसया दोषाभावतौल्यं प्रवचनाभिहितं न घटेतेत्याह—

पयडं चिय वयणमिणं, दट्ठव्वं होइ कप्पभासस्स ॥ जं अपमत्ताईणं, सजोगिचरमाण णो हिंसा ॥ ५८ ॥

[प्रकटमेव वचनमिदं द्रष्टव्यं भवति कल्पभाष्यस्य। यदप्रमत्तादीना सयोगिचरमाणा नो हिंसा ॥ ५८ ॥]

व्याख्या—'पयड चिय'त्ति। प्रकटमेवैतद्वचनं कल्पभाष्यस्य द्रष्टव्यं भवति रागद्वेषरहितेन परीक्षकेण, यदप्रमत्तादीनां सयोगिकेवलिचरमाणां नो नैव हिंसा, व्याप्रियमाणयोगानामपीति शेषः। तथा च तद्ग्रन्थः—'अप्पेव सिद्धतमजा-

णमाणो, त हिमगं भाससि जोगवंतं ॥ दव्वेण भावेण य सविभत्ता, चत्तारि भगा खलु हिसगत्ते" ॥३९३२॥' अपीत्यभ्युच्चये, अन्यन्यदपि वक्तव्यमिति भावः। यदेवं योगवन्तं वस्त्रच्छेदनादिव्यापारान्तं जीवं, हिंसकत्वं भाषसे, तन्निश्चीयते सम्यक् सिद्धान्तमजानत(नान) एवं प्रलापः (लपसि)। सिद्धान्ते योगमात्रप्रत्ययादेव न हिंसोपवर्ण्यते, अप्रमत्तसंयतादीना सयोगिकेवलिपर्यन्ताना योगवतामपि तदभावात्। कथं तर्हि सा प्रवचने प्ररूप्यते? इत्याह–द्रव्येण भावेन च संविभक्ताश्चत्वारो भङ्गाः खलु हिंसकत्वे भवन्ति। तथाहि–१. द्रव्यतो नामैका हिंसा न भावतः, २. भावतो नामैका हिंसा न द्रव्यतः, ३. एका द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि, ४. एका न द्रव्यतो नापि भावतः ॥ अथैषामेव यथाक्रमं भावना कुर्वन्नाह—"आहच्च हिंसा समिअस्स जा उ, सा दव्वओ होइ ण भावओ उ ॥ भावेण हिंसा उ असंजयस्स, जे वा वि सत्ते ण सदा वहेइ ॥३९३३॥ संपत्ति तस्सेव जदा भविज्जा, सा दव्वहिंसा खलु भावओ अ ॥ अज्झत्थसुद्धस्स जदा ण होज्जा, वधेण जोगो दुहओ वि हिंसा ॥ ३९३४ ॥" समितस्येर्यासमितावुपयुक्तस्य, याऽऽहत्य कदाचिदपि, हिंसा भवेत्, सा द्रव्यतो हिंसा। इय च प्रमादयोगाभावात् तत्त्वतो अहिंसैव, "मत्तव्याप्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इति (तत्त्वार्थ अ. ७ सू. ८) वचनात्, न भावत इति। भावेन भावतो, या हिंसा, न तु द्रव्यतः, साऽसंयतस्य प्राणातिपातादेरनिवृत्तस्य, उपलक्षणत्वात्संयतस्य वाऽनुपयुक्तगमनागमनादि कुर्वतो, यानपि सत्त्वानसौ, सदैव न हन्ति तानप्याश्रित्य मन्तव्या, "जे वि न वाविज्जंती, णियमा तेसिंपि हिंसओ सो उ ॥७५३॥(ओघनि०) "त्ति वचनात् ॥ यदा तु तस्यैव प्राणिव्यपरोपणसम्प्राप्तिर्भवति, तदा सा द्रव्यतो भावतश्च (तोऽपि) हिंसा प्रतिपत्तव्या। यः पुनरध्यात्मना चेतःप्रणिधानेन शुद्ध उपयुक्तगमनागमनादिक्रियाकारीत्यर्थः तस्य यदा वधेन प्राणिव्यपरोपणेन सह, योगः सम्बन्धो, न भवति, तदा द्विधापि द्रव्यतो भावतोऽपि च

अहिंसा हिंसा न भवतीति भावः ॥" तदेवं भगवत्प्रणीते प्रवचने हिंसाविषयाश्चत्वारो भङ्गा उपवर्ण्यन्ते । अत्र चाद्यभङ्गे हिंसायां
व्याप्रियमाणकाययोगेऽपि भावत उपयुक्ततया भगवद्भिरहिंसक एवोक्तः, ततो यदुक्तं भवता वस्त्रच्छेदनव्यापार कुर्वतो हिंसा भवति' इति
तत्प्रवचनरहस्यानभिज्ञतासूचकमिति ॥५८॥ नन्वत्र 'अप्रमत्तादीनामधिकृतवस्त्रच्छेदनव्यापारवान् हिंसकः, योगवत्त्वाद्'-इति परोपन्यस्ता-
नुमानदूषणव्यभिचारस्फोरणाय व्यभिचारस्थानत्वं प्रदर्शितम् । व्यभिचारश्च 'हेतुसत्त्वे साध्यासत्त्वमिति' केवलिनोऽप्रमत्तादिसाधारण्येन
योगवत्त्वम्, अहिंसकत्वं च सिद्ध्यति, नतु कथमपि द्रव्यहिंसेति चेत्, न । अत्र च 'आद्यभङ्गः' इत्यादिनिगमनवचनविचारणयाऽधिकृ-
तवस्त्रच्छेदनव्यापारवानहिंसकः, हिंसाव्याप्रियमाणकाययोगवत्त्वेऽपि भावत उपयुक्तत्वात्, अप्रमत्तादिवद्-इति स्वतन्त्रसाधनदृष्टान्त एव
भगवति तत्सिद्धेः । किञ्च पूर्वपक्षिणा वस्त्रच्छेदनादिव्यापारे हिंसान्वितयोगत्वं तावद् भगवतीवचनेनैव प्रदर्शितम् । तथाहि-"सद्दो
तहिं मुच्छइ च्छेअणा वा, धावंति ते दो वि उ जाव लोगो ॥ वत्थस्स देहस्स य जो विकम्पो, ततोवि वातादि भरेन्ति लोगं" ॥३९२२॥
भो आचार्य ! तत्र वस्त्रे छिद्यमाने, शब्दः सम्मूर्च्छति, छेदनका वा सूक्ष्मपक्ष्मावयवा उड्डीयन्ते, एते च द्वयेऽपि ततो विनिर्गता
लोकान्तं यावत्, धावन्ति प्राप्नुवन्ति । तथा वस्त्रस्य देहस्य च यो विकम्पश्चलनं ततोऽपि विनिर्गता वातादयः प्रसरन्तः
सकलमपि लोकमापूरयन्ति ॥ "अहिच्छसी जंति ण ते उ(य) दूरं, संखोभिया तेहऽवरे वयंती ॥ उड्ढं अहेया वि चउदिसं पि, पूरिंति
लोग तु खणेण सव्व ॥३९२३॥" अथाचार्य !, त्वमिच्छसि-मन्यसे ते च वस्त्रच्छेदनसमुत्थाः शब्दपक्ष्मवातादिपुद्गला, न दूरं लोका-
न्तं यान्ति, तर्हि तैः संक्षोभिताश्चालिताः सन्तोऽपरे व्रजन्ति; एवमपरापरपुद्गलप्रेरिताः पुद्गलाः प्रसरन्तः क्षणेनोर्ध्वमधस्ति-
र्यक्चतसृष्वपि दिक्षु सर्वमपि लोकमापूरयन्ति ॥ यत एवमतः—"विन्नाय आरंभमिणं सदोसं, तम्हा जहालद्धमहिट्ठिएज्जा ॥

वुत्तं सएओ खलु जाव देही, ण होइ सो अंतकरी तु ताव ॥ ३९२४ ॥" इदमनन्तरोक्तं सर्वलोकपूरणात्मकमारम्भं, सदोषं सूक्ष्मजीवविराधनया सावद्यं, विज्ञाय तस्मात् कारणाद्, यथालब्धं वस्त्रमधितिष्ठेत्–न च्छेदनादिकं कुर्यात्। यत उक्तं भणितं व्याख्याप्रज्ञप्तौ–यावदय देही जीवः, सैजः सकम्पश्चेष्टावानित्यर्थः, तावदसौ कर्मणो भवस्य वाऽन्तकारी न भवति । तथा च तदालापकः:–"जाव णं एस जीवे सया समिअं एअइ वेअइ चलइ फदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ ताव णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया ण भवइ"त्ति। (वृत्तिरस्यैकपष्टितमगाथावृत्तौ) तथा च हिसान्वितयोगत्वेन वस्त्रच्छेदनव्यापारवतो हिंसकत्वमापादयन्तं पूर्वपक्षिणं प्रत्यप्रमत्तादिष्वापादकसत्त्वेप्यापाद्याभावात् तर्कमूलव्याप्त्यसिद्धेस्तस्य मूलशैथिल्यरूपदोषप्रदर्शनार्थमित्थमुक्तम्, तथा चापादकसत्त्वादेवाप्रमत्तादिवत्केवलिनोऽपि द्रव्यहिंसासम्भवेऽपि न दोष इत्येतदेवाह—

हिंसगभावो हुज्जा, हिंसण्णियजोगओत्ति तक्कस्स ॥ दाएउं इय भणिअं, पसिढिलमूलत्तणं दोसं ॥ ५९ ॥

[हिंसकभावो भवेत्, हिसान्वितयोगतइति तर्कस्य ॥ दर्शयितुमिति भणितं, प्रशिथिलमूलत्वं दोषम् ॥ ५९ ॥]

"हिंसगभावो"त्ति। हिंसकभावो भवेद्धिसान्वितयोगतोऽधिकृतवस्त्रच्छेदनव्यापारवत इति शेषः, इत्येतस्य तर्कस्य प्रशिथिलमूलत्वमापाद्यापादकव्याप्त्यसिद्धिरूप दोषं दर्शयितुमिति भणितं–यदुताप्रमत्तादीनां सयोगिकेवलिपर्यन्तानां हिसाव्याप्रियमाणकाययोगे सत्यपि भावत उपयुक्तत्वान्न हिंसकत्वमिति योगवत्त्वमात्रं च नापादकमिति तत्रापाद्यव्याप्त्यसिद्धिप्रदर्शनमकिञ्चित्करमेवेति भावः ॥ ५९ ॥ नन्वप्रमत्तादीनामुपयुक्तानां योगवतामप्यहिसकत्वप्रदर्शनेन हिसान्वितयोगाभाव एव प्रदर्शितो भवति; तथा च प्रकृते आपादकाप्रसिद्धिप्रदर्शनपर एवायं ग्रन्थोऽस्तु इत्यत आह—

आपायगाऽपसिद्धी, ण य भणिया वत्थच्छेयअहिगारे ॥ ता तस्सं(हिं सं)मइवयणं, पयणत्तीए ण अण्णट्ठे॥६०॥

[आपादकाऽप्रसिद्धिर्न च भणिता वस्त्रच्छेदाधिकारे ॥ ततः तत्संमतिवचनं प्रज्ञप्तेर्नान्यार्थम् ॥ ६० ॥]

'आपायगापसिद्धि'त्ति । आपादकस्य हिमान्वितयोगस्याऽप्रसिद्धिः, न च भणिता वस्त्रच्छेदाधिकारे; किं भगवतीवचनादारम्भस्य क्रियाविनाभावित्वमङ्गीकृत्यापि प्रतिबन्द्या पूर्वपक्षिणा दूषणं दत्तम् । तथाहि–"आरंभमिद्धो जइ(उ) आसवाय, गुत्ती य सेआय तहा तु माहू ॥ णो(मा) फंद वारेहि व छिज्जमाणं, पइण्णहाणी य अतोऽण्णहा ते" ॥३९२७॥ 'आरम्भमिद्धो'त्ति । मकारोऽलाक्षणिकः । हे नोदक ! यथाऽऽरम्भस्तव, आस्रवाय कर्मोपादानाय, इष्टोऽभिमतः, गुप्तिश्च तत्परिहाररूपा, श्रेयसे कर्मानुपादानायाभिप्रेता, तथा च सति हे साधो ! मा स्पन्द, मा वा वस्त्रं छिद्यमानं वारय । किमुक्तं भवति यदि वस्त्रच्छेदनमारम्भतया भवता कर्मबन्धनिबन्धनमभ्युपगम्यते ततो येयं वस्त्रच्छेदनप्रतिषेधाय हस्तस्पन्दनात्मिका चेष्टा क्रियते, यो वा तत्प्रतिषेधको ध्वनिरुच्चार्यते तावप्यारम्भतया भवता न कर्त्तव्यौ, अतो मदुक्तो(क्ताद्)पदेशादन्यथा चेत् करोषि, ततस्ते प्रतिज्ञाहानिः–स्ववचनविरोधलक्षणं दूषणमापद्यत इत्यर्थः, अथ ब्रुवीथा–योऽयं मया वस्त्रच्छेदनप्रतिषेधको ध्वनिरुच्चार्यते स आरम्भप्रतिषेधकत्वान्निर्दोष इति ? । अत्रोच्यते–"अदोमवं ते जइ एस सद्दो, अण्णोवि कम्हा ण भवे अदोसो ॥ अहिच्छया तुज्झ सदोस एक्को, एवं मती कस्स भवे ण सिद्धी ॥३९२८॥" यद्येष त्वदीयः शब्दोऽदोषवान्, ततोऽन्योऽपि वस्त्रच्छेदनादिसमुत्थः शब्दः कस्माददोषो न भवेत्; तस्यापि प्रमाणातिरिक्तपरिभोगविभूषादिदोषपरिहारहेतुत्वात् । अथेच्छया स्वाभिप्रायेण, तवैको वस्त्रच्छेदनशब्दः, सदोषोऽपरस्तु निर्दोषः, एवं सति कस्य न स्वपक्षसिद्धिर्भवेत्–सर्वस्यापि वा गाढवचन(वागाडम्बर)मात्रेण भवत इव स्वाभिप्रेतार्थसिद्धिर्भवेदिति भावः । ततश्चास्माभिरप्येवं

वक्तुं शक्यम्, योऽयं वस्त्रच्छेदनसमुत्थः शब्दः स निर्दोषः, शब्दत्वाद्, भवत्परिकल्पित(निर्दोष)शब्दवदित्यादि ॥" तत्तास्मात्कारणात्, तत्र वस्त्रच्छेदाधिकारे, सम्मतिवचनं प्रज्ञप्तेः "जीवे णं एस जीवे"इत्यादि, नान्यार्थं कि त्वेजनादिक्रियाणामारम्भाविनाभावित्व-प्रादकमेव, अन्यथैतदर्थसमर्थनार्थमेतत्सूत्रमुपन्यस्तवन्तं तं पूर्वपक्षिणमन्यार्थप्रदर्शनेनैतदभिप्रायानभिज्ञमवस्यन् कल्पभाष्यकृदिति। अस्मादेव भगवतीसूत्रादबाधितयथाश्रुतार्थाद्यावदेजनादिक्रिया तावदारम्भादिसम्भव इति केवलिनो द्रव्यहिंसायां न सन्देह इति भावः ॥ ६० ॥ एतदेव स्पष्टयति—

किरिआओ अंतकिरिया–विरोहिणीओ जिणेण भणिआओ ॥ आरंभाइजुआओ मंडियपुत्तेण पुट्ठेणं ॥६१॥

[क्रिया अन्तक्रियाविरोधिन्यो जिनेन भणिताः ॥ आरम्भादियुता मण्डितपुत्रेण पृष्टेन ॥ ६१ ॥]

व्याख्या–'किरिआओ'त्ति। मण्डितपुत्रेण पृष्टेन जिनेन श्रीवर्द्धमानस्वामिना, क्रिया एजनाद्याः, आरम्भादियुताः–आरम्भादिनियताः, अन्तक्रियाविरोधिन्यो भणिताः। तथा च भगवतीसूत्रम्—'जीवे णं भंते! सया समियं एअइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भाव परिणमइ?, हंता मण्डियपुत्ता! जीवेणं सया समियं एअइ, जाव तं तं भाव परिणमइ ॥ जावं च णं भंते! से जीवे सया समियं जाव तं तं भाव परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया भवइ?, णो इणट्ठे समट्ठे ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—जावं च णं से जीवे सया समिअं जाव अंतकिरिया णो भवइ?, मंडियपुत्ता! जावं च णं से जीवे सया समिअं जाव परिणमइ, तावं च णं से जीवे आरंभइ सारभइ समारंभइ, आरंभे वट्टइ सारंभे वट्टइ समारंभे वट्टइ, आरंभमाणे सारभमाणे समारभमाणे, आरंभे वट्टमाणे सारंभे वट्टमाणे समारंभे वट्टमाणे, बहूणं पाणाणं भूआणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खावणयाए सोआ-

मटिप्पण
॥स्वोपज्ञ
वृत्तिः
गाथा-६
॥२३१॥

वणयाए जूरावणयाए तिप्पावणयाए पिट्टावणयाए किलामणया उद्दावणयाए परियावणयाए वट्टइ, से तेणट्ठेणं मंडियपुत्ता एव वुच्चइ, जावं च णं से जीवे सया समियं एजति जाव परिणमति, तावं च ण तस्स जीवस्स अंते अतकिरिया ण हवइत्ति ॥" एतद्वृत्तिर्यथा–'क्रियाधिकारादिदमाह–जीवेण इत्यादि । इह जीवग्रहणेऽपि सयोग एवासौ ग्राह्यः, अयोगस्यैजनादेरसम्भवात्; सदा–नित्यं, समियं ति–सप्रमाणं, एयइत्ति एजते कम्पते, 'एजृ कम्पने' इति वचनात्; वेयइत्ति व्येजते विविधं कम्पते, 'चलइ त्ति स्थानान्तर गच्छति, 'फदइ'त्ति स्पन्दते किञ्चिचलति, 'स्पदि किञ्चिचलने' इति वचनात्, अन्यमवकाशं गत्वा पुनस्तत्रैवागच्छतीत्यन्ये, 'घट्टइ'त्ति सर्वदिक्षु चलति, पदार्थान्तर वा स्पृशति; 'खुब्भइ'त्ति क्षुभ्यति–पृथिवीं प्रविशति, क्षोभयति वा पृथिवीम्, बिभेति वा; 'उदीरइ'त्ति प्राबल्येन प्रेरयति, पदार्थान्तर वा प्रतिपादयति। शेपक्रियासङ्ग्रहार्थमाह–'तं त भाव परिणमति'त्ति उत्क्षेपणाव(प)क्षेपणाकुञ्चनप्रसारणादिकं परिणामं यातीत्यर्थः । एषा वैजनादिभावानां क्रमभावित्वेन सामान्यतः सदेति मन्तव्यम्, नतु प्रत्येकापेक्षया, क्रमभाविना युगपदभावादिति । 'तस्स जीवस्स अंते'त्ति मरणान्ते 'अंतकिरिय'त्ति सकलकर्मक्षयरूपा । आरम्भइ त्ति आरभते पृथिव्यादीनुपद्रवयति, 'सारंभइ'त्ति संरभते–तेषु विनाशसंकल्पं करोति, 'समारंभइ'त्ति समारभते–तानेव परितापयति, आह च—"संकप्पो संरभो, परितावकरो ह(भ)वे समारभो ॥ आरभो उद्दवओ, सव्वणयाणं विसुद्धाणं ॥ १ ॥ इदं च क्रियाक्रियावतोः कथञ्चिदभेद इत्यभिधानाय तयोः समानाधिकरणतः सूत्रमुक्तम् । अथ तयोः कथञ्चिद्भेदोऽप्यस्तीति दर्शयितुं पूर्वोक्तमेवार्थ व्यधिकरणत आह—'आरभे'इत्यादि । आरम्भेऽधिकरणभूते वर्त्तते जीवः, एवं संरंभे समारम्भे च, अनन्तरोक्तवाक्यार्थद्वयानुवादेन प्रकृतयोजनामाह–आरभमाण. संरभमाणः समारभमाणो जीवः–इत्यनेन प्रथमो वाक्यार्थोऽनुदितः, 'आरम्भे वर्त्तमानः'इत्यादिना तु द्वितीयः,

वर्त्तते, इति योगः, तथा शोकापनाय। दैन्यप्रापणायाम्, 'जूरावणयाए'त्ति शोकातिरेकाच्छरीरजीर्णताप्रापणायाम्, 'तिप्पावण-याए'त्ति तेपापनायां 'तिपृ-ष्टेपृ क्षरणार्थाविति वचनात्' शोकातिरेकादेवाश्रुलालादिक्षरणप्रापणायाम्। 'पिट्टावणयाए'त्ति पिट्टनप्रापणायाम्, ततश्च परितापनायां शरीरसन्तापे वर्त्तते, क्वचित्पठ्यते 'दुक्खावणयाए'इत्यादि, तच्च व्यक्तमेव। यच्च तत्र 'किलामणयाए उद्दवणयाए' इत्यधिकमभिधीयते तत्र 'किलामणयाए'त्ति ग्लानिनयने, 'उद्दवणयाए'त्ति उत्त्रासन इति। अत्र ह्येजनादिक्रियाणामारम्भादिद्वारैवान्तक्रियाविरोधित्वं प्रतीयते। आरम्भादीनां चेजनादिक्रियानियतत्वम्, नियमश्चायं यथासम्भवं द्रष्टव्यः, तेन नाप्रमत्तानामारम्भवत्संरम्भसमारम्भयोरप्यापत्तिरिति वृद्धाः। युक्तं चैतत्—'जाव णं एस जीवे सया समिअं एअइ वेयइ जाव तं तं भावं परिणमइ ताव णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छविहबंधए वा एगविहबंधए वा, नो णं अबंधए।" [यावदेष जीवः सदा समितमेजते, व्येजते यावत् त तं भावं परिणमते तावदष्टविधबन्धको वा सप्तविधबन्धको वा षड्विधबन्धको वा एकविधबन्धको वा, नो अबन्धकः ॥] इत्यत्रैजनादिक्रियाणामष्टविधाद्यन्यतरबन्धव्याप्यत्ववत्प्रकृतेऽप्यारम्भाद्यन्यतरव्याप्यत्वस्यैव व्युत्पत्तिमर्यादया लाभात्। परः पुनरेनमेवार्थं "सुमुनीनां शोभना मुनयः सुमुनयः सुसाधवस्तेषामप्रमत्तगुणस्थानकादारभ्य त्रयोदशगुणस्थानं यावदारम्भे वर्त्तमानानामप्यारम्भिकी क्रिया न भवति'इत्यादि स्वयमेव ग्रन्थान्तरे लिखितमस्मरन्निवान्यथैवात्र व्याख्याप्रकारमारचयति। तथाहि—अन्तक्रियाप्रतिबन्धकास्तावद्योगा एव, यावद् योगास्तावदन्तक्रिया न भवति, योगनिरोधे च भवतीति तेषां तत्प्रतिबन्धकत्वाद्, 'यदभावो यत्र कारणं तदेव तत्र प्रतिबन्धकमिति' जगत्स्थितेः। न चैवं क्वाप्यागमे जीवघातनिरोधे तज्जन्यकर्मबन्धनिरोधे वाऽन्तक्रिया-

॥ श्री
गाथा
॥२३

भणिता । तस्मात्साक्षाज्जीवघातलक्षण आरम्भो नान्तक्रियायाः प्रतिबन्धकः, तदभावेऽन्तक्रियाया अभणनात्, प्रत्युताग्निकापुत्राचार्य-
गजसुकुमारादिदृष्टान्तेन सत्यामपि जीवविराधनायां केवलज्ञानान्तक्रिययोर्जायमानत्वात् कुतस्तत्प्रतिबन्धकत्वशङ्कापीति । अत्र सूत्रे
एजनादिक्रियाजन्य आरम्भो न भणितः, किन्तु क्रियारम्भयोरेकाधिकरणे नियमो भणितः, स चैवं–यो यावत्कालं यत(एज)नादिक्रि-
यावान् तावत्काल स आरम्भादिमानेव, एवं च सति कम्पनादिक्रिया व्याप्या, आरम्भश्च व्यापकः, तेन कम्पनादिक्रिया नारम्भहेतुः,
किन्त्वारम्भः कम्पनादिक्रियाहेतुः । यथा 'यावत्कालं यो धूमवाँस्तावत्कालं स आर्द्रेन्धनप्रभववह्निमानेव' इत्यत्र धूमस्तथाभूतवह्नेर्जनको
न भवति, भवति च तथाभूतो वह्निर्धूमजनक इत्यन्तक्रियाप्रतिबन्धकारम्भव्याप्यत्वेन कम्पनादिक्रियाणामन्तक्रियाप्रतिबन्धकत्वं व्या-
ख्येयम्, आरम्भशब्देन च योगा उच्यन्ते, जीवघातादिलक्षणारम्भादिजनकत्वेन कारणे कार्योपचारात्, शास्त्रसम्मतं च योगानामार-
म्भत्वम् । तदुक्तं भगवतीवृत्तौ—"ननु 'मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः कर्मबन्धहेतव' इति प्रसिद्धिः, इह तु आरम्भिक्यादयोऽभि-
हिता इति कथं न विरोधः ? उच्यते–आरम्भपरिग्रहशब्दाभ्यां योगपरिग्रहः, योगानां तद्रूपत्वात्, शेषपदेषु च शेषबन्धहेतुपरिग्रहः
प्रतीत एवेति ।" एतच्चायुक्तम्, आरम्भादिशब्दत्रयेण योगाभिधानस्य दुर्घटत्वाद्, एजनादिक्रियातिरिक्तकायादिसध्रीचीनजीवव्यापा-
ररूपयोगसद्भावे प्रमाणाभावाद्, योगानां योगनिरोधरूपान्तक्रियायां प्रतिबन्धकत्वाभावाच्च, नहि घटो घटनाशं प्रति प्रतिबन्धक इति।
तस्मादेजनादिरहितो नारम्भादिषु वर्त्तते, तथा च न प्राणादीनां दुःखापनादिषु, तथा च योगनिरोधाभिधानशुक्लध्यानेन सकलकर्मध्वं-
सरूपाऽन्तक्रिया भवतीति भगवतीवृत्तावेवाग्रे व्यतिरेकप्रदर्शनादेजनादीनामारम्भादिद्वाराऽन्तक्रियाविरोधित्वव्याख्यानमेव न्याय्य-
मिति । "यत्तु एवमपि यद्यारम्भादिशब्दैरुक्तप्रकारेणेहाव्याख्यातत्वात् साक्षाज्जीवघातोऽभिमतः, तर्हि "जीवे णं भंते ! सया समिअं

एयइ'' इत्यादिसामान्यसूत्रे सयोगिजीवः केवलिव्यतिरिक्त एव ग्राह्यः, अन्यथा त्रविरोधेन सूत्राभिप्रायकल्पने मतिकल्पना महानर्थहेतुः-इत्याद्युक्तं'' तदुपहासपात्रम्, वृत्तिकृदभिप्रायोलङ्घनेन स्वस्यैव मतिकल्पनाया महानर्थहेतुत्वात्, 'सत्तहि ठाणेहि' इत्यादिसूत्रस्य भिन्नविषयत्वेन प्रकृतसामान्यसूत्रावधिकविशेषसूत्रस्य केनापि ग्रन्थकारेणानुपदर्शितत्वाच्चेति ॥६१॥ स्यादियमाशङ्का-सकलसयोगिगतैजनादिक्रियासामान्यस्य न साक्षादारम्भादिनियतत्वम्, भगवतीवृत्तावेव सूक्ष्मपृथिव्यादीनां साक्षादा-मारम्भकत्वनिषेधाद्, एवं च भवत्यपि केवलिनः सदा साक्षादारम्भानभ्युपगमेन यदा तदभावस्तदा द्वाराभावादेजनादिक्रिययाऽप्रतिबन्धात्केवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमेव केवलिनोऽन्तक्रियाप्रसङ्गः। यदि चान्तक्रियायां कदाचित् क्रियामात्रस्य कदाचित्साक्षादारम्भस्यानियतविरोधित्वं स्वीक्रियते तदा नियतारम्भादिद्वारकत्वेन तद्विरोधित्वव्याख्यानविरोध इत्यत्राह—

आरंभाइजुअत्त, तस्सत्तीए फुडेहि ण उ तेहिं ॥ तस्सत्तीविगमे पुण, जोगणिरोहो अपडिबद्धो ॥ ६२ ॥

[आरम्भादियुतत्वं तच्छक्त्या स्फुटैर्न तु तैः। तच्छक्तिविगमे पुनर्योगनिरोधोऽप्रतिबद्धः ॥ ६२ ॥

व्याख्या—आरम्भादियुतत्व' आरम्भादिनियतत्व 'क्रियाणाम्' इति प्राक्तनमिहानुषज्यते; 'तच्छक्त्या' आरम्भादिशक्त्या, तुरेवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, नतु तैः स्फुटैः-स्फुटैरेव तैरारम्भादिभिर्नेत्यर्थः। अय भावः-स्थूलकालावच्छेदेन तावदेतत्सूत्रोक्त एजनादिक्रियाणां साक्षादारम्भनियमो बादरयोगस्य नासम्भवी, इत्थम्भूतनियमस्यापि सूत्रेऽभिधानाद्, अत एव यस्मिन् समये कायिकी क्रिया तस्मिन् पारितापनिकी प्राणातिपातिकी च प्रज्ञापनोक्तदृगनियमेनैव वृत्तिकृतोपपादिता। तथाहि-''समयग्रहणेन चेह सामान्यः कालो गृह्यते, न पुनः परमनिरुद्धो यथोक्तस्वरूपो नैश्चयिकः समयः, परितापनस्य प्राणातिपातस्य वा बाणादिक्षेपजन्यतया

कायिक्याः प्रथमसमय एवासम्भवादिति ॥" अयं च नियम आरम्भजातीयस्य दोषत्वस्फुटीकरणार्थं व्यवहारेणोच्यते, न तु केवलिनोऽप्यारम्भो दोष इति नानुपपत्तिः, तथापि निश्चयतो योगाना केवलानामेव यत्प्रतिबन्धकत्वं परेणोद्भाव्यते, तत्र वयं वदामः–न स्फुटारम्भयुक्तानां नवा केवलानां योगानामन्तक्रियाप्रतिबन्धकत्वं निश्चिनुमः, किन्त्वारम्भशक्तियुक्तानामन्तक्रियाविरोधित्वं प्राणिघातानुकूलपुद्गलप्रेरणाकारिस्थूलक्रियारूपारम्भजननशक्तिसहितैर्योगैः स्थूलक्रियारूपारम्भजननद्वाराऽन्तक्रियाप्रतिघाताद्, अत एव चरमयोगे आरम्भजननशक्त्यनन्वयात्, तेन नान्तक्रियाप्रतिबन्ध इति तदनन्तरमेवान्तक्रियासम्भवस्तदिदमाह—'तच्छक्तिविगमे' आरम्भादिजननशक्तिविलये, पुनर्योगनिरोधोऽप्रतिबद्धोऽस्खलितसामग्रीकः, चरमयोगक्षणस्यैव योगनिरोधजनकत्वाद्। इदं च सूक्ष्मर्जुसूत्रनयमतमित्यविरुद्धमिति मन्तव्यम् ॥ ६२ ॥ नन्वेवमनेन सूत्रेण केवलिन आरम्भजननशक्त्यन्वितयोगवत्त्व भवद्भिरभ्युपगतम्, तच्चास्माकमपि सम्मतमेव, आरम्भस्वरूपयोग्यतायाः केवलियोगेष्वस्माभिरभ्युपगमात् । न चातः केवलिन्यारम्भसम्भवोऽपि, मोहनीयाभावेन तन्निरूपितफलोपहितयोग्यतायास्तत्रास्वीकारादिति पराशङ्कायामाह—

पोग्गलपणोल्लणाए, जो आरंभो इमीइ किरियाए ॥ णियमा मुणीण भणिओ, सस्सिअनाएण सोऽदुट्ठो ॥६३॥

[पुद्गलप्रणोदनायां य आरम्भोऽनया क्रियया ॥ नियमान्मुनीना भणितः शास्यिकज्ञातेन सोऽदुष्टः ॥ ६३ ॥]

व्याख्या—'पोग्गलपणोल्लणाए'त्ति । अनयाऽऽरम्भशक्त्या हेतुभूतया, क्रियया–एजनादिलक्षणया, पुद्गलप्रणोदनायां जीवघनलोकान्तःस्थापरापरपुद्गलप्रेरणायां तथाविधसहकारिसम्पर्कसमुद्भूतायां सत्यां, य आरम्भो भवति, स नियमान्मुनीनां शास्यिकज्ञातेनादुष्टो भणितः । अयं भावः–स्थूलक्रियया पुद्गलप्रेरणायामारम्भस्तावत्साधूनामप्यवर्जनीयो भवति । अत एवाऽऽ-

हारकसमुद्घातनिःसृष्टपुद्गलैरपि शरीरसम्बद्धैस्तदसम्बद्धैर्वा प्राणादिघाते त्रिक्रियत्वादिकमुक्तम्। तथा च समुद्घातपदे प्रज्ञापना-सूत्रम्-"तेणं भंते! पोग्गला णिच्छूढा समाणा जाइ तत्थ पाणाइ भूआइ जीवाइ सत्ताइं अभिहणंति जाव उवद्दवंति, ते णं भंते जीवे कइकिरिए?, गोयमा! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए। ते णं भंते! जीवा ताओ जीवाओ कइकिरिआ?, गो० एवं चेव, से णं भंते! जीवे ते य जीवा अण्णेसिं जीवाणं परपराघाएणं कडकिरिया?. गो०! तिकिरियावि चउकिरियावि पंचकिरियावि"त्ति। [ते भदन्त! पुद्गला निक्षिप्ताः सन्तः यान् तत्र प्राणान् भूतान् जीवान् सत्त्वान् अभिघ्नन्ति, यावदुपद्रवन्ति स भदन्त! जीवः कतिक्रियः, गौ०! स्यात् त्रिक्रियः स्यात् चतुष्क्रियः स्यात्पञ्चक्रियः। ते च भदन्त जीवाः ते कतिक्रियाः?। गौ० एवमेव स च भदन्त! जीवः ते च जीवा अन्येषां जीवाना परम्पराघातेन कतिक्रियाः?, गौ०! स्याद् त्रिक्रिया अपि, चतुष्क्रिया अपि, पञ्चक्रिया वेति ॥] पर प्रमत्तताद-शायामारम्भप्रत्यया क्रिया निमित्तम्, अप्रमत्ततादशायां तु धार्मिकक्रियायोगान्तर्भूततया शास्यिकदृष्टान्तेन हितत्वाद् योगातिरिक्त दोषविधया न दोषभाक्। तदुक्तं बृहत्कल्पभाष्ये-"आहारणीहारविहीसु जोगो, सव्वो अदोसाय जहा जयस्स ॥ हिआय सस्संमि व सस्सियस्स, भंडस्स एयं परिकम्मणं तु ॥३९३१॥" यथा यतस्य प्रयतपरस्य साधोः, आहारनीहारादिविधिविषयः सर्वोऽपि योगो भवन्मतेनाप्यदोषाय भवति, तथा भाण्डस्योपकरणस्य परिकर्मणमपि छेदनादिकमेवमेव यतनया क्रियमाणं निर्दोषं द्रष्टव्यम्। दृष्टान्तमाह-'हिआय सस्संमि व सस्सिअस्स'त्ति। शस्येन चरतीति शास्यिकः कृपीवलः, तस्य यथा तद्वि(शस्यवि)षयं परिकर्मणं निद्दिणनादिकं, हिताय भवति, तथेदमपि भाण्डपरिकर्मणम्। तथा चोक्तं-"यद्वच्छस्यहितार्थं, शस्याकीर्णेऽपि विचरतः क्षेत्रे॥ या भवति शस्यपीडा, यत्नवतः साऽल्पदोषाय ॥१॥ तद्वज्जीवहितार्थं, जीवाकीर्णेऽपि विचरतो लोके ॥ या भवति जीवपीडा, यत्नवतः

साऽल्पदोषाय ॥ २ ॥" इति । तथा च स्थूलक्रियैवारम्भरूपा सम्पन्ना, मोहनीयं च न तस्यां हेतुः, दृष्टेष्टविरोधाद्–इत्येवम्भूतारम्भस्य भगवति सत्त्वे न बाधकमित्यारम्भशक्तिरेवारम्भाक्षेपिका, अन्यथा तु चरमयोग इव प्राक्तनयोगेष्वप्यारम्भशक्तिकल्पने प्रमाणाभावः, निश्चयेन कार्यं कुर्वत एव कारणत्वाभ्युपगमाद् । न च शक्तिविशेषं विना योगत्वेनैव केवलियोगस्यारम्भस्वरूपयोग्यत्वाभ्युपगमो यौक्तिकः, चरमयोगस्यापि तत्त्वापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, आरम्भस्वरूपयोग्ययोगत्वेनान्तक्रियाविरोधित्वाद्–इत्यारम्भशक्तिसत्त्वे केवलिनः स्थूलक्रियारूपारम्भो नानुपपन्न इति ॥ ६३ ॥ एतदेवाह—

सो केवलिणो वि हवे, चलोवगरणत्तणं जमेयस्स ॥ सहगारिवसा णियमं, पायं थूलाइ किरियाए ॥ ६४ ॥

[स केवलिनोऽपि भवेद् चलोपकरणत्वं यदेतस्य ॥ सहकारिवशान्नियतं प्रायः स्थूलया क्रियया ॥ ६४ ॥]

व्याख्या—'सो त्ति' स पुद्गलप्रेरणाद्वारक आरम्भः, केवलिनोऽपि भवेद्, यद् यस्माद्, एतस्य केवलिनश्चलोपकरणत्वं सहकारिवशाद्—गमनक्रियापरिणामादिसहकारिवशात्, प्रायः स्थूलया क्रियया नियत वर्त्तते । अयं भावः–चलोपकरणत्वं तावद् भगवतोऽप्यस्त्येव, तथा च भगवतीसूत्रम्–"केवली णं भंते ! अस्सि समयंसि जेसु आगासपएसेसु हत्थ वा पायं वा बाहु वा उरुं वा ओगाहित्ता णं चिट्ठइ पभू णं केवली सेअकालंसि तेसु चेव आगासपएसेसु हत्थं वा जाव ओगाहित्ता णं चिट्ठित्तए ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? जाव केवली णं अस्सि समयसि जेसु आगासपएसेसु जाव चिट्ठइ णो णं पभू केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव आगासपएसेसु हत्थं वा जाव चिट्ठित्तए ?, गोयमा ! केवलिस्स णं वीरियसजोगसद्दव्वयाए चलाइ उवगरणाइ भवंति, चलोवगरणट्ठयाए अ णं केवली अस्सि समयसि जेसु आगासपएसेसु हत्थं वा जाव चिट्ठइ णो णं पभू केवली सेयकालंसि वि

तेसु चेव चिट्ठित्तए, से तेणट्ठेणं जाव वुच्चइ केवली अस्सि समयंसि जाव चिट्ठित्तए ॥ ” [केवली भदन्त! अस्मिन् समये येष्वाकाशप्रदेशेषु हस्तं वा पादं वा बाहुं वा उरु वा अवगाह्य तिष्ठति प्रभुः केवली एष्यत्काले तेष्वेवाकाशप्रदेशेषु हस्तं वा यावदवगाह्य स्थातुम्? गौतम! नायमर्थः समर्थः। स केनार्थेन भदन्त? एवमुच्यते–यावत्केवली अस्मिन् समये येष्वाकाशप्रदेशेषु यावत्तिष्ठति न प्रभुः केवली एष्यत्कालेऽपि तेष्वेवाकाशप्रदेशेषु हस्तं वा यावत्स्थातुम्। गौतम! केवलिनो वीर्यसयोगसद्द्रव्यतया चलानि उपकरणानि भवन्ति, चलोपकरणार्थतया च केवली अस्मिन् समये येष्वाकाशप्रदेशेषु हस्त वा यावत्तिष्ठति, न प्रभुः केवली एष्यत्कालेऽपि तेष्वेव स्थातुम्, स तेनार्थेन यावदुच्यते अस्मिन् समये यावत्स्थातुम्।] एतद्वृत्तिर्यथा—'अस्सिं समयंसि'त्ति। अस्मिन् वर्त्तमानसमये 'उग्गाहित्ता णं'ति अवगाह्य–आक्रम्य 'सेयकालंसि वि'त्ति एष्यत्कालेऽपि 'वीरियसजोगसद्दव्वयाए'त्ति वीर्य–वीर्यान्तरायक्षयप्रभवा शक्तिः तत्प्रधानं सयोग मानसादिव्यापारयुक्तं यत् सद्विद्यमान द्रव्यं जीवद्रव्यं तत्तथा, वीर्यसद्भावेऽपि जीवद्रव्यस्य योगान् विना चलनं न स्यादिति सयोगशब्देन सद्द्रव्यं विशेषितम्। सदिति विशेषणं च तस्य सदासत्तावधारणार्थम्। अथवा स्व आत्मा तद्रूपं द्रव्यं स्वद्रव्यम्, ततः कर्मधारयः, अथवा वीर्यप्रधानः सयोगो योगवान् वीर्यसयोगः, स चासौ सद्रव्यश्च मनःप्रभृतिवर्गणायुक्तो वीर्यसयोगसद्रव्यस्तस्य भावस्तत्ता, तया हेतुभूतया 'चलाइं'त्ति अस्थिराणि 'उवगरणाइं' अङ्गानि, 'चलोवगरणट्ठयाए अ'त्ति चलोपकरणलक्षणो योऽर्थस्तद्भावश्चलोपकरणता तया, चशब्दः पुनरर्थ इति ॥" एतच्च चलोपकरणत्वं निरन्तरसूक्ष्मगात्रसञ्चारबीजं चलनसामान्यसामग्र्यां निविशमानं गमनादिक्रियापरिणाममात्रसहकृतं सद् गमनादिस्थूलक्रियामपि जनयत्येव। सा च स्थूलक्रियाऽवर्जनीयारम्भसङ्गता सती केवलिनो न वीर्यान्तरायक्षयक्षतिकरी, यतस्तत्सामान्यकारणं चलोपकरणत्वमपि नामकर्मपरिणतिविशेषापादि-

तयोगाशक्तिनियतमेव । यदाह सूत्रकृताङ्गवृत्तिकृत्—"सयोगी जीवो न शक्नोति क्षणमप्येकं निश्चलं स्थातुम्, अग्निना ताप्यमानोदकवत् कार्मणशरीरानुगतः सदा परिवर्त्तयन्नेवास्ते" इत्यादीति। तत्कार्यस्थूलक्रियायामप्यशक्यपरिहारारम्भ(म्भा)त्यागे योगाशक्तिरेव निमित्तमिति । केचित्तु सूक्ष्मक्रियाणामिव स्थूलक्रियाणामपि चलोपकरणतावशादनियतदेशत्वावश्यकत्वात् तत्प्रयुक्तारम्भसम्भवः केवलिनोऽपि दुर्निवार इत्याहुः ॥६८॥ ननु यद्येवं स्थूलक्रियैव द्रव्यारम्भस्तदा केवलिनस्तस्य कादाचित्कत्वं न स्याद्, इष्यते चायमन्यसाधूनामपि कादाचित्क एव, 'आहच्च हिंसा समिअस्स जा उ, सा दव्वओ होइ ण भावओ उ (वृत्तिः २२७ पृष्ठे)।"त्ति वचनाद्—इत्याशङ्कामेतद्वचनं फलीभूतसाक्षात्सम्बद्धारम्भविषयत्वान्नानुपपन्नम्, स च केवलिनोऽपि कादाचित्क एवेत्यभिप्रायेण निराचिकीर्षुराह—

सक्खं तु कायफासे, जो आरंभो कयाइ सो हुज्जा ॥ अहिगिच्च त णिमित्तं, मग्गिज्जइ कम्मबंधठिई ॥६५॥

(साक्षात्तु कायस्पर्शे य आरम्भो कदाचित्स भवेत् ॥ अधिकृत्य तं निमित्त मृग्यते कर्मबन्धस्थितिः ॥ ६५ ॥)

'सक्खं तु'त्ति साक्षात्तु कायस्पर्शे य आरम्भः स कदाचिदेव भवेत् न च साक्षात्कायस्पर्शाज्जायमानं द्रव्यारम्भं व्यवहारिजनप्रतीयमानमिति गम्यं, निमित्तमधिकृत्य कर्मबन्धस्थितिर्मृग्यते शास्त्रकारैरिति गम्यम्। यद्यप्यप्रमत्तानामवश्यम्भावी जीवघातो न प्राणातिपातत्वेन दोषः, तथापि निमित्तभूतस्यास्यैकाधिकरणोपादानसद्भावासद्भावकृतं फलवैचित्र्यं विचार्यत इत्यर्थः ॥ कथमित्याह—

तत्थ णिमित्ते सरिसे, जेणोवादाणकारणाविक्खो । बंधाबंधविसेसो, भणिओ आयारवित्तीए ॥ ६६ ॥

[तत्र निमित्ते सदृशे येनोपादानकारणापेक्षः ॥ बन्धाबन्धविशेषो भणित आचारवृत्त्याम् ॥ ६६ ॥]

व्याख्या—'तत्थ'त्ति । तत्र साक्षात्कायस्पर्शाज्जायमानारम्भे निमित्ते सदृशे आकेवलिनमेकरूपे सति येन कारणेनोपादानकारणस्यापेक्षा नियतसद्भावासद्भावाश्रयणरूपा यत्र स तथा बन्धाबन्धविशेषः, कर्मबन्धतारतम्यतदभावप्रकारो भणित इति आचारवृत्तौ । तत्र प्रथममेतदधिकारसम्बद्धमाचाराङ्गलोकसाराध्ययनचतुर्थोद्देशकस्थ सूत्र (१५८) लिख्यते—"से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचे(च)माणे पसारमाणे विणिवट्टमाणे संपलिज्जमाणे एगया गुणसमिअस्स रीयंतो कायसंफासं समणुचिन्ना एगइआ पाणा उद्दाइंति, इहलोगवेदणवेज्जावडियं जं आउट्टिकयं कम्मं तप्परिन्नाय विवेगमेति एवं से अप्पमादेणं विवेग किट्टइ वेयवीत्ति" ॥ अथैतद्वृत्तिः—'से'इत्यादि । स भिक्षुः सदा गुर्वादेशविधायी एतद्व्यापारवान् भवति, तद्यथा—अभिक्रामन्—गच्छन्, प्रतिक्रामन्—निवर्त्तमानः, सङ्कुचन् हस्तपादादिसङ्कोचनतः, प्रसारयन् हस्तादीनवयवान्, विनिवर्त्तमानः समस्ताशुभव्यापारात्, सम्यक् परिः समन्ताद् हस्तपादादीनवयवांस्तन्निक्षेपस्थानानि वा रजोहरणादिना मृजन् सम्परिमृजन्, गुरुकुलवासे वसेदिति सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । तत्र निविष्टस्य विधिः—भूम्यामेकमूरुं व्यवस्थाप्य द्वितीयमुत्क्षिप्य तिष्ठेत्, निश्चलस्थानासहिष्णुतया भूमीं प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य(मार्ज्य) च कुक्कुटीविजृम्भितदृष्टान्तेन सङ्कोचयेत्प्रसारयेद्वा, स्वपन्नपि मयूरवत् स्वपिति, स किलान्यसत्त्वभयादेकपार्श्वशायी सचेतनश्च स्वपिति, निरीक्ष्य च परिवर्त्तनादिकाः क्रिया विधत्ते इत्येवमादि सम्परिमृजन् सर्वाः क्रियाः करोति । एवं चाप्रमत्ततया पूर्वोक्ताः क्रियाः कुर्वतोऽपि कदाचिदवश्यम्भावितया यत् स्यात्तदाह—'एगया'इत्यादि । एकदा कदाचिद् गुणसमितस्य गुणयुक्तस्याप्रमत्ततया यतेः रीयमाणस्य सम्यगनुष्ठानवतोऽभिक्रामतः प्रतिक्रामतः सङ्कुचतः प्रसारयतो विनिवर्त्तमानस्य सम्परिमृजतः कस्याञ्चिदवस्थाया कायः शरीर तत्संस्पर्शमनुचीर्णाः कायसङ्गमागताः सम्पातिमादयः प्राणिन एके परितापमाप्नुवन्ति, एके

ग्लानतामुपयान्ति, एकेऽवयवविध्वंसमापद्यन्ते। अपश्चिमावस्था तु सूत्रेणैव दर्शयति–एके प्राणाः प्राणिनः, अपद्रान्ति–प्राणैर्विमुच्यन्ते। अत्र च कर्मबन्धं प्रति विचित्रता। तथाहि–शैलेश्यवस्थायां मशकादीनां कायसंस्पर्शेन प्राणत्यागेऽपि बन्धोपादानकारणयोगाभावान्नास्ति बन्धः, उपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिनां स्थितिनिमित्तकषायाभावात् सामयिकः, अप्रमत्तयतेर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कृष्टतश्चान्तःकोटाकोटिस्थितिरिति। प्रमत्तस्य त्वनाकुट्टिकयाऽनुपेत्य प्रवृत्तस्य क्वचित्पाण्याद्यवयवसंस्पर्शात् प्राण्युपतापनादौ जघन्यत उत्कृष्टतश्च कर्मबन्धः प्राक्तन एव विशेषिततरः। स च तेनैव भवेन क्षिप्यत इति सूत्रेणैव दर्शयितुमाह–'इहलोग इत्यादि। इहास्मिन् लोके जन्मनि वेदनमनुभवनमिहलोकवेदन तेन वेद्यमनुभवनीयमिहलोकवेदनवेद्यं तत्रापतितमिहलोकवेदनवेद्यापतितम्, इदमुक्तं भवति–प्रमत्तयतिनापि यदकामतः कृत कर्म कायसङ्घट्टनादिना तदैहिकभवानुबन्धि, तेनैव भवेन क्षिप्यमाणत्वाद्, आकुट्टि(ट्टी)कृतकर्मणि तु यद्विधेयं तदाह 'ज आउट्टी'इत्यादि। यत्तु पुनः कर्माकुट्टया कृतमागमोक्तकारणमन्तरेणोपेत्य प्राण्युपमर्दनेन विहितं तत्परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया विवेकमेति विविच्यतेऽनेनेति विवेकः, प्रायश्चित्तं दशविधं तस्याऽऽन्तरं भेदमुपैति तद्, विवेकं वाऽभावाख्यमुपैति, तत्करोति येन कर्मणोऽभावो भवतीति॥'' अत्र गुर्वादेशविधायिनमभिक्रमणादिव्यापारवन्तमप्रमत्तसंयतमवश्यम्भाविजीवविराधनाभागिनमनूद्य कर्मबन्धाबन्धविशेषविधानं वृत्तौ पूरितम्, अनाकुट्टिकयाऽऽकुट्टिकया च जीवविराधनाकारिणं प्रमत्तसंयतमनूद्येहलोकवेदनवेद्यापतितस्य विवेकयोग्यस्य च कर्मबन्धस्य विधानं साक्षादेव सूत्रेऽभिहितम्, तत्र केवली 'उद्देसो पासगस्स णत्थि'त्ति वचनाद् गुर्वादेशविधायित्वाभावात् सम्भावितभाविजीवघातभयाविनाभाविनियताभिक्रमणादिक्रियाभावाच्च नानूद्य इति तद्बहिर्भावेनैवावश्यम्भाविजीवविराधनानिमित्तकबन्धाबन्धविचार इति परोऽभिमन्यते, तन्महामृषावादविलसितम्। साक्षादेव केवलिनमनूद्य वृत्तौ तत्स-

मर्थनस्य ब्रह्मणापि पराकर्तुमशक्यत्वात् । तत्रानूद्यतावच्छेदकधर्मे विरोधोद्भावनेन च वृत्तिकृत एव सूत्राभिप्रायानभिज्ञता वक्तुमुपक्रान्तो देवानांप्रियस्तमेव मन्यमानस्तमेव चाऽवमन्यस इति महाकष्टं तद् । न चैतद्विरोधोद्भावनं विचार्यमाणं चमत्कारकारि, गुर्वादेशविधायित्वस्य भगवति फलतोऽभिधानाविरोधाद्, अत एव " किं ते भंते ! जत्ता ? सोमिला ! जं मे तवणियमसंजमसज्झायज्झाणावस्सयमाईसु जयणा । सेत्तं जत्ता" । इत्यत्र सूत्रे एतेषु च यद्यपि भगवतो न किञ्चित्तदानीं विशेषतः सम्भवति, तथापि तत्फलसद्भावात्तदस्तीत्यवगन्तव्यमित्युक्तम् । अभिक्रमणादियतनाव्यापाराश्च यादृशाश्छद्मस्थसंयतानामयतनाभयाविनाभाविनस्तादृशा एवायतनाभयाभावेऽपि भगवतः सम्भवन्त्येव साधुसमानधर्मतयैव तस्याकल्पिकपरिहारादियतनावदभिक्रमणादियतनाया अप्युपपत्तेरिति न किञ्चिदेतत् । यत्त्ववश्यम्भावित्वं प्रायोऽसम्भविसम्भविकार्यत्वम्, यदेव हि प्रायोऽसम्भवि सत् कदाचित्सम्भवति तदेवावश्यम्भावीति व्यवह्रियते, अन्यथा सर्वमपि कार्यमवश्यम्भावित्वेन वक्तव्यं स्यात्, पञ्चसमवायवादिभिर्जैनैः सर्वस्यापि कार्यस्य नियतिजन्यतामधिकृत्यावश्यम्भावित्वेनेष्टत्वात्, कालादिषु पञ्चसु कारणेषु नियतेरपि परिगणनाद्, अत एव जमालिनिमित्तकनिह्नवमार्गोत्पत्तिरवश्यम्भाविनीति प्रवचने प्रतीतिः । तीर्थकरदीक्षितशिष्यात् निह्नवमार्गोत्पत्तेः प्रायोऽसम्भविसम्भवाद्, एवमप्रमत्तसंयतस्य कायादिव्यापाराज्ञायमानानाभोगवशेन कादाचित्कीत्यवश्यम्भाविनी वक्तुं युज्यते नतु केवलिनः, तस्य तत्कादाचित्कतानियामकानाभोगाभावादिति नावश्यम्भाविविराधनावन्तं केवलिनमनूद्य किमपि विचारणीयमस्ति' इति परेणोद्घुष्यते, तदसद् । अनाभोगादेरिव विषयासन्निधानादेरपि कादाचित्कत्वेनावश्यम्भावित्वोपपत्तेः केवलिनोऽप्यप्रमत्तयतेरिवावश्यम्भाविजीवविराधनोपपत्तेः । अन्यथा तमधिकृत्य वृत्तिकृता यत्सामयिककर्मबन्धावन्धव्याख्यानं कृतं तस्यात्यन्तमनुपपत्तेः । किञ्च अवश्यम्भाविनी जीवविराधना प्रायोऽसम्भविसम्भवाऽप्रमत्तस्यैव

नतु प्रमत्तस्य, तदीयकायव्यापाराज्जायमानस्य जीवघातस्य प्रायः सम्भविसम्भवत्वात्, प्रमत्तयोगानां तथास्वभावत्वाद्, अत एव प्रमत्तसंयतस्य प्रमत्तयोगानङ्गीकृत्यारम्भिकी क्रियापि, तेषां योगानां जीवघातार्हत्वाद्, अन्यथा प्रमत्ताप्रमत्तयोरविशेषः सम्पद्येतेति परस्याभ्युपगमेऽवस्थितसूत्रस्यैवानुपपत्तिः, अनाकुट्टिकयाऽनुपेत्य प्रवृत्तमवश्यम्भाविजीवविराधनावन्तं प्रमत्तसंयतमधिकृत्यैवेहलोकवेदनवेद्यापतितकर्मबन्धस्य साक्षात्सूत्रेऽभिधानात्, तस्य च जीवविराधनाया अवश्यम्भावित्वस्य प्रायः सम्भविसम्भवत्वेन परेण निषेधात्, तस्मान्नायं पन्थाः, किन्त्वनभिमतत्वे सत्यवर्जनीयसामग्रीकत्वमवश्यम्भावित्वव्यवहारविषयः, अत एव जिज्ञासितयोर्द्वयोर्वस्तुनोः पुरः-स्थितयोरेकस्य दर्शनार्थमुन्मीलितेन चक्षुषाऽपरस्यापि दर्शनमवश्यं भवतीति व्यवह्रियते। अत एव च जमालेर्भगवता दीक्षणे निह्नवमार्गोत्पादस्यावश्यम्भावित्वमपि नानुपपन्नम्, तदानीं तस्यानभिमतस्याप्यवर्जनीयसामग्रीकत्वाद्; एवंविधा चावश्यम्भाविनी विराधना संयतानां सर्वेषामपि सम्भवतीति तानधिकृत्य वृत्तिकृदुक्ता व्यवस्था केवलिन्यपि युक्तिमत्येवेति। वस्तुतः सर्वस्यापि कार्यस्य पुरुषकारभवितव्यतोभयजन्यत्वेऽपीदं कार्यं पुरुषकारजनितमिदं च भवितव्यताजनितमिति विभक्तो व्यवहार एकैकस्योत्कटत्वलक्षणां बहुत्वलक्षणां वा मुख्यतामादायैव शास्त्रकारैरुपपादितः! ॥ तदिह साधूनामनाकुट्या जायमाने जीवघाते भवितव्यताया एव मुख्यतया व्याप्रियमाणत्वात् तत्रावश्यम्भावित्वव्यवहारः, न त्वनाभोगजन्यत्वमेव तत्र तन्त्रम्, आभोगपूर्वकस्य कारणिकस्यापि तस्य विवेकयोग्यबन्धहेतोः पृथक्करणेनेहलोकवेदनवेद्यापतितकर्मबन्धहेतुतया परिशेषितस्यावश्यम्भावित्वेनैव परिगणनात्, ततो जीवरक्षापरिणामवतामाकुट्या जीवघातप्रवृत्तिरहितानां सर्वेषामेव संयतानां या काचिद्विराधना भवति साऽवश्यम्भाविनीति कायस्पर्शमनुचीर्णैः प्राणिभिरुपजायमाना तामाश्रित्याऽऽकेवलिनं वृत्तिकृदुक्तव्यवस्थायां न कोऽपि सन्देह इति सूक्ष्ममीक्षणीयम्। एवं सत्यपि परस्येयं शङ्को-

न्मीलति–यदुताऽत्र कर्मबन्धं प्रति विचित्रता। तथाहि–शैलेश्यवस्थायां कायसंस्पर्शेन मशकादीनां प्राणत्यागेऽपि पञ्चविधोपादानकार-
णाभावान्नास्ति बन्धः' इत्यत्र कर्तुः सम्यग्विचारे मशकादीना प्राणत्यागस्य कर्त्ता किमयोगिकेवली, उताऽन्यः कश्चिद्। नाद्यः, अयोगि-
त्वकर्तृत्वयोर्विरोधेनायोगिकेवलिनः कर्तृत्वाभावात्; नहि कायादिव्यापारमन्तरेण कर्त्ता भवितुमर्हति, 'क्रियाहेतुः स्वतन्त्रः कर्त्ता' इति
वचनात्। यदि चायोगिकेवलिनः शरीरस्य सम्पर्कादपि जायमानो जीवघातस्तन्निमित्तकत्वेन तत्कर्तृको भण्यते, तर्हि अपसिद्धान्तः
स्यात्। पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि प्राणत्यागलक्षणस्य कार्यस्य जायमानत्वेन पञ्चसमवायवादित्वहानेः। निमित्तत्वमात्रेण च कर्तृत्वव्यप-
देशोऽपि न भवति, साध्वादिनिमित्तकोपसर्गस्य दानादेश्च साध्वादिकर्तृकत्वेन व्यपदेशप्रसक्तेः। द्वितीयविकल्पेऽन्यः कश्चित् कर्ता–
इत्यत्रानन्यगत्याऽनाभोगवतः कूपपातवदनिष्टोऽपि मशकादीनां निजप्राणत्यागोऽनाभोगवशेन म्रियमाणमशकादिकर्तृक एव, 'यदि मश-
कादीनां निजकायादिव्यापारो नाभविष्यत् तर्हि शरीरसम्पर्काभावेन निजप्राणत्यागोऽपि नाभविष्यद्'–इति व्याप्तिबलेन मशकादियोग-
जन्यत्वात्। तथा चायोगिकेवलिनि मशकादिकर्तृका जीवविराधना बन्धाभाववती सम्भवत्यपि सयोगिकेवलिनि तु सा कथं स्यात्? तत्र
हिंसा भवन्ती तद्योगान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन तत्कर्तृकापि स्यात्, न च केवलिनो जीवविराधनाकर्तृत्वमिष्यत इति कर्तृकार्यभाव-
सम्बन्धेन जीवविराधनाविचारे कथं केवलिनो निर्देशो युज्यते? इति ॥ ६६ ॥ तत्र आह—

कारगसंबंधेणं, तस्स णिमित्तस्सिमा उ मज्जाया ॥ कत्ता पुणो पमत्तो, णियमा पाणाइवायस्स ॥ ६७ ॥

[कारकसम्बन्धेन, तस्य निमित्तस्येयं तु मर्यादा ॥ कर्ता पुनः प्रमत्तो, नियमात्प्राणातिपातस्य ॥ ६७ ॥]

व्याख्या—'कारगसंबंधेण'ति। कारकस्याधिकरणादिरूपस्यायोगिकेवल्यादेः पश्चानुपूर्व्या प्रमत्तसंयतान्तस्य सम्बन्धेन,

तस्य साक्षात्कायस्पर्शप्रत्ययारम्भस्य, निमित्तस्य, **इयमाचाराङ्गवृत्तिकृदुक्ता मर्यादा**—अयोगिकेवल्यादिकारकसम्बन्धमात्रेणैव साक्षादारम्भस्य बाह्यस्य निमित्तस्य प्रस्तुता फलाफलविचारणा क्रियते, नतु कर्तृकार्यभावसम्बन्धेन जीवविराधनाविचारः क्रियत इति नोक्तानुपपत्तिरित्यर्थः । **कर्ता पुनः प्राणातिपातस्य नियमात् प्रमत्त एव**, शास्त्रीयव्यवहारेण प्रमादवत एव प्राणातिपातकत्वव्यवस्थितेः, ततो यदि कर्तृकार्यभावसम्बन्धेनैवात्र जीवविराधनाविचारः प्रस्तुतस्तदा पराभ्युपगमरीत्या केवलिन इवाऽप्रमत्तसंयतस्यापि निर्देशोऽप्रामाणिक इति सर्वमेव वृत्तिकृदुक्तं विशीर्येत। यदि चोपचारेणाप्रमत्तयतेरपि कथञ्चित्तत्कर्तृत्वमिष्यते, तदोपरिष्टादप्युपचारेणैतत्कल्पनं ग्रन्थकाराभिप्रायानुरोधादेव निराबाधमिति यदुच्यते परेण "सयोगिकेवली कदाचिज्जीवविराधकः सम्भवति, भवस्थकेवलित्वाद् अयोगिकेवलिवद्' इत्यत्र कदाचिज्जीवविराधकत्वं साध्यमयोगिकेवलिनि दृष्टान्ते नास्ति, तस्याकर्तृत्वात्। किञ्च—अयोगिकेवलिदृष्टान्तदातुरयोगित्वकर्तृत्वयोर्विरोधापरिज्ञानमपि स्फुटमेवेत्यादि," तत्सर्वं ग्रन्थाभिप्रायापरिज्ञानविजृम्भितमिति मन्तव्यम्; न ह्येवमधिकृताचाराङ्गवृत्तिग्रन्थः कथमप्युपपादितो भवतीति ॥ ६७ ॥

नन्वय ग्रन्थः प्रासङ्गिक एव । तथाहि—अयोगिकेवलिनि मशकादिघातस्तावन्मशकादिकर्तृक एव, तथा च कर्मबन्धोऽप्यध्यवसायानुगतो मशकादीनामेव भवति, एककर्तृकयोरेव कर्मबन्धोपादानकारणयोः परस्पर कार्यकारणभावसम्बन्धाद् न पुनर्भिन्नकर्तृकयोरपि, सांसारिकजीवकर्तृकैः पञ्चविधोपादानकारणैः सिद्धानामपि कर्मबन्धप्रसक्तेः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामनादिसिद्धकार्यकारणभावव्यवस्थासिद्ध्यर्थमत्र च कर्मबन्धं प्रति विचित्रतेत्यादि प्रसङ्गतोऽभिहितम्। तत्रायोगिन्युपादानकारणाभावात् कर्मबन्धाभाव इति व्यतिरेकनियमः प्रदर्शितः, स चान्वयनियमस्य दार्ढ्यहेतुः, अन्यथा कर्मबन्धविचित्रताविचारेऽबन्धकस्यायोगिकेवलिनो भणनमनर्थकमेव सम्पद्येत,

प्रयोजनाभावाद् । योगवत्सु चोपादानकारणसत्त्वे कर्मबन्धलक्षणकार्यसत्त्वमित्यन्वयनियमं प्रदर्शयन्नेव योगवतामपि कर्मबन्धवैचित्र्यमुपादानकारणवैचित्र्यायत्तमेवेति नियमसिद्ध्यर्थं प्रथमं कारणवैचित्र्ये कार्य(र्या)वैचित्र्यमुपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिनां स्थितिनिमित्तकपायोदयाभावात् सामयिकः कर्मबन्ध इति समुच्चयभणनेन बभाण वृत्तिकारः, तेपा च त्रयाणामपि मिथ्यात्वाविरतिकपाययोगप्रमादलक्षणानां पञ्चविधोपादानकारणाना मध्ये केवलयोगस्यैव सत्त्वेन कर्मबन्धोऽपि तत्प्रत्यय एव स च सामयिकसातवेदनीयकर्मबन्धलक्षणः समान एव भवति, विचित्रताहेतुमोहनीयोदयाभावाद्, न पुनरुपशान्तस्येव क्षीणमोहस्यापि जीवघातादिक भवतीति बुद्ध्या समुच्चयेन भणनम्, सर्वांशसाम्यमधिकृत्य समुच्चयेन भणितेरसम्भवाद्, अन्यथोपशान्तस्येव क्षीणमोहस्यापि जीवघातादिहेतुमोहनीयसत्तापि वक्तव्या स्यात्, तथा केवलिवदुपशान्तस्याऽपि सर्वज्ञत्वं वक्तव्यं प्रसज्येत; नहि नारकतिर्यग्नरामराः कर्मबन्धका इत्यादिसमुच्चयभणनेन सर्वेपामपि साम्यं कस्यापि संमतम् । तस्माद्यथा सामान्यतः कर्मबन्धमधिकृत्य नारकादीनां समुच्चयेन भणनं तथा सामयिकसातवेदनीयकर्मबन्धमधिकृत्योपशान्तादीनां समुच्चयेन भणनमित्यत्र प्रासङ्गिके प्रथमाङ्गवृत्तिग्रन्थे नास्माकमनभीप्सितसिद्धिरित्याशङ्कायामाह—

जो पुण इह कत्तारं, नियमा मसगाइजीवमहिकिच्च ॥ भणइ इमं पासंगिय-मइप्पसंगो फुडो तस्स ॥६८॥

[यः पुनरिह कर्तारं, नियमान्मशकादिजीवमधिकृत्य ॥ भणतीदं प्रासङ्गिकं, अतिप्रसङ्गः स्फुटस्तस्य ॥ ६८ ॥]

व्याख्या—'जो पुण'त्ति । यः पुनरिह शैलेश्यवस्थायामवश्यम्भाविन्या जीवविराधनाया कर्तारं नियमान्मशकादिजीवमधिकृत्येदमाचाराङ्गवृत्त्युक्तं प्रासङ्गिकं भणति तद्विराधनाकर्तृमशकादिजीवगतोपादानकर्मबन्धकार्यकारणभावप्रपञ्चप्रदर्शनमात्रप्रसङ्गप्राप्तं वदति, नतु स्वसम्बद्धजीवविराधनाफलाफलवैचित्र्यप्रदर्शनपरम्, तस्य स्फुट एवातिप्रसङ्गः । एवं ह्यप्रमत्तसंयतस्यापि

प्रमादनियतजीवविराधनाकर्तृत्वाभावेन जीवविराधनानिमित्तककर्मबन्धो म्रियमाणजीवगत एव पर्यवस्येद्, नत्वप्रमत्तसंयतनिष्ठ इति कर्मबन्धानुमेयविराधनाया अप्रमत्तसंयतादिषु विचित्राया अभिधानमखिलं व्यधिकरणमेव स्यादिति। किञ्च–अत्र 'कर्मबन्धं प्रति विचित्रता' इत्यत्र 'अत्र' इति निमित्तसप्तम्याश्रयणात् संयतसम्बद्धावश्यम्भाविजीवविराधनानिमित्तमधिकृत्यैव कर्मबन्धविचित्रता वक्तुमुपक्रान्ता, सा च कर्मबन्धाभावकर्मबन्धावान्तरभेदान्यतररूपेति नायोगिनि तद्विचित्रताऽनुपपत्तिः। अत एव–"सेलेसिं पडिवन्नस्स जे सत्ता फरिसं पप्प उद्दायंति मसगादी, तत्थ कम्मबंधो णत्थि। सजोगिस्स कम्मबंधो दो समया। जो अपमत्तो उद्दवेइ तस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठमुहुत्ता। जो पुण पमत्तो न य आउट्टिआए तस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठसवच्छराइं। जो उण आउट्टिआए पाणे उवद्दवेइ तवो वा छेओ वा वेयावडं वा करेइ॥" (शैलेशीं प्रतिपन्नस्य ये सत्त्वाः स्पर्शं प्राप्यापद्रान्ति मशकादयः तत्र कर्मबन्धो नास्ति। सयोगिनः कर्मबन्धो द्वौ समयौ। यः अप्रमत्तोऽपद्रापयति तस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षेणाष्टमुहूर्तानि॥ यः पुनः प्रमत्तो न चाकुट्टया तस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षेणाष्ट संवत्सराणि॥ यः पुनराकुट्टया प्राणिनोऽपद्रापयति तपो वा छेदो वा व्यावृत्तं वा करोतीत्यादि)" इत्याचाराङ्गचूर्णावप्यवश्यम्भाविजीवविराधनानिमित्तक एव कर्मबन्धाभावः कर्मबन्धविशेषश्चायोगिकेवल्यादीनां संयतानां पश्चानुपूर्व्या व्यक्तः प्रतीयते। कर्मबन्धाभावादौ निमित्तत्वं च तत्र स्वसमानाधिकरणोपादानानुरोधेनाऽभिधीयमानं निमित्तमनैकान्तिकमिति सम्प्रदायादविरुद्धम्। तथा च 'सजोगिस्स कम्मबंधो दो समया' इत्यत्र 'तत्र' इत्यस्यावश्यमनुषङ्गात्। तत्र कायस्पर्शं प्राप्य सत्त्वोपद्रवे सयोगिकेवलिनो द्वौ समयौ कर्मबन्ध इति स्फुटार्थप्रतीतावुपशान्तक्षीणमोहयोरपि तत्समानजातीयत्वेन तत्र द्वावेव समयौ कर्मबन्धः स्फुट इति वृत्तावुपशान्तादीनां समुच्चयेन भणन न जीवघातमधिकृत्य, इति यदुच्यते तद्बहुश्रुतत्वयशःक्षतिकरमेव, समुच्चयप्रतियोगिनां

पदार्थानां तुल्यवत्प्रकृतधर्मविशिष्टक्रियान्वयित्वेनैव समुच्चयनिर्वाहाद् । एवं च यथा सिकतादौ घृतादिसंसर्गेऽपि स्नेहाभावान्न बन्धः, बदरचूर्णसक्तुचूर्णादीनां तु चिरकालस्थितिहेतुस्नेहविशेषाभावादल्पकालीनो बन्धः, कणिक्कादीनां तु स्नेहोत्कर्षादुत्कृष्टबन्ध इत्यत्र बदरचूर्णादीनां तुल्यवदेव स्नेहविशेषाभावविशिष्टप्रकृतघृतादिसंसर्गनिमित्तकाल्पकालीनबन्धभवनक्रियान्वयेनैव समुच्चयः प्रतीयते, तथा प्रकृतेऽप्युपशान्तादीना तुल्यवदेव स्थितिनिमित्तकषायाभावविशिष्टप्रकृतजीवघातनिमित्तकसामयिकबन्धभवनक्रियान्वयेनैव समुच्चयोपपत्तेरिति नारकतिर्यग्नरामरा इति दृष्टान्तेन प्रत्येकपदार्थधर्ममादाय समुच्चयखण्डनमपाण्डित्यविजृम्भितमेव, तस्य केनाप्यनभ्युपगतत्वात् । प्रकृतधर्मविशिष्टक्रियान्वयतुल्यतारूपसमुच्चयखण्डने तु समुच्चयतात्पर्यकवाक्यस्यैवानुपपत्तिरिति न किञ्चिदेतत् ॥ ६८ ॥

तदेवमाचाराङ्गवृत्त्यभिप्रायेण यावदयोगिकेवलिनं संयतानामपि कायस्पर्शेनावश्यम्भाविन्या जीवविराधनाया व्यक्तमेव प्रतीतावपि ये 'अयोगिकेवलिन्यवश्यम्भावी मशकादिघातो मशकादिकर्तृको नत्वयोगिकेवलिकर्तृकः'—इति शब्दमात्रेण मुग्धान् प्रतारयन्ति त एवं प्रष्टव्याः–सोऽयमेवंविध एव सयोगिकेवलिनः कथं न भवति ? इति । इत्थं पृष्टाश्च त एवमुत्तर ददते–योगवतो हि केवलिनो जीवरक्षैव भवति, तत्कारणानां शुभयोगानां सत्त्वात् । अयोगिकेवलिनस्तु योगानामेवाभावेन स्वरूपयोग्यतयापि निजयोगजन्यजीवघातसामग्र्या अभाववज्जीवरक्षासामग्र्या अप्यभाव एवेति तत्राह—

जियरक्खा सुहजोगा, जइ तुह इट्ठा सजोगिकेवलिणो ॥ हंदि तया तयभावे, अजोगिणो हुज्ज हीणत्तं ॥६९॥

[जीवरक्षा शुभयोगाद्, यदि तवेष्टा सयोगिकेवलिनः ॥ हन्दि तदा तदभावे अयोगिनो भवेद्धीनत्वम् ॥ ६९ ॥]

'जिअरक्ख'त्ति । जीवरक्षा–जीवघाताभावरूपा, यदि तव मते सयोगिकेवलिन इष्टा, केवलियोगानामेव जीवरक्षाहेतुत्वात्,

हन्दीत्याक्षेपे, तदा तदभावे–योगाभावेन जीवरक्षाऽभावेऽयोगिकेवलिनो हीनत्वं सयोगिकेवल्यपेक्षयाऽपकृष्टत्वं, भवेद् । अयं भावः—जीवघाताभावरूपा जीवरक्षा किं त्वया गुणरूपाऽभ्युपगम्यते, दोषरूपा, उभयरूपा, अनुभयरूपा वा ?, आद्ये तद्गुणवैकल्येनायोगिकेवलिनो हीनत्व दुर्निवारमेव । द्वितीये तु स्वाभ्युपगमस्य हानिर्लोकशास्त्रविरोधश्च । तृतीयश्च पक्षो विहितक्रियापरिणतयोगरूपां जीवरक्षामधिकृत्य विहितक्रियात्वेन गुणत्वं योगत्वेन च दोषत्वमभिप्रेत्य सम्भवदुक्तिकोऽपि स्वाभाविकजीवघाताभावरूपां जीवरक्षामधिकृत्यासम्भवदुक्तिक एव; नहि स गुणो दोषश्चेत्युभयरूपतामास्कन्दतीति । चतुर्थे तु तदभावेऽप्ययोगिकेवलिन इव सयोगिकेवलिनोऽपि न बाधक इति, किं तत्रावश्यम्भाविजीवविराधनानिरासव्यसनितया ? ॥ अथ जीवघाताभावमात्ररूपा जीवरक्षा न गुणः, किन्तु योगजन्यजीवघाताभावरूपा, सा च मशकादिकर्तृकमशकादिजीवघातकालेऽयोगिकेवलिनोऽपि विशिष्टाभावसत्त्वान्नानुपपन्नेति न तस्य तद्गुणवैकल्यम् । न वा सयोगिकेवलिनोऽपि योगात् कदाचिदपि जीवघातापत्तिः, तादृशजीवरक्षारूपातिशयस्य चारित्रमोहनीयक्षयसमुत्थस्य ज्ञानावरणीयक्षयसमुत्थकेवलज्ञानस्येव सर्वकेवलिसाधारणत्वात् संयतानां यज्जीवविषयकाभोगस्तज्जीवरक्षाया नियतत्वाच्च । अत एव सामान्यसाधूनामप्यनाभोगजन्यायामेव विराधनायां परिणामशुद्ध्या फलतोऽवधकत्वमुपदर्शितम् ॥ तथा चोक्तं हितोपदेशमालायां—" णणु कह उवउत्ताण वि, छउमत्थमुणीण सुहुमजिअरक्खा ? ॥ सच्चं तहवि ण वहगा, उवओगवरा जओ भणिअं ॥१॥" एतद्व्याख्या यथा—नन्विति पूर्वपक्षोपन्यासे । छद्मस्थानां विशिष्टातिशयज्ञानरहितानां मुनीनां साधूनामुपयुक्तानामपि सम्यगीर्यासमितानामपि, सूक्ष्माणां चर्मचक्षुषामदृश्यानां जीवानां कथं रक्षासम्भवः ?, आचार्य आह–सत्यमवितथमेतत्, तथापि विशिष्टज्ञानशून्या अपि, यद्युपयोगपराः पूर्वोक्तयुक्त्या चङ्क्रमणप्रवृत्तास्तदा सम्भवत्यपि प्राणिवधे न वधका–न वधकार्य-

पापभाजः ॥ न चैतत्कालपनिकम्, यत 'उच्चालिअंमि पाए' इत्यादिः भणितम् ॥'' यत एव भगवतोऽहिंसातिशयः, अत एव 'अणासवो केवलीणं ठाणं' इति प्रश्नव्याकरणसूत्रे केवलिनां स्थानं केवलिनामहिसाया व्यवस्थितत्वादित्युक्तम्। तथा चतुःशरणप्रकीर्णकेऽपि 'सवजिआणमहिंसं, अरिहंता'–इत्यत्र सर्वे सूक्ष्मबादरत्रसस्थावरलक्षणा ये जीवास्तेषां, न हिंसाऽहिसा तामर्हन्त इति विवृतमिति चेत्, नन्वेवं योगजन्यजीवघाताभावरूपाया जीवरक्षाया भगवतोऽतिशयत्वं स्वीकुर्वाणस्य तव मते सयोगिकेवलिनो योगाज्जीवघातो मा भूद्, अयोगिकेवलिवन्मशकादियोगादेव तत्कायस्पर्शेन मशकादिघातस्तु जायमानः कथ वारणीयः? समानावच्छेदकतासम्बन्धेन तत्र केवलियोगानां प्रतिबन्धकत्वात् स वारणीय इति चेत्। तत्कि प्रतिबन्धकत्वं शुभयोगत्वेन, उत केवलियोगत्वेन, आहोस्वित् क्षीणमोहयोगत्वेन? । नाद्यः, अप्रमत्तसंयतानामपि जीवघातानापत्तेः, तेषामप्यात्माद्यनारम्भकत्वेन शुभयोगत्वात्। न द्वितीयः, केवलियोगत्वेन जीवघातप्रतिबन्धकत्वे क्षीणमोहयोगात् तदापत्तेरप्रतिबन्धात्, सा च तवानिष्टेति। नापि तृतीयः, क्षीणमोहयोगत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वे कल्पनीये आवश्यकत्वाल्लाघवाच्च मोहक्षयस्यैव तथात्वकल्पनौचित्यात्। तथा चायोगिकेवलिनोऽपि कायस्पर्शान्मशकादिव्यापत्त्यभ्युपगमो दुर्घटः स्यादिति। न च सर्वजीवाहिंसालक्षणोऽतिशयोऽहिंसायाः केवलिस्थानत्वं वाऽयोगिकेवलिबहिर्भावेन क्वापि प्रतिपादित-, येन त्वया तत्र व्यभिचारवारणाय क्षीणमोहयोगत्वेन जीवघातप्रतिबन्धकत्वं कल्प्यमानं युक्तिक्षमं स्यादिति सर्वजीवाहिंसादिप्रतिपादनं सकलभावाकरणनियमनिष्ठाभिधानाभिप्रायेणैव नतु हिंसाया अपि सर्वथाऽभावाभिप्रायेण। अनाभोगस्तु न तज्जनको येन तदभावात्तवः स्यादिति तु शतशः प्रतिपादितमेवेति न किञ्चिदेतदिति स्मर्तव्यम्। किंच–मशकादिकर्तृकजीवघातं प्रत्यपि केवलियोगानां प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते तत् केवलं व्यसनितयैव, उत तादृशस्यापि तस्य दोषत्वात्। नाद्यः, व्यसनितामात्रकृतकल्पनाया अनादे-

यत्वाद् । न द्वितीयः, तादृशस्य जीवघातस्य सयोगिकेवलिनो दोषत्वेऽयोगिकेवलिनोऽपि तद्दोषत्वाप्रच्यवनादिति बहुतरमूहनीयम् ॥६९॥

अथ केवलिनो योगा एव रक्षाहेतव इति पराभ्युपगमप्रकार विकल्प्य दूषयन्नाह—

सा तस्स सरूवेणं, वा वावारेण आइमे पक्खे ॥ पडिलेहणाइहाणी, बितिए अ असक्कपरिहारो ॥ ७० ॥

[सा तस्य स्वरूपेण वा व्यापारेण आदिमे पक्षे ॥ प्रतिलेखनादिहानिः, द्वितीये चाशक्यपरिहारः ॥ ७० ॥]

व्याख्या—'**सा तस्स**'त्ति । सा जीवरक्षा, तस्य केवलिनः शुभयोगस्य, स्वरूपेण सत्तामात्रेण, वा अथवा, व्यापारेण–जीवरक्षार्थं स्वस्य रक्षणीयजीवस्य वाऽन्यदेशनयनाभिमुखपरिणामेन । आदिमे प्रथमे, पक्षे प्रतिलेखनादिहानिः । प्रतिलेखना हि केवलिनः प्राणैः संसक्तयैव वस्त्रादेः प्रवचने प्रसिद्धा ॥ तदुक्तमोघनिर्युक्तौ–"पाणेहि उ संसत्ता, पडिलेहा होइ केवलीणं तु ॥ संसत्तमसंसत्ता, छउमत्थाणं पडिलेहा" ॥२५७॥ (प्राणैः संसक्तानां प्रतिलेखा भवति केवलिनां तु । संसक्तासंसक्तानां छद्मस्थानां तु प्रतिलेखा ॥) सा च स्वरूपेणैव योगाना जीवरक्षाहेतुत्वेऽनुपपन्ना स्यात्, तद्व्यापारं विनापि जीवरक्षोपपत्तौ तद्विविक्तीकरणप्रयासस्य पलिमन्थत्वाद्, न च पलिमन्थः केवलिनोऽपि युज्यते, अत एव प्रत्युपेक्षितमपि वस्त्राद्यवश्यम्भाविजीवसंसर्गं जानन् केवली पलिमन्थादेव नाऽनागतमेव प्रत्युपेक्षते, किन्तूपभोगकाल एव प्रत्युपेक्षते इति व्यवस्थितम् ॥ तदुक्तम्–"संसज्जइ धुवमेअं, अपेहिअं तेण पुव पडिलेहे ॥ पडिलेहिअंपि संस–ज्जइत्ति संसत्तमेव जिणा ॥२५८॥" त्ति । एतद्व्याख्या यथा–संसज्यते प्राणिभिः संसर्गमुपयाति, ध्रुवमवश्यम्, एतद्वस्त्रादि, अप्रत्युपेक्षितं सत्, तेन पूर्वमेव केवलिनः प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ति । यदि पुनरपि (यदा तु पुनरेवं) संविद्रते–इदमिदानीं वस्त्रादि, प्रत्युपेक्षितमप्युपभोगकाले संसज्यते, तदा '**संसत्तमेव जिण**'त्ति संसक्तमेव जिनाः केवलिनः प्रत्युपेक्षन्ते,

न त्वनागतमेव, पलिमन्थदोषादिति ॥" 'पडिलेहणाइहाणी' इत्यत्रादिना जीवरक्षाहेतूल्लङ्घनप्रलङ्घनादिव्यापारस्यापि केवलिनो वैयर्थ्यं बोध्यम्, नियतव्यापारेणैव केवलियोगाज्जीवरक्षेति ॥ द्वितीये च पक्षेऽङ्गीक्रियमाणेऽशक्यपरिहारोऽप्यवश्यमभ्युपगन्तव्य इति गम्यम्, सर्वत्र जीवरक्षाव्यापारस्य स्वकायस्य जीवानां वा विविक्तीकरणपर्यवसितस्य दुष्करत्वात् ॥ ७० ॥ तथाहि—

ण हु सक्का काउं जे, इह बायरवाउकायउद्धरणं ॥ केवलिणावि विहारे, जलाइजीवाण य तयंति ॥७१॥

[नैव शक्यं कर्तुमिह बादरवायुकायिकोद्धरणम् ॥ केवलिनाऽपि विहारे जलादिजीवानां च तदिति ॥ ७१ ॥]

व्याख्या—'णहु सक्क'त्ति । 'ण हु'नैव शक्यम्, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, कर्तुं 'जे'इति पादपूरणार्थो निपातः । इह जीवघने लोके, बादरवायुकायिकानां जीवानां स्वत एवोपनिपत्य केवलिनः कायमुपस्पृशतामुद्धरणं—विविक्तदेशसंक्रमणम्, केवलिनापि, च पुनः, विहारे जलादिजीवानां तद्—उद्धरणम्, इतिः वाक्यार्थपरिसमाप्तौ । अयं भावः—केवलियोगव्यापारस्य जीवरक्षाहेतुत्वे यत्र स्वाभावप्रयुक्तं तद्वैकल्यं तत्र तत्सार्थक्यमस्तु, यत्र तु जीवनिरन्तरतयैव जीवविविक्तीकरणमशक्यं, तत्रावश्यम्भाविन्यां जीवविराधनायां जिनस्य तद्योगानां वा को दोषः ? नहि कारणान्तरवैकल्यप्रयुक्तकार्याभावेऽधिकृतकारणस्याशक्ततोद्भावनमधीततर्कशास्त्रा विदधते। इत्थं सति दण्डसत्त्वेऽपि चक्राभावे घटाभावाद्दण्डस्यापि घटाशक्तताया उद्भावनीयत्वप्रसङ्गादिति ॥ अत्र परः शङ्कते—

णणु जिणजोगाउ तहा, जलाइजीवाणऽघायपरिणामो ॥ अचित्तपएसे णं, जह गमणं पुप्फचूलाए ॥७२॥

[ननु जिनयोगात् तथा जलादिजीवानामघातपरिणामः ॥ अचित्तप्रदेशे यथा गमनं पुष्पचूलायाः ॥ ७२ ॥]

व्याख्या-'णणु'त्ति। नन्विति पूर्वपक्षे, यथा पुष्पचूलायाः साध्व्या अवाप्तकेवलज्ञानाया अपि मेघे वर्षत्यपि अतथाविधजलपरिणतिविशेषाद्, अचित्तप्रदेशे खे, गमन सम्पन्नम्, तथा विहारेऽपि जलादिजीवानां जिनयोगादघातपरिणामोऽस्तु, नह्येवमस्माक काप्यनुपपत्तिरस्ति, केवलिमात्रजीवमात्रयोर्घात्यघातकसम्बन्धाभावे केवलिनोऽघातकस्वभावेन जीवानां चाघात्यस्वभावेन तथैव केवलिनो विहारादिनिर्वाहो भवति, यथा न पृथिव्यादिजीवानां स्वयोगेन भयादिलेशोऽपि सम्पद्यत इति ॥ अत्र समाधानमाह—

भण्णइ सव्वं एय, भणियं णु तए परोप्परविरुद्धं ॥ दिट्ठंतियदिट्ठंता, जमेगरूवा ण संपन्ना ॥ ७३ ॥

[भण्यते सर्वमेतद् भणितं नु त्वया परस्परविरुद्धम् ॥ दार्ष्टान्तिकदृष्टान्तौ यदेकरूपौ न सम्पन्नौ ॥ ७३ ॥]

व्याख्या—'भण्णइ'त्ति। भण्यते-अत्रोत्तरं दीयते, सर्वमेतत्, 'नु' इति वितर्के, त्वया परस्परविरुद्धं भणितम्, यद् यस्माद्, दार्ष्टान्तिकदृष्टान्तौ नैकरूपौ सम्पन्नौ ॥ ७३ ॥ तथाहि—

एगत्थ जलमचित्तं, अण्णत्थ सचित्तयंति महभेओ॥ अफुसिअगमणं तीए, ण सुअं अण्णस्स व जिणस्स॥७४॥

[एकत्र जलमचित्तमन्यत्र सचित्तमिति महाभेदः ॥ अस्पृष्टगमनं तस्या न श्रुतमन्यस्य वा जिनस्य ॥ ७४ ॥]

व्याख्या-'एगत्थ'त्ति। एकत्र पुष्पचूलाया वर्षति मेघे गमने, अचित्त जल साक्षादेव शास्त्रे प्रोक्तम्, अन्यत्र केवलिनां विहारादौ नद्युत्तारे च जलं, सचित्तमिति महान् तयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्भेदः। नहि केवलिनो विहारादावनियतनद्युत्तारे निरन्तरप्रवाहपतितं तज्जलमचित्तमेवेति क्वाप्युक्तमस्ति। अथैवमप्युक्तं नास्ति 'यदुत तीर्थकृद्व्यतिरिक्तोऽमुकनामा केवली नदीमुत्तीर्णवानिति'

तीर्थकृतस्तु सुरसञ्चारितकनककमलोपरि गमनागमनपरिणतस्य जलस्पर्शस्याप्यभावात् तथापि केवलिनो नद्युत्तरणसम्भावनायामचित्तप्रदेशैरेव नद्युत्तारः कल्प्यते, नहि स विविच्य व्यवहर्त्तुं परिहर्त्तुं च जानन् सचित्तप्रदेशैर्नदीमुत्तरति; केवलित्वहानेः। तस्मात्पुष्पचूलादिदृष्टान्ते नद्यादौ यथास्थितमेव जलं जलवायुसूर्यकिरणादिलक्षणस्वकायपरकायशस्त्रादिना तथाविधकालादिसामग्रीयोगेन कदाचिदचित्ततया परिणमति; पुनरपि तदेव जलं सचित्तभवनहेतुकालादिसामग्रीयोगेन सचित्ततयाऽपि परिणमति। तत्र दृष्टान्तः सम्मूर्च्छिममनुष्योत्पत्तिस्थानान्येव, परमेतत्परिणतिस्तथाभूता केवलिगम्येति केवली तथापरिणतमेव जलं निश्चित्य नदीमुत्तरतीति कल्प्यत इति चेत्, सर्वमेतदभिनिवेशविजृम्भितम्। स्वकर्णश्रवणमात्रेण केवलिनो नद्युत्तारस्य निषेद्धुमशक्यत्वाद्। अन्ततोऽनन्तानां जलमध्येऽन्तकृत्केवलिनामपि श्रवणेन सर्वत्र जलाचित्तताकल्पनस्याप्रामाणिकत्वात्॥ किञ्च सर्वत्र स्वोत्तरणादिकाले जलमचित्ततया परिणतं तदाश्रितपनकत्रसादिजीवाश्चापक्रान्ता इति किं तव कर्णे केवलिनोक्तम्? येनेत्थं कल्पयसि। पुष्पचूलादृष्टान्तेन तथा कल्पयामीति चेत्, तत्किं दृष्टान्तमात्रेण साध्यं साधयन्नपूर्वनैयायिकत्वमात्मनः प्रकटीकर्त्तुमुद्यतोऽसि। केवलियोगानामव्यातकत्वान्यथानुपपत्त्यैव तथा कल्पयामीति चेत्, तर्हि जलाचित्तताकल्पने तव का व्यग्रमनिता? सचित्तमेव जलं केवलियोगमवेक्ष्याघात्यस्वभावं त्वया किं न कल्प्यते?, न खलु तव श्रुतपरम्पराङ्कुशरहितस्यादृष्टार्थकल्पने बाधकमस्ति, न चेदेवं तदा सचित्तवायुस्पर्शेऽपि तव केवलियोगानामघातकत्वसमर्थनं कथं स्याद्? इति। अथ वायुरपि सचित्ताचित्ततया प्रवचने द्विप्रकार उक्त इति सचित्तवायुस्पर्शमपि भगवतो नाभ्युपगच्छामः, किं त्वचित्तवायुस्पर्शमेव, अन्यथा तु भगवत्कायस्पर्शेनापि पृथिव्यादीनां भयोत्पत्तिः स्याद्, न चैवं सम्भवति। यदसाकमभ्युपगमः—"पुढवीपमुहा जीवा, उप्पत्तिप्पमुहभाइणो हुंति॥ जइ केवलिजोगाओ, भयाइलेसंपि ण लहंति॥ १॥" (पृथिवीप्रमुखा

जीवा उत्पत्तिप्रमुखभाजो भवन्ति ॥ यथा केवलियोगाद् भयादिलेशमपि न लभन्ते ॥) इति चेत्, हन्तैवं सचित्तास्पर्श एव भगवतोऽतिशयः प्राप्तः, तत्राह–सचित्तस्यास्पर्शो न पुनर्जिनातिशयः सिद्धः, भक्तिभरनम्रमनुष्यादिस्पर्शस्य भगवति सार्वजनीनत्वाद्। अथ न सचित्तस्पर्शाभावमात्रं भगवतोऽतिशयः, किन्तु यादृशमचित्तस्पर्शः साधूनां निषिद्धस्तादृशस्पर्शाभाव एवेति सचित्तजलादिस्पर्शाभावो भगवतोऽतिशयसिद्ध इति नानुपपत्तिरिति ॥ ७४ ॥ तत्राह–

सोऽइसओ कायकओ, जोगकओ वा हविज्ज केवलिणो ॥ दुहओ वण्णियपुत्ता-इणायओ पायडविरोहो ॥७५॥

[सोऽतिशयः कायकृतो योगकृतो वा भवेत्केवलिनः ॥ उभयतोऽप्यन्निकापुत्रादिज्ञाततः प्रकटविरोधः ॥ ७५ ॥]

व्याख्याः–'सोऽसओ' त्ति। स जलादिस्पर्शाभावलक्षणोऽतिशयः, कायकृतः–कायनिष्ठफलविपाकप्रदर्शको, योगकृतो वा–योगनिष्ठफलविपाकप्रदर्शको वा, केवलिनो भवेद्। उभयतोऽप्यन्निकापुत्रादिज्ञानतः प्रकटविरोध एव। नह्यन्निकापुत्र-गजसुकुमारादीनामन्तकृत्केवलिना सयोगिनामयोगिनां वा सचित्तजलतेजस्कायिकजीवादिस्पर्शस्त्वयापि नाभ्युपगम्यते; केवलं योगवतामयोगवतां वा तेषामन्तकृत्केवलिनां कायस्पर्शात्तज्जीवविराधनाऽविशेषेण 'घुणाऽक्षरन्यायेन' स्वयमेव भवता स्वग्रन्थे क्वापि लिखिता; स्वाभ्युपगमरीत्या तु त्रयोदशगुणस्थानमुल्लङ्घ्य चतुर्दशगुणस्थाने वक्तुमुचितेति विशेषः। परतन्त्रस्यैवायं जलादिस्पर्शः केवलिनो नतु स्वतन्त्रस्येति चेद्। नेय भाषा भवतस्त्राणाय " खीणम्मि अंतराए, णो से य असक्कपरिहारो ॥त्ति॥ " वाङ्मात्रेणाशक्यपरिहाराभावमावेदयत आयुष्मतः केवलिनः परतन्त्रतयापि जलादिस्पर्शतज्जीवविराधनयोरभ्युपगन्तुमनुचितत्वाद्, अन्यथा केवली यत्र स्थितस्तत्रागन्तुकवायोरपि सचित्तताया अनिषेधप्रसङ्गात्(ङ्गः), तस्मात् सचित्तजलादिस्पर्शेन केवलिनः सयोगस्याप्यवश्यम्भाविनी जीवविराधना

वा स्वीक्रियताम्, तद्योगाक्रान्तानामपि वा जीवानामघातपरिणाम एव (मो वा) स्वीक्रियता नतु तृतीया गतिरस्ति। तत्र च प्रथमः पक्षोऽस्मन्मतप्रवेशभयादेव त्वयानाभ्युपगन्तव्य इति द्वितीयः पक्षस्तवाभ्युपगन्तुमवशिष्यते ॥७५॥ तत्राह—

एवं सव्वजिआणं, जोगाओ च्चिय अघायपरिणामे ॥ केवलिणो उल्लंघण-पल्लंघाईण वेफल्लं ॥ ७६ ॥

[एवं सर्वजीवाना योगादेवाघातपरिणामे ॥ केवलिन उल्लङ्घनप्रलङ्घनादीनां वैफल्यम् ॥ ७६ ॥]

व्याख्या—'एवं'ति। एवं जलादिस्पर्शाभावाभ्युपगमस्य विरोधग्रस्तत्वे, **सर्वजीवानां केवलिनो योगादेवाघातपरिणामे** स्वीक्रियमाणे, **उल्लङ्घनप्रलङ्घनादीनां** व्यापाराणा, **वैफल्यं** प्रसज्यते। स्वावच्छिन्नप्रदेशवर्त्तिजीवेषु केवलियोगक्रियाजनितात् केवलियोगजन्यजीवघातप्रतिबन्धकपरिणामादेव जीवघाताभावोपपत्तौ हि जीवाकुलां भूमिं वीक्ष्य केवलिन उल्लङ्घनादिकमकर्त्तव्यमेव स्यात्, प्रत्युत तेषु स्वयोगव्यापार एव कर्त्तव्यः स्यात्, तस्य जीवरक्षाहेतुत्वादिति महदसमञ्जसमापद्यते। यदि चोल्लङ्घनादिव्यापारः शास्त्रसिद्धः केवलिनोऽप्यभ्युपगन्तव्यस्तदा केवलियोगानां न स्वरूपतो रक्षाहेतुत्वं, किन्तु नियतव्यापारद्वारेति तदविषयावश्यम्भाविजीवविराधना दुर्निवारा। यदि च केवलियोगानां स्वरूपत एव जीवरक्षाहेतुत्वम्, उल्लङ्घनादिव्यापारश्च न तस्य जीवरक्षामात्रप्रयोजनः, किन्तु स्वव्यवहारानुपातिश्रुतव्यवहारपरिपालनमात्रप्रयोजन इति विभाव्यते, तदा तादृशादपि ततो जीवानामपसरणं भवति नवेति वक्तव्यम्?। आद्ये साऽपसरणक्रिया भयपूर्विकेति 'केवलियोगात्पृथिव्यादिजीवा भयलेशमपि न प्राप्नुवन्ति' इति स्वप्रतिज्ञाव्याघातः। अन्त्ये चादृष्टपरिकल्पना, नह्युल्लङ्घनादिक्रिययोल्लङ्घ्यमानादिजीवानामनपसरणं क्वापि दृष्टमिति। किंच-एवमादिपदग्राह्यप्रतिलेखनावैफल्यं दुरुद्धरमेव, जीवसंसक्तवस्त्रादेर्विविक्तीकरणेनैव तत्साफल्यसम्भवाद्। न च तत्केवलियोगाज्जीवानामनपसरणस्वभावकल्पने निर्वहतीति ॥७६॥

एवं चापसरणादिद्वारं विना स्वरूपत एव केवलियोगानां जीवरक्षाहेतुत्वे उल्लङ्घनादिव्यापारवैफल्यापत्तौ व्यवस्थापितायां केवलियोगव्यापारकाले जीवानां स्वत एवापसरणस्वभावत्वं यत्परेण कल्पितं तदपि निरस्तमित्याह—

एएण मच्छियाई, सहावकिरिआपरायणा हुंति॥ ण हु जिणकिरियापेरिअ–किरियं जंतित्ति पडिसिद्धं ॥७७॥

[एतेन मक्षिकादयः स्वभावक्रियापरायणा भवन्ति ॥ न खलु जिनक्रियाप्रेरितक्रियां यान्तीति प्रतिपिद्धम् ॥ ७७ ॥]

व्याख्या–'एएण मच्छिआइ'त्ति एतेनोक्तहेतुना, मक्षिकादयो मक्षिकापिपीलिकादंशमशकादयः, स्वभावक्रियापरायणाः सहजसमुत्थगमनादिक्रियाकारिणो, भवन्ति, 'णहु' नैव, जिनस्य या क्रिया गमनागमनादिरूपा, तया प्रेरिता–तन्निमित्तका या क्रिया तां, यान्ति–केवलियोगहेतुकस्वशरीरसङ्कोचमपि न कुर्वन्तीत्यर्थः । केवलिनो हि गमनागमनादिपरिणतौ पिपीलिकादयः क्षुद्रजन्तवः स्वत एवेतस्ततोऽपसरन्ति, अपसृता वा भवन्ति । यदि च कदाचिदसातवेदनीयकर्मोदयेन दंशमशकादयो नापसरन्ति, तदा केवली तत्कर्मक्षयनिमित्तं तत्कृतवेदनां सम्यगधिसहते, केवलज्ञानोत्पत्तिसमय एव तेनैव प्रकारेणात्मीयासातवेदनीयकर्मक्षयस्य दृष्टत्वात् । नतु केवलियोगजनितां किमपि क्रियां कुर्वन्ति ॥ तदिदमाह—"तेणं मच्छिअपमुहा, सहावकिरियापरायणा हुंति ॥ ण य जिणकिरियापेरिअ–किरियालेसंपि कुव्वंति" ॥१॥ (तेन मक्षिकाप्रमुखाः स्वभावक्रियापरायणा भवन्ति ॥ न च जिनक्रियाप्रेरितक्रियालेशमपि कुर्वन्ति) ॥ इति एतत्, प्रतिपिद्ध, स्वत एव जीवानामपसरणस्वभावत्वे केवलिन उल्लङ्घनादिव्यापारवैफल्यापत्तेर्वज्रलेपत्वाद् । यच्च केवलियोगव्यापारमपेक्ष्य जीवानां स्वतोऽपसरणस्वभावत्वकल्पनं तदपां दहनान्तिके दाहजननस्वभावकल्पनसदृशमेव । अथ केवलिनः प्रतिलेखनादिव्यापाराज्जीवानामपसरणस्य प्रमाणसिद्धत्वात् केवलिक्रियानिमित्तकं क्रियामात्रं न तेपा प्रतिपिध्यते, किन्तु भयपूर्विका क्रिया

प्रतिपित्सते; नह्यभयदस्य भगवतः प्राणिना साक्षात्त्रासजनकव्यापाररूपं भयदानं सम्भवति; परेषा भापनस्य भयमोहनीयाश्रवत्वात्, केवलिक्रियातः प्रतिलेखनादिव्यापारकाले या प्राणिनामपसरणादिक्रिया भवति सा न भयमूलेति स्वत एवेत्युच्यत इति चेत्। न, भयं विनैव केवलियोगात् सत्त्वापसरणकल्पने हिंसा विना तन्मरणकल्पनेऽपि बाधकाभावाद्, अदृष्टकल्पनाया उभयत्र तुल्यत्वाद्। आवश्यकक्रियावश्यम्भाविना च प्राणिभयेन च यदि भयमोहनीयाश्रवभूतं भापनमुच्यते, तदा तव मतेऽपि सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहयोर्द्रव्यहिंसाऽभ्युपगमेन भापनावश्यम्भावाद् भयमोहनीयकर्मबन्धसम्भवे षड्विधबन्धकत्वमेकविधबन्धकत्वं च भज्येत। न च जानतो भयप्रयोजकव्यापाररूपमेव भापनं भयमोहनीयाश्रव इति नाय दोष इति वाच्यम्, जानतोऽपि भगवतो योगात् त्रिपृष्टवासुदेवभवविदारितसिंहजीवस्य पलायननिमित्तकभयश्रवणात्। यत्तु तस्य भयहेतवो न श्रीमन्महावीरयोगाः, किंतु तदीययोगा एव, यथाऽयोगिकेवलिशरीरान्मशकादीनां व्यापत्तौ मशकादीनां योगा एव कारणमिति कल्पनं तत्तु स्फुटातिप्रसङ्गग्रस्त, शक्यं ह्येवं वक्तुं, साधुयोगादपि न केषामपि भयमुत्पद्यते, किन्तु स्वयोगादेवेति। अथ भगवत्यभयदत्वं प्रसिद्धम्, तदुक्तं शक्रस्तवे 'अभयदयाणं'ति। एतद्वृत्त्येकदेशो यथा "प्राणान्तिकोपसर्गकारिष्वपि न भयं दयन्ते, यद्वाऽभया सर्वप्राणिभयत्यागवती दया कृपा येषा तेऽभयदयास्तेभ्य इति"। तन्निर्वाहार्थं केवलियोगादन्येषा न भयोत्पत्तिरिति कल्प्यते, साधुषु च तथाकल्पने न प्रयोजनमस्तीति चेद्, न। अस्मिन्नप्यर्थे सम्यग्व्युत्पन्नोऽसि?, किं न जानासि? संयमस्यैवाभयत्वं येन संयमिना संयमप्रामाण्यादेवान्यभयाजनकयोगत्वं न कल्पयसि। न जानामीति चेत्, तर्हि "तं नो करिस्सामि समुट्ठाए मंता मइमं अभयं विदित्ता" इत्याचाराङ्गसूत्र एवाभयपदार्थं पर्यालोचय येनाज्ञाननिवृत्तिः स्याद्, "अविद्यमानं भयमस्मिन् सत्त्वानामित्यभयः संयमः" इति ह्युक्तं वृत्ताविति ॥७७॥ परमतस्यैवोपपादकान्तर निराकरोति–

जंपि मयं णारंभो, लद्धिविसेसाउ चेव केवलिणो ॥ तं पि इमीइ दिसाए, णिराकयं होइ णायव्वं ॥७८॥

[यदपि मतं नारम्भः लब्धिविशेषादेव केवलिनः ॥ तदप्यनया दिशा निराकृतं भवति ज्ञातव्यम् ॥ ७८ ॥]

व्याख्या—'ज पि मयं'ति । यदपि मतं लब्धिविशेषादेव केवलिनो नारम्भः, प्रसिद्धं खल्वेतद्–यदुत घातिकर्मक्षयोपशमावाप्तजलचारणादिनानालब्धिमतां साधूनां नदीसमुद्रादिजलज्वलनशिखोपवनवनस्पतिपत्रपुष्पफलादिकमवलम्ब्य यदृच्छया गमनागमनादिप्रगयणानामपि जलजीवादिविराधना न भवतीति। तदुक्तं 'खीरासवमहुआसव' इत्यादिचतुःशरण२४गाथावृत्तौ–"चारणेत्यादि यावत्केचित्तु पुष्पफलपत्रहिमवदादिगिरिश्रेणि–अग्निशिखानीहारावश्यायमेघवारिधारामर्कटतन्तुज्योतीरश्मिपवनलताद्यालम्बनेन गतिपरिणामकुशलाः, तथा वापीनद्यादिजले तज्जीवानविराधयन्तो भूमाविव पादोत्क्षेपनिःक्षेपकुशला जलचारणा इत्यादि"। कथं तर्हि घातिकर्मक्षयावाप्तलब्धिभाजः केवलिनो जीवविराधनासम्भवः ? एकस्या अपि क्षायिकलब्धेः सर्वक्षायोपशमिकलब्ध्यात्मकत्वेन क्षायोपशमिकलब्धिसाध्यस्य जीवरक्षादिकार्यमात्रस्य साधकत्वात् । सा च क्षायिकी लब्धिर्भगवतो जीवरक्षाहेतुरनुत्तरचारित्रान्तर्भूता द्रष्टव्या। तत्प्रभावादेव न केवलिनः कदाप्यारम्भ इति । तदपि मतमनया दिशा निराकृतं ज्ञातव्य भवति, लब्धिस्वभावादेव जीवरक्षोपपत्तौ केवलिन उल्लङ्घनादिव्यापारवैयर्थ्यापत्तेरिति भावः ॥ ७८ ॥ दिग्दर्शितमेव दूषण विकल्प्य स्फुटीकुर्वन्नाह—

तं खलु उवजीवंतो, पमायवं तुह मए जिणो हुज्जा ॥ सेलेसीए वि फलं, ण तस्स उवजीवणाभावे ॥ ७९ ॥

[तं खलूपजीवन् प्रमादवांस्तव मते जिनो भवेत् ॥ शैलेश्यामपि फलं न तस्योपजीवनाभावे ॥ ७९ ॥]

व्याख्या–'तं खलु'त्ति । तं लब्धिविशेषमुपजीवन्–जीवरक्षार्थं व्यापारयन्, खलु निश्चितं, जिनः केवली, तव मते प्रमा-
दवान् स्याद्, 'लब्ध्युपजीवनं हि प्रमत्तस्यैव भवतीति' शास्त्रमर्यादा । अस्तु तर्हि स लब्धिविशेषोऽनुपजीवित एव जीवरक्षाहेतुः,
क्षायिकीना हि लब्धीनां न प्रयुञ्जना भवति, तासामनवरतमेकस्वभावेनैव सर्वकालीनत्वात्, तासां च फलवत्त्वमपि तथैव । तदितराणां
तु कादाचित्कत्वेन फलवत्त्वात् प्रयुञ्जनेति विशेषः–इत्येव ह्यसन्मतमित्यत्राह–तस्य लब्धिविशेषस्य, उपजीवनाभावे तु शैलेश्या-
मपि फल जीवरक्षारूपं नास्ति, तदानीं तत्कायस्पर्शेन मशकादिव्यापत्तेस्त्वयापि स्वीकारात्, किं पुनः सयोगिकेवलिनि वाच्यम्;
तथा चोपजीवनानुपजीवनविकल्पव्याघातात् तादृशलब्धिविशेषकल्पनमप्रामाणिकमेवेति भावः ॥ ७९ ॥

अथ चारित्रमोहनीयकर्मक्षयजनिता जीवरक्षाहेतुर्लब्धिर्योगगतैव कल्प्यत इति शैलेश्यवस्थाया नोक्तदोष इत्याशङ्कायामाह—

जोगगया सा लद्धी, अजोगिणो खाइगावि जइ णत्थि ॥ ता तक्कम्मस्सुदओ, तस्सेव हवे पराहुत्तो ॥८०॥

[योगगता सा लब्धिः, अयोगिनः क्षायिक्यपि यदि नास्ति ॥ तदा तत्कर्मण उदयः, तस्यैव भवेत्परावृत्तः ॥ ८० ॥]

व्याख्या–'जोगगय'त्ति । सा जीवरक्षाहेतुः, लब्धिर्योगगतेति कृत्वा, क्षायिक्यपि यदि अयोगिनोऽयोगिकेवलिनो,
नास्ति, तदा तस्यैवायोगिकेवलिन एव, तत्कर्मणश्चारित्रमोहनीयकर्मण, उदयः परावृत्तो भवेत्, चारित्रमोहक्षयकार्याभावस्य
चारित्रमोहोदयव्याप्यत्वादिति भावः ॥ किंच–यदि लब्ध्युपजीविजलचारणादिषु परिदृष्टा जीवविराधनाऽभावलब्धिरनुपजीव्या यदि
केवलिनि कल्प्यते, तदा तादृशजङ्घाचारणादिषु परिदृष्टाऽतिशयचरणलब्धिरप्यनुपजीव्या केवलिनि कस्मान्न कल्प्यते ?, तस्या उपजी-
व्यत्वनियमान्न तत्कल्पनं केवलिनि कर्तुं शक्यत इति चेद्, तदेतदन्यत्रापि तुल्यमिति स्वयमेव विभावय । तस्मान्नियतयोगव्यापारा-

देव भगवतां जीवरक्षा, नतु स्वरूपत इत्यवश्यम्भाविन्या जीवविराधनायां न किञ्चिद्बाधकमिति स्थितम् ॥८०॥ नन्वेवमवश्यम्भाविन्याऽपि जीवविराधनया केवलिनोऽष्टादशदोषरहितत्वं न स्याद्, हिंसादोषस्य तदवस्थत्वाद्। न 'देवोऽष्टादशदोषरहित एव'—इत्यत्राप्येकान्तवादो जैनानामनिष्ट इति शङ्कनीयम्, अनेकान्तवादस्याप्यनेकान्तत्वेनात्रैकान्ताभ्युपगमेऽपि दोषाभावादित्याशङ्कायामाह—

दव्वारंभं दोसं, अट्ठारसदोसमज्झयारम्मि ॥ जो इच्छइ सो इच्छइ, णो दव्वपरिग्गहं कम्हा ॥ ८१ ॥

[द्रव्यारम्भं दोषं, अष्टादशदोषमध्ये ॥ य इच्छति स इच्छति न द्रव्यपरिग्रहं कस्मात् ॥ ८१ ॥]

'दव्वारंभ'त्ति। अष्टादशदोषमध्ये यो द्रव्यारम्भं दोषमिच्छति, स द्रव्यपरिग्रहं दोष. कस्मान्नेच्छति?। तथा च धर्मोपकरणसद्भावाद् द्रव्यपरिग्रहेण यथा न दोषवत्त्वं तथा द्रव्यारम्भेणापि न दोषवत्त्वम्, भावदोषविगमादेव भगवति निर्दोषत्वव्यवस्थितेरिति भावनीयम्। यच्चोक्तं निर्दोषत्वे भगवतो नानेकान्त इति, तदसद्; दोषविभागकृतानेकान्तस्य तत्राप्यविरोधाद्। यच्चानेकान्तस्यानेकान्तत्वमधिकरणानियमापेक्षयोद्भावितं तत्केनाभिप्रायेण? इति वक्तव्यम्, अन्ततः स्वपररूपापेक्षयाऽप्यनेकान्तस्य सर्वत्र सम्भवाद्, अत एवात्मानात्मापेक्षया सर्वत्रानेकान्तो वाचकपुङ्गवेनोक्त प्रशमरतौ॥ "द्रव्यात्मेत्युपचारः, सर्वद्रव्येषु नयविशेषेण॥ आत्मादेशादात्मा, भवत्यनात्मा परादेशात्॥२०२॥ इति। अनेकान्तस्यानेकान्तत्वं तु स्याद्वादाङ्गसप्तभङ्गीवाक्यघटकैकतरभङ्गावच्छेदकरूपाऽपेक्षया व्यवस्थितम्॥ अत एव॥ "भयणा वि हु भइअव्वा, जह भयणा भयइ सव्वदव्वाइं॥ एवं भयणाणियमो वि, होइ समयाविराहणया (रोहेण)॥२७॥"त्ति [टी० यथा भजना अनेकान्तो भजते सर्ववस्तूनि तदतत्स्वभावतया ज्ञापयति, तथा भजनानेकान्तोपि भजनीयोऽनेकान्तोऽप्यनेकान्त इत्यर्थः। नयप्रमाणापेक्षया एकान्तश्चानेकान्तश्चेति। एव ज्ञापनीय एवं च भजनाऽनेकान्तः सम्भवति

नियमश्चैकान्तश्च सिद्धान्तस्य "रयणप्पभा सिय सासया सिय असासया इति" एवमनेकान्तप्रतिपादकं स्यादित्यादि तृतीयकांडे] सम्मति-गाथायां भजनाऽभजनायाः सम्यगाऽविराधना। "इमा णं भंते! रयणप्पभा पुढवी किं सासया असासया?, गोयमा! सिय सासया, सिअ असासया" इति। स्याद्वाददेशनाया द्रव्यार्थतया शाश्वत्येव, पर्यायार्थतया त्वशाश्वत्वेनेत्यधिकृतभङ्गरूपनिर्द्धारणापेक्षया वृत्तौ व्याख्याता। निक्षेपादिप्रपञ्चोऽपि हि सर्वत्र स्याद्वादघटनार्थमेव, यतः "प्रस्तुतार्थव्याकरणादप्रस्तुतार्थापाकरणाच्च निक्षेपः फलवानुच्यते" ततश्च स्याद्वादसिद्धिरिति। अत एव सर्वत्रौत्सर्गिकी स्याद्वाददेशनैवोक्तेति सम्मत्यादिग्रन्थानुसारेण सूक्ष्ममीक्षणीयम् ॥ ८१ ॥

अथ य एवमवश्यम्भाविन्याऽपि जीवविराधनया सद्भूतदोषमुत्प्रेक्ष्य भगवतोऽसद्दोषाध्यारोपणं कुर्वन्ति तेषामपायमाविष्कुर्वन्नाह—

मिच्छादोसवयणओ, संसाराडविमहाकडिल्लंमि ॥ जिणवरणिंदारसिआ, भमिहिंति अणोरपारम्मि ॥ ८२ ॥

[मिथ्यादोषवचनतः संसाराटवीमहागहने। जिनवरनिन्दारसिका, भ्रमिष्यन्ति अनर्वाक्पारे ॥ ८२ ॥]

'मिच्छादोसवयणओ'त्ति। मिथ्यादोषवचनाद्-असद्भूतदोषाभिधानाद्, जिनवरनिन्दारसिका अभव्या दूरभव्या वा जनाः, संसाराटवीमहागहनेऽनर्वाक्पारे भ्रमिष्यन्ति, तीव्राभिनिवेशेन तीर्थकराशातनाया दुरन्तानन्तसंसारहेतुत्वात्। उक्तञ्च "तित्थयरपवयणसुअ, आयरिय गणहर महिड्ढीयं॥ आसायंतो बहुसो, अणंतसंसारिओ होइ॥१॥" इत्यादि॥ अथ केवलि-छद्मस्थलिङ्गविचारणया न केवलिनोऽवश्यम्भाविनी विराधना सम्भवतीति व्यामोहोऽपि न कर्त्तव्यः, सम्यग्विचारपर्यवसानत्वात्तस्य, इत्यभिप्रायवानाह-

जोवि य जायइ मोहो, छउमत्थजिणाण लिंगवयणाओ॥ उवउत्तस्स ण चिट्ठइ, सोवि य परमत्थदिट्ठीए॥८३॥

[योऽपि च जायते मोहः, छद्मस्थजिनयोर्लिङ्गवचनात् ॥ उपयुक्तस्य न तिष्ठति सोऽपि च परमार्थदृष्टौ ॥ ८३ ॥]

'जो विर्यत्ति'। योऽपि च छद्मस्थजिनयोर्लिङ्गवचनात् स्थानाङ्गस्थात्, मोहो जायते दुर्व्याख्यातुर्व्याख्यां शृण्वतामिति शेषः, सोऽपि परमार्थदृष्टावुपयुक्तस्य न तिष्ठति, अपण्डितव्याख्याकृतभ्रमस्य पण्डितकृतव्याख्याऽवधारणमात्रनिवर्त्तनीयत्वादिति भावः। तत्र छद्मस्थकेवलिलिङ्गवचनमित्थं स्थानाङ्गे व्यवस्थितम्–"सत्तहि ठाणेहि छउमत्थं जाणेज्जा। तंजहा–पाणे अइवइत्ता भवति१, मुसं वदित्ता भवति२, अदिन्नमादित्ता भवति३, सद्दफरिसरसरूवगंधे आसाइत्ता भवति४, पूआसक्कारमणुवूहित्ता भवइ५, 'इमं सावज्जं'ति पण्णवेत्ता पडिसेवेत्ता भवति६, णो जहावादी तहाकारी यावि भवति७॥ सत्तहिं ठाणेहि केवली जाणिज्जा। तंजहा–णो पाणे अइवाइत्ता भवइ, जाव जहावाई तहाकारी यावि भवइ" इति। एतद्वृत्तिर्यथा–"भयं च छद्मस्थस्यैव भवति, स च यैः स्थानैर्ज्ञायते तान्याह–'सत्तहिं ठाणेहिं' इत्यादि। सप्तभिः स्थानैर्हेतुभूतैश्छद्मस्थं जानीयात्। तद् यथा–प्राणानतिपातयिता–तेषां कदाचिद् व्यापादनशीलो भवतीति। इह च प्राणातिपातनमिति वक्तव्येऽपि धर्मधर्मिणोरभेदादतिपातयितेति धर्मी निर्दिष्टः। प्राणातिपातनाच्छद्मस्थोऽयमित्यवसीयते,केवली हि क्षीणचारित्रावरणत्वान्निरतिचारसंयमत्वादप्रतिषेवित्वान्न कदाचिदपि प्राणानामतिपातयिता भवति इत्येवं सर्वत्र भावना कार्या तथा मृषा वदिता भवति। अदत्तमादाता–ग्रहीता भवति। शब्दादीनास्वादयिता भवति। पूजासत्कारौ–पुष्पार्चनवस्त्राद्यर्चने, अनुबृंहयिता-परेण स्वस्य क्रियमाणस्य तस्यानुमोदयिता तद्भावे हर्षकारीत्यर्थः। तथेदमाधाकर्मादि सावद्यं सपापमित्येवं प्रज्ञाप्य तदेव प्रतिषेविता भवति। तथा सामान्यतो नो यथावादी तथाकारी–अन्यथाऽभिधायान्यथा कर्त्ता भवति। चापीति समुच्चये। एतान्येव विपर्यस्तानि केवलिगमकानि भवन्ति। इत्येतत्प्रतिपादनपरं केवलिसूत्रं सुगममेवेति॥"

अत्रेयं परस्य प्रक्रिया—छद्मस्थसंयतः परीक्षावसरेऽप्रमत्त एव पक्षीकर्त्तव्यः, तत्रैव चक्षुःसूक्ष्मनिपातमपि सूत्रोक्तयतनया कुर्वाणे 'किमयं छद्मस्थ उत केवली' इति संशये सति छद्मस्थतासाधनाय लिङ्गापेक्षोपपत्तेः, उक्तस्वरूपरहितस्य तु निद्राविकथादिप्रमादवतश्छद्मस्थत्वेन संशयाभावान्न परीक्षाया प्रवेश इति न तस्य पक्षत्वम्, आह च—"छउमत्थो पुण केवलि-कप्पो अपमत्तसंजओ णेओ ॥ सो चिय संजमजोगे, उवउत्तो सुत्तआणाए ॥१॥" त्ति । (छद्मस्थः पुनः केवलिकल्पः अप्रमत्तसंयतो ज्ञेयः ॥ सोपि च संयमयोगे, उपयुक्तः सूत्राज्ञया ॥) लिंगानि च तत्र पञ्चमहाव्रतातिक्रमापवादानाभोगविपयसप्तस्थानप्रतिपादितानि द्रव्यप्राणातिपातादिरूपाण्येव ग्राह्याणि, ननु भावप्राणातिपातादिरूपाण्यपि, तेषा छद्मस्थज्ञानागोचरत्वेन लिङ्गत्वाभावाद् । लिङ्गं हि छद्मस्थज्ञानहेतवे प्रयुज्यते, तच्च ज्ञातमेव ज्ञापकं नाज्ञातमपीति, तानि च मोहनीयाविनाभावीनि यावदुपशान्तवीतरागं भवन्ति, न परतोऽपि; तत ऊर्ध्वं मोहनीयसत्ताया अप्यभावाद् । आह च—"छउमत्थनाणहेऊ, लिंगाइं दव्वओ ण भावाओ ॥ उवसंतवीयरायं, जा तावं ताणि जाणाहिं ॥२॥" ति । (छद्मस्थज्ञानहेतवो लिङ्गानि द्रव्यतो न भावतः ॥ उपशान्तवीतरागं यावत्तावत्तानि जानीहि ॥) ननु पूर्वादिषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु चतस्रोऽपि भाषा भवन्तीति कर्मग्रन्थे भणितम्, तथा च सिद्धं क्षीणमोहस्यापि मृषा भाषणम्, तच्च छद्मस्थत्वावबोधकं लिङ्गमेव, तत्कथमुच्यते छद्मस्थत्वज्ञापकलिङ्गानि यावदुपशान्तवीतरागमेव भवन्ति ? इति चेद् । मैवम्, छद्मस्थज्ञानगोचरस्यैव मृषाभाषणस्य लिङ्गत्वेनाभिमतत्वात् । तच्च द्रव्यतो मृषाभाषणं क्षीणमोहस्य न भवति, क्रोधादिजन्यत्वाद् । यदागमः—"सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि । से कोहा वा, लोहा वा, भया वा, हासा वा" इत्यादि ॥ क्षीणमोहस्य च क्रोधादयो न भवन्तीति कारणाभावाद् द्रव्यतो मृषाभाषणस्याभावः, तथा च भावतो मृषाभाषणस्य सुतरामभावः, तस्य मोहनीयोदयजन्यत्वात् । तथा च क्षीणमोहमात्रस्य द्रव्यतो भावतो

वा मृषाभाषणं न भवत्येव, संयतानां जीवघातादावनाभोगसहकृतमोहनीयकर्मणो हेतुत्वात्; मोहनीयाभावे चानाभोगो वास्तवमृषाभाषणं प्रत्यकारणं सन्नपि सम्भावनारूढमृषाभाषणं प्रति कारणं भवत्येव, अनाभोगस्य तथास्वभावस्यानुभवसिद्धत्वात्; तेन क्षीणमोहस्याप्यनाभोगहेतुकं सम्भावनारूढजीवविराधनावन्मृषाभाषणमपि भवत्येव; तच्च छद्मस्थज्ञानागोचरत्वेन छद्मस्थत्वावबोधकं लिङ्गं न भवति, तस्य केवलज्ञानगम्यत्वात्; न च सम्भावनारूढस्य मृषाभाषणस्य मृषाभाषणत्वव्यपदेशो न भविष्यतीति शङ्कनीयम्, सम्भावनारूढं मृषाभाषणमिति भणित्वापि मृषाभाषणव्यपदेशो न भविष्यतीति भणतो वदद्व्याघातापत्तेः। किञ्च—जैनानामलोकेऽपि कल्पितलोकस्याङ्गीकारे कल्पनाया इव सम्भावनाया अपि प्रामाण्यमेव, अत एव कालशौकरिकस्य कल्पितमहिषव्यापादनं महिषव्यापादनतया भगवता श्रीमहावीरेण भणितमिति प्रवचने प्रसिद्धिः, तस्मात् कर्मबन्धाहेतुत्वेऽपि सम्भावनारूढमृषाभाषणस्य स्नातकचारित्रप्रतिबन्धकत्वेन द्रव्यमृषाभाषणस्येव दोषत्वम्, चित्रलिखितायां नार्यां नारीत्वव्यपदेशस्येव मृषावादव्यपदेशस्य च विषयत्वं प्रतिपत्तव्यमिति न दोष इति; तस्माद् यावदुपशान्तवीतरागमेव छद्मस्थत्वज्ञापकानि लिङ्गानीति स्थितम्। तानि च प्रत्यक्षगम्यानि मिथ्याकारादिलिङ्गगम्यानि वा, 'अयं साधुः साक्षात् सम्भावनया वा प्राणातिपातादिप्रतिषेवितैव, मिथ्याकारान्यथानुपपत्तेः, अस्मदादिवद्'–इत्येवलिङ्गगम्येनापि प्राणातिपातादिना लिङ्गेन 'छद्मस्थोऽयं संयतः' इत्येवं निश्चयसम्भवात्। स च मिथ्याकारः कादाचित्क एव जीवघातादौ भवति, पुनरकरणाभिप्रायेण तस्य फलवत्त्वात्, सार्वदिकस्य तु तस्य सम्भवे सर्वविरतिपरिणामस्यैवानुपपत्तिः, प्रतिसमयमनवरतं जीवघातो भवत्येव इत्यभिप्रायस्य तत्प्रतिबन्धकत्वादिति। अत्र च छद्मस्थत्वज्ञापकलिङ्गाना सप्तानामपि मोहनीयकर्मजन्यत्वेन परस्परानुविद्धाना स्वरूपयोग्यतया निश्चयतः सर्वकालीनत्वेऽपि फलोपहितयोग्यतया व्यवहारेणानवरतं नियमाभावोऽप्याद्येषु

पश्चस्येव, चरमयोस्तु द्वयोर्लिङ्गयोः सामान्यतः सर्वकालीनत्वेन सूक्ष्मदृशां पुरःस्फूर्तिकत्वात्, ताभ्यां छद्मस्थत्वनिर्णयो विवक्षितपरीक्षाकाले सुलभ एव। तथाहि-इच्छाकारादिसाधुसामाचारीपरायणस्य छद्मस्थसंयतस्य गमनागमनस्थितिशयनागनासनप्रत्युपेक्षणादिक्रियासु चक्षुषा पुनः पुनर्निरीक्षणं, निरीक्ष्य च यथासम्भवं रजोहरणादिना प्रमार्जनं, प्रमृज्य च हस्तपादाद्यवयवानां यथास्थानेऽभ्यसनं त्वक्परावर्त्तनं, तथैव वस्त्रपात्राद्युपकरणानामादाननिक्षेपणम्, प्रमृजतश्च रजोहरणादिक्रियया मक्षिकापिपीलिकादीनां भयत्रासोत्पादनेनेतस्ततो नयनं चेत्याद्यनेकप्रकारमनुष्ठानं सम्भावितभाविजीवघातादिदोषभयजन्यं कालमधिकृत्यानियतमप्यन्यतम(र)त्किञ्चिदनवरतं भवत्येव, तत्रापि पिपिलीकादिजन्तूनां भयत्रासोत्पादनं सावद्यमिति प्रज्ञाप्य जीवघातवर्जनाभिप्रायवतोऽप्यशक्यपरिहारेण तत्प्रतिषेवण षष्ठलिङ्गात्मकं छद्मस्थत्वाभिव्यञ्जकं सामान्यतः सर्वकालीन सुलभमेव ॥ तत्प्रतिषेवणे च संयतो न यथावादी तथाकर्त्तत्यपि मन्तव्यम्, अशक्यपरिहारेणापि प्रत्याख्यातस्य सावद्यस्य प्रतिषेवणादिति केवलिनोऽपि परीक्षाया विपरीतानि छद्मस्थलिङ्गानि द्रव्यरूपाण्येव ग्राह्याणि, तेषामेव छद्मस्थज्ञानगोचरत्वेनानुमितिजनकत्वात्। यथाहि-छद्मस्थसंयतोऽनाभोगसहकृतमोहनीयवशेन कदाचित्प्राणानामतिपातयिता भवति, परीक्षोपयोगिवात्यजीवानां सम्पर्कस्य तद्विषयकानाभोगस्य च कादाचित्कत्वात्; तथा केवली न भवति, इत्येवं प्राणातिपातादिविपर्ययलिङ्गैर्द्रव्यरूपैः केवलित्वं साध्यमिति ॥ स च केवली द्विविधो ग्राह्यः—सद्भूतकेवली, अन्तर्मुहूर्त्तभाविकेवलज्ञानाभिमुखः क्षीणमोहश्च। यथाहि बद्धदेवायुर्देवगत्यभिमुखत्वेन देवत्वव्यपदेशविषयः प्रवचने प्रतीतः,तथाऽन्तर्मुहूर्त्तेनोत्पत्स्यमानकेवलज्ञानः क्षीणमोहोऽपि केवलिव्यपदेशविषयो भवत्येवेति, तथा 'भाविनि भूतवदुपचारः' इति न्यायात् प्रत्यासन्नभाविपर्यायस्य भूतवद्ग्रहणं युक्तमेव। यथा गर्भस्थोप्यर्हन् शक्रेण भावार्हत्तया स्तुतः। एवं क्षीणमोहमात्रस्य छद्मस्थवीतरागस्यापि कथञ्चित्केवलित्वव्यपदेशो न

दोपावहः। किं च केवलित्वगमकानि सप्तापि लिङ्गानि मोहनीयक्षयसमुत्थान्येव, 'केवली हि क्षीणचारित्रावरणत्वान्निरतिचारसंयमत्वादप्रतिपवित्वान्न कदाचिदपि प्राणानामतिपातयिता भवति' इति वचनात्, तेन लिङ्गापेक्षया द्वयोरपि साम्यमेव। एवं च सति यदि क्षीणमोहस्य छद्मस्थवीतरागस्य कथंचित्केवलित्वं नाभ्युपगम्यते, तर्हि क्षीणमोहे छद्मस्थवीतरागे सप्तापि लिङ्गानि व्यभिचरन्ति, तत्र हेतुषु विद्यमानेषु साध्यस्य केवलित्वस्यासत्त्वात्। नन्वास्तामन्यत्, परं केवलिनः पञ्चानुत्तराणि भवन्ति। यदागमः—"केवलिस्स णं पंच अणुत्तरा पन्नत्ता। तंजहा—अणुत्तरे नाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे तवे, अणुत्तरे वीरिए" त्ति। एतानि पञ्चापि केवलिनि वर्त्तमानानि कथं केवलित्वगमकलिङ्गतया नोक्तानि? इति चेद्, उच्यते—एतेषां पञ्चानामपि छद्मस्थज्ञानागोचरत्वेनानुमितिजनकत्वाभावात् न लिङ्गानि भवितुमर्हन्ति, प्रत्युत केवलज्ञानादिपरिज्ञानार्थमेवोक्तलिङ्गानां प्रज्ञापनेति। एतेन 'सप्तापि प्राणातिपातादीनि छद्मस्थाना रागद्वेपजनितानि, तेषां तयोः सत्त्वात्। केवलिनस्तु रागद्वेपजनितानां तेषां निषेधो न पुनः सर्वथा निषेधः, चक्षुःपक्ष्मनिपातमात्रजन्याया असङ्ख्येयवायुकायजीवविराधनायाः केवलिनोऽप्यनिवृत्तेः,' इति निरस्तम्, अशक्यपरिहारस्यापि केवलिनि निरासात्। किंच—परकीयरागद्वेपयोस्तदभावस्य च निरतिशयच्छद्मस्थज्ञानागोचरत्वेन तथाभूतच्छद्मस्थमात्रानुमितिजनकलिङ्गाना विशेषणत्वासम्भवात्, सम्भवे च यो रागद्वेपवान् स छद्मस्थः, यस्तु रागद्वेपरहितः स केवलीति विशेषणज्ञानमात्रेण छद्मस्थकेवलिनोर्विवेकेन सम्यग्निर्णये जाते प्राणातिपातादीनां तन्निषेधरूपाणां च विशेष्यपदानां भणनमुन्मत्तप्रलापकल्पं सम्पद्येत, प्रयोजनाभावात्, धर्मोपदेशादिक्रियामात्रस्यापि तथात्वेन सप्तसङ्ख्याभणनस्यायुक्तत्वाच्च। किंच—अप्रसिद्धविशेषणदानेन हेतूनां सन्दिग्धस्वरूपासिद्धतापि, तथा रागद्वेपवत्त्वच्छद्मस्थत्वयोस्तद्राहित्यकेवलित्वयोश्चैक्यमेवेति हेतोः साध्यघटितत्वेन हेतुस्वरूपहानिः; तस्मादविशिष्टानामेव छद्मस्थगम्यप्राणातिपाता-

दिनिषेधरूपाणा केवलित्वगमकलिङ्गत्व प्रतिपत्तव्यम्। यत्तु छद्मस्थत्वज्ञापकलिङ्गेषु 'कदाचिद्' इति विशेषणं टीकाकारेण दत्त तत्सप्तानामपि लिङ्गाना स्वरूपासिद्धिवारणार्थम्, नहि छद्मस्थसाधावनवरतं प्राणातिपातादिशीलत्वं सम्भवतीति। यच्च केवलित्वज्ञापकलिङ्गेषु 'कदाचिदपि'इति विशिष्टविशेषणमुपात्तं तच्छद्मस्थसाधौ व्यभिचारवारणाय; भवति ह्येतद्विशेषणं विना छद्मस्थसाधौ प्राणातिपाताद्यभावावस्थायां हेतुषु विद्यमानेषु केवलित्वाभावेन व्यभिचार इति॥ अत्र वदन्ति 'सत्तहि ठाणेहिं छउमत्थं जाणिज्जा' इत्यत्राप्रमत्तस्य पक्षीकरणे प्राणातिपातकत्वादयः सर्वेऽपि हेतवः स्वरूपासिद्धतामाप्नुवन्ति, प्राणातिपातादिनिमित्तक्रियाभावेन तस्य प्राणातिपातकत्वाद्यभावात्। यथाहि–कर्मग्रन्थाद्यभिप्रायेण निद्रोदयस्याप्रमत्तादिगुणस्थानेषु सत्त्वेऽपि न तेन प्रमत्तत्वम्, द्रव्यतो निद्राविषयादिवच्चस्य प्रमत्तत्वाप्रयोजकत्वात्; तथा द्रव्यतो जीवविराधनायामप्यप्रमत्ताः प्राणातिपातका न प्रोच्यन्त इति। न चौपचारिकैरपारमार्थिकैर्द्रव्यतः प्राणातिपातकत्वादिभिस्त्वत्कल्पितैरपि पारमार्थिकं छद्मस्थत्वं साधयितुं शक्यते, द्रव्यतो विरतिमहाव्रतवत्त्वादिभिः परिव्राजकेष्वभव्यनिह्नवादिषु च पारमार्थिकविरतत्वचारित्रित्वादिसाधनप्रसक्तेः। किञ्च–औपचारिकं प्राणातिपातकत्वं 'यावज्जीवः सयोगस्तावदारभते' इत्याद्यागमवचनादेव प्रसिद्धव्यभिचारमिति सद्भूतप्राणातिपातकत्वादिभिश्छद्मस्थत्वस्य साधनात् प्रमत्त एवात्र पक्षीकार्यः, तेन न स्वरूपासिद्धिः, तत्र पारमार्थिकानां हेतूनां सत्त्वादिति। किञ्च 'व्यापादनशीलो भवति'इत्यत्र "फलनिरपेक्षा वृत्तिः शीलम्" इति शीलार्थत्वात्, तस्याश्च स्वभावनिबन्धनत्वात्प्राणातिपातादिस्वभावहेतुसिद्ध्यर्थं प्रमत्त एव पक्षीकर्त्तव्य इति। न च प्रमत्तत्वादेव तत्र छद्मस्थत्वरूपसाध्यस्यापि प्रतीतत्वात्साध्यत्वाभावः, 'अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम्'इति(प्रमाणन०लं०परि०३सू०१४)वचनादिति वाच्यम्, व्यामूढमनसां तद्व्यामोहनिवृत्त्यर्थं छद्मस्थत्वस्य साध्यमानत्वोपपत्तेः। "प्रसिद्धानां प्रमाणानां, लक्षणोक्तौ प्रयोजनम्॥ तद्व्यामोहनिवृत्तिः

स्याद्, व्यामूढमनसामिह ॥४॥'' इति न्यायावतारवचनात्। यथाहि–सास्नादिमत्त्वाद् गवि गोत्वे सिद्धेऽपि व्यामूढस्य तत्प्रतिपत्त्यर्थं प्रयोगः क्रियते–यथाऽयं गौः, सास्नादिमत्त्वात्, यत्र गोत्वाभावस्तत्र सास्नादिमत्त्वाभावो यथा महिष इत्यादि। एवमत्रापि पुरुषविशेषे प्रमत्तत्वाच्छद्मस्थत्वे सिद्धेऽपि व्यामूढस्य ज्ञापनार्थमनुमाने कर्त्तव्ये छद्मस्थत्वस्य साध्यत्वं घटत एवेति। एतेन निद्राविकथादिप्रमादवतश्छद्मस्थत्वेन संशयानुपपत्तेर्न तत्परिज्ञानाय लिङ्गापेक्षेत्यपि निरस्तम्, उक्तयुक्त्या व्यामोहनिरासार्थं तदुपपत्तेः, विप्रतिपत्त्यादिना केवलिछद्मस्थविशेषज्ञस्यापि संशये सति तत्साधनोपपत्तेश्च। न च सूत्रे प्राणातिपातकत्वादीनां सामान्येन छद्मस्थलिङ्गत्वेन प्रोक्तत्वात् प्रमत्तछद्मस्थरूपविशेषे व्याख्यायमाने सूत्राशातनेति वाच्यम्, सूत्रस्य सूत्रान्तरसम्मत्या व्याख्यानकरणे आशातनायाः परित्यागात्। किञ्च–भवतोऽप्यप्रमत्तरूपछद्मस्थविशेषमुपादायैव व्याख्यानकरणान्नैतद्विषये पर्यनुयोग एव युज्यते। ''यत्रोभयोः समो दोषः, परिहारोऽपि वा समः॥ नैकः पर्यनुयोक्तव्य–स्तादृगर्थविचारणे ॥१॥'' इति वचनात्। ननु प्रमत्तस्य पक्षत्वेऽप्रमत्तसंयते कथं छद्मस्थत्वं स्याद् ?, लिङ्गाभावाद्–इति चेद्, न। लिङ्गिनि लिङ्गावश्यम्भावनियमाभावाद्, धूमं विनापि तप्तायोगोलके वह्निदर्शनात्। ननु यद्येवं प्रमत्तस्य पक्षत्वं भावतः प्राणातिपातकत्वादीनां च लिङ्गत्वं तदा छद्मस्थत्वगमकलिङ्गेषु 'कदाचिद्'–इति विशेषणं यत् टीकाकारेण दत्तं तदनुपपन्नं स्याद्, अप्रमत्तसंयतपक्षे द्रव्यप्राणातिपातादीनां लिङ्गत्वे हि तेषां सार्वदिकत्वाभावेन स्वरूपासिद्धिवारणार्थं तदुपपन्नं स्यात्। प्रमत्तसंयतपक्षे भावप्राणातिपातस्य सार्वदिकत्वेन तद्विशेषणस्यानुपपत्तिरेवेति। मैवम्, अविशेषणोक्तस्य प्राणातिपातकत्वादेः स्वरूपाऽसिद्धत्वाभावेन 'कदाचिद्'–इत्यस्योभयमतेऽपि स्वरूपविशेषणत्वात् कालिकसम्बन्धेन व्याप्तेरभिप्रेतत्वेऽपि 'कदाचित्' इत्यस्य कालान्तरोपसङ्ग्रहेऽनुपयोगाद्, यदा प्राणातिपातकत्वादिकं तदा छद्मस्थत्वमिति नियमसिद्धौ 'कदाचिद्' इत्यनेन किमुपकर्त्तव्यमेतादृश-

नियमस्फोरणं विनेति । केचित्तु 'केवली कदाचिदपि प्राणानामतिपातयिता न भवतीति' यत्केवलिनो लिङ्गमुक्तं तत्सर्वाप्रमत्तानामपि समानमिति तद्व्यावृत्त्यर्थं छद्मस्थलिङ्गेषु 'कदाचिद्' इति विशेषणमुक्तम् । इत्थं चाप्रमत्तानां प्रमत्तगुणस्थानवर्त्तित्वे प्रमत्तत्वात् कदाचिद्ज्ञानतोऽपि यत्प्राणातिपातकरणं सम्भवति, न तु केवलिनः, तस्य देशोनपूर्वकोटीकालमप्यप्रमत्तत्वस्यैव भावादिति विशेषोऽवबुद्धो भवति । न चाप्रमत्ता अपि सर्वदा प्राणानतिपातका एव भवन्ति, प्रमत्तत्वेन प्राणातिपातकत्वे त्वप्रमत्ता एव नोच्यन्ते इत्यतिप्रसक्तमेवैतल्लक्षणमिति वाच्यम्, अप्रमत्तस्य प्रमत्तगुणस्थानवर्त्तिनो जीवघाते अहो 'अप्रमत्तोऽपि जीवघातं करोति' इति व्यपदेशसम्भवात्, चतुर्दशपूर्व्यादीनां चतुर्गतिकत्वादिवचनवदेतदुपपत्तेः । यथाहि—"भगवानपि भुवनगुरुरुन्मार्गदेशनात्सागरोपमकोटाकोटीं भ्रान्तः" इति योगशास्त्रवृत्तिवचनम् । लोकेऽपि च घृतघटे घृताभावेऽपि 'घृतघट' इति व्यपदेशो भाविनि भूतवदुपचारेण दृश्यते, तथैवाप्रमत्तादिगुणस्थानवर्त्तिनोऽपि प्रमादवत्त्वे भावतः प्राणातिपातकत्वादिव्यपदेशो भवति नतु केवलिनः, तस्य कदाचिदपि प्रमादवत्त्वाभावादिति नातिव्याप्त्यादिदोष इत्याहुः ॥ तेषां यद्ययमाशयोऽप्रमत्तसंयतेषु केवलित्वगमकप्राणातिपाताभावादिलिङ्गानां व्यभिचारः, 'कदाचिदपि' इति विशेषणेन तद्योग्यताभावानां लिङ्गत्वलाभेन नायत इति छद्मस्थलिङ्गेषु 'कदाचिद्' इति विशेषणं योग्यतास्पष्टत्वार्थमिति; तदा सा योग्यता प्राणातिपातादिप्रागभावरूपा ग्राह्येति केवलिपरीक्षायां क्षपकश्रेणावपूर्वकरणादीनां तदभावात्तेषु व्यभिचारो दुर्वारः । छद्मस्थपरीक्षायां च प्रमत्तस्यैव पक्षत्वे योग्यताग्रहणवैफल्यम्, सर्वेषां तु छद्मस्थानां पक्षत्वे तेष्वेवासिद्धिरिति किमप्रमत्तादावौपचारिकप्राणातिपातकत्वादिविवक्षया ? इति प्रमत्ताप्रमत्तसाधारणपक्षकछद्मस्थत्वसाधने प्राणातिपातादिलिङ्गेषु 'कदाचिद्' इति विशेषणेन साध्याधिकरणकिञ्चित्कालावच्छिन्नत्वं देयम्, केवलित्वगमकलिङ्गेषु च साध्याधिकरणयावत्कालावच्छिन्नत्वं देयमिति नोद्देश्या-

सिद्धिर्न वा व्यभिचार इति विभावनीयम्। यत्तु भावभूतलिङ्गानां न छद्मस्थज्ञानोपयोगित्वमिति। तदसद्, भावभूतानामेव शमादिलिङ्गानां छद्मस्थानां परनिष्ठसम्यक्त्वज्ञानजनकत्वप्रतिपादनात्। तदुक्तं योगशास्त्र प्र०२ श्लो०१५वृत्तौ-"पञ्चभिर्लक्षणैर्लिङ्गैः परस्थं परोक्षमपि सम्यक्त्वं सम्यगुपलक्ष्यते, लिङ्गानि तु शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यस्वरूपाणीत्यादि"। बाह्यपरिणतिविशेषादेव तत्र शमादिभावलिङ्गज्ञानसौलभ्यमिति चेद्, अत्रापि तत एव न भावलिङ्गज्ञानदौर्लभ्यं परीक्षकाणाम्। एतेन छद्मस्थत्वगमकानि लिङ्गानि यावदुपशान्तवीतरागमेव भवन्ति। यच्च 'क्षीणमोहस्य मृषाभाषणं तच्छद्मस्थज्ञानागोचरत्वेन न लिङ्गम्, द्रव्यतो मृषाभाषणस्य क्रोधाद्यभावेन क्षीणमोहेऽभावादित्यादि यदुक्तं' तन्निरस्तम्, उक्तरीत्या द्रव्यव्यतिरिक्तस्यापि मृषावादस्य सुपरीक्षकाणां सुग्रहत्वात्। किञ्च-क्षीणमोहस्य द्रव्यतो मृषाभाषणं नास्तीति सर्वशास्त्रविरुद्धम्, यस्मात्सर्वावस्थासु कर्मबन्धोऽस्ति, कर्मबन्धानुमेया च विराधना, इष्यते चासौ द्रव्यतो वीतरागस्यापि, छद्मस्थस्य चतुर्णामपि मनोयोगादीनामभिधानादिति पञ्चाशकवृत्तौ द्रव्यत एव मृषावादस्य क्षीणमोहेऽभिधानात्। अत एव सूक्ष्मप्रमादनिमित्तविराधनयाऽऽलोचनाप्रायश्चित्तं तत्रोक्तम्। तथाहि-आलोअणा विवेगो वा, णियंठस्स दुवे भवे॥ विवेगो अ सिणायस्स, एमेया पडिवत्तिओ॥१॥"त्ति यतिजीतकल्पसूत्रे प्रोक्तम्। "आलोचनाप्रायश्चित्त विवेकप्रायश्चित्तमित्येते द्वे प्रायश्चित्ते निर्ग्रन्थस्य भवतः, स्नातकस्य केवल एको विवेकः।" इति तद्वृत्तौ। अत्र स्नातकस्य केवलविवेकप्रायश्चित्तभणनेन निर्ग्रन्थयोरुपशान्तक्षीणमोहयोरालोचनाविवेकप्रायश्चित्ते द्वे अविशेषेणैवोक्ते सम्भाव्येते; अन्यथा निर्ग्रन्थे विकल्पद्वयमकरिष्यद्; यथा-कुत्रचिन्निर्ग्रन्थे विवेकप्रायश्चित्तमेव, कुत्रचिच्चालोचनाविवेकरूपे द्वे इति; न चैवं क्वचिदुपदर्शितमिति माध्यस्थ्येन पर्यालोच्यम्। तथा चालोचनाप्रायश्चित्तशोध्या द्रव्यविराधना केवलिविलक्षणे क्षीणमोहे शास्त्रसिद्धेति द्रव्यतो मृषाभाषणं क्षीणमोहे न भवतीति

यद्वचनं तन्निरर्थकमेव । यत्तु तत्रानाभोगहेतुकं सम्भावनारूढं जीवविराधनावन्मृषाभाषणमुपपादितं तत्र दृष्टान्तासिद्धिः, द्रव्यतो जीवविराधनायास्तत्रोपपादितत्वाद्, भगवत्यामपि तत्र जीवविराधनायाः स्पष्टमुक्तत्वाच्च । तथा च तत्सूत्रं १८ श० ८ उ० "अणगारस्स णं भंते! भाविअप्पणो पुरओ दुहओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोयए वा वट्टापोयए वा कुलिंगच्छाए वा परियावज्जेज्जा, तस्स णं भंते! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइआ किरिया कज्जइ? गोयमा! अणगारस्स णं भाविअप्पणो जाव तस्स णं इरियावहिआ किरिया कज्जइ, णो संपराइआ किरिया कज्जइ । से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ? जहा सत्तमसए संवुडुद्देसए जाव अट्ठो णिक्खित्तो"त्ति ॥ 'पुरओ'त्ति अग्रतः, 'दुहओ'त्ति द्विधा-अन्तराऽन्तरा पार्श्वतः पृष्ठतश्चेत्यर्थः, 'जुगमायाए'त्ति यूप(युग)मात्रया दृष्ट्या, 'पेहाए'त्ति प्रेक्ष्य, 'रीयं'ति गतं गमनं, 'रीयमाणस्स'त्ति कुर्वत इत्यर्थः, 'कुक्कुडपोयए'त्ति कुर्कुटादिपोतः, (टडिम्भः)'वट्टापोयए'त्ति इह वर्त्तकः पक्षिविशेषः, 'कुलिंगच्छाए व'त्ति पिपीलिकादिसदृशः, 'परियावज्जेज्ज'त्ति पर्यापद्येत-म्रियते। 'एव जहा सत्तमसए'इत्यादि । अनेन च यत्सूचितं तस्यार्थलेश एवम्-अथ केनार्थेन भदंत! एवमुच्यते? गौतम! यस्य क्रोधादयो व्यवच्छिन्ना भवन्ति, तस्यैर्यापथिक्येव क्रिया भवतीति"-इत्यादि तद्वृत्तावुक्तम् । अत्र भावितात्माऽनगार उपशान्तः क्षीणमोहश्च ग्राह्यः, अन्यस्येर्यापथिकीक्रियाऽभावात्, केवलिनश्चानाभोगप्रयुक्तोक्तविशिष्टगमनासम्भवादिति वदन्ति । तथा सम्भावनारूढं मृषाभाषणं द्रव्यभावाभ्यां भिन्नं न कुत्राप्युपदर्शितमिति क्षीणमोहे तदभिधानं भवतोऽपूर्वपाण्डित्याभिव्यञ्जकमेव, द्रव्यभावातिरिक्तस्य सम्भावनारूढस्य शशविषाणवदवस्तुत्वात् । यच्च व्यक्तिशक्तिरूप सम्भवे सम्भाव्ये च योगवीर्यमुक्तं तद्भावपरिणामरूपमेव, यथोक्तं सूत्रकृताङ्गवीर्याध्ययनवृत्तौ। "तथा मनोवाक्कायादीनां तद्भावपरिणतानां यद्वीर्यं सामर्थ्यं तद्द्विविधं-सम्भवे सम्भाव्ये

च। सम्भवे तावत्तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकानां च सुराणामतीवपटूनि मनोद्रव्याणि भवन्ति। तथाहि–तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकसुरमनःपर्यायज्ञानिप्रश्नव्याकरणस्य द्रव्यमनसैव करणाद्, अनुत्तरोपपातिकसुराणां च सर्वव्यापारस्यैव मनसा निष्पादनादिति। सम्भाव्ये तु यो हि यमर्थं पटुमतिना प्रोच्यमान न शक्नोति साम्प्रतं परिणमयितुं, सम्भाव्यते त्वेष परिकर्म्यमाणः शक्ष्यत्यमुमर्थं परिणमयितुमिति। वाग्वीर्यमपि द्विविध–सम्भवे सम्भाव्ये च। तत्र सम्भवे तीर्थकृतां योजननिर्हारिणी वाक् सर्वस्वस्वभापानुगता च; तथाऽन्येपामपि क्षीरमध्वाश्रवादिलब्धिमतां वाचः सौभाग्यमिति। तथा हंसकोकिलादीनां सम्भवति स्वरमाधुर्यम्। सम्भाव्ये तु सम्भाव्यते श्यामायाः स्त्रियो गानमाधुर्यम्। तथा चोक्तम्–"श्या(सा)मा गायति मधुरं, काली गायति खर च रूक्षं(रुक्खं)च"इत्यादि। तथा सम्भावयाम एनं श्रावकदारकमकृतमुखसंस्कारमप्यक्षरेपु यथावदभिलप्स्येष्वितिति, तथा सम्भावयामः–शुकसारिकादीनां वाचो मानुपभापापरिणामः। कायवीर्यमप्यौरस्यं यद्यस्य बलम्। तदपि द्विविधं–सम्भवे सम्भाव्ये च। सम्भवे यथा चक्रवर्त्तिबलदेववासुदेवादीनां यद्बाहुबलादिकायबलम्। तद्यथा–कोटिशिला त्रिपृष्ठेन वामकरतलेनोद्धृता, यदि वा 'सोलसरायसहस्सा' इत्यादि यावदपरिमितबला जिनवरेन्द्रा इति। सम्भाव्ये तु–सम्भाव्यते तीर्थकरो लोकमलोके कन्दुकवत् प्रक्षेप्तुम्, तथा मेरुं दण्डवत् गृहीत्वा वसुधा छत्रकवद्धर्तुमिति। तथा सम्भाव्यतेऽन्यतरसुराधिपो जम्बूद्वीपं वामहस्तेन छत्रकवद्धर्तुमयत्नेनैव मन्दरमिति। तथा सम्भाव्यतेऽयं दारकः परिवर्द्धमानः शिलामेनामुद्धर्तुं हस्तिनं दमयितुमश्वं वाहयितुमित्यादि, [इन्द्रियबलमपि श्रोत्रेन्द्रियादिस्वविपयग्रहणसमर्थं पञ्चधा। एकैकमपि द्विधा सम्भवे सम्भाव्ये च। सम्भवे यथा श्रोत्रेन्द्रियस्य द्वादशयोजनानि विपयः एवं शेपाणामपि यस्य यो विपय इति। सम्भाव्ये तु यस्य कस्यचिदनुपहतेन्द्रियस्य श्रान्तस्य क्रुद्धस्य पिपासितस्य परिग्लानस्य वा अर्थग्रहणासमर्थमपि इन्द्रियं सद्यथोक्तदोपोपशमे तु सति सम्भाव्यते विप-

यग्रहणायेति]" तद्वदिह यदि क्षीणमोहे सम्भावनारूढं मृषाभाषणं सम्भवे वक्तव्यं तदा व्यक्तित एव भावरूपं सम्पन्नम्, यदि च सम्भाव्ये तदा शक्कित इति न कथमपि पृथग् भवितुमर्हति। न च क्षीणमोहे मृषाभाषणं केवलं सम्भाव्यमेव, अपूर्वादिषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु चतसृणां भाषाणां कर्मग्रन्थे द्वितीयतृतीयवाग्योगौ मिथ्यादृष्टेरारब्धौ यावत् क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थस्तावल्लभ्येते। तथोपशान्तकषायस्थाने क्षीणकषायस्थाने च 'नवयोगा बन्धहेतवः' इत्यस्य चार्थस्याविशेषेणाभिधानाद्। अवश्यंभावित्वाभिप्रायेण च यत्सम्भाव्यत्वाभिधानं तत्तु सत्संयतमात्रस्यैव मृषाभाषणादेः स्यादिति द्रष्टव्यम्। किञ्च–सर्वमपि मृषाभाषणं क्रोधमूलकमेवेति वदतस्तव सम्भावनारूढमपि मृषाभाषणं तन्मूलकमेव स्यात्, तथा च क्षीणमोहे तस्याप्यभावः प्राप्नोति। ननूक्तं तदनाभोगहेतुकमेवेति चेत्, तर्हि तादृश द्रव्यतो मृषाभाषणमेव किमिति नाभ्युपेयते? किं सम्भावनया?, न च द्रव्यभूतेन तेन प्रत्याख्यानभङ्गो भवति, भावभूतस्यैव तस्य प्रत्याख्यातत्वात्, "प्रमत्तयोगादसदभिधानं मृषा" इति तत्त्वार्थवृत्तिवचनात्। न च भावतः प्राणातिपातमृषाभाषणादेर्यत्कारणं तदेव तस्य द्रव्यतोऽपीति क्षीणमोहे न तत्सम्भवतीति वाच्यम्, एवं सति भावतो ज्ञानदर्शनचारित्राणां यानि कारणानि तान्येव द्रव्यभूतानां तेषां कारणानि स्युरिति, अभव्यादीनामपि द्रव्यतो ज्ञानदर्शनचारित्रवतां ज्ञानावरणीय–दर्शनमोहनीय–चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमाः कारणानि स्युः। तथा चागमबाधा। किञ्च–एवं केवलिनो द्रव्येन्द्रियाणामप्यभावापत्तिः, भावेन्द्रियहेतुज्ञानावरणदर्शनावरणक्षयोपशमयोः केवलिन्यभावाद्। न च द्रव्येन्द्रियाभावः केवलिन्युक्तः, किन्तु भावेन्द्रियाभाव एवेति। किञ्च–उपशान्तमोहे यथा जीवविराधना मोहनीयकारणमन्तरेणापि भवति, तथा क्षीणमोहे मोहाभावेऽपि द्रव्यतो जीवविराधनामृषाभाषादिसद्भावे किं बाधकम्?, अथास्त्येवागमबाधा। तथाहि–" रायगिहे जाव एवं वयासी, अह भंते! पाणाइवाए मुसावाए अदिण्णादाणे मेहुणे परिग्गहे एस

णं कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कतिफासे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचवण्णे दुगंधे पंचरसे चउफासे पण्णत्ते ॥ ” इत्यादि भगवतीसूत्रे द्वादशशते पञ्चमोद्देशके प्रोक्तम्। 'रायगिहे'इत्यादि। 'पाणाइवाए'त्ति प्राणातिपातजनितं तज्जनकं वा चारित्रमोहनीयं कर्मोपचारात् प्राणातिपात एव, एवमुत्तरत्रापि, तस्य च पुद्गलरूपत्वात् वर्णादयो भवन्ति, अत उक्तं 'पचवण्णे'इत्यादि। आह च-“पंचरस-पंचवण्णेहि, परिणय दुविहगंधचउफासं ॥ दवियमणंतपएसं, सिद्धेहि णंतगुणहीणं ॥१॥” इत्याद्येतद्वृत्तावुक्तम्। एतदनुसारेण च प्राणातिपातादीनां चारित्रमोहनीयत्वात् क्षीणमोहे तदनुपपत्तेः। उपशान्तमोहे तु मोहसद्भावात्प्राणातिपाताद्यङ्गीकारे न किञ्चिद्बाधकमिति चेद्। एतदप्यसत्, भावप्राणातिपातापेक्षयैवोक्तोपचारव्यवस्थितेः, अन्यथा द्रव्यप्राणातिपातादीनां चारित्रमोहनीयकर्मजनकत्वे सूक्ष्मसम्परायादौ षड्विधबन्धकत्वादि न स्यात्। तज्जन्यत्वे च तस्योदितस्यानुदितस्य वा जनकत्व वाच्यम्। आद्ये उपशान्तमोहे द्रव्यप्राणातिपाताद्यनुपपत्तिः। अन्त्ये च चारित्रमोहनीयसत्तामात्रादुपशान्तमोहे तत्कार्यप्राणातिपातस्वीकारे नाग्न्यादीनां सप्तानां परीषहाणामपि तत्र स्वीकारापत्तेः, तेषामपि चारित्रमोहनीयकार्यत्वप्रतिपादनात्। तदुक्तं भगवत्यां श० ८ उ० ८ “चरित्तमोहणिज्जे णं भंते! कम्मे कति परीसहा समोअरंति ?, गोयमा सत्त परीसहा समोअरति। तजहा-“अरती अचेल इत्थी, णिसीहिआ जायणा य अक्कोसा ॥ सक्कारपुरक्कारे, चरित्तमोहंमि सत्तेते ॥१॥” तत्त्वार्थभाष्येऽप्युक्तम् अ० ९ सू० १५ “चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ परीषहा उक्ताः।” इति। एतद्वृत्तिर्यथा-“दर्शनमोहवर्जं शेषं चारित्रमोहनीयं-चारित्रं मूलोत्तरगुणसम्पन्नान्मोहनात्पराङ्मुखत्वाच्चारित्रमोहनीयम्, तदुदये सत्येते नाग्न्यादयः सप्त परीषहा भवन्ति। नाग्न्यं जुगुप्सोदयाद्१, अरत्युदयादरतिः२, स्त्रीवेदोदयात् स्त्रीपरिषहः३, निषद्या स्थानासेवित्वं भयोदयात्४, क्रोधोदयादाक्रोशपरीषहः५, मानोदयाद् याञ्चापरीषहः६, लोभोदया-

त्सत्कारपुरस्कारपरीषहः७, इति। अथ चारित्रमोहोदये सत्येते परीषहाः प्रोक्ता, तस्मादुपशान्ते न भवन्तीति चेत्, तर्हि चारित्रमोहनीयकर्मोदये सति प्राणातिपातादयः प्रोक्ताः, अतस्तेऽपि तत्र मा भूवन्। अथ भावत एव प्राणातिपातादयश्चारित्रमोहनीयोदयसमुत्थाः, द्रव्यतस्तु चारित्रमोहनीयस्य सत्तायामपि तत्र ते भवन्तीति चेत्, तर्हि भावत एव चारित्रमोहनीयोदयसमुत्थाः सप्त परीषहाः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानं यावद्भवन्ति, द्रव्यतस्तु त एवोपशान्तमोहेऽपि चारित्रमोहसत्तानिमित्तका भवन्तु, युक्तेरुभयत्र तौल्यादिति। यच्च सम्भावनारूढमृपाभापणनिषेधव्याघातेनैव तत्सिद्धिसमर्थनं कृतं तत्तु शशशृङ्गस्यापि निषेधव्याघातात्तत्सिद्धिसमर्थनप्रायम्। या चाऽलोके लोककल्पनातुल्या सम्भावना प्रोक्ता, सा तु प्रकृतार्थस्यातिशयितत्वमेव प्रतिपादयेद्। अलोके लोकप्रमाणासंख्येयखण्डप्रमाणावधिज्ञानविषयकल्पना हि वैज्ञानिकसम्बन्धेन तद्विषयविशिष्टतामवधिज्ञानस्यैव ज्ञापयतीति। आह च (विशे०) भाष्यकारः॥"वड्ढंतो पुण बाहि, लोगत्थं चेव पासई दव्व॥ सुहुमयरं सुहुमयरं, परमोही जावपरमाणु॥६०६॥" (वर्धमानः पुनर्बहिर्लोकस्थमेव पश्यति द्रव्यं। सूक्ष्मतर सूक्ष्मतरं परमावधिर्यावत् परमाणुम्॥) इति। तद्वदिहापि सम्भावनया विशिष्टमेव मृपाभापणं प्रसज्येतेति विपरीतैवेयं कल्पना भवत इति। यच्च अत एव 'कालशौकरिकस्य'इत्याद्युक्तं, तत्तु तं प्रत्येव लगति, यतः कालशौकरिकस्य महिषव्यापादनं महिषव्यापादनत्वेन भगवतोक्त तद्भावमाश्रित्य, तेन तत्र तत्कल्पनायाः प्रामाण्यम्, सम्भावनारूढमृपाभापणादेर्मृपाभापात्वादिकं तु भावतो नोच्यत इति कथं तत्कल्पना स्याद्? न ह्यसतः सम्भावनापि सम्भवति, नहि क्षीणमोहे मैथुनादीनां भवतापि सम्भावना क्रियते; अत एव क्षीणमोहे सम्भावनारूढमृपाभापादेः स्नातकचारित्रप्रतिबन्धकत्वेन दोषत्वमित्यपि निरस्तम्, असतो दोषत्वायोगात्। अत एव चित्रलिखितनारीदृष्टान्तोऽपि निरस्तः, असत आकारमात्रताया अप्यभावादिति न किञ्चिदेतत्। यच्च छद्मस्थलिङ्गानां द्रव्यभूतानां मिथ्या-

कारादिलिङ्गगम्यत्वस्यापि सम्भवान्मिथ्याकारस्य चाऽनवरतप्रवृत्तावसम्भवात् संयतानां द्रव्यहिंसादिकं कादाचित्कत्वेनानाभोगप्रयुक्तमेवेत्यभिधानं तदयुक्तम्, प्रत्याख्यातभावहिंसादेरेवानाभोगप्रयुक्तकादाचित्कभङ्गपरिणतिवतो मिथ्याकारविषयत्वाद्, द्रव्यहिंसामात्रे तदभावाद्, अन्यथाऽपवादपदजिनपूजाऽऽहारविहारादिक्रियाणामपि मिथ्याकारविषयत्वापत्तेः। यच्च षष्ठसप्तमलिङ्गयोश्छद्मस्थमात्रे सुलभत्वमुक्तम्, तत्प्रतिलेखनाप्रमार्जनादिक्रियाणां पिपीलिकादिक्षुद्रजन्तुभयोत्पादकत्वेन सावद्यत्वे स्यात्, तदेव तु नास्ति, कायादिनियताचाररूपाणां तासामौत्सर्गिकीणां क्रियाणामत्यन्तनिरवद्यत्वाद्। अपवादकल्पत्वादासां कथञ्चित्सावद्यत्वमिति चेद्, न। अपवादस्यापि विधिशुद्धस्य सावद्यत्वाभावे तत्कल्पत्वेनाभिमते तदभावाद्। न चोत्सर्गापवादव्यतिरिक्तोऽपवादकल्पो राशित्रयकल्पनारसिकं भवन्तं विनाऽन्येन केनापीष्यत इति तत्सद्भावे प्रमाणमस्ति। शक्याशक्यपरिहारविषयभेदेनापवादापवादकल्पयोर्भेदाभ्युपगमे च दुष्करसुकरत्वादिभेदेनानशनयुक्ताहारादिक्रियाणामुत्सर्गोत्सर्गकल्पभेदकल्पनाया अप्यापत्तेरिति न किञ्चिदेतत्। तस्मात् षष्ठसप्तमलिंगयोः सौलभ्यमपि प्रमत्तस्यैव प्रतिषेवणदशायां ज्ञेयम्, अप्रमत्तस्य तु सत्तामात्रेणैव तद् द्रष्टव्यम्। यत्तु केवलिनोऽपि परीक्षायां छद्मस्थज्ञानगोचरत्वेन द्रव्यरूपाण्येव लिङ्गानि ग्राह्याणीत्युक्तम्, तन्न चतुरचेतश्चमत्कारकारि, द्रव्यरूपाणामपि प्राणातिपातादीनामभावस्य सर्वकालीनत्वस्य हेतुघटकस्य दुर्ग्रहत्वात्। सूक्ष्मदृष्ट्या तद्ग्रहे च भावरूपलिङ्गानामपि न दुर्ग्रहत्वमिति। यच्चोक्त 'स च केवली द्विविधो ग्राह्य इत्यादि,' तदसत्। क्षीणमोहे केवलित्वस्यागमबाधितत्वात्, आगमे छद्मस्थवीतरागमध्य एव क्षीणमोहस्य परिगणितत्वात्। उक्त च प्रज्ञापनायां "से किं तं खीणकसायवीयरायचरित्तायरिआ?, खीणकसायवीयरागचरित्तायरिआ दुविहा पन्नत्ता। तंजहा छउमत्थखीणकसायवीयरायचरित्तायरिया य, केवली खीणकसायवीयरागचरित्तायरिया य"इत्यादि। यदि चैतामागमबाधामुल्लङ्घ्यापि 'भाविनि भूतवदुपचारः' इति

न्यायाद् द्वादशे गुणस्थाने कथञ्चित्केवलित्वमभ्युपगम्यते, तर्हि चरमशरीरिणि प्रथमादिगुणस्थानवर्त्तिनि क्षपकश्रेण्यारूढे वा मत्तमादिगुणस्थानवर्त्तिनि तदभ्युपगन्तव्य स्यात्। किञ्च–क्षीणमोहस्य केवलित्वविवक्षा केनापि न कृतेति कथं भवता कर्त्तव्या? नहि स्वल्पकालभाविकेवलज्ञानस्यापि छद्मस्थस्य केवलित्वविवक्षा कर्त्तुं युज्यते। अत एव "छ ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं ण जाणइ, ण पासइ। तंजहा धम्मत्थिकायं१ अधम्मत्थिकायं२ आगासं३ जीवं असरीरपडिबद्धं४ परमाणुपोग्गलं५ सद्दं६। एताणि चेव उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे जाव सव्वभावेणं जाणति पासति तंजहा–धम्मत्थिकायं जाव सद्दं जाणति' इत्यादि स्थानाङ्गसूत्रे। "इह छद्मस्थो विशिष्टावध्यादिविकलो न त्वकेवली, यतो यद्यपि धर्माधर्माकाशान्यशरीरजीवं च परमावधिर्न जानाति, तथापि परमाणुशब्दौ जानात्येव, रूपित्वात् तयोः, रूपिद्रव्यविषयत्वाच्चावधेः।" इत्यादि वृत्तावुक्तम्। अत्र परमावधेरन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वमुत्पत्स्यमानकेवलज्ञानस्यापि केवलित्वविवक्षा न कृता। यदि च परमावधिमतः केवलित्वविवक्षामकरिष्यत् तदा व्यभिचारशङ्कैव नास्तीति छद्मस्थपदस्य विशेषपरत्वं नावक्ष्यद् वृत्तिकारः। तस्मात् क्षीणमोहस्याप्यन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वमुत्पत्स्यमानकेवलज्ञानस्य कथञ्चित्केवलित्वविवक्षा शास्त्रबाधितैवेति। यदि च क्षीणचारित्रावरणत्वाद्धेतोः क्षीणमोहे केवलित्वं दुर्निवारं, तदा निरतिचारसंयमत्वादप्रतिसेवित्वाच्चोपशान्तमोहे कषायकुशीले च तद् दुर्निवारं स्यादिति बोध्यम्। यच्च रागद्वेषवत्त्वच्छद्मस्थत्वादीनामैक्योद्भावनेन दूषणं दत्तं, तत्तु न किञ्चिद्; एवं सति समनियतधर्ममात्रव्याप्त्युच्छेदप्रसङ्गादिति दिग्॥ इद त्विहास्माकमाभाति–यदालोचनायोग्यविराधनादिकं छद्मस्थमात्रलिङ्गं, तदभावश्च केवलिनो लिङ्गम्, 'कदाचिद्' इत्यनेन 'न कदाचिदपि' इत्यनेन चैतदर्थस्यैव स्फोरणात्। आलोचनायोग्यताया अनाभोगप्रयुक्तकादाचित्कतानियतत्वाद्, इतरत्र च तदभावाद्। इत्थं च केवली न कदाचिदपि प्राणानामतिपातयिता भवति, क्षीणचारित्रावरणत्वाद्–इत्यादौ विशिष्टो

हेतुरनुसन्धेयः, अन्यथा केवलित्वगमकानि लिङ्गानि क्षीणमोहे न सन्ति, किन्तु स्वरूपतः सन्ति। यथा–वह्निरनुष्णः, कृतकत्वाद्–इत्यनुमाने कृतकत्वं वह्नौ स्वरूपतः सदप्यनुष्णत्वगमकलिङ्गत्वेन नास्तीति प्रत्यक्षबाधितपक्षत्वादगमकं प्रोच्यते, तद्वत् 'क्षीणमोहे सप्तापि स्थानानि' इत्युक्तावपि न निस्तारः, तद्वदेवाप्रयोजकत्वेन प्रकृतलिङ्गव्यभिचारानुद्धारात्। नह्ययः पिण्डो धूमवान्, वह्निमत्त्वाद्–इत्यत्र पक्षदोषमात्रेण हेतुदोषो निराकर्त्तुं शक्यते, इत्यनुमानहेतुत्वे उक्तप्रकार आश्रयणीयः, सम्भावनाहेतुत्वे तु न किमप्युपपादनीय मित्युपयुक्तैर्विभावनीयमिति दिक्॥ ८३॥ 'तदेवं केवलिनोऽवश्यम्भाविनी जीवविराधना न भवति' इति स्वमतिविकल्पनमनर्थहेतुरित्येतादृशाः कुविकल्पा मोक्षार्थिना त्याज्या इत्याह—

तिव्वासग्गहदोसा, एयारिसया हवंति कुविगप्पा॥ ते उच्छिंदिय सम्मं, आणाइ मुणी पयट्टिज्जा ॥८४॥

[तीव्रासद्ग्रहदोषा(दभिनिवेशा)देतादृशका भवन्ति कुविकल्पाः॥ तानुच्छिद्य सम्यग् आज्ञायां मुनिः प्रवर्तेत॥ ८४॥]

तीव्रात्–सम्यग्वक्तृवचनानिवर्त्तनीयत्वेनोत्कटाद्, अभिनिवेशाद्विपर्ययग्रहादेतादृशकाः कुविकल्पा भवन्ति, तानुच्छिद्य सम्यगाज्ञायां गुरुशास्त्रपारतन्त्र्यलक्षणायां मुनिः प्रवर्त्तेत, न तु बहुश्रुतत्वादिख्यातिमात्रेण स्वमतिविकल्पजालग्रथनरसिको भवेदिति 'एतादृशकाः'–इत्यतिदेशेन यः परस्यायं कुविकल्पोऽस्ति–'यो मांसमश्नाति तस्य सम्यक्त्वं न भवत्येवेति', सोऽप्यपास्तो बोद्धव्यः, केवलसम्यक्त्वधारिणोऽविरतेरेव माहात्म्यादितराभक्ष्यभक्षणस्येव मांसभक्षणादपि निवृत्तेरनियमात्। यदि च "सद्यः सम्मूर्च्छितानन्त–जन्तुसन्तानदूषितम्॥ तद् ज्ञात्वा भुञ्जानस्य सर्वाशानुकम्पाराहित्यान्न सम्यक्त्वमित्यभ्युपगमः, तदाऽनन्तजन्तुमयं ज्ञात्वा मूलकादिकं भक्षयतोऽपि सम्यक्त्वक्षतिरभ्युपगन्तव्या स्याद्। यदि च मांसभक्षणस्यातिनिन्द्यत्वात्तस्य सम्यक्त्वनाशकत्वं तदा परदार-

गमनस्य तत्सुतरां स्यादिति तद्व्यसनवतः सत्यकिप्रभृतेः सम्यक्त्वमुच्छिद्येत। एतेन 'बिलवासिनामपि मनुजानां तथाविधकर्मक्षयोपशमेन यदि मासपरिहारनियन्तृत्वं तदा सम्यग्दृशां तत्सुतरा स्यादिति मांसभक्षणे सम्यक्त्वक्षतिरेव'इति निरस्तम्, सम्यक्त्वस्य भावधर्मत्वेन कुलधर्ममात्रत्वाभावात्, तथाविधकर्मपरिणतेरनुचितप्रवृत्तिमतोऽपि श्रद्धानगुणेन तदनपगमात्। अन्यथा स्तेनानामपि केषाञ्चित्परदारगमनपरिहारनियन्तृत्वात्, ततोऽनिवृत्तस्य सत्यकिप्रभृतेः सम्यक्त्वमुच्छिद्येतैवेति ॥ न च मांसाहारस्य नरकायुर्बन्धस्थानत्वादेव तदनिवृत्तौ न सम्यक्त्वमिति शङ्कनीयम्, महारम्भमहापरिग्रहादीनामपि तथात्वात्, तदनिवृत्तौ कृष्णवासुदेवादीनामपि सम्यक्त्वापगमापत्तेः॥ किञ्च–सम्यक्त्वधारिणां कृष्णप्रभृतीनां मांसभक्षणेऽपि सम्यक्त्वानपगमः शास्त्रेऽपि श्रूयते। तदुक्तं षष्ठाङ्गे (अ० १६) तएणं से दुवए राया कंपिल्लपुर णगर अणुपविसइ, अणुपविसित्ता विउलं असणं ४ उवक्खडावेइ, उवक्खडावित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावित्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया विउलं असण ४ सुरं च मज्जं च मंसं च सीधुं च पसन्नं च सुबहुपुप्फफलवत्थगंधमल्लालंकारं च वासुदेवप्पामोक्खाणं रायसहस्साणं आवासेसु साहरह तेवि साहरंति तएण ते वासुदेवप्पामोक्खा त विउलं असणं ४ जाव पसन्नं च आसाएमाणा विहरंति''त्ति। न चात्र मासभक्षणादिकं स्वपरिवारभूतमिथ्यादृशामेव 'तदाज्ञानिमित्तकत्वात् तत्कर्तृकं' व्यपदिष्टमिति शङ्कनीयम्, 'वासुदेवप्रमुखा'इत्यत्र सर्वेषामेकक्रियायोगात् सम्यक्त्वनाशके तत्र तदाज्ञापनस्याप्यनुपपत्तेश्च॥ यत्तु वर्णनमात्रत्वेनैतत्सूत्रस्याकिञ्चित्करत्वं परेणोद्भाव्यते, तस्य महानेव कृतान्तकोपः। एव सति स्वर्गदुर्गत्यादिप्रतिपादकसूत्राणामपि वर्णनमात्रत्वेनाकिञ्चित्करताया वावदूकेन वक्तुं शक्यत्वाद्, लोकनिन्द्यविषयमात्रेणापि यथास्थितार्थप्रतिपादकसूत्रविलोपे नास्तिकत्वस्यानिवारितप्रसरतया सर्वविलोपप्रसङ्गादिति ॥ किञ्च–यद्यनन्तकायादिमासादिभक्षणे सम्यक्त्वस्य मूलोच्छेदः स्यात् तदा तत्र तपः प्रायश्चित्तं नोपदिष्टं स्यात्,

उक्तश्च तत्त्र। तदुक्तं श्राद्धजीतसूत्रवृत्त्योः-"चउगुरु णंते, चउलहु, परित्तभोगे सचित्तवज्जिस्स। मंसासववयभंगे, छग्गुरु चउगुरु अणाभोगे ॥९१॥" व्याख्या—"सचित्तवर्जकस्य श्रावकादेः 'अनन्त'त्ति अनन्तकायानां मूलकार्द्रकादीनां भक्षणे चतुर्गुरु प्रायश्चित्तं भवति। यदागमः-"सो उण जिणपडिकुट्ठो, अणंतजीवाण गायणिप्फण्णो ॥ गेही पसंगदोसो, अणंतकाओ अओ गुरुगा ॥१॥" तथा सचित्तवर्जकस्यैव श्राद्धादेः, 'परित्त'त्ति प्रत्येकपरिभोगे-प्रत्येकाम्रादिपुष्पफलादिभोगे चतुर्लघु प्रायश्चित्तम्। तथा मांसासवयोरुपलक्षणान्मधुनवनीतयोश्च 'वयभंगे'त्ति अनाभोगतः पृथग्वक्ष्यमाणत्वादत्राभोगतो ज्ञेयम्। ततश्चाभोगे सति व्रतस्य नियमस्य भङ्गे षड्गुरु, 'चउगुरु'त्ति अनाभोगे सति मांसासवमधुनवनीतानां व्रतभङ्गे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त भवतीति गाथाक्षरार्थ इति ॥" ततो 'मांसभक्षणे सम्यक्त्व नश्यत्येव' इत्ययमपि कुविकल्प एवेति बोध्यम् ॥८४॥ ननु विकल्पोच्छेदेनाज्ञया प्रवृत्तिर्हितावहोक्ता। न चाज्ञामात्रानुसरण हितावहं सम्भवति, सर्वत्र सौलभ्याद्, दृश्यन्ते हि सर्वेऽपि निजनिजगुर्वाद्याज्ञायत्ता इत्युपादेयाज्ञाविशेषमाह—

आणा पुण जगगुरुणो, एगतसुहावहा सुपरिसुद्धा ॥ अपरिक्खिआ ण गिज्झा, सा सव्वा णाममित्तेणं ॥८५॥

[आज्ञा पुनर्जगद्गुरोरेकान्तसुखावहा सुपरिशुद्धा ॥ अपरीक्षिता न ग्राह्या सा सर्वा नाममात्रेण ॥ ८५ ॥]

व्याख्या—'आणा पुण'त्ति आज्ञा पुनर्जगद्गुरोस्त्रिभुवनधर्मगुरोर्भगवतो वीतरागस्य, सुपरिशुद्धा सम्यक्परीक्षाप्राप्ता, एकान्तसुखावहा नियमेन स्वर्गापवर्गादिसुखहेतुर्ग्राह्येति योगः। माऽऽज्ञा सर्वा नाममात्रेणापरीक्षिता सती न ग्राह्या, प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः परीक्षानियतत्वादिति भावः ॥ ८५ ॥ एतत्परीक्षोपायमाह—

कस-छेय-तावजोगा, परिक्खियव्वा य सा सुवण्णं व ॥ एसा धम्मपरिक्खा, णायव्वा बुद्धिमंतेणं ॥८६॥

[कपच्छेदतापयोगात् परीक्षितव्या च सा सुवर्णमिव ॥ एषा धर्मपरीक्षा ज्ञातव्या बुद्धिमता ॥ ८६ ॥]

व्याख्या—सा आज्ञा, कपच्छेदतापयोगात् सुवर्णमिव परीक्षणीया। यथाहि-युक्तिस्वर्णं जात्यस्वर्णं च सुवर्णमात्रसाम्येन मुग्धलोकैरभेदेन प्रतीयमाने कपच्छेदतापैर्विचक्षणास्तत्परीक्षणं कर्तुमुत्सहन्ते, तथाऽऽज्ञायामपि मुग्धैः सर्वत्र नाममात्रादेकत्वेन प्रतीयमानायां विचक्षणास्तत्परीक्षां कपच्छेदतापैः कर्तुमुत्सहन्त इति बुद्धिमतैषा धर्मपरीक्षा ज्ञातव्या। यैव ह्याज्ञा सा सर्व एव धर्म इत्याज्ञापरीक्षैव धर्मपरीक्षेति भावः ॥ ८६ ॥ कपादीनेवात्र योजयितुमाह—

विहिपडिसेहा उ कसो, तज्जोगवखेमकारिणी किरीया ॥ छेओ तावो य इहं, वाओ जीवाइतत्ताणं ८७ ॥

[विधिप्रतिषेधौ तु कषः तद्योगक्षेमकारिणी क्रिया ॥ छेदः तापश्च इह वादो जीवादितत्त्वानाम् ॥ ८७ ॥]

व्याख्या—'विहिपडिसेहाउ' त्ति । विधिः—अनिरुद्धकर्त्तव्यार्थोपदेशकं वाक्यम् । यथा—स्वर्ग—केवलार्थिना तपोध्यानादि कर्त्तव्यमित्यादि । प्रतिषेधः पुनर्न हिंस्यात् सर्वभूतानीत्यादि । एतौ द्वाविह धर्मपरीक्षायां कष एव, सुवर्णपरीक्षाया कषपट्टकरेखेव । इदमुक्तं भवति-यत्र धर्मे उक्तलक्षणौ विधिप्रतिषेधौ पुष्कलावुपलभ्येते स धर्मः कषशुद्धः, न पुनः-"अन्यधर्मस्थिताः सत्त्वा, असुरा इव विष्णुना ॥ उच्छेदनीयास्तेषां हि, वधे दोषो न विद्यते ॥१॥" इत्यादिवाक्यगर्भ इति ॥ तयोर्विधिप्रतिषेधयोर्योगोऽनाविर्भूतयोः सम्भवः, क्षेमं चाविर्भूतयोः पालना, तत्कारिणी क्रिया भिक्षाटनादिबाह्यव्यापाररूपा छेदः । यथा कषशुद्धावप्यन्तर्गतामशुद्धिमाशङ्कमानाः सौवर्णिकाः सुवर्णगुलिकादेश्छेदमाद्रियन्ते, तथा कषशुद्धावपि धर्मस्य छेदमपेक्षन्ते प्रेक्षावन्तः । स च छेदो विशुद्धबाह्यचेष्टारूपः, विशुद्धा च चेष्टा सा यत्रासन्तावपि विधिप्रतिषेधावबाधितरूपौ स्वात्मानं लभेते, लब्धात्मानौ चातिचाररहितावुत्तरोत्तरं वृद्धिमनुभ-

वतः, ईदृशी यत्र धर्मे चेष्टा सप्रपञ्चा प्रोच्यते स धर्मश्छेदशुद्ध इति ॥ तापश्च जीवादितत्त्वानां वाद —स्याद्वादरीत्योपन्यासः। यथाहि—कपच्छेदशुद्धमपि सुवर्णं तापमसहमानं कालिकोन्मीलनदोषान्न सुवर्णभावमश्नुते, एवं धर्मोऽपि सत्यामपि कपच्छेदशुद्धौ तापपरीक्षायामनिर्वहमाणो न स्वभावमासादयति, अतो जीवादितत्त्वानां स्याद्वादप्ररूपणया तापशुद्धिरन्वेषणीया। यत्र हि शास्त्रे द्रव्यरूपतयाऽप्रच्युतानुत्पन्नः, पर्यायात्मकतया च प्रतिस्वमपरापरस्वभावास्कन्दनेनानित्यस्वभावो जीवादिरवस्थाप्यते, स्यात्तत्र तापशुद्धिः। यतः परिणामिन्येवात्मादौ तथाविधाशुद्धपर्यायप्रादुर्भावादुक्तलक्षणः कषो बाह्यचेष्टाशुद्धिलक्षणश्च छेद उपपद्यते न पुनरन्यथेति। अत्र च तापपरीक्षा बलवती, कपच्छेदभावेऽपि तापाभावे परीक्षाऽसिद्धेः, नहि तापे विघटमान हेम कपच्छेदयोः सतोरपि स्वं स्वरूपं प्रतिपत्तुमलम्, युक्तिस्वर्णत्वात्तस्येति ॥ ८७ ॥ एताभिः परीक्षाभिर्धर्मे परीक्षिते, धर्मवान् गुरुरपि परीक्षित एव भवतीत्यभिप्रायवानाह—

एयाहिं परिक्खाहिं, सुद्धे धम्ममि परिणया जे उ ॥ गुरुणो गुणजलणिहिणो, ते वि विसुद्धा सुवण्णं व ॥८८॥

[एताभिः परीक्षाभिः शुद्धे धर्मे परिणता ये तु ॥ गुरवो गुणजलनिधयः, तेपि विशुद्धाः सुवर्णमिव ॥ ८८ ॥]

व्याख्या—एताभिः कपादिपरीक्षाभिः शुद्धे धर्मे ये परिणता एव ते गुरवोऽपि गुणजलनिधयः सुवर्णमिव विशुद्धा द्रष्टव्याः, यद्द्रव्यं यदा यद्रूपेण परिणमते तत् तदा तन्मयमेवेति शुद्धधर्मपरिणता गुरवोऽपि शुद्धधर्मरूपत्वेनैवादरणीया इति भावः ॥ ८८ ॥ सुवर्णसदृशत्वमेव गुरूणां भावयन्नाह—

सत्थोइयगुणजुत्तो, सुवन्नसरिसो गुरू विणिद्दिट्ठो ॥ ता तत्थ भणंति इमे, विसघायाई सुवन्नगुणे ॥ ८९ ॥

[शास्त्रोदितगुणयुक्तः सुवर्णसदृशो गुरुर्विनिर्दिष्टः ॥ तस्मात्तत्र भणन्ति विपघातादीन्सुवर्णगुणान् ॥ ८९ ॥]

व्याख्या–'सत्थोइय'त्ति । शास्त्रे दशवैकालिकादावुदिताः प्रतिपादिता ये गुणाः मा गुणास्तैर्युक्तः सहितः, सुवर्णसदृशो गुरुर्विनिर्दिष्टः, तत्तस्मात्कारणात्, तत्र गुरौ विषघातादीन् इमाननन्तरमेव वक्ष्यमाणान्, सुवर्णगुणान् योजयन्ति॥८९॥

अत्रार्थेऽष्टसुवर्णगुणप्रतिपादनाय भावसाधौ गुरौ तद्योजनाय च पूर्वाचार्य(श्रीहरिभद्रसूरि)कृता एव तिस्रो गाथा उपन्यस्यति—

विसघाइ-रसायण-मंगलत्थ-विणए-पयाहिणावत्ते ॥ गुरुए-अडज्झ-ऽकुच्छे, अट्ठ सुवन्ने गुणा हुंति ॥ ९० ॥

[विषघाति रसायनमङ्गलार्थविनतं प्रदक्षिणावर्त्तं ॥ गुरुकमदाह्याकुत्स्यमष्टौ सुवर्णे गुणा भवन्ति ॥ ९० ॥]

व्याख्या—'विसघाइ'इत्यादि । विषघाति–गरदोपहननशीलं सुवर्णं भवति । रसायनमङ्गलार्थविनीतमिति कर्मधारयपदम् । रसायनं–वयःस्तम्भनम्, मङ्गलार्थं–मङ्गलप्रयोजनम्, विनीतमिव विनीतम्, कटककेयूरादीष्टविशेषैः परिणमनात् । तथा प्रदक्षिणावर्त्तमतितापने प्रदक्षिणावृत्ति, तथा गुरुकम्, अलघुसारत्वात् । अदाह्याकुत्स्यमिति कर्मधारयपदम्, तत्रादाह्यमग्नेरदहनीयम्, सारत्वादेव; अकुत्स्यमकुत्सनीयम्, अकुथितगन्धत्वादिति । एवमष्टौ सुवर्णे हेम्नि, गुणा असाधारणधर्मा, भवन्ति स्युरिति गाथार्थः ॥ ९० ॥ एतत्समानान् साधुगुणानाह—

इय मोहविसं घायइ १, सिवोवएसा रसायणं होइ २ ॥ गुणओ य मंगलत्थ३, कुणइ विणीओ अ जोग्गोत्ति४ ॥

[इति मोहविषं घातयति शिवोपदेशाद्रसायनं भवति ॥ गुणतश्च मङ्गलार्थं करोति विनीतश्च योग्य इति ॥ ९१ ॥]

व्याख्या—'इय'त्ति। इत्येवं सुवर्णवदित्यर्थः, १मोहविष–विवेकचैतन्यापहारि, घातयति–नाशयति केषाञ्चित्, साधुरिति प्रक्रमः । कुतः ? इत्याह–शिवोपदेशान्मोक्षमार्गप्ररूपणात् ॥ तथा स एव २ रसायनमिव रसायन भवति जायते, शिवोपदेशा-

देवाऽजरामररक्षाहेतुत्वात् ॥ तथा गुणतश्च स्वगुणमाहात्म्येन च, ३ मङ्गलार्थं मङ्गलप्रयोजनदुरितोपशममित्यर्थः, करोति विधत्ते ॥ ४ विनीतश्च प्रकृत्यैव भवत्यसौ, योग्य इति कृत्वा ॥ ९१ ॥ तथा—

मग्गणुसारि पयाहिण५, गंभीरो गरुअओ तहा होइ६ ॥ कोहग्गिणा अडज्झो७, अकुच्छो सइ सीलभावेणं८॥

[मार्गानुसारित्वं प्रदक्षिणत्वं गंभीरः गुरुककस्तथा भवति ॥ क्रोधाग्निनाऽदाह्यः अकुत्स्यः सदा शीलभावेन ॥ ९२ ॥]

व्याख्या—'मग्गणुसारि'त्ति । ५ मार्गानुसारित्व सर्वत्र यत्साधोस्तत्प्रदक्षिणावर्त्तत्वमुच्यते ॥ ६ गम्भीरोऽतुच्छचेताः गुरुकको गुरुक इत्यर्थः॥ 'तथा' इति समुच्चये, भवति स्यात् । तथा ७ क्रोधाग्निना अदाह्यः, सुवर्णवत् ॥ ८तथाऽकुत्स्यः सदा शीलभावेन शीललक्षणसौगन्ध्यसद्भावेनेति ॥ ९२ ॥ निगमयन्नाह—

एवं सुवन्नसरिसो, पडिपुन्नाहिअगुणो गुरू णेओ ॥ इयरो वि समुचियगुणो, ण उ मूलगुणेहि परिहीणो ॥९३॥

[एवं सुवर्णसदृशः प्रतिपूर्णाधिकगुणो गुरुर्ज्ञेयः ॥ इतरोपि समुचितगुणो न तु मूलगुणैः परिहीनः ॥ ९३ ॥]

'एवं'ति एवमुक्तप्रकारेण सुवर्णसदृशः, सामान्यतो भावसाधुगुणयोगात् । तथा प्रतिपूर्णा अन्यूनाः अधिकगुणाः प्रतिरूपादिविशेषगुणा यस्य स तथा, गुरुर्ज्ञेयः । अपवादाभिप्रायेणाह—इतरोऽपि कालादिवैगुण्यादेकादिगुणहीनोऽपि समुचितगुणः पादार्द्धहीनगुणो गुरुर्ज्ञेयः, नतु मूलगुणैः परिहीनः, तद्रहितस्य गुरुलक्षणवैकल्यप्रतिपादनाद् । उक्त च (पंचाशक ११ मुं) गुरुगुणरहिओ वि इहं, दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो जो"त्ति । मूलगुणसाहित्ये तु समुचितगुणलाभाद् न किञ्चिद्गुणवैकल्येनाऽगुरुत्वमुद्भावनीयमिति भावः ॥ उक्तं च—"ण उ गुणमित्तविहूणोत्ति, चंडरुद्दो उदाहरणं ॥ ३५ ॥" ति ॥ ९३ ॥

उचितगुणश्च गुरुर्न परित्याज्यः, किन्तु तदाज्ञायामेव वर्तितव्यमित्याह—

एयारिसो खलु गुरू, कुलवहुणाएण णेव मोत्तव्वो ॥ एयस्स उ आणाए, जइणा धम्मंमि जइअव्वं ॥९४॥

[एतादृशः खलु गुरुः कुलवधूज्ञातेन नैव मोक्तव्यः ॥ एतस्य त्वाज्ञया यतिना धर्मे यतितव्यम् ॥ ९४ ॥]

व्याख्या—एतादृश उचितगुणः, खलु निश्चये, गुरुः कुलवधूज्ञातेन नैव मोक्तव्यः । यथाहि-कुलवधूर्भर्त्रा भर्त्सिताऽपि तच्चरणौ न परित्यजति, तथा सुशिष्येण भर्त्सितेनाप्युचितगुणस्य गुरोश्चरणसेवा न परित्याज्येति भावः । 'तु' पुनः, एतस्योचितगुणस्य, गुरोराज्ञया यतिना धर्मे यतितव्यम् ॥९४॥ तदाज्ञास्थितस्य च यो गुणः सम्पद्यते तमाह—

गुरुआणाइ ठियस्स य, वज्झाणुट्ठाणसुद्धचित्तस्स ॥ अज्झप्पज्झाणम्मि वि, एगग्गत्तं समुल्लसइ ॥ ९५ ॥

[गुर्वाज्ञायां च स्थितस्य च बाह्यानुष्ठानशुद्धचित्तस्य ॥ अध्यात्मध्यानेपि एकाग्रत्वं समुल्लसति ॥ ९५ ॥]

व्याख्या—'गुरुआणाइ'त्ति । गुर्वाज्ञास्थितस्य च परिणतव्यवहारस्य सतो, बाह्यानुष्ठानेन-विहितावश्यकादिक्रियायोगरूपेण शुद्धचित्तस्य ज्ञानयोगप्रतिबन्धककर्ममलविगमविशदीकृतहृदयस्य निश्चयावलम्बनदशायां शुद्धात्मस्वभावपरिणतौ प्रकटीभूतायाम्, अध्यात्मध्यानेऽपि एकाग्रत्वं समुल्लसति ॥ ९५ ॥ ततः किं भवति? इत्याह—

तंमि य आयसरूवं, विसयकसायाइदोसमलरहिअं ॥ विन्नाणाणंदघणं, परिसुद्धं होइ पच्चक्खं ॥ ९६ ॥

[तस्मिश्चात्मस्वरूपं विषयकषायादिदोषमलरहितं ॥ विज्ञानानन्दघनं परिशुद्धं भवति प्रत्यक्षम् ॥ ९६ ॥]

व्याख्या—'तंमि य'त्ति। तस्मिंश्चाध्यात्मध्यानैकाग्रत्वे समुल्लसिते, विषयाः शब्दादय इन्द्रियार्थाः, कषायाः क्रोधमानमायालोभास्तदादयो ये दोषमला जीवगुणमालिन्यहेतवस्तद्रहिते, तथा विज्ञानानन्दघनं स्वरूपप्रतिभासप्रशमसुखैकरसतामापन्नं, परिशुद्धमनुपहितस्फटिकरत्नवत् प्रकृत्यैव निर्मलमात्मस्वरूपम्, प्रत्यक्षं भवति ॥ ९६ ॥

ततश्चात्मन्येव रतस्य तत्रैव तृप्तस्य तत्रैव च सन्तुष्टस्य स्वात्ममात्रप्रतिबन्धविश्रान्ततया विकल्पोपरमः स्यादित्याह—

जलहिम्मि असंखोभे, पवणाभावे जहा जलतरंगा ॥ परपरिणामाभावे, णेव विअप्पा तया हुंति ॥९७॥

[जलधावसंक्षोभे पवनाभावे यथा जलतरङ्गाः ॥ परपरिणामाभावे नैव विकल्पास्तदा भवन्ति ॥ ९७ ॥]

'जलहिम्मि'त्ति। असंक्षोभे संक्षोभपरिणामरहिते, जलधौ समुद्रे, पवनाभावे यथा जलतरङ्गा नैव भवन्ति, तथा तदा आत्मस्वरूपप्रत्यक्षतादशायां, परपरिणामस्य पुद्गलग्रहणमोचनपरिणामस्याभावे, नैव विकल्पाः शुभाशुभरूपाश्रितविप्लवा, भवन्ति ॥९७॥अध्यात्मध्यानजनितायामात्मस्वरूपप्रत्यक्षतादशाया संहृतसकलविकल्पावस्थायां सूक्ष्मविकल्पोपरमेणैव स्थूलविकल्पोपरमदार्ढ्यमाह

का अरती आणंदे, केवत्ति वियप्पणं ण जत्थुत्तं ॥ अण्णे तत्थ वियप्पा, पुग्गलसंजोगजा कत्तो ॥ ९८॥

[का अरतिः आनन्दः कोवेति विकल्पनं न यत्रोक्तम् ॥ अन्ये तत्र विकल्पाः पुद्गलसंयोगजाः कुतः ॥ ९८ ॥]

व्याख्या—'का अरति'त्ति। का अरतिः? को वा आनन्दः? इति विकल्पनमपि न, यत्र—आत्मस्वरूपप्रत्यक्षतायाम्, उक्तम्, अध्यात्मशास्त्रे स्वरूपानुभवमग्नतया सन्निहितसुखदुःखविकल्पस्य सूक्ष्मस्याप्यनवकाशात्, तत्रान्ये विकल्पाः स्थूलाः पुद्गलसंयोगजा गृहधनस्वजनभोजनादिपुद्गलसंसर्गजनिताः, कुतो भवन्ति? अपि तु न कुतश्चित्; स्वाभाविकधर्मज्ञानसामग्र्या

औपाधिकधर्मज्ञानमात्रं प्रति प्रतिबन्धकत्वादिति भावः । तदयं शुद्धात्मस्वभावानुभवनामा सन्मात्रार्थनिर्भासो धर्मशुक्लध्यानफलं विगलितवेद्यान्तरचिदानन्दनिष्यन्दभूतोऽविकल्पः समाधिरुपगीयते ॥ ९८ ॥ अस्यैवाविकल्पसमाधेरुपायभूतं शुद्धं विकल्पमुपदर्शयति—

अण्णे पुग्गलभावा, अण्णो एगो य नाणमित्तोहं॥ सुद्धो एस वियप्पो, अविअप्पसमाहिसंजणओ ॥९९॥

[अन्ये पुद्गलभावा अन्य एकश्च ज्ञानमात्रमहं ॥ शुद्ध एष विकल्पः अविकल्पसमाधिसंजनकः ॥ ९९ ॥]

व्याख्या–'अण्णे'त्ति। पुद्गलभावाः पुद्गलपरिणामाः-कायमनोवागानप्राणकर्मवर्गणाधनगृहक्षेत्रारामादिसंस्थानभाजोऽविद्याप्रपञ्चोपरचितममकारविपयीभूताः, अन्ये–मदात्मद्रव्यादेकान्तेन पृथग्भूताः, कालत्रयेऽप्युपयोगलक्षणासंस्पर्शादिति भावः । अहं च ज्ञानमात्रमुपयोगमात्रस्वभाव इति हेतोः पुद्गलभावेभ्योऽन्य एकश्च, कालत्रयेऽप्यन्यद्रव्यसंसर्गेऽपि तत्स्वभावापरिग्रहाद् अनन्तपर्यायाविर्भावतिरोभावाभ्यामप्यविचलितशुद्धात्मद्रव्यैकशक्तिमत्त्वाच्च । न च ज्ञानदर्शनचारित्ररूपरत्नत्रयस्वभावशालित्वेनापि शुद्धात्मद्रव्यस्यैकत्वक्षतिः सम्भवति प्रभानैर्मल्यदोपहरणशक्तिगुणयोगाज्जात्यरत्नस्येवेति । एष शुद्धात्मद्रव्यविपयत्वेन शुद्धो विकल्पः, अविकल्पसमाधेः सम्यक् प्रकारेण जनकः, एतज्जनितसंस्कारस्य विकल्पान्तरसंस्कारविरोधित्वेन ततस्तदनुत्थानाद्, एतस्य च वह्नेर्दाह्यं नाशयतु विनाशवदशुभविकल्पजालमुच्छेद्य स्वत एवोपरमादिति ॥ ९९ ॥

तदेतदध्यात्मध्यानमविकल्पसमाधिसम्बन्धबन्धुरमित्येतदेवाभिष्टुवन्नाह—

एयं परम नाणं, परमो धम्मो इमो च्चिय पसिद्धो ॥ एयं परमरहस्सं, णिच्छयसुद्धं जिणा विंति ॥१००॥

[एतत्परमं ज्ञानं परमो धर्मोऽयमेव प्रसिद्धः ॥ एतत्परमरहस्यं निश्चयशुद्धं जिना ब्रुवते ॥ १०० ॥]

व्याख्या—'एष परमं'ति । एतदध्यात्मध्यानं **परमं ज्ञानं**, ज्ञानस्य विरतिफलत्वाद्, विरतेश्च समतासारत्वात्, समतायाश्चैतदायत्तत्वादिति भावः। **परमो धर्मोऽयमेव प्रसिद्धः**, दुर्गतौ पततो जन्तोर्धरणात्, सिद्धिगतौ नियमेन धारणाच्च ॥ **एतच्च परमरहस्यमुत्कृष्टोपनिपद्भूतं**, निश्चयशुद्ध पारमार्थिकनयविशदीकृतं, जिनास्तीर्थकरा, ब्रुवते । यदागमः–(ओघनिर्युक्तौ)

"परमरहस्समिसी(मी)णं, समत्तगणिपिडगझरिअसाराणं ॥ परिणामियं पमाणं, णिच्छयमवलंबमाणाणं ॥७६०॥" [परमरहस्यमृपीणां (मेपां) समस्तगणिपिटकस्मृतसाराणां ॥ परिणामः प्रमाणं निश्चयमवलम्बमानानाम्] पञ्चवस्तु गाथा ६०२ ॥ १०० ॥

अध्यात्मस्य प्रवचने परमरहस्यत्वादेव परीक्षकैः सर्वत्र तदनुल्लङ्घनेनैव प्रवृत्तिः कर्त्तव्येत्यभिप्रायवानाह—

अज्झप्पाबाहेण, विसयविवेग अओ मुणी बिंति ॥ जुत्तो हु(हि)धम्मवाओ, ण सुक्कवाओ विवाओ वा॥१०१॥

[अध्यात्मावाधेन विपयविवेकमतो मुनयो ब्रुवन्ति ॥ युक्तः खलु (हि) धर्मवादः न शुष्कवादो विवादो वा ॥ १०१ ॥]

व्याख्या—'अज्झप्पाबाहेण'ति । अतोऽध्यात्मस्य परमरहस्यत्वादध्यात्माबाधेन–स्वपरगतमैत्र्यादिसमन्वितशुभाशयाविच्छेदेन, विषयविवेकं निर्णिनीपितार्थनिर्णयं, ब्रुवते मुनयो विगलितरागद्वेपाः साधवः, कर्त्तव्यमिति शेपः । हि यतो धर्मवाद एव मध्यस्थेन पापभीरुणा च समं तत्त्वनिर्णयार्थमपक्षपातेन कथाप्रारम्भलक्षणो युक्त', तत्त्वज्ञानफलत्वात् तस्य(स्याः), न शुष्कवादः, जये पराजये वा परस्य स्वस्य चानर्थलघुत्वापत्तेः कण्ठशोपमात्रफलः, विवादो वा–दुःस्थितेनार्थिना सह छलजातिप्रधानो जल्पः, युक्तः, साधूना माध्यस्थ्यप्रधानत्वात्, शुभानुबन्धित्वाच्च साधूनां प्रयत्नस्य ॥ १०१ ॥

तदेवं धर्मवादेनैवाध्यात्माबाधेन तत्त्वनिर्णयस्य कर्त्तव्यत्वाच्छिष्टाचारानुरोधेन तथोद्देशेनैव प्रारब्धस्य स्वग्रन्थफलोपहितत्वं प्रदर्श-

यन्नन्यैरपि तत्त्वनिर्णयसिद्ध्यर्थमित्थमेव भणितव्यमित्युपदेशमाह—

भणियं किंचि फुडमिण, दिसाइ इय धम्मवायमग्गस्स॥ अण्णेहि वि एवं चिय, सुआणुसारेण भणियव्वं॥१०२॥

[भणितं किञ्चित्स्फुटमिदं दिशेति धर्मवादमार्गस्य ॥ अन्यैरप्येवमेव श्रुतानुसारेण भणितव्यम् ॥ १०२ ॥]

व्याख्या—'भणिय'ति । इत्युक्तहेतोः, धर्मवादमार्गस्य दिशैव स्फुटमिद किञ्चित्प्रकृतार्थगोचरं, भणितं मया, तेन च तात्पर्यार्थदृष्ट्या तत्त्वनिर्णयसिद्धिरपि कृतैवेति भावः ॥ अन्यैरपि धर्मपरीक्षकैः, एवमेव श्रुतानुसारेण भणितव्यम् । इत्थमेव प्रकृतार्थभ्रमनिवृत्त्या तत्त्वज्ञानसिद्धे रागद्वेषपरिणामाभावेन कल्याणवीजसम्पत्तेश्चेति भावनीयम् ॥ १०२ ॥ सर्वस्वोपदेशमाह—

किं बहुणा इह जह जह, रागद्दोसा लहुं विलिज्जंति ॥ तह तह पयट्टियव्वं, एसा आणा जिणिंदाणं ॥१०३॥

[किं बहुनेह यथा यथा रागद्वेषौ लघु विलीयेते ॥ तथा तथा प्रवर्तितव्य एषा आज्ञा जिनेन्द्राणाम् ॥] स्पष्टा ॥ १०३ ॥

एसा धम्मपरिक्खा, रइआ भविआण तत्तबोहट्ठा ॥ सोहिंतु पसायपरा, तं गीयत्था विसेसविऊ ॥१०४॥

[एषा धर्मपरीक्षा रचिता भव्यानां तत्त्वबोधार्थाय ॥ शोधयन्तु प्रसादपराः तां गीतार्थाः विशेषविदः ॥] स्पष्टा ॥ १०४ ॥

सूरिश्रीविजयादिदेवसुगुरोः पट्टाम्बराहर्मणौ, सूरिश्रीविजयादिसिंहसुगुरौ शक्रासन भेजुषि ॥
सूरिश्रीविजयप्रभे श्रितवति प्राज्यं च राज्य कृतो, ग्रन्थोऽय वितनोतु कोविदकुले मोद विनोदं तथा ॥ १ ॥

यत्किमपि तपोदानाध्ययनयमनियमादिषु पराक्रान्तमुद्यमः कृतवानशुद्धम्–अविशुद्धकारि प्रत्युत कर्मबन्धाय, भावोपहतत्वाद् मलिदानत्वाद्वेति, कुवैद्यचिकित्सावद् विपरीतानुबन्धित्वाद्वेति (बन्धीति) तच्च तेषां पराक्रान्तं सह फलेन कर्मबन्धेन वर्तते इति सफलं सर्वश इति । सर्वा अपि तत्क्रियास्तपोऽनुष्ठानादिकाः, कर्मबन्धायेत्युत्तरार्द्धव्याख्यानात् । 'पण्डितानामपि त्यागादिभिर्लोकपूज्यानामपि सुभटवादं वहतामपि सम्यक्त्वपरिज्ञानविकलानां सर्वक्रियावैफल्याद् न मिथ्यादृशां कृपावतामपि क्रियावतामपि लेशतोऽप्याराधकत्वम्' इत्यपास्तम् । एतेन भवाभिनन्दिनां मिथ्यादृशां सर्वक्रियावैफल्यसिद्धावपि तद्विलक्षणानां भावानुपहतत्वेन देशाराधकत्वाप्रतिघातात्, एतेन 'मिथ्यादृशां सर्वं कृत्यं निरर्थकम्' इत्यादीन्यपि वचनानि व्याख्यातानि, विशिष्टफलाभावापेक्षयाऽपि निरर्थकत्ववचनदर्शनात् । पठ्यते च–"नाणं चरित्तहीणं, लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं । संजमहीणं च तवं, जो चरइ णिरत्थयं तस्स ॥' (उपदेशमाला गाथा ४२०) इत्यादि । [ज्ञानं चारित्रहीनं लिङ्गग्रहणं च दर्शनविहीनम् । संयमहीनं च तपो यश्चरति निरर्थकं तस्य ॥] अथ पोपमासे वटवृक्षाम्रवृक्षयोः सहकारफलं प्रत्यकारणत्ववचनयोर्यथा स्वरूपयोग्यता–सहकारियोग्यताऽभावेन विशेषस्तथा मिथ्यादृक्कृत्यचारित्रहीनज्ञानादिनिरर्थकतावचनयोरपि स्फुट एव विशेष इति चेत्, तर्हि अयमपरोऽपि विशेषः परिभाव्यतां । सहकारफलस्थानीयं मोक्षं प्रति भवाभिनन्दिमिथ्यादृक्कृत्यं वटवृक्षवदयोग्यम्, अपुनर्बन्धकादिकृत्यं तु सहकाराङ्कुरवत्पारम्पर्येण योग्यमिति सम्यगिदं निपुणं निभालनीयम् ॥२४॥ 'तदेव श्रुतवांश्च बालतपस्वी देशाराधकः' इति वृत्तिगतः प्रथमपक्षः समर्थितः, अथ तद्गतं द्वितीयं पक्षं समर्थयति–

पक्खंतरम्मि भणिओ, गीयत्थाणिस्सिओ अगीओ सो ॥ जो णभिणिविट्ठचित्तो, भीरू एगंतसुत्तरुई ॥२५॥

[पक्षान्तरे भणितो गीतार्थनिश्रितोऽगीतः सः । योऽनभिनिविष्टचित्तो भीरुरेकान्तसूत्ररुचिः ॥ २५ ॥]

पक्खंतरम्मित्ति । पक्षान्तरे—अन्येषामाचार्याणां व्याख्याने, गीतार्थानिश्रितोऽगीतार्थः स देशाराधको भणितः, योऽनभिनिविष्टचित्तः-आत्मोत्कर्ष-परद्रोह-गुरु-गच्छादिप्रद्वेषमूलासद्ग्रहाकलङ्कितचित्तः, भीरुः-कुतोऽपि हेतोरेकाकिभावमाश्रयन्नपि स्वेच्छानुसारेण प्रवर्तमानोऽपि स्वारसिकजिनाज्ञाभयः(यवान्),एकान्तसूत्ररुचिः-अव्याकृतसूत्रमात्रानुसारी। अयं भावः-एकाकिनस्तावत्प्रायश्चारित्रासम्भव एव, स्वयं गीतार्थस्य तन्निश्रितागीतार्थस्य वा चारित्रसम्भवात् । न हि चारित्रपरिणामे सति गुरुकुलवासमोचनादिक्रमसमञ्जसमापद्यते । उक्त च पञ्चाशके(११मे)"ता ण चरणपरिणामे, एय असमंजसं इहं होइ ॥ आसन्नसिद्धियाणं, जीवाण तहा य भणियमिणं ॥१५॥ नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य॥ धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥१६॥" [ततो न चरणपरिणामे एतदसमञ्जसमिह भवति । आसन्नसिद्धिकाना जीवाना, तथा च भणितमिदम् ॥ ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरको दर्शने चारित्रे च । धन्या यावत्कथं गुरुकुलवास न मुञ्चन्ति ॥] ततः कष्टविहारिणोऽप्येकाकिनो गुरुकुलवासैकाकिविहारयोर्गुणदोषविपर्यासमवबुध्यमानस्य स्वाभिनिवेशात्तपोरतस्यानागमिकत्वेनैकाकित्वेन च प्रवचननिन्दाकारिणः शेषसाधुषु पूजाविच्छेदाभिप्रायतश्च प्रायो बह्वसमीक्षितकारित्वेनाभिन्नग्रन्थित्वाद् बाह्यवदसाधुत्वमेव ॥ तदुक्तम्—" जे उ तह विवज्जत्था, सम्मं गुरुलाघवं अयाणंता ॥ सग्गाहा किरियरया, पवयणखिंसावहा खुद्दा ॥३७॥ पायं अभिन्नगंठी, तमाउ तह दुक्करपि कुव्वंता ॥ बज्झा व ण ते साहू, धंखाहरणेण विन्नेया ॥३८॥"त्ति [ये तु तथा विपर्यस्ताः सम्यग् गुरुलाघवमजानन्तः । स्वाग्रहात् क्रियारताः प्रवचनखिंसा-(निन्दा) वहाः क्षुद्राः ॥ प्रायोऽभिन्नग्रन्थयः तमसः तथा दुष्करमपि कुर्वन्तः । बाह्या इव न ते साधवः ध्वाङ्क्षोदाहरणेन विज्ञेयाः] तथापि न सर्वेषां सदृशः परिणाम इति, यस्यैकाकिनो विहारिणो नातिक्रूरः परिणामः, किन्तु मृगपर्षदन्तर्गतस्य साधोरपवादादिभीरुतयैव

तथाविधकर्मवशाद् गच्छवासभीरुतयैकाकित्वं सम्पन्नम्, सूत्ररुचिश्च न निवृत्ता, तस्य स्वमत्यनुसारेण सदाप्रवृत्तेर्बह्वज्ञानकष्टे पतति। किञ्चित्तु कदाचित्परिणामविशेषवशादागमानुपात्यपि स्यात्। तदुक्तमुपदेशमालायाम्–" अपरिणिच्छियसुअणिहस्स केवलमभिन्नसुत्तचारिस्स ॥ सव्वुज्जमेण वि कयं, अन्नाणतवे बहुं पडइ ॥" (गाथा ४१५) इति ॥ एतद्वृत्तिर्यथा–"अपरिनिश्चितः सम्यगपरिच्छिन्नः श्रुतनिकष आगमसद्भावो येन स तथा तस्य, केवलमभिन्नमविवृतार्थं यत्सूत्रं विशिष्टव्याख्यानरहितं सूत्रमात्रमित्यर्थः, तेन चरितुं तदनुसारेणानुष्ठानं कर्तुं धर्मो यस्य सोऽभिन्नसूत्रचारी तस्य, सर्वोद्यमेनापि समस्तयत्नेनापि, कृतमनुष्ठानम्, अज्ञानतपसि पञ्चाग्निसेवनादिरूपे, बहु पतति स्वल्पमेवागमानुसारि भवति, विषयविभागविज्ञानशून्यत्वादिति ॥" यद्यपि स्वमत्या प्रवर्तमानानां घुणाक्षरन्यायात्समागतं किञ्चित्क्षुद्रमपि कृत्यं नागमानुपाति, अन्यथा निह्नवानामपि तदापत्तेः, तथाऽपि शुद्धक्रियाजन्यनिर्जराप्रतिबन्धकस्वमतिविकल्पे यत्किञ्चिदागमानुपाति शिष्टसंमतं न तत्प्रमाणम्, न तु स्वमतानुसारित्वेनैवागमः प्रमाणमित्येवंविधोऽनभिनिवेशविकल्प उत्तेजक इति न दोषः। तदेवंविधो गीतार्थनिश्रिततपश्चरणरतोऽगीतार्थः बालतपस्वी च शीलवान् श्रुतवान् मार्गानुसारित्वेन देशाराधक इत्युभयोः पक्षयोर्नातिविशेष इति द्रष्टव्यम् ॥ २५ ॥

ननु 'लौकिकमिथ्यात्वाल्लोकोत्तरमिथ्यात्वं बलीयः' इति हेतोरुभयोर्महाभेद एव इत्यत आह—

लोइअमिच्छत्ताओ, लोउत्तरियं तयं महापावं ॥ इअ णेगंतो जुत्तो, जं परिणामा बहुविअप्पा ॥ २६ ॥

[लौकिकमिथ्यात्वाल्लोकोत्तरिकं तद् महापापम्। इत्येकान्तो न युक्तो यत्परिणामा बहुविकल्पाः ॥ २६ ॥]

लोइअमिच्छत्ताओत्ति। 'लौकिकमिथ्यात्वाल्लोकोत्तरिकं तत् मिथ्यात्वं, महापापम्' इत्येकान्तो न युक्तः,

यत्परिणामा बहुविकल्पा नानाभेदाः सम्भवन्ति । तथा च यथा लौकिक मिथ्यात्व तीव्रमन्दादिभेदान्नानाविधं तथा लोकोत्तरमपीति न विशेषः, प्रत्युत ग्रन्थिभेदानन्तरमल्पबन्धापेक्षया लोकोत्तरमेवाल्पपापमिति । तदुक्त योगबिन्दुसूत्रवृत्त्यो·—"भिन्नग्रन्थेस्तृतीय तु, सम्यग्दृष्टेरतो हि न ॥ पतितस्याप्यते बन्धो, ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य देशितः ॥ २६६ ॥ व्याख्या-भिन्नग्रन्थेस्तृतीय तु अनिवृत्तिकरणं पुनर्भवति । एव सति यत्सिद्धं तदाह-सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य, अतो हि अत एव करणत्रयलाभादेव हेतोः, न नैव, पतितस्य तथाविधसङ्क्लेशात्सम्यक्त्वात्परिभ्रष्टस्य, आप्यते लभ्यते, बन्धो ज्ञानावरणादिपुद्गलग्रहरूपः, कीदृशोऽय ? इत्याह-ग्रन्थिं ग्रन्थिभेदकालभाविनीं कर्मस्थितिमित्यर्थः, उल्लङ्घ्य अतिक्रम्य, देशितः सप्ततिकोट्यादिप्रमाणतया प्रज्ञप्तः, "बधेण ण वोलइ कयाइ"[बन्धेन नातिक्रामति कदाचिद् ।] इत्यादिवचनप्रामाण्यात् ॥२६६॥ एव सामान्यतो ज्ञेयः, परिणामोऽस्य शोभनः ॥ मिथ्यादृष्टेरपि सतो, महाबन्धविशेषतः ॥२६७॥ एव ग्रन्थेरुल्लङ्घनेन बन्धाभावात्, सामान्यतः न विशेषेण, ज्ञेयः परिणामोऽस्य-सम्यग्दृशः, शोभनः प्रशस्तो, मिथ्यादृष्टेरपि सतः तथाविधमिथ्यात्वमोहोदयात्, कुतः ? इत्याह-महाबन्धविशेषतः इह द्विधा बन्धः, महाबन्ध इतरबन्धश्च । तत्र मिथ्यादृष्टेर्महाबन्धः, शेषश्चेतरस्य । ततो महाबन्धस्य विशेपतोऽवस्थान्तरविशेषात् । इदमुक्तं भवति-लब्धसम्यक्त्वस्य प्राणिनो मिथ्यादृष्टित्वेऽपि न सामान्यमिथ्यादृष्टेरिव बन्धः, किन्तु कश्चिदत्यन्तन्यूनः॥२६७॥तद्विशेष एव कुतः ? इत्याह-सागरोपमकोटीना, कोट्यो मोहस्य सप्ततिः ॥ अभिन्नग्रन्थिबन्धो यद्, न त्वेको(का)पीतरस्य तु ॥ २६८ ॥ सागरोपमकोटीनां कोट्यो मोहस्य सप्ततिः कर्मग्रन्थप्रसिद्धा, अभिन्नग्रन्थेर्जीवस्योत्कर्षतो बन्धो,यद् यस्मात्कारणात्, न तु न पुनः, एको(का)पि सागरोपमकोटाकोटीबन्धः, इतरस्य तु भिन्नग्रन्थेः पुनर्मिथ्यादृष्टेरपि सतः॥२६८॥अथोपसंहरन्नाह-तदत्र परिणामस्य, भेदकत्वं नियोगतः

बाह्य त्वसदनुष्ठानं, प्रायस्तुल्यं द्वयोरपि ॥२६९॥ यतो ग्रन्थिमतिक्रम्यास्य न बन्धः, तत् तस्माद्, अत्र अनयोर्भिन्नग्रन्थीतरयोर्जीवयोर्विषये, परिणामस्य अन्तःकरणस्य, भेदकत्व भेदकभावो, नियोगतः नियोगेन, (नियमेन) बाह्य तु बहिर्भवं पुनः, असदनुष्ठानमर्थोपार्जनादि, प्रायो बाहुल्येन, तुल्य समं, द्वयोरप्यनयोरिति ॥२६९॥" सैद्धान्तिकमतमेतद् । येऽपि कार्मग्रन्थिका भिन्नग्रन्थेरपि मिथ्यात्वप्राप्तावुत्कृष्टस्थितिबन्धमिच्छन्ति, तेषामपि मतेन तथाविधरसाभावात् तस्य शोभनपरिणामत्वे न विप्रतिपत्तिः॥ यद्यपि अल्पबन्धेऽपि भिन्नग्रन्थेरशुभानुबन्धान्मिथ्यात्वप्राबल्येऽनन्तसमारित्वं सम्भवति, तथाऽपि मन्दीभूत लोकोत्तरमिथ्यात्वं सन्निहितमार्गावतरणबीज स्यादिति विशेषः। न चैवं 'लौकिकमिथ्यात्वाल्लोकोत्तरमिथ्यात्वं शोभनं'-इत्येकान्तोऽपि ग्राह्यः, लोकोत्तरस्यापि भिन्नग्रन्थीतरसाधारणत्वात्, मुग्धाना परेषां मिथ्यात्ववृद्धिजनकतया लोकोत्तरमिथ्यात्वस्यापि महापापत्वेनोक्तत्वाच्च। यदागमः- "जो जहवाय ण कुणइ, मिच्छदिट्ठी तओ हु को अण्णो ॥ वड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संक जणेमाणो॥" (पिण्डनिर्युक्ति गाथा. १८६योयथावाद न करोति मिथ्यादृष्टिस्ततः खलु कोऽन्यः। वर्धयति च मिथ्यात्व परेषा शङ्का जनयन्)" इति। तस्मादत्रानेकान्त एव श्रेयानिति॥२६॥

गीतार्थनिश्रितमपि देशाराधकमाह—

पढमकरणभेएणं, गंथासन्नो जई व सड्ढो वा ॥ णेगमणयमयभेआ, इह देसाराहगो णेओ ॥ २७ ॥

[प्रथमकरणभेदेन ग्रन्थ्यासन्नो यतिर्वा श्राद्धो वा । नैगमनयमतभेदादिह देशाराधको ज्ञेयः ॥ २७ ॥]

पढमत्ति। प्रथमकरणभेदेन यथाप्रवृत्तकरणावस्थाविशेषेण, ग्रन्थ्यासन्नो ग्रन्थिनिकटवर्ती अपुनर्बन्धकादिभावशाली, यतिर्वा श्राद्धो वा, इह प्रकृतविचारे, नैगमनयमतभेदात्प्रस्थकन्यायेन विचित्रावस्थाऽभ्युपगन्तृनैगमनयमतविशेषाश्रयणाद्देशाराधको

ज्ञेयः ॥ अयं भावः ॥ गीतार्थस्तावत्प्रकृतिभद्रकत्वादिगुणवतां प्राणिनां योग्यताविशेषमवगम्य केषाञ्चिज्जिनपूजा-तपोविशेष-प्रतिक्रमण-सामायिकादिश्रावकधर्मं समर्पयन्ति, केषाञ्चिच्च प्रव्रज्यामपि, तेषां चाव्युत्पन्नदशायां मदनुष्ठानरागमात्रेण तदनुष्ठानं धर्ममात्रहेतुतया पर्यवस्यति । तदुक्तं पूजामधिकृत्य विंशिकायाम् (विं०८) "पढमकरणभेएण, गंथासन्नस्स धम्ममित्तफला ॥ सा हुज्जुगाइभावो, जायइ तह नाणुबधुत्ति ॥८॥"[प्रथमकरणभेदेन ग्रन्थ्यासन्नस्य धर्ममात्रफला । सा खल्वृजुकादिभावो जायते नानुबन्ध इति ॥] तपोविशेषमाश्रित्योक्तं पञ्चाशके(प०१९)"एव पडिवत्तीए, इत्तो मग्गाणुसारिभावाओ॥ चरणं विहिअं बहवे, पत्ता जीवा महाभागा ॥२७॥"[एवं प्रतिपत्त्येतो मार्गानुसारिभावात् । चरणं विहितं बहवः प्राप्ता जीवा महाभागाः ॥] तथा प्रव्रज्यामाश्रित्य तत्रैवोक्तम् (पं०२)"दिक्खाविहाणमेअं, भाविज्जंतं तु तंतणीईए॥ सइअपुणबंधगाण, कुग्गहविरहं लहुं कुणइ॥४४॥"[दीक्षाविधानमेतद् भाव्यमानं तु तन्त्रनीत्या । सकृदपुनर्बन्धकयोः कुग्रहविरहं लघु करोति ॥]"एतद्वृत्तिर्यथा-दीक्षाविधानं जिनदीक्षाविधिः, एतदनन्तरोक्तं, भाविज्जंतं तुत्ति भाव्यमानमपि पर्यालोच्यमानमपि, आस्तामासेव्यमानं। सकृद्बन्धकापुनर्बन्धकाभ्यामिति गम्यम् । अथवा भाव्यमानमेव नाभाव्यमानमपि, तुशब्दोऽपिशब्दार्थ एवकारार्थो वा, तन्त्रनीत्या-आगमन्यायेन, कयोः? इत्याह-सकृदेकदा, न पुनरपि च बन्धो मोहनीयकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धनं ययोस्तौ सकृदपुनर्बन्धकौ तयोः, सकृद्बन्धकस्यापुनर्बन्धकस्य चेत्यर्थः । तथा(त्र)'यो यथाप्रवृत्तकरणेन ग्रन्थिप्रदेशमागतोऽभिन्नग्रन्थिः सकृदेवोत्कृष्टां सागरोपमकोटाकोटिसप्ततिलक्षणां स्थितिं भन्त्स्यति असौ सकृद्बन्धक उच्यते' 'यस्तु तां तथैव क्षपयन् ग्रन्थिप्रदेशमागतः पुनर्न तां भन्त्स्यति भेत्स्यति च ग्रन्थिं सोऽपुनर्बन्धक उच्यते'। एतयोश्चाभिन्नग्रन्थित्वेन कुग्रहः सम्भवति, न पुनरविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनाम्, मार्गाभिमुखमार्गपतितयोस्तु कुग्रहसम्भवेऽपि तत्त्यागः एव तद्भावनामात्रसाध्य इत्यत उक्तं-

सकृद्बन्धकापुनर्बन्धकयोरिति । एतयोश्च भावसम्यक्त्वाभावादीक्षायां द्रव्यसम्यक्त्वमेवमारोप्यते इति । कुग्रहविरहं असदभिनिवेशवियोग, लघु शीघ्र, करोति विरत्ते, [इह विरहशब्देन हरिभद्राचार्यकृतत्त्व प्रकरणस्यावेदितं विरहाङ्कत्वात्तस्येत्येवं सर्वत्रेति गाथार्थः]॥" तथा च धर्ममात्रफलानुष्ठानवता गीतार्थनिश्रितसाधुश्रावकाणामपि भावतोऽनधिगतश्रुतज्ञानत्वाच्छीलवत्त्वाच्च देशाराधकत्वमेव तथैव परिभाषणात्, चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषाद्भावतोऽधिगतश्रुतज्ञानाना शीलवतां द्रव्यतोऽल्पश्रुतानामपि माषतुषादीनां त्वेव सर्वाराधकत्वमेव परिशिष्यते इति द्रष्टव्यम् ॥ २७ ॥ विवेचितः प्रथमो भङ्गः, अथ द्वितीयं भङ्गं विवेचयन्नाह—

देसस्स भंगओ वा, अलाहओ वा विराहगो बीओ ॥ संविग्गपक्खिओ वा, सम्मदिट्ठी अविरओ वा ॥२८॥

[देशस्य भङ्गतो वा अलाभतो वा विराधको द्वितीयः । संविग्नपाक्षिको वा सम्यग्दृष्टिरविरतो वा ॥ २८ ॥]

देसस्सत्ति । देशस्य मोक्षमार्गतृतीयांशभूतस्य चारित्रस्य गृहीतस्य, भङ्गादलाभाद्वा देशस्य, विराधको ज्ञेयः । स च देशभङ्गापेक्षया संविग्नपाक्षिको, देशाप्राप्त्यपेक्षया चाविरतसम्यग्दृष्टिः, तथा च 'ज्ञानदर्शनवत्त्वे सति चारित्रभङ्गाप्राप्त्यन्यतरवत्त्वं, देशविराधकत्वमिति' परिभाषितं भवति ॥ इत्थं च जिनोक्तानुष्ठानमधिकृत्यैव कृतप्रतिज्ञानिर्वहणाद्देशाराधकः, विरतिपरित्यागेनैव चाविरतसम्यग्दृष्टिरपि देशविराधकः, "प्राप्तस्य तस्यापालनाद्" इति वचनात् । इत्युभयोरपि प्रकारयोः सविषयत्वेन प्रामाण्यसिद्धेः 'यदप्राप्तेर्वा' इति विकल्पेन व्याख्यानं तत्केनाभिप्रायेण ? इति संशये सम्यग्वक्तृवचनं वयमपि श्रोतुकामाः स्म इति बोध्यम्, यतो यद्यप्राप्तिमात्रेण विराधकत्वं स्यात् तर्हि चरकपरिव्राजकादीनां ज्योतिष्कादूर्ध्वमुपपाताभावः प्रसज्येत, मोक्षकारणभूतानां सम्यग्ज्ञानादीनां त्रयाणां लेशतोऽप्यभावेन देशविरतिसर्वविरत्योर्युगपद्विराधकत्वात् । तथा 'द्वादशाङ्गपर्यन्तनानाश्रुतावधिप्रवृत्त्यप्राप्तिमान्

छद्मस्थसंयतो दूरे, केवल्यप्यप्राप्तजिनकल्पादेर्विराधकः प्रसज्येत' इति यत्परेण प्राचीनग्रन्थदूषणरसिकेण प्रोक्तं तत्परिभाषाज्ञानामात्रविजृम्भितमिति द्रष्टव्यम् । 'यो यदप्राप्तिमान् स तद्विराधक' इति न्यासो च तत्र (प्रायत्र) तात्पर्याभावात्, किन्तूक्तपरिभाषायामेव तात्पर्यात् । तत्फलं च देशविराधकत्वेन देशद्वयाराधकत्वाक्षेपः । तथा च पूर्वभङ्गादाधिक्य लभ्यते, तेन देशविराधक-वेऽविरतसम्यग्दृष्टेर्देशाराधकादप्यधमत्व स्यादित्यपास्तम्, परिभाषितस्य विराधकत्वस्याधमत्वाप्रयोजकत्वात्, प्रत्युत देशद्वयाराधकत्वाक्षेपकतयोत्कर्षप्रयोजकत्वात् । न च परिभाषा न सूत्रनीतिरिति शङ्कनीयम्, " सव्वामगध परिन्नाय निरामगधो परिव्वए " [सर्वामगन्धं परित्यज्य निरामगन्धः परिव्रजेत् ॥ [आचा० अ० २ उ० ३ सू० ८७] इत्यादीना परिभाषासूत्राणामपि तत्रान्यव्यवस्थापितत्वाद् । यदि च देशविराधकत्व नैवं पारिभाषिकमङ्गीक्रियते, तदाऽनुपात्तव्रतः सम्यग्दृष्टिः कस्मिन् भङ्गेऽवतारणीयः ?, न च नावतारणीय एव, सर्वाराधकादन्यत्र सहकारियोग्यताभावाभिधानाय त्रिभिरेव भङ्गैः सर्वेषा तद्विलक्षणाना सङ्ग्राह्यत्वादिति सूक्ष्ममीक्षणीयम् ॥ २८ ॥

तृतीयचतुर्थभङ्गौ विवेचयति—

तइए भंगे साहू, सुअवंतो चेव सीलवंतो अ ॥ उवयारा सड्ढोवि य, भवाभिणंदी चउत्थंमि ॥ २९ ॥

[तृतीये भङ्गे साधुः श्रुतवाँश्चैव शीलवाँश्च । उपचारात् श्राद्धोऽपि च भवाभिनन्दी चतुर्थे ॥ २९ ॥]

तइए भंगेत्ति । श्रुतवाँश्चैव शीलवाँश्च साधुस्तृतीयभङ्गे सर्वाराधकलक्षणे समवतारणीयः, उपरतत्वाद् भावतो विज्ञातधर्मत्वाच्च त्रिप्रकारस्यापि मोक्षमार्गस्याराधकत्वात् । श्राद्धोऽपि चोपचारात् तृतीयभङ्ग एव, देशविरतौ सर्वविरत्युपचारात् ज्ञानदर्शनयोश्चाप्रतिहतत्वात् । तत्र च चतुर्थभङ्गे सर्वविराधकलक्षणे भवाभिनन्दी क्षुद्रत्वादिदोषवान् देशतोऽप्यनुपरतो मिथ्यादृष्टिरिति ॥२९॥

अत्र केचिद्वदन्ति यो मिथ्यादृष्टिरन्यमार्गस्थः स सर्वविराधको भवतु, यस्तु जैनमार्गस्थः स सर्वाभिनिवेश्यपि न तथा, व्यवहारस्य बलवत्त्वात्, "ववहारोवि हु बलवं" [व्यवहारोऽपि खलु बलवान्] । इति वचनप्रामाण्यादिति तन्मतनिराकरणायेमाह–

भावो जेसिमसुद्धो, ते ववहारट्ठियावि एरिसया॥ णिच्छयपरंमुहो खलु, ववहारो होइ उम्मग्गो ॥ ३० ॥

[भावो येषामशुद्धस्ते व्यवहारस्थिता अपीदृशकाः । निश्चयपराङ्मुखः खलु व्यवहारो भवत्युन्मार्गः ॥ ३० ॥

भावोत्ति । भावश्चित्तपरिणामो, येषामशुद्धः–अपुनर्बन्धकाद्युत्तीर्णतरेन लेशेनापि निश्चयास्पर्शी, ते व्यवहारस्थिता अपि स्वाभिमतैहिकप्रयोजनार्थं व्यवहारमाश्रिता अपि,ईदृशकाः सर्वविराधका एव,निश्चयपराङ्मुखः खलु व्यवहार उन्मार्गो भवतीति न तेषां क्लिष्टकर्मणां स त्राणायेति । यस्तु व्यवहारो बलवानभ्यधायि प्रवचने स निश्चयप्रापको, न तु तदप्रापकः । अत एव 'अविधिनाप्यभ्यासो(प्यसौ)विधेयः(या),दुःषमायां विधेर्दुर्लभत्वात्, तस्यैव चाश्रयणे मार्गोच्छेदप्रसङ्गाद्' इत्याद्यशास्त्रीयाभिनिवेशपरित्यागार्थं विधियत्न एव व्यवहारशुद्धिहेतुः शास्त्रे कर्तव्यतयोपदेशि(दर्शि)तः । तदुक्तं पञ्चाशके(प० ३)आलोइऊण एवं, तंतं पुव्वावरेण सूरीहिं । विहिजत्तो कायव्वो,मुद्धाण हियट्ठया सम्मं॥४९॥"इति। एतद्वृत्तिर्यथा–"आलोच्य–विमृश्य, एवं पूर्वोक्तन्यायेन, तन्त्रं प्रवचनम्, कथम्?,इत्याह पूर्वश्च–तन्त्रस्य पूर्वो भागः, अपरश्च–तस्यैवापरो भागः पूर्वापरं तेन सप्तम्यर्थो वा एनप्रत्यये सति पुर्वापरेणेति स्यात्, पूर्वापरभावयोरित्यर्थः, तयोरविरोधेनेति यावत् । अनेन चालोचनमात्रस्य व्यवच्छेदः, तस्य तत्त्वावबोधासमर्थत्वादिति । सूरिभिराचार्यैः पण्डितैर्वा, विधौ विधाने वन्दनागते वेलाद्याराधनरूपे यत्न उद्यमो विधियत्नः । स कर्तव्यो विधातव्यो, विमुक्तालस्यैः स्वयं विधिना वन्दना कार्या, अन्येऽपि विधिनैव ता विधापयितव्या इत्यर्थः । किमर्थमेतदेवम् ? इत्याह–मुग्धानामव्युत्पन्नबुद्धीनां । हितं

श्रेयः, तद्रूपो योऽर्थः वस्तु स हितार्थस्तस्मै हितार्थाय, सम्यगविपरीततया। यदा हि गीतार्था विधिना स्वयं वन्दना विदधति, अन्यॉश्च तथैव विधापयन्ति, तदा मुग्धबुद्धयोऽपि तथैव प्रवर्तन्ते, प्रधानानुसारित्वान्मार्गाणाम् ॥ आह च—"जो उत्तमेहिं मग्गो, पहओ सो दुक्करो न सेसाण ॥ आयरिअमि जयंते,तयणुचरा(रो)के णु सीयति(केणसीएज्जा)॥[य उत्तमैर्मार्गः प्रहतः स दुष्करो न शेषाणाम् । आचार्ये जयति(यतमाने)तदनुचराः के नु सीदन्ति?॥]तथा ॥ जे जत्थ जया जइआ, बहुस्सुआ चरणकरणउज्जुत्ता ॥ जं ते समायरंती, आलंबणं तिव्वसद्धाणं॥ [ये यत्र यदा यदा बहुश्रुताश्चरणकरणोपयुक्ताः। यत्ते समाचरन्ति आलम्बनं तीव्रश्रद्धानाम् ॥]जयत्ति दुःषमादौ, जइअत्ति दुर्भिक्षादाविति । तयाप्रवृत्ताश्च ते वन्दनाराधनजन्यं हितमासादयन्ति, तद्विराधनाजन्यप्रत्यपायेभ्यश्च मोचिता भवन्तीति । अयं चोपदेशोऽसमञ्जसतया स्वयं वन्दना विदधानॉस्तथाऽनवाप्तापुनर्बन्धकाद्यवस्थेभ्यस्तथाविधजिज्ञासादितच्छिद्रविकलेभ्यो जनेभ्यस्ता प्रयच्छतः सूरीन् वीक्ष्य आचार्येण विहितः, एवं हि तत्प्रवृत्तौ तेषामन्येषां चानर्थोऽसमञ्जसक्रियाजन्या च शासनापभ्राजना मा भूदित्यभिप्रायेणेति गाथार्थ इति।" अत एव च कालानुभावाज्जैनप्रवचनेऽप्यल्पस्यैव जनस्याराधकस्य दर्शनात् जिनाज्ञारुचिशुद्धेष्वेव भक्तिबहुमानादि कार्यमिति पूर्वाचार्या वदन्ति ॥ उक्तं चोपदेशपदे "एवं पाएण जणा, कालणुभावा इहपि सव्वेवि । णो सुदरत्ति तम्हा, आणासुद्धेसु पडिबंधो ॥"त्ति ॥८३९॥ एतद्वृत्तिर्यथा, एवमनन्तरोक्तोदाहरणवत्, प्रायेण बाहुल्येन, जना लोकाः, कालानुभावाद् वर्तमानकालसामर्थ्याद्, इहापि जैने मतेऽपि, सर्वेऽपि साधवः श्रावकाश्च, नो नैव, सुन्दराः शास्त्रोक्ताचारसारा वर्तन्ते, किन्त्वनाभोगादिदोषाच्छास्त्रप्रतिकूलप्रवृत्तयः, इतिः पूर्ववत्, तस्मात्कारणात्, आज्ञाशुद्धेषु सम्यगधीतजिनागमाचारवशाच्छुद्धिमागतेषु साधुषु श्रावकेषु च, प्रतिबन्धः बहुमानः कर्तव्य इति"॥३०॥ नन्वेव विधिविकलव्यवहारस्याराधकत्वाप्रयोजकत्वेऽपि

विधिशुद्धव्यवहारस्य भावहीनस्याप्याराधकत्वप्रयोजकत्वे किं बाधकं परं प्रति, तस्य निश्चयप्रापकत्वात् इत्यत आह—

भावुज्झियववहारा, ण किंपि आराहगत्तणं होइ ॥ भावो उ बोहिबीजं, सव्वण्णुमयंमि थोवोवि ॥ ३१ ॥

[भावोज्झितव्यवहारान्न किमप्याराधकत्वं भवति । भावस्तु बोधिबीजं सर्वज्ञमते स्तोकोऽपि ॥ ३१ ॥]

भावुज्झिअत्ति । भावोज्झितव्यवहाराद् भवाभिनन्दिनां द्रव्यव्रतधारिणा विधिसमग्रादपि न किमप्याराधकत्वं भवति, परं प्रति निश्चयप्रापकस्यापि तस्य स्वकार्याकारित्वाद् । भावस्तु सर्वज्ञमते स्तोकोऽपि बोधिबीजम्, विशेषधर्मविषयस्य स्तोकस्यापि भावस्य विशेषफलत्वाद् । अत एवापूर्वा धर्मचिन्ताऽपि प्रथमं समाधिस्थानमुक्तम् । तदुक्तं समवायाङ्गे (१० सम०) "धम्मचिंता वा से असमुप्पण्णपुव्वा समुप्पज्जेज्जा सव्वं धम्मं जाणित्तए" त्ति ॥ एतद्वृत्तिर्यथा— "तत्र धर्मा जीवादिद्रव्याणां उपयोगोत्पादादयः स्वभावास्तेषां चिन्ता—अनुप्रेक्षा, धर्मस्य वा श्रुतचारित्रात्मकस्य सर्वज्ञभाषितस्य 'हरिहरादिनिगदितधर्मेभ्यः प्रधानोऽयम्' इत्येवं चिन्ता धर्मचिन्ता, वाशब्दो वक्ष्यमाणसमाधिस्थानापेक्षया विकल्पार्थः, से इति यः कल्याणभागी तस्य साधोः, असमुत्पन्नपूर्वा पूर्वस्मिन्ननादावतीतकालेऽनुपजाता, तदुत्पादे ह्यपार्द्धपुद्गलपरावर्तान्ते(न्तः)कल्याणस्यावश्यभावात्, समुत्पद्येत—जायेत सः । किं प्रयोजनाय चेयम् ? अत आह—सर्वं निरवशेषं, धर्मं जीवादिद्रव्यस्वभावमुपयोगोत्पादादिकं श्रुतादिरूपं वा, जाणित्तए ज्ञपरिज्ञया ज्ञातुं ज्ञात्वा च प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरणीयधर्मं(कर्म)परिहर्तुम् । इदमुक्तं भवति—धर्मचिन्ता धर्मज्ञानकरणरूपा (भूता) जायते इति ॥ " अत्रापूर्वधर्मचिन्ताया उत्कर्षतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्तव्यवधानेन कल्याणकारणत्वमुक्तम्, अन्यत्र च मुक्त्यद्वेषादिगुणानां चरमपुद्गलपरावर्तव्यवधानेनेति प्रवचनपूर्वापरभावपर्यालोचनया गुणसामान्यस्य चरमावर्तमानत्वमस्माभिरुन्नीयते । यदि

चैवमपि स्वतन्त्रपरतन्त्रसाधारणापुनर्बन्धकादिगुणानामपार्द्धपुद्गलपरावर्तमानत्वमेव सकलगीतार्थसंमतं स्यात् तदा नास्माकमाग्रह इत्य-
स्या परीक्षायामुपयुक्तैर्भवितव्य गीतार्थैः प्रवचनाशातनाभीरुभिः ॥ ३१ ॥

तदेव विवेचिता चतुर्भङ्गी, अथास्या को भङ्गोऽनुमोद्यः ? को वा न ? इति परीक्षते—

तिण्णि अणुमोयणिज्जा, एएसुं णो पुणो तुरियभंगो ॥ जेणमणुमोयणिज्जो, लेसोवि हु होइ भावस्स॥३२॥

[त्रयोऽनुमोदनीया एतेषु न पुनस्तुरीयभङ्गः । येनानुमोदनीयो लेशोऽपि हि भवति भावस्य ॥ ३२ ॥]

तिण्णित्ति । एतेषु देशाराधकादिषु चतुर्षु भङ्गेषु, त्रयो भङ्गाः । देशाराधक–देशविराधक–सर्वाराधकलक्षणा अनुमोदनीयाः,
न पुनस्तुरीयो भङ्गः सर्वविराधकलक्षणः, येन कारणेन, भावस्य लेशोऽपि ह्यनुमोदनीयः, न चासौ सर्वविराधके सम्भवति,
देशाराधकादिषु तु मार्गानुसारिभावविशेषसम्भवात्, तदनुमोदनीयत्वे तद्द्वारा तेषामप्यनुमोदनीयत्वमावश्यकमिति भावः ॥ ३२ ॥

अथ किमनुमोदनीयत्वम् ? का चानुमोदना ? इत्येतल्लक्षणमाह—

अणुमोअणाइ विसओ, जं तं अणुमोअणिज्जयं होइ॥ सा पुण पमोअमूलो, वावारो तिण्ह जोगाणं ॥३३॥

[अनुमोदनाया विषयो यद्वस्तु तदनुमोदनीय भवति । सा पुनः प्रमोदमूलो व्यापारो त्रयाणां योगानाम् ॥ ३३ ॥]

'अणुमोअणाइ'त्ति । अनुमोदनाया विषयो, यद्वस्तु, तदनुमोदनीयं भवति । तद्विषयत्वं न भावस्य साक्षात् भावप्रधा-
नत्वात्साधूनाम् । तदुक्तमोघनिर्युक्तौ–"परमरहस्समिसीणं, समत्तगणिपिडगझरिअसाराणं । परिणामियं पमाणं, णिच्छयमवलंबमा-
णाणं"ति॥७६०॥ [परमरहस्यमेषां समस्तगणिपिटकक्षरितसाराणाम् । परिणामः प्रमाणं निश्चयमवलम्बमानानाम् ॥] तत्कारणक्रियायाश्च

तदुत्पादनद्वारा। यद् हारिभद्रं वचः-(पचा०६)"कज्जं इच्छन्तेण, अणतर कारणपि इट्ठति(तु)॥ जह आहारजतित्ति, इच्छतेणेहमाहारो ॥२४॥"त्ति [कार्यमिच्छता अनन्तर कारणमपीष्टमिति । यथाऽऽहारजतृप्तिमिच्छता इहाहारः॥] पुरुषस्य च तत्सम्बन्धितयेति तत्त्वतः सर्वत्र भावापेक्षमेवानुमोदनीयत्वं पर्यवसति। साऽनुमोदना, पुनः प्रमोदमूलो हर्षपूर्वकः, त्रयाणां योगानां कायवाङ्मनसां, व्यापारो रोमाञ्चोद्गम-प्रशंसा-प्रणिधानलक्षणो न तु मानसव्यापार एव, करणकारणयोरिवानुमोदनाया अपि योगभेदेन त्रिविधायाः सिद्धान्ते प्रतिपादनात् । मानसव्यापारस्यैवानुमोदनात्वे प्रशंसादिसवलनादनुमोदनाफलविशेषानुपपत्तेश्च । न च यथा नैयायिकैकदेशिनां मङ्गलत्वादिकं मानसत्वव्याप्या जातिस्तथाऽस्माकमनुमोदनात्वमपि तथेति, त्रयाणामपि योगानां हर्षमूलो व्यापारोऽनुमोदनेति वस्तुस्थितिः, यश्चानुमोदनाव्यपदेशः क्वचिच्चित्तोत्साहे एव प्रवर्तते स सामान्यवाचकपदस्य विशेषपरत्वात् निश्चयाश्रयणाद्वेत्यवधेयम्॥३३॥

एवं सति योऽनुमोदनाप्रशंसयोर्विषयभेदेन भेदमेवाभ्युपगच्छति तन्मतनिरासार्थमाह--

सामन्नविसेसत्ता, भेओ अणुमोअणापसंसाणं । जह पुढवीदव्वाणं, ण पुढो विसयस्स भेएणं ॥ ३४ ॥

[सामान्यविशेषत्वाद् भेदोऽनुमोदनाप्रशंसयोः । यथा पृथिवीद्रव्ययोः, न पृथग् विषयस्य भेदेन ॥ ३४ ॥]

'सामन्नविसेसत्त'त्ति। अनुमोदनाप्रशंसयोः सामान्यविशेषत्वात् सामान्यविशेषभावाद्भेदः, यथा पृथिवीद्रव्ययोः, द्रव्यं हि सामान्यं, पृथिवी च विशेषः । एवमनुमोदना सामान्यं प्रशंसा च विशेष इत्येतावताऽनयोर्भेदः, न पुनः पृथग् विषयस्य भेदेनात्यन्तिको भेदः, प्रशंसाया अनुमोदनाभेदत्वेन तदन्यविषयत्वासिद्धेः । न हि घटप्रत्यक्षं प्रत्यक्षभिन्नविषयमिति विपश्चिता वक्तुं युक्तम् , न च मानसोत्साहरूपाऽनुमोदनाया अपि प्रशंसाया भिन्नविषयत्वनियमः, प्रकृतिसुन्दरस्यैव वस्तुनः सम्यग्दृशामनुमोदनी-

यत्वात्प्रशंसनीयत्वाच्च। न चानुमोदनायाः स्वेष्टसाधकमेव वस्तु विषयः, तादृशस्यैव तपःसंयमादेरारम्भपरिग्रहादेर्वा विरतैरविरतैश्चा-
नुमोदनात्, न तु परेष्टसाधकम्, आत्मनश्चानिष्टसाधनमपि निजधनापहारस्याप्यनुमोदनीयत्वापत्तेः। प्रशंसायाश्चेष्टमनिष्टं च वस्तु वि-
षयः, इष्टस्य धार्मिकानुष्ठानस्यानिष्टस्य चाज्ञाबाह्यस्य वस्तुनः प्रशंसाऽव्यवस्थितेः। भवति हि निजकार्यादिनिमित्तमसद्गुणस्यापि प्रशंसा।
अत एवायमागमोऽपि-(स्थानागअ०४सू०३७०)"चउहिं ठाणेहिं असंते गुणे दीवेज्जा, १अब्भासवत्तियं २परछंदाणुवत्तियं ३ कज्जहेउ
४कयपडिकइए "त्ति। [चतुर्भिः स्थानैरसतो गुणान् दीपयेत्, १ अभ्यासप्रत्ययं २ परच्छन्दानुवृत्तिकं ३ कार्यहेतु ४ कृतप्रतिकृत्याः
इति ॥] सा चेयमनिष्टप्रशंसाऽतिचाररूपापि प्रयोजनविशेषेण कस्यचित्कादाचित्की स्यादित्येतदपि वचनं शोभनम्, स्वारसिकप्रशंसाया
अनिष्टाविषयत्वात्पुष्टालम्बनकानिष्टप्रशंसाया अपीष्टविषयत्वपर्यवसानात्। न हि किञ्चिज्जात्येष्टमनिष्टं वा वस्तु विद्यते, किन्तु परिणा-
मविशेषेण भजनीयमिति। यदुवाच कल्पाकल्पविभागमाश्रित्य वाचकमुख्यः-"किञ्चिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं, स्यादकल्प्यमपि
कल्प्यम् ॥ पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥ १ ॥" इति। मोहप्रमादादिनाऽनिष्टविषयत्वं च प्रशंसाया इवानुमोदनाया
अपि भवतीति न कोऽपि विषयभेदः। न चानिष्टविषयतावच्छेदेनोपचारानुपचारप्रवृत्त्याऽनयोरतिचारभङ्गभावाद् भेदः, अभिमतोप-
चारेणातिचारत्वाभावात्। अन्यथा-"संथरणंमि असुद्धं, दोण्हवि गिण्हंतदिंतयाणहियं। आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥१॥"
[संस्तरणे अशुद्धं द्वयोरपि गृह्णद्ददतोरहितम्। आतुरदृष्टान्तेन तदेव हितमसंस्तरणे ॥] इत्यादौ कारणिकाशुद्धग्रहणप्रशंसाया अप्यतिचा-
रत्वप्रसङ्गाद्। अनभिमतोपचारादतिचारभङ्गयोस्तु परिणामभेदः प्रयोजको न तु विषयभेद इति यत्किञ्चिदेतत्। शास्त्रेऽपि प्रशंसा
अनुमोदनाविशेष एव गीयते। तदुक्तं पञ्चाशकवृत्तिकृता—"जइणोवि हु दव्वत्थयभेओ अणुमोअणेण अत्थित्ति। [एवं च इत्थ

णेयं इय सुद्धं तंतजुत्तीए ॥२८॥ पं० ६] इति प्रतीकं विवृण्वता यतेरपि–भावस्तवारूढमाधोरपि न केवलं गृहिण एव। तुशब्दोऽलङ्कृतौ। द्रव्यस्तवभेदो द्रव्यस्तवविशेषः, अनुमोदनेन जिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणयाऽनुमत्या, अस्ति विद्यते, इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्ताविति"॥३४॥एवमनुमोदनाप्रशंसयोर्विषयभेदाभावे सिद्धेऽनुमोदनीयप्रशंसनीययोर्विषमव्याप्तिं परिहरन्नाह–

तेणमणुमोअणिज्जं, पसंसणिज्जं च होइ जाईए ॥ सुद्धं किच्चं सव्वं, भावविसिट्ठं तु अन्नंपि ॥ ३५ ॥

[तेनानुमोदनीयं प्रशंसनीयं च भवति जात्या। शुद्धं कृत्यं सर्वं भावविशिष्टं त्वन्यदपि ॥ ३५ ॥]

'तेणं'ति। तेनानुमोदनाप्रशंसयोर्विषयभेदाभावेन, अनुमोदनीयं प्रशंसनीयं च सर्वं शुद्धं स्वरूपकृत्यं दयादानशीलादिकं च, जात्या स्वरूपयोग्यताऽवच्छेदकरूपेण भवति। यद्रूपावच्छेदेन यत्र सुन्दरत्वज्ञानं तद्रूपविशिष्टप्रतिसन्धानस्य तद्रूपावच्छिन्नविषयकहर्षजनकत्वाद्। अत एव शुद्धाहारग्रहणदानादिव्यक्तीनां सर्वासामसुन्दरत्वेऽपि कासाञ्चिदशुद्धाहारग्रहणदानादिव्यक्तीनामप्यपवादकालभाविनीनां सुन्दरत्वेऽपि साधोः शुद्धाहारग्रहणं सुन्दरम् श्रावकस्य च शुद्धाहारदानमित्ययमेवोपदेशो युक्तो न त्वशुद्धाहारग्रहणदानोपदेशोऽपि, सामान्यपर्यवसायित्वात्तस्य; सामान्यपर्यवसानस्य च स्वरूपशुद्ध एव वस्तुन्युचितत्वात्, स्वरूपशुद्धं हि वस्तु जात्याप्यनुमोद्यमानं हितावहमिति। भावविशिष्टं तु–अपुनर्बन्धकादिभावसंवलितं तु, अन्यदपि विषयशुद्धादिकमपि वस्त्वनुमोद्यम्। 'भावविशिष्टा क्रिया सुन्दरा' इत्यादिप्रशंसया भावकारणत्वेन विषयशुद्धादावपि कृत्ये स्वोत्साहसम्भवात्। न चैवमपुनर्बन्धकोचितविषयशुद्धकृत्येऽपि साधोः प्रवृत्त्यापत्तिः, स्वाभिमततत्तद्धर्माधिकारीष्टसाधनत्वेन प्रतिसंहितेऽधस्तनगुणस्थानवर्त्यनुष्ठाने स्वोत्साहसम्भवेऽपि स्वाधिकाराभावेन तत्राप्रवृत्तेः। अत एव 'शोभनमिदमेतावज्जन्मफलमविरतानाम्' इतिवचनलिङ्गगम्यस्वोत्साहविषयेऽपि जिनपूजादौ

श्राद्धाचारे न साधूना प्रवृत्तिरिति बोध्यम्। इत्थ च भावानुरोधादपुनर्बन्धकादेरारभ्यायोगिकेवलिगुणस्थान यावत्सर्वमपि धर्मानुष्ठान
मनुमोदनीयं प्रशसनीयं चेति सिद्धम् ॥ उक्त चोपदेशपदसूत्रवृत्त्योः—"ता एअम्मि पयत्तो, ओहेण वीयरायवयणंमि । बहुमाणो
कायव्वो, धीरेहि कयं पसंगेण ॥२३४॥ तत् तस्माद्, एतस्मिन् धर्मबीजे, प्रयत्नो यत्नातिशयः, कर्तव्यो धीरैः इत्युत्तरेण योगः।
किंलक्षणः प्रयत्नः कर्तव्यः ? इत्याशङ्क्य आह—ओघेन सामान्येन, वीतरागवचने वीतरागागमप्रतिपादितेऽपुनर्बन्धकचेष्टाप्रभृत्ययो-
गिकेवलिपर्यवसाने तत्तच्चित्र(त्त)शुद्धसमाचारे, बहुमानो भावप्रतिबन्धः क्षयोपशमवैचित्र्यान्मृदुमध्याधिमात्रः, कर्तव्यो धीरैर्बुद्धि-
मद्भिः। उपसंहरन्नाह—कृतं प्रसङ्गेन पर्याप्तं धर्मबीजप्रख्यापनेनेति ॥" भावानुरोधेन ह्यनुष्ठानस्यानुमोदनप्रशसे विहिते, भावश्चापुन
र्बन्धकाद्यनुष्ठाने नियत एव, अन्ततो मोक्षाशयस्यापि सत्त्वात्, तस्याप्यचरमपुद्गलपरावर्ताभावित्वेन मोहमलमन्दतानिमित्तकत्वेन शुद्ध-
त्वात् । तदुक्तं विंशिकायाम्-(४) "मोक्खासओवि णण्णत्थ, होइ गुरुभावमलपहावेणं ॥ जह गुरुवाहिविगारे, ण जाउ पत्थासओ
सम्मं ॥८॥" इति । [मोक्षाशयोऽपि नान्यत्र भवति गुरुभावमलप्रभावेण । यथा गुरुव्याधिविकारे न जातु पथ्याशयः सम्यक् ॥]
अन्यत्र चरमपुद्गलपरावर्तादन्यत्र । ततो विषयशुद्धादिकं त्रिविधमप्यनुष्ठानं प्रशस्तमिति सिद्धम् ॥ उक्त च विंशिकायामेव(३)"विस-
यसरूवणुबंधेण, होइ सुद्धो तिहा इहं धम्मो । जं ता मुक्खासयाओ, सव्वो किल सुन्दरो णेओ॥२०॥" इति । [विषयस्वरूपानुबन्धेन
भवति शुद्धो त्रिधेह धर्मः। यत्ततो मोक्षाशयात्सर्वः किल सुन्दरो ज्ञेयः ।] विषयशुद्धादिभेदश्चायं योगबिन्दावुपदर्शितः—"विषयात्मा-
नुबन्धैस्तु, त्रिधा शुद्धमुदाहृतम् । अनुष्ठान, प्रधानत्वं, ज्ञेयमस्य यथोत्तरम् ॥२११॥ आद्य यदेव मुक्त्यर्थं, क्रियते पतनाद्यपि ॥ तदेव
मुक्त्युपादेय—लेशभावाच्छुभं मतम् ॥२१२॥ द्वितीयं तु यमाद्येव, लोकदृष्ट्या यमादिकम् (व्यवस्थितम्)॥ न यथाशास्त्रमेवेह, सम्य-

गृज्ञानाद्ययोगतः ॥ २१३ ॥ तृतीयमप्यदः किन्तु, तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥ प्रशान्तवृत्त्या सर्वत्र, दृढमौत्सुक्यवर्जितम् ॥२१४॥" इति । ननु भवतु विषयशुद्धाद्यनुष्ठानत्रयमपुनर्बन्धकादौ कथञ्चित्सुन्दरम्, तथाऽपि वीतरागवचनप्रतिपादितस्यैव तद्गतस्यानुष्ठानस्यानुमोद्यत्वं नान्यस्य, "जो चेव भावलेसो सो चेव भगवओ अणुमओ।"[य एव भावलेशः स एव भगवतोऽनुमतः ॥] इत्यत्र भगवद्बहुमानरूपस्यैव भावलेशस्यानुमोद्यत्वप्रतिपादनादिति चेद्। न, अन्यत्रापि भवाभिनन्दिदोषप्रतिपक्षमोक्षाशयभावस्य तत्त्वतो भगवद्बहुमानरूपत्वाद् 'भवनिर्वेदस्यैव भगवद्बहुमानत्वाद्' इति ललितविस्तरापञ्जिकावचनात्, स्वरूपशुद्ध चानुष्ठानं सर्वमपि तत्त्वतो भगवत्प्रणीतमेवेति तत्प्रशंसया भवत्येव भगवद्बहुमानः। व्युत्पन्ना ह्यन्यशास्त्रे कथञ्चिदुपनिबद्धानपि मार्गानुसारिगुणान् भगवत्प्रणीतत्वेनैव प्रतियन्ति। तदाहुः श्रीसिद्धसेनसूरयः(द्वा० १)"सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्त(क्ति)सम्पदः॥ तवैव ताः पूर्वमहार्णवोद्धृता (स्थिता) जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः॥३०॥इति" नन्दिवृत्तावप्येवमेवोक्तम्–"परदर्शनशास्त्रेष्वपि हि यः कश्चित्समीचीनोऽर्थः संसारासारता–स्वर्गापवर्गादिहेतुः प्राण्यहिंसादिरूपः स भगवत्प्रणीतशास्त्रेभ्य एव समुद्धृतो वेदितव्यः। न खल्वतीन्द्रियार्थपरिज्ञानमन्तरेणातीन्द्रियः प्रमाणाबाधितार्थः पुरुषमात्रेणोपदेष्टुं शक्यते, अविषयत्वाद्। न चातीन्द्रियार्थपरिज्ञान परतीर्थिकानामस्तीत्येतदग्रे वक्ष्यामः। ततस्ते भगवत्प्रणीतशास्त्रेभ्यो मौलं समीचीनमर्थलेशमुपादाय पश्चादभिनिवेशवशतः स्वस्वमत्यनुसारेण तास्ताः स्वस्वप्रक्रियाः प्रपञ्चितवन्तः। उक्तं च स्तुतिकारेण—"सुनिश्चितं०" इत्यादि ॥" ननु दयादिवचनानि परमते तत्त्वतो जिनवचनमूलान्यपि स्वस्वमताधिदैवतवचनत्वेन परिगृहीतत्वादेव नानुमोदनीयानि, अत एव मिथ्यादृष्टिभिः स्वस्वदैवतबिम्बत्वेन परिगृहीताऽर्हत्प्रतिमाऽप्युपासकदशाङ्गादिष्ववन्द्यत्वेन प्रतिपादितेति चेत्?। अत्र वदन्ति सम्प्रदायविदः यथा मिथ्यादृक्परिगृहीता

तीर्थकृत्प्रतिमा मिथ्यात्वाभिवृद्धिनिवारणाय न विशेषेण नमस्क्रियते, सामान्येन तु "जं किंचि नाम तित्थं०" [यत्किंचिद् नाम तीर्थं।] इत्यादिना, "जावंति चेइआइ०" [यावन्ति चैत्यानि० ॥] इत्यादिना चाभिवन्द्यते एव, तत्त्वतस्तासामपि तीर्थत्वात् जिनबिम्बत्वाच्च। तथाऽत्रापि मिथ्यादृशा गुणाः 'सर्वेषां जीवानां दयाशीलादिकं शोभनम्' इत्येवं सामान्यरूपेणानुमोद्यमानाः केन वारयितुं शक्यन्ते? इति। उक्तं चैतत् धर्मबिन्दुसूत्रवृत्त्योरपि (अ० २ सू० ३) सद्धर्मदेशनाधिकारसाधारण्येन लोकलोकोत्तरगुणप्रशंसाप्रतिपादनात् तथाहि ॥ "साधारणगुणप्रशंसेति ॥ साधारणानां लोकलोकोत्तरयोः सामान्यानां, गुणानां, प्रशंसा—पुरस्कारो देशनार्हस्याग्रतो विधेया। यथा—"प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः, प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः॥ अनुत्सेको लक्ष्म्या निरभिभवसाराः परकथाः, श्रुते चानन्तोषः कथमनभिजाते निवसति ॥१॥" इति।" इयं च पुरुषविशेषानुपग्रहात्सामान्यप्रशंसैवेति। यद्यप्यत्रापि वाक्यार्थस्य विशेष एव पर्यवसानम्, तथाऽपि साधारणगुणानुरागस्यैवाभिव्यङ्ग्यत्वान्न मिथ्यात्वाभिवृद्धिरिति द्रष्टव्यम्। स्यादत्र परस्येयमाशङ्का 'एवं सति मिथ्यादृष्टेः पुरुषविशेषस्य दयाशीलादिगुणपुरस्कारेण प्रशंसा न कर्तव्या स्यात्, अन्यतीर्थिकपरिगृहीतार्हत्प्रतिमाया विशेषेणावन्द्यत्ववद् अन्यतीर्थिकपरिगृहीतगुणानामपि विशेषतोऽप्रशंसनीयत्वात्। दोषवत्त्वेन प्रतिसन्धीयमाने पुरुषे तद्गतगुणप्रशंसायास्तद्गतदोषानुमतिपर्यवसितत्वात्। अत एव सुखशीलजनवन्दनप्रशंसयोस्तद्गतप्रमादस्थानानुमोदनापत्तिरुक्ता। "किइकम्मं च पसंसा, सुहसीलजणंमि कम्मबंधाय। जे जे पमायठाणा, ते ते उववूहिया हुंति ॥" [कृतिकर्म च प्रशंसा सुखशीलजने कर्मबन्धाय। यानि यानि प्रमादस्थानानि तानि तानि उपबृंहितानि भवन्ति ॥] इत्यादिनाऽऽवश्यकादाविति" तत्र ब्रूमः—यदि नाम तद्गतदोषज्ञानमेव तत्प्रशंसायास्तदीयतद्दोषानुमतिपर्यवसायकमिति मिथ्यादृष्टिगुणप्रशंसात्यागस्तवाभिमतस्तदाऽविरत-

सम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वादिगुणप्रशंसाऽप्यकर्तव्या स्यात्, तद्गताविरतिदोषज्ञानात्तस्यास्तदनुमतिपर्यवसानात्। अथाविरतसम्यग्दृष्ट्यादिस्फुटदोषप्रतिसन्धानमेव न तद्गतप्रशंसाया दोषानुमतिपर्यवसानबीजम्, अत एव शैलकराजर्षिप्रभृतीनां पार्श्वस्थत्वादित्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनां सम्यक्त्वादिगुणानुमोदनेन दोष इति चेत्। तर्हि मार्गानुसारिणा मिथ्यादृशा मिथ्यात्वमपि न स्फुटो दोषः, तच्चेतरनिन्दनानुपहितप्रबलमिथ्यात्वस्यैव स्फुटदोषत्वादिति तद्गतगुणप्रशंसायामपि न दोषः। अवश्यं चैतदित्थं प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथा मेघकुमारजीवहस्तिनोऽपि दयागुणपुरस्कारेण प्रशंसानुपपत्तिरिति। अन्यतीर्थिकपरिगृहीतत्वं चार्हत्प्रतिमायामिव दयादिगुणेषु न स्फुटो दोषः, दयादिगुणानामभिनिविष्टान्यतीर्थिकसाक्षिकत्वाभावेन मिथ्यात्वबुद्धिनिबन्धनत्वाभावात्, प्रत्युत तत्त्वतो जिनप्रवचनाभिहितत्वप्रतिसन्धानेन तदस्फुटीकृतमेव। अतः 'लोकस्यापि भगवदभिमतस्य गुणस्योपेक्षा न श्रेयसी' इत्यव्युत्पन्नदशायां तत्प्रशंसा गुणानुरागातिशयद्वारा कल्याणावहा। अत एव गुणानुरागसङ्कोचपरिहाराय लोकगुणालम्बनेनापि भावस्थानं विधेयमित्युपदिशन्ति पूर्वाचार्याः। तदुक्तं बृहत्कल्पभाष्यवृत्त्योः-"दंसणनाणचरित्तं, तवविणए जत्थ जत्तियं पासे। जिणपन्नत्तं भत्तीए, पूयए तं तहिं भावं॥ दर्शनं च निःशङ्कितादिगुणोपेतं सम्यक्त्वं, ज्ञानं चाचारादि, चारित्रं च मूलोत्तरगुणानुपालनात्मकं दर्शनज्ञानचारित्रद्वन्द्वैकवद्भावः। एवं तपश्चानशनादि, विनयश्चाभ्युत्थानादिरूपस्तपोविनयम्। एतद्दर्शनादि, यत्र पार्श्वस्थादौ पुरुषे, यावत् यत्परिमाणं स्वल्पं बहु वा, पश्येत् जानीयात्, तत्र तमेव भावं जिनप्रज्ञप्तं स्वचेतसि व्यवस्थाप्य तावत्यैव भक्त्या कृतिकर्मादिलक्षणया पूजयेद्" इति॥ तेन मार्गानुसारिकृत्ये सर्वमपि भावयोगादनुमोदनीयं प्रशंसनीयं चेति सिद्धम्॥३५॥

तत‍श्च 'मिथ्यादृशा गुणा न ग्राह्याः' इति कदाग्रहः परित्याज्य इत्यभिप्रायेणाह—

इअ लोइअलोउत्तर–सामन्नगुणप्पसंसणे सिद्धे ॥ मिच्छदिट्ठीण गुणे, ण पसंसामोत्ति दुव्वयणं ॥ ३६ ॥

[इति लौकिकलोकोत्तरसामान्यगुणप्रशंसने सिद्धे ॥ मिथ्यादृष्टीना गुणान् न प्रशसाम इति दुर्वचनम् ॥ ३५ ॥]

'इअ'त्ति इत्यमुना प्रकारेण, लौकिकलोकोत्तरसामान्यगुणप्रशंसने सिद्धे इष्टसाधनत्वेन व्यवस्थिते, मिथ्यादृष्टीनां गुणान्न प्रशंसाम इति दुर्वचनं गुणमात्सर्यादेव तथावचनप्रवृत्तेः । न च नैवम्भूत मात्सर्यादेवोच्यते, किन्तु सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिसाधारणगुणप्रशसया विशेषगुणातिशयभङ्गापत्तिभयादेवेति शङ्कनीयम् । एवं सति विरताविरतसाधारणसम्यक्त्वादिगुणप्रशंसाया अपि परिहारापत्तेः, तथापि विरतविशेषगुणातिशयभङ्गापत्तिभयतादवस्थ्यादिति ॥ ३६ ॥

दुर्वचनत्वं चास्य व्यक्त्या तत्प्रशंसाविधायकसद्वचनबाधातिमद्भुयतीति तदुपदर्शयति—

मग्गाणुसारिकिच्चं, तेसिमणुमोअणिज्जमुवइट्ठं ॥ सिवमग्गकारणं तं, गम्मं लिंगेहिं धीरेहिं ॥ ३७ ॥

[मार्गानुसारिकृत्यं, तेषामनुमोदनीयमुपदिष्टम् ॥ शिवमार्गकारण तद्, गम्यं लिङ्गैर्धीरैः ॥ ३७ ॥]

मग्गाणुसारित्ति। **मार्गानुसारिकृत्यं** तेषामपि मिथ्यादृशामपि, अनुमोदनीयमुपदिष्ट भगवता। तदुक्तं चतुःशरणप्रकीर्णके—" अहवा सव्वं चिय वीय–रायवयणाणुसारि जं सुकडं ॥ कालत्तएवि तिविह, अणुमोएमो तयं सव्वं ॥" एतद्वृत्तिर्यथा– " अथवेति सामान्यरूपप्रकारदर्शने । 'चिय'त्ति एवार्थे । ततः सर्वमेव वीतरागवचनानुसारि जिनमतानुयायि

त्सुकृतं जिनभवन-बिम्बकारण-तत्प्रतिष्ठा-सिद्धान्तपुस्तकलेखन-तीर्थयात्रा-श्रीमद्वात्सल्य-जिनशासनप्रभावना-ज्ञानाद्युपष्टम्भ-धर्मसान्निध्य-क्षमा-मार्दव संवेगादिरूपं मिथ्यादृक्सम्बन्ध्यपि मार्गानुयायिकृत्य, कालत्रयेऽपि त्रिविध मनोवाक्कायैः कृतं कारित-मनुमत च यदभूद् भवति भविष्यति चेति तत्तदित्यर्थः, तत्सर्वं निरवशेषम्, अनुमन्यामहे इष्टगोचरता प्रापयाम इति ॥" ननु मार्गानुसारिकृत्यं न जैनाभिमतधार्मिकानुष्ठानानुकारिमिथ्यादृष्टिमार्गपतित क्षमादिकम्, किन्तु सम्यक्त्वाभिमुखगतं जैनाभिमतमेव, तच्च सम्यग्दृष्टिगतानुष्ठानान्न पार्थक्येन गणयितुं शक्यमित्याशङ्कायामाह-तन्मार्गानुसारिकृत्यं, शिवमार्गस्य ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणस्य, कारण धीरैर्निश्चितागमतत्त्वैः, लिङ्गैः "पावं ण तिव्व भावा कुणइ" [पाप न तीव्रभावात्करोति ॥] इत्याद्यपुनर्बन्धकादिलक्षणैर्गम्यम्। अयं भावः-सम्यग्दृष्टिकृत्यं यथा वस्तुतश्चारित्रानुकूलमेवानुमोदनीयं तथा मार्गानुसारिकृत्यमपि सम्यक्त्वानुकूलमेव स्वल्पकालप्राप्यफलज्ञानं च तत्रानुमोदनीयताया न तन्त्रम्, किन्तु स्वलक्षणज्ञानमेव। तथा च यत्र भवाभिनन्दिदोषप्रतिपक्षगुणानामपुनर्बन्धकादिलक्षणाना निश्चयस्तत्र मार्गानुसारिकृत्यानुमोदनाया न बाधकम्, विविच्याग्रिमकालभाविफलज्ञानस्य प्रवर्तकत्वे तु छद्मस्थस्य प्रवृत्तिमात्रोच्छेदप्रसङ्ग इति। अत एव मार्गानुयायिकृत्यं लक्षणशुद्धं जिनभवनकारणाद्येवोक्तम्, तस्यैव मोक्षमार्गकारणत्वाद्। मोक्षमार्गो हि भावाज्ञा सम्यग्दर्शनादिरूपा, तत्कारणं चापुनर्बन्धकचेष्टा द्रव्याज्ञा। तत्र भावाज्ञा मोक्षं प्रति कारणत्वेनानुमोदनीया, द्रव्याज्ञा तु कारणकारणत्वेनेति न कश्चिद्दोष इति। तदिदमुक्त व्यक्त्यैवाराधनापताकायाम्-अह दुक्कडगरहानल-ज्झामियकम्मिंधणो पुणो भणइ ॥ सुकडाणुमोअणं तिव्व-सुद्धपुलयंचियसरीरो ॥१॥ [अथ दुष्कृतगर्हाऽनलध्मातकर्मेन्धनः पुन भणति। सुकृतानुमोदनं तीव्रशुद्धपुलकाञ्चितशरीरः ॥ १ ॥] चउतीसबुद्ध अइसअ-अट्ठमहापाडिहेरधम्मकहा ॥ तित्थपवत्तणपमिई, अणुमोएमि जिणिंदाणं ॥२॥

सिद्धत्तमणंताणं, वरदंसणनाणसुक्खविरिआइं । इगतीसं सिद्धगुणे, अणुमन्ने सबसिद्धाणं ॥ ३ ॥ पचविहं आयारं, देसकुलाई गुणे य छत्तीसं । सिस्सेसु अत्थभासण-पमुहं सूरीण अणुमोए ॥४॥ अगाण उवंगाणं, पइण्णसुअछेअमूलगंथाणं । उवज्झायाणं अज्झा-वणाइ सव समणुमन्ने ॥ ५ ॥ समिईगुत्तीमहव्वय-संजमजइधम्मगुरुकुलणिवासं । उज्जुअविहारपमुहं, अणुमोए समणसमणीणं ॥६॥ सामाइअपोसहाइ, अणुव्वयाइं जिणिंदविहिपूयं । एक्कारपडिमपमिईं, अणुमन्ने सड्ढसड्ढीण ॥७॥ जिणजम्माइसु ऊसव-करण तह महरिसीण पारणए । जिणसासणंमि भत्ती-पमुहं देवाण अणुमन्ने ॥ ८ ॥ तिरियाण देसविरइं, पज्जताराहणं च अणुमोए । सम्मद्दंसणलंभ, अणुमन्ने नारयाणपि ॥ ९ ॥ सेसाण जीवाणं, दाणरुइत्तं सहावविणिअत्तं । तह पयणुकसायत्तं, परोवयारित्त भवत्तं ॥१०॥ दक्खिन्नदयालुत्तं, पियभासित्ताइ विविहगुणणिवह । सिवमग्गकारण जं, तं सव्वं अणुमय मज्झ ॥ ११ ॥ [चतुस्त्रिंशदनुद्धातिशयाष्टमहाप्रातिहार्यधर्मकथाः । तीर्थप्रवर्तनप्रभृतीरनुमोदयामि जिनेन्द्राणाम् ॥२॥ सिद्धत्वमनन्तानां वरदर्शनज्ञानसौख्यवीर्याणि । एकत्रिंशतं सिद्धगुणान् अनुमन्ये सर्वसिद्धानाम् ॥३॥ पञ्चविधमाचारं देशकुलादीन्गुणांश्च षट्त्रिंशतम् । शिष्येषु अर्थभाषणप्रमुख सूरीणामनुमोदे ॥४॥ अङ्गानामुपाङ्गाना प्रकीर्णकश्रुतच्छेदमूलग्रन्थानाम् । उपाध्यायानामध्यापनादि सर्वं समनुमन्ये ॥ ५ ॥ समिति-गुप्ति-महाव्रत-संयम-यतिधर्मं गुरुकुलनिवासम् । उद्युक्तविहारप्रमुखं अनुमोदे श्रमणश्रमणीनाम् ॥ ६ ॥ सामायिकपौषधादि अणुव्रतानि जिनेन्द्रविधिपूजाम् । एकादशप्रतिमाप्रभृतीरनुमन्ये श्राद्धश्राद्धीनाम् ॥ ७ ॥ जिनजन्मादिषूत्सवकरणं तथा महर्षीणा पारणके । जिनशासने भक्तिप्रमुखं देवानामनुमन्ये ॥८॥ तिरश्चा देशविरतिं पर्यन्ताराधनं च अनुमोदे । सम्यग्दर्शनलाभमनुमन्ये नारकाणामपि ॥९॥ शेषाणा जीवाना दानरुचित्वं स्वभावविनीतत्वम् । तथा प्रतनुकषायत्वं परोपकारित्व-भव्यत्वं ॥ १० ॥ दाक्षिण्यदयालुत्वं प्रियभाषित्वादिविविधगुण-

निवहम् । शिवमार्गकारणं यत्तत्सर्वमनुमतं मम ॥ ११ ॥] पञ्चसूत्र्यामप्युक्तम्–"अणुमोएमि सव्वेसिं अरहंताणमणुट्ठाणं, सव्वेसिं सिद्धाणं सिद्धभावं, सव्वेसिं आयरियाणं आयारं, सव्वेसिं उवज्झायाणं सुत्तप्पयाणं, सव्वेसिं साहूणं साहुकिरियं, सव्वेसिं सावगाण मुक्खसाहणजोए, सव्वेसिं देवयाणं सव्वेसिं जीवाण होउकामाण कल्लाणासयाणं मग्गसाहणजोए । होउ मे एसा अणुमोअणा ॥" एतद्वृत्तिर्यथा–"अनुमोदेऽहमिति प्रक्रमः । सर्वेषामर्हतामनुष्ठानं धर्मकथादि, सर्वेषां सिद्धानां सिद्धभावमव्याबाधादिरूपम्, एवं सर्वेषामाचार्याणामाचारं ज्ञानाचारादिलक्षणम्, एवं सर्वेषामुपाध्यायानां सूत्रप्रदानं सद्विधिवद्, एवं सर्वेषां साधूनां साधुक्रियां सत्स्वाध्यायादिरूपाम्, एवं सर्वेषां श्रावकाणां मोक्षसाधनयोगान् वैयावृत्त्यादीन्, एवं सर्वेषां देवानामिन्द्रादीनां सर्वेषां जीवानां सामान्येनैव भवितुकामानामासन्नभव्यानां कल्याणाशयानाम्, एतेषां किम् ? इत्याह–मार्गसाधनयोगान् सामान्येनैव कुशलव्यापारान्, अनुमोदे इति क्रियानुवृत्तिः । भवन्ति चैतेषामपि मार्गसाधनयोगाः, मिथ्यादृष्टीनामपि गुणस्थानकत्वाभ्युपगमाद् । अनभिग्रहं सति प्रणिधिशुद्धिमाह–भवतु ममैषाऽनुमोदनेत्यादि ॥" अत्र हि सामान्येनैव कुशलव्यापाराणामनुमोद्यत्वमुक्तमिति मिथ्यादृशामपि स्वाभाविकदानरुचित्वादिगुणसमूहो व्यक्त्याऽनुमोद्यो न तु तद्विशेष एवाश्रयणीयः । यत्तु दानमपि परेषामधर्मपोषकत्वादधिकरणमिति दानरुचित्वादिगुणेष्वपि विशेषाश्रयणमावश्यकमित्यासन्नसम्यक्त्वसङ्गमनयसारादिसदृशसाधुदानादिनैव दानरुचित्वादिकं ग्राह्यमिति परस्याभिमतम्, तदसत् । भूमिकाभेदेन दानविधेरपि भेदात्, सम्यग्दृष्टिं प्रति प्रासुकैषणीयादिदानविधेरिवादिधार्मिकं प्रति "पात्रे दीनादिवर्गे च" इत्यादेरपि दानविधेः प्रतिपादनात् । ततः सामान्येन कुशलव्यापारा आदिधार्मिकयोग्या एव ग्राह्या इति युक्तं पश्यामः ॥ एतेन "पुण्यप्रकृतिहेतोरेवानुमोद्यत्वे क्षुरवृद्दहन-रज्जुग्रहण-विषभक्षणादी-

नामप्यनुमोद्यत्वापत्तिः । पुण्यप्रकृत्युदयप्राप्तस्यैव धर्मस्यानुमोद्यत्वे च चक्रवर्तिनः स्त्रीरत्नोपभोगादेरप्यनुमोद्यत्वापत्तिः । सम्यक्त्वनिमित्तमात्रस्य चानुमोद्यत्वेऽकामनिर्जराव्यसनादेरप्यनुमोद्यत्वापत्तिः । (आवश्यकनिर्युक्तिः) "अणुकंप-ऽकामणिज्जर-बालतवो दाणविणय-विभंगे। संजोगविप्पओगे, वसणूसव-इड्ढिसक्कारे ॥८४५॥" [अनुकम्पाऽकामनिर्जरा बालतपो-दानविनय-विभङ्गम्। संयोगविप्रयोगौ व्यसनोत्सवर्द्धिसत्कारम् ॥] इत्यादिनाऽनुकम्पादीनामपि सम्यक्त्वप्राप्तिनिमित्तत्वप्रतिपादनात्। धर्मबुद्ध्या क्रियमाणस्यैवानुष्ठानस्यानुमोद्यत्वे चाभिग्रहिकमिथ्यादृशा धर्मबुद्ध्या क्रियमाणस्य जैनसमयत्यजनत्याजनादेरप्यनुमोद्यत्वापत्तिरिति 'सम्यक्त्वाभिमुखस्यैव मार्गानुसारिकृत्यं साधुदानधर्मश्रवणाद्यनुमोद्यम्, नत्वन्यमार्गस्थस्य क्षमादिकमपि' इति परस्य कल्पनाजालमपास्तम्," सामान्येनैव कुशलव्यापाराणामादिधार्मिकयोग्यानामनुमोद्यत्वप्रतिपादनात्, असत्कल्पनाऽनवकाशात्, तीव्रप्रमादादिशबलस्य सम्यक्त्वस्येव तीव्राभिनिवेशदुष्टस्य मोक्षाशयादेरप्यननुमोद्यत्वेऽपि जात्या तदनुमोद्यत्वाऽनपायादिति फलतः स्वरूपतश्चानुमोद्यत्वविशेषव्यवस्था न काप्यनुपपत्तिरिति । यस्त्वाह—सम्यग्दृष्टय एव क्रियावादिनः शुक्लपाक्षिकाश्च, न तु मिथ्यादृष्टय इति तेषां कृत्यं किमपि नानुमोद्यमिति । तेन न सुष्ठु दृष्टम्, धर्मरुचिशालिना सम्यग्दृशा मिथ्यादृशा चाविशेषेण क्रियावादित्वस्य शुक्लपाक्षिकत्वस्य च प्रतिपादनात्॥ तदुक्तं दशाश्रुतस्कन्धचूर्णौ-"जो अकिरियावाई सो भविओ अभविओ वा, णियमा कण्हपक्खिओ । किरियावादी णियमा भविओ णियमा सुक्कपक्खिओ अतोपुग्गलपरिअट्टस्स णियमा सिज्झिहिति, सम्मदिट्ठी वा मिच्छदिट्ठी वा हुज्ज त्ति॥"[योऽक्रियावादी स भव्योऽभव्यो वा, नियमात्कृष्णपाक्षिकः।क्रियावादी नियमाद्भव्यो नियमाच्छुक्लपाक्षिकः,अन्तःपुद्गलपरावर्तस्य नियमात्सेत्स्यति,सम्यग्दृष्टिर्वा मिथ्यादृष्टिर्वा भवेदिति॥] एतत्संमतिपूर्वमुपदेशरत्नाकरेऽप्येवमुक्तम् तथाहि,(१तट ३अंश४तरंग)"केचित्संसारवासिनो जीवा देवादिगतौ च्यवनादिदुःखभया

मोक्षसौख्यमनुपमं ज्ञात्वा तदर्थं जातस्पृहाः कर्मपरिणतिवशादेव मनुष्यगतिं प्रापुः । तत्र चैकः प्रथमः कुगुरूपदिष्टशास्त्रार्थभाविततयाऽभिगृहीतमिथ्यात्वे दिग्मोहसमतत्त्वव्यामोहवान् पूर्वोक्तमिथ्याक्रियासु मनोवाक्काययत्नादिबलवत्तया भृशमुद्युक्तो विष्णुपुराण-चुक्कगतन्त्रनुन्नपादिदृष्टान्तेभ्यो वेदपुराणयुक्तिभ्यश्च सञ्जातजिनधर्मद्वेषात्मज्ञानक्रियागर्वान् यत्तुल्यं सम्यग्गुरुं तदुपदेशांश्च दूरतः परिहारादिनाऽवगणय्य सर्वेभ्यः प्रागेवेष्टपुरसमं मोक्षं गन्तुं समुत्थितो निजज्ञानक्रियादिगर्वादिनाऽन्यदर्शनिसमर्गालापप्रशस्तिभिया मार्गमिलितसम्यक्त्वपथिकतुल्यान् जैनमुनिश्राद्धादीन् स्वमार्गमपृच्छन् यथा यथा प्रबलपादञ्चरितगतिसमा अनन्तजीवपिण्डात्मकमूलकसेवालादिभोजनाग्निहोत्रादिका मिथ्यात्वक्रियाः प्रयत्नाः कुरुते, तथा तथा तज्जनितमहारम्भजीवघातादिपापकर्मवशाद्-स्वश्रीवृन्तपतितपुरोहितादिवद् गाढगाढतरगाढतमदुःखचक्रमानुष्यतिर्यग्नरकादिकुगतिपतितो दुर्लभबोधितयाऽनन्तभवारण्ये चतुरशीतिलक्षजीवयोनिषु भ्राम्यन् शिवपुराद् भृशं दूरवर्त्येव जायते पुनरनन्तेन कालेन तत्रागामुकत्वाद् ॥ "किरियावाई णियमा भविओ, णियमा सुक्कपक्खिओ, अंतो पुग्गलपरिअट्टस्स णियमा सिज्झिहिति, सम्मदिट्ठी वा मिच्छादिट्ठी वा हुज्ज॥" इति दशाश्रुतस्कन्धचूर्णिगतस्फुटप्रतिमाधिकारादिवचनात् क्रियारुचित्वेनावश्यं शिवगामितया यथाप्रवृत्तकरणादुत्तीर्णोऽपूर्वकरणस्योदये स्वं भ्रान्तं मन्यमानोऽकामनिर्जरायोगादिना कथञ्चिन्मनुजभवं प्राप्य कर्मक्षयोपशमवशाज्ज्ञाततत्त्वान्वेषणश्रद्धो मिश्रादिगुणस्थानकयोगादपगतदिग्मोहसममिथ्यात्वहेतुकतत्त्वव्यामोहः कथमपि यक्षसममद्गुरुं प्राप्य तदुपदेशबहुमानादरगतज्ञानादिमोक्षमार्गं तदनुगतसम्यगनुष्ठानादिना भजमान उत्कर्षतः पुद्गलपरावर्तमध्ये परेभ्यः पञ्चभ्यो(चतुर्भ्यो)पि मित्रेभ्यः पश्चादनन्तेन कालेन स्वेष्टपुरसमं मोक्षमवाप्नोतीति।" ननु यद्यप्येवं दशाश्रुतस्कन्धचूर्ण्यनुसारेण क्रियावादिनः सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्ट्यन्यतरत्वमुत्कर्षतोऽन्तःपुद्गलपरावर्तमानसंसारत्वेन शुक्लपाक्षिकत्व

च नियमतो लभ्यते, अक्रियावादिनश्च नियमान्मिथ्यादृष्टित्वं कृष्णपाक्षिकत्वं च तथापि नात्र निश्चयः कर्तुं पार्यते, अन्यत्रापार्द्धपुद्ग-
लपरावर्ताधिकसंसारस्यैव कृष्णपाक्षिकत्वप्रतिपादनात्। तदुक्तम्—"जेसिमवड्ढो पुग्गल—परिअट्टो सेसओ उ संसारो॥ ते सुक्कपक्खिआ
खलु, अहिए पुण कण्हपक्खिया ॥१॥" "येषामपार्द्धपुद्गलपरावर्त एव शेषः संसारस्तत ऊर्ध्वं सेत्स्यते, ते शुक्लपाक्षिकाः
क्षीणप्रायसंसाराः। खलुशब्दो विशेषणार्थः। प्राप्तदर्शना अप्राप्तदर्शना वा सन्तीति विशेषयति। अधिके पुनरपार्द्धपुद्गलपरावर्तात्सं-
सारे, कृष्णपाक्षिकाः क्रूरकर्माण इत्यर्थः॥" इत्यादि श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्तौ। योगबिन्दुवृत्तावप्युक्तम्। तत्रापि शुक्लपाक्षिकोऽ-
पार्द्धपुद्गलपरावर्तान्तर्गतसंसारः। यत उक्तं "जेसिमवड्ढो पुग्गल०" इत्यादि। ततो हि क्रियावादिनः शुक्लपाक्षिकत्वं भजनीयमेव
लभ्यते, अक्रियावादिनोऽपि नियमतः कृष्णपाक्षिकत्वमिति विघटते एव; अपार्धपुद्गलपरावर्ताभ्यन्तरीभूतसंसाराणामप्यक्रियावादिनां
सम्भवात्, तस्याऽपि कृष्णपाक्षिकत्वभजनाया एव सम्भवात्। नास्तिकत्वपक्षो ह्यक्रियावादः "अत्थित्ति किरियवाई वयन्ति, णत्थित्ति
अकिरियवाई"त्ति [अस्तीति क्रियावादिनो वदन्ति, नास्तीति अक्रियावादिनः] वचनात्। स च कर्मवैचित्र्यवशादल्पतरभवानामपि
प्रदेश्यादिवद् भवतीति। अत एव भगवत्या "सुक्कपक्खिया जहा सलेस्स"त्ति [शुक्लपाक्षिका यथा सलेश्या इति।] सलेश्यातिदेशेन
शुक्लपाक्षिकस्याप्यक्रियावादसम्भव उपदर्शितः। तथा च सलेश्याधिकारप्रश्ननिर्वचनसूत्रम्—"सलेस्सा णं भंते जीवा किं किरियावादी ?
पुच्छा। गोयमा! किरियावादीवि, जाव वेणइअवादीवि"त्ति [सलेश्या भगवन्! जीवाः किं क्रियावादिनः? प्रश्नः। गौतम! क्रिया-
वादिनोऽपि यावत् वैनयिकवादिनोऽपीति॥] तत इमामनुपपत्तिं दृष्ट्वा भगवत्यर्थ एव मनो देयम्। भगवत्यां हि सम्यग्दृष्टय एव
क्रियावादिनः प्रतिपादिताः, "मिच्छदिट्ठी जहा कण्हपक्खिया" इत्यतिदेशात् "कण्हपक्खिया णं भंते जीवा किं किरियावादी? पुच्छा।

गोयमा ! णो किरियावादी, अकिरियावादीवि अन्नाणियवादीवि वेणइअवादीवि''त्ति [कृष्णपाक्षिका भगवन् ! जीवाः किं क्रियावादिनः ? प्रश्नः। गौतम ! नो क्रियावादिनः, अक्रियावादिनोऽपि, अज्ञानिकवादिनोऽपि, वैनयिकवादिनोऽपीति।] वचनात्कृष्णपाक्षिकाणां च क्रियावादित्वप्रतिषेधादिति। युक्तं चैतत् ॥ सूत्रकृताङ्गेऽपि (१२) समवसरणाध्ययननिर्युक्तावित्थं प्रतिपादितत्वात्। तथा च तत्पाठः-''सम्मद्दिट्ठी किरिया-वादी मिच्छा य सेसगा वादी॥ जहिऊण मिच्छवायं, सेवह वादं इमं सच्चं ॥१२१॥'' [सम्यग्दृष्टयः क्रियावादिनो मिथ्याश्च शेषका वादिनः। हित्वा मिथ्यावादं सेवध्वं वादमिमं सत्यम्॥] इति चेत्? । सत्यम्। एकशास्त्रावलम्बनेनापरशास्त्रदूषणस्य महाशातनारूपत्वाद् उभयशास्त्रसमाधानस्यैव न्याय्यत्वात्। तत्र भगवत्यां सूत्रकृतनिर्युक्तौ च क्रियावादिविशेषस्यैव ग्रहणाद् अत्र च क्रियावादिसामान्यस्य ग्रहणान्न ग्रन्थविरोधः। तदुक्तं भगवतीवृत्तौ—'' एते च सर्वेऽप्यन्यत्र यद्यपि मिथ्यादृष्टय एवोक्तास्तथापीह क्रियावादिनः सम्यग्दृष्टयो ग्राह्याः, सम्यगस्तित्ववादिनामेव तेषां समाश्रयणात् '' इति। सूत्रकृतवृत्तावप्युक्तम्—''ननु च क्रियावाद्यप्यशीत्युत्तरशतभेदोऽपि तत्र तत्र प्रदेशे कालादीनभ्युपगच्छन्नेव मिथ्यावादित्वेनोपन्यस्तस्तत्कथमिह सम्यग्दृष्टित्वेनोच्यते?, उच्यते-स तत्र 'अस्त्येव जीवः' इत्येवं सावधारणतयाऽभ्युपगमं कुर्वन्, तथा काल एवैकः सर्वस्यास्य जगतः कारणं, तथा स्वभाव एव, नियतिरेव, पूर्वकृतमेव, पुरुषकार एव इत्येवमपरनिरपेक्षतयैकान्तेन कालादीनां कारणत्वेनाश्रयणान्मिथ्यात्वम्। तथाहि-अस्त्येव जीवः इत्येवमस्तिना सह जीवस्य सामानाधिकरण्याद् यद्यदस्ति तत्तज्जीव इति प्राप्तम्, अतो निरवधारणपक्षसमाश्रयणादिह सम्यक्त्वमभिहितम्। तथा कालादीनामपि समुदितानां परस्परसव्यपेक्षाणां कारणत्वेनेहाश्रयणात्सम्यक्त्वमिति। ननु च कथं कालादीनां प्रत्येकं निरपेक्षाणां मिथ्यात्वस्वभावत्वे सति समुदितानां सम्यक्त्वसद्भावः ?, न हि यत्प्रत्येकं नास्ति तत्समुदाये भवितुमर्हति

सिकतातैलवत् ? । नैतदस्ति, प्रत्येकं पद्मरागादिमणिष्वविद्यमानाऽपि रत्नावली समुदाये भवन्ती दृष्टा, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति यत्किञ्चिदेतदित्यादि ॥ " या च क्रियावादिसामान्यस्यान्तःपुद्गलपरावर्ताभ्यन्तरसंसारत्वेन नियमतः शुक्लपाक्षिकत्वानुपपत्तिः सा क्रियापक्षरुचिरूपेण शुक्लपक्षेण शुक्लपाक्षिकत्वमवलम्ब्य परिहर्तव्या। अत एवाक्रियावादिनो नियमात्कृष्णपाक्षिकत्वमपि सङ्गच्छते, "क्रियापक्ष एव शुक्लोऽक्रियापक्षस्तु कृष्ण" इति। अन्यथा निरवधारणपक्षाश्रयणे क्रियावादिवदक्रियावाद्यपि सम्यग्दृष्टिः स्यात् । अथनोत्कृष्टतः पुद्गलपरावर्तसंसारिजातीयत्वमत्र शुक्लपाक्षिकत्वं, तदधिकसंसारिजातीयत्वं च कृष्णपाक्षिकत्वं विवक्षितमित्यदोष इति प्रतिभाति । तदसत् , तत्त्व तु बहुश्रुता विदन्ति ॥ यत्तूच्यते केनचित्—अकामनिर्जराङ्गत्वान्न मिथ्यादृशा किमपि कृत्यमनुमोदनीयमिति । तदसत् , 'कर्मक्षयो मे भूयाद्' इतीच्छया स्वयोग्यशीलतपःप्रभृतिसदनुष्ठानकारिणां सकामनिर्जराऽनपायात् । 'सह कामेन मोक्षाभिलापेण वर्तते या सा सकामा' 'तद्विपरीता त्वकामा' इति हि सकामाकामयोर्निर्जरयोर्लक्षणम् । मिथ्यादृशामपि प्रकृतिभद्रकत्वादिगुणवता तदुक्तं योगशास्त्रवृत्तौ (प्र० ४ श्लो० ८६) "सा निर्जरा द्वेधा । सह कामेन 'निर्जरा मे भूयाद्' इत्यभिलापेण युक्ता सकामा, न त्विहलोकपरलोकफलादिकामेन युक्ता, तस्य प्रतिषिद्धत्वात् । यदाहुः—"नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, (नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तीवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा) इत्यादि" इत्येका निर्जरा । द्वितीया तु कामवर्जिता कामेन पूर्वोक्तेन वर्जितेति । न च वाच्यं "ज्ञेया सकामा यमिना—मकामा त्वन्यदेहिनाम्" ॥ ८७ ॥ इत्यनेन योगशास्त्रस्यैव वचनान्तरेण यतीनामेव सकामा निर्जरा सिध्यति मिथ्यादृशां तु कर्मक्षयाद्यर्थं तपःकष्टं तन्वतामप्यकामैवेति ? । "ज्ञेया सकामा यमिनाम्"—इत्यादिवचनस्योत्कृष्टसकामनिर्जरास्वामिकथनपरत्वाद्, उत्कृष्टा हि सकामनिर्जरा तेषामेव भवेदिति ।

अन्यथा देशविरतानामविरतसम्यग्दृशां चाकामनिर्जरैव प्राप्नोति, तेषामपि यमिशब्दाव्यपदेश्यत्वेन विशेषाभावाद् । न चैतदिष्टम्, तस्मादेतद्वचनमुत्कृष्टसकामनिर्जराधिकारिकथनपरमिति न दोषः । किञ्च-ज्ञेया सकामेत्यादिश्लोकव्याख्यानेऽप्यकामनिर्जरास्वामिनो निरभिलाषं निरभिप्रायं च कष्टं सहमाना एकेन्द्रियादय एवोक्ताः, न तु बालतपस्व्यादयो मिथ्यादृशोऽपि । तथा हि-"सकामा निर्जराऽभिलाषवतां(ती), यमिनां यतीनां विज्ञेया । ते हि कर्मक्षयार्थं तपस्तप्यन्ते । अकामा तु कर्मक्षयलक्षणफलनिरपेक्षा निर्जरा, अन्यदेहिनां यतिव्यतिरिक्तानामेकेन्द्रियादीनां प्राणिनाम् । तथाहि-एकेन्द्रियाः पृथिव्यादयो वनस्पतिपर्यन्ताः शीतोष्णवर्षजलाग्निशस्त्राद्यभिघातच्छेदभेदादिनाऽसद्वेद्यं कर्मानुभूय नीरसं तत्स्वप्रदेशेभ्यः परिशाटयन्ति, विकलेन्द्रियाश्च क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातादिभिः. पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चश्च छेदभेददाहशस्त्रादिभिः, नारकाश्चत्रिविधया वेदनया. मनुष्याश्च क्षुत्पिपासाव्याधिदारिद्र्यादिना, देवाश्च पराभियोगकिल्बिषत्वादिनाऽसद्वेद्यं कर्मानुभूय स्वप्रदेशेभ्यः परिशाटयन्तीत्येषामकामनिर्जरेति ॥" समयसारसूत्रवृत्त्योरप्येवमेवोक्तम् (अ० ६) तथाहि-"इदानीं निर्जरातत्त्वं निगद्यते-"अणुभूअरसाणं कम्मपुग्गलाणं परिसडणं णिज्जरा ।" अनुभूतरसानां उपभुक्तविपाकानां कर्मपुद्गलानां, परिशटनमात्मप्रदेशेभ्यः प्रच्यवनं निर्जरा । अथ तस्या भेदावाह-" सा दुविहा पण्णत्ता सकामा अकामा य ।" सह कामेन 'निर्जरा मे भूयाद्' इत्यभिलाषेण न त्विहपरलोकादिकामेन युक्ता सकामा । अनन्तरोक्तकामवर्जिता त्वकामा । च-शब्दः समुच्चये । उपायात्स्वतोऽपि वा फलानामिव कर्मणां पाकस्य भावान्निर्जराया इदं द्वैविध्यमिति भावः । तत्राकामा केषाम् ? इत्याह-" तत्थ अकामा सव्वजीवाणं " निर्जराभिलाषिणां तपस्तप्यमानानां सकामनिर्जरेति वक्ष्यमाणत्वाद् तद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषां जीवानामकामा, कर्मक्षयलक्षणाभिलाषवर्जितत्वाद् । एतदेव चतुर्गतिगतजन्तुषु व्यक्तीकुर्वन्नाह । तथाहि—"एगिंदिआई तिरिआ

जहासंभवं छेअ-भेअ-सी-उण्ह-वाम-जल-ग्गि-छुहा-पिवासा-कसंकुसाईएहिं, नारगा तिविहाए वेअणाए, मणुआ छुहा-पिवासा-वाहि-दालिद्द-चारगणिरोहणाइणा, देवा परामिओग-किब्बिसिअत्ताइणा असायावेअणिज्जं कम्ममणुभविउं पडि(रि)साडिंति, तेसिमकामणिज्जरा॥" [एकेन्द्रियादयस्तिर्यञ्चो यथासम्भवं छेद-भेद-शीतोष्ण-वर्षा-जलाग्नि-क्षुधा-पिपासा-कशा-ऽङ्कुशादिभिः, नारकास्त्रिविधया वेदनया, मनुजाः क्षुधा-पिपासा-व्याधि-दारिद्र्य-चारकनिरोधनादिना, देवाः पराभियोग-किल्बिपिकत्वादिना असातावेदनीयं कर्मानुभूय प्रति-(परि)शातयन्ति तेषामकामनिर्जरा ।] "तथा ह्वीति पूर्वोक्तस्यैवोपक्षेपे। छेद-भेद-शीतोष्ण-वर्ष-जला-ग्नि-क्षुधा-पिपासा-कशाऽङ्कुशादय एकेन्द्रियादिषु पञ्चेन्द्रियपर्यन्ततिर्यक्षु यथायोगं योज्याः। नारकाणा त्रिविधा वेदना क्षेत्रजा-ऽन्योन्योदीरित-परमाधार्मिकजनितस्वरूपा। 'वाहि' त्ति व्याधिः, चारकनिरोधः कारागारग्रहः। शेषं सुबोधम्। सकामनिर्जरामाह-"सकामणिज्जरा पुण णिज्जराभिलासीणं अणसण-ऊणो(ओमो)यरिआ-भिक्खायरिय रसचाय-कायकिलेस-पडिसंलिणआभेयं छव्विहं बाहिरं, पायच्छित्त-विणअ-वेयावच्च-संमज्झायं-झाण-विउस्सग्गभेअं छव्विहमब्भितर च तवं तवंताणं॥" [सकामनिर्जरा पुनर्निर्जराभिलाषिणामनशनो-नोदरिका-भिक्षाचर्या रसत्याग-कायक्लेश-प्रतिसंलीनताभेदं षड्विधं बाह्यं, प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-ध्यान-व्युत्सर्गभेदं षड्विधमाभ्यन्तर तपस्तप्यमानानाम्॥] "निर्जराभिलाषिणामनशनादिभेदं षड्विधं बाह्यं, प्रायश्चित्तादिभेदं षड्विधमाभ्यन्तरं च तपस्तप्यमानानां भवति सकामा निर्जरेति संटंक इत्यादि ॥" न चात्रापि तपसः सकामनिर्जरारूपत्वप्रतिपादनाद् मिथ्यादृशां च तदभावान्न सकामनिर्जरेति वाच्यम्, मिथ्यादृशामपि मार्गानुसारिणां 'तपश्चा(श्च चा)न्द्रायणं कृच्छ्रम्" इत्यादिना (योगबिं० १३१) तपसः प्रतिपादनात्। किञ्च—मार्गानुसार्यनुष्ठानमात्रमेव सकामनिर्जरायां बीजम्, अविरतसम्यग्दृष्ट्यनुरोधात् न तु तपोमात्रमेवेति न काप्यनुपपत्तिः। अत एव स्फुटे मोक्षा-

भिलापत्वेऽपि मिथ्यादृशां प्रबलासद्ग्रहदोषवता तदभावव्रतामादिधार्मिकाणामिव फलतो न सकामनिर्जरा, मार्गानुसार्यनुष्ठानाभावात्, तदभावेऽपि च स्वाभाविकानुकम्पादिगुणवतां मेघकुमारजीवहस्त्यादीनां फलतः साऽबाधितेति विभावनीयम्। युक्तं चैतत् पञ्चस्वनुष्ठानेषु तद्धेत्वमृतानुष्ठानयोरिव सकामनिर्जराङ्गत्वव्यवस्थितेः। अत एवानुचितानुष्ठानमकामनिर्जराङ्गमुक्तम्। तथा च धर्मबिन्दुसूत्रवृत्तिवचनम्। "अननुष्ठानमन्यदकामनिर्जराङ्गमुक्तविपर्ययादिति" अ०६सू०१५॥ अननुष्ठानमनुष्ठानमेव न भवति, 'अन्यद्' विलक्षणमुचितानुष्ठानाद्। तर्हि कीदृशं तत्? इत्याह-'अकामनिर्जराङ्गम्' अकामस्य निरभिलापस्य तथाविधनलीवर्दादेरिव या निर्जरा कर्मक्षपणा तस्या अङ्गं निमित्तम्, न तु मुक्तिफलाया निर्जरायाः, कुतः? इत्याह—'उक्तविपर्ययाद्' उदग्रविवेकाभावेन रत्नत्रयाराधनाऽभावादिति॥ उचितानुष्ठानं च साध्वादीनां यथा शुद्धचारित्रपालनादिकं, तथा मार्गानुसारिणा मिथ्यादृशामपि सामान्यतः सदाचारादिकम्, भूमिकाभेदेनौचित्यव्यवस्थानात्, ततोऽधिकारिभेदेन यद् यदोचितमनुष्ठानं तत्तदा साक्षात्पारम्पर्येण वा निर्वाणफलमिति सकामनिर्जराङ्गम्। यच्चानुचितं तदनुचितप्रतिपत्तौ नियमादसदभिनिवेशोऽन्यत्रानाभोगमात्रादिति॥" वचनात् अभिनिवेशसहकृतत्वेन विपरीतफलमिति तत्त्वतोऽकामनिर्जराङ्गमिति मन्तव्यम्। इत्थं च "तओ भणियं नाइलेण, जहा मा वच्छ! तुमं एतेणं परिओसमुवयासु। जहा अहयं आसवारेण परिमुसिओ अकामणिज्जराए वि किंचि कम्मक्खओ हवइ किं पुण जं बालतवेणं। ता एते बालतवस्सिणो दट्ठव्वे, जओ णं किंचि उस्सुत्तुम्मग्गयारित्तमेएसि य दीसइ"। [ततो भणितं नागिलेन, यथा मा वत्स! त्वमेतेन परितोषमुपयाहि। यथाऽहमश्ववारेण परिमुषितोऽकामनिर्जरयाऽपि किञ्चित्कर्मक्षयो भवति किं पुनर्यद् बालतपसा?। तस्मादेते बालतपस्विनो द्रष्टव्याः। यतः खलु किञ्चिदुत्सूत्रोन्मार्गचारित्वमेतेषां च दृश्यते।] इत्यादि महानिशीथचतुर्थाध्ययनवचनाद् अकामनिर्जराजन्यात्कर्मक्षयाद्

बालतपोजन्यस्य तस्य भूयस्त्वसिद्धेः। "अणुकंपकामणिज्जर-बालतवे दाणविणयविब्भंगे।" [अनुकम्पाऽकामनिर्जराबालतपोदानविनयवि-भङ्गाः।] इत्यादौ सम्यक्त्वप्राप्तिहेतुषु–"महव्वयअणुव्वएहि य, बालतवोकामणिज्जराए य॥ देवाउअं णिबंधइ, सम्मद्दिट्ठी य जो जीवो ॥१॥" [महाव्रताणुव्रतैश्च बालतपोऽकामनिर्जराभ्यां च। देवायुर्निबध्नाति सम्यग्दृष्टिश्च यो जीवः॥] इत्यादौ देवायुःकारणेषु च भेदे-नाभिधानादकामनिर्जरा-बालतपसोर्भेदो यः प्रोच्यते स स्वरूपभेदं निजनिजफलभेदं चापेक्ष्य बालतपः सर्वमेवाकामनिर्जराङ्गमिति परस्य भ्रान्तिनिरासाय। तत्त्वतस्तु यदुचितानुष्ठानं तन्नाकामनिर्जराङ्गम्, यच्चानुचितानुष्ठानं तन्निर्वाणानङ्गत्वात्फलतो बालतपो वोच्यताम्, अकामनिर्जराङ्गं वा नाऽत्र कश्चिद्विशेष इति युक्तं पश्यामः॥ किञ्च–मिथ्यादृष्टीनामपि मार्गसाधनयोगा गुणस्थानकत्वाभ्युपगमादेव हरिभद्राचार्यैः प्रदर्शिताः, तथा च तेषामपि सकामनिर्जराया न बाधकम्, गुणलक्षणायास्तस्याः कुशलमूलत्वात्। तदुक्तं तत्त्वा-र्थभाष्ये नवमाध्याये—"निर्जरा वेदना विपाक इत्यनर्थान्तरम्। स द्विविधोऽबुद्धिपूर्वः कुशलमूलश्च। तत्र नरकादिषु कर्मफलवि-पाको योऽबुद्धिपूर्वकस्तमवद्यतोऽनुचिन्तयेद् अकुशलानुबन्ध इति। तपःपरिषहजयकृतः कुशलमूलस्तं गुणतोऽनुचिन्तयेत्–शुभानुबन्धो निरनुबन्धो वेति। एवमनुचिन्तयन् कर्मनिर्जरणायैव घटते इति॥" अत्र ह्यकुशलानुबन्धो विपाक इत्यकामनिर्जरायाः कुशलमूलश्च स-कामनिर्जरायाः संज्ञान्तरमेवेति। अथ मिथ्यादृष्टेर्बुद्धिरबुद्धिरेवेति न बुद्धिपूर्विका निर्जरेति चेद्। न, मार्गानुसारिण्या बुद्धेरबुद्धित्वेना-पह्नोतुमशक्यत्वाद्, अन्यथा माषतुषादीनामप्यकामनिर्जराप्रसङ्गात्, तेषां निर्जराया अबुद्धिपूर्वकत्वात्फलतो बुद्धिसद्भावस्य चोभ-यत्राविशेषाद्। उचितगुणस्थानपरिणतिसत्त्वे फलतो बुद्धिमत्त्वमबाधितमेवेति। तदुक्तम् (उपदेशपद६०३)"गुणठाणगपरिणामे, संते तह बुद्धिमंपि पाएण॥ जायइ जीवो तप्फल-मवेक्खमस्से उ णियमत्ति॥" गुणविशेषस्य जीवदयादिरूपस्यात्मनि परिणामे सति,

तथेति समुच्चये, बुद्धिमानपि युक्तायुक्तविवेचनचतुरशेमुषीपरिगतोऽपि न केवलं धर्मसारः सदा भवति, प्रायेण बाहुल्येन, जायते जीवः। महतामप्यनाभोगसम्भवेन कदाचित्कृत्येष्वबुद्धिमत्त्वमपि कस्यचित्स्यादिति प्रायोग्रहणम्। अत्र मतान्तरमाह-तत्फलं बुद्धिमत्त्वफलं स्वर्गापवर्गादिप्राप्तिलक्षणम्, अपेक्ष्यान्ये पुनराचार्याः, नियमोऽवश्यंभावो बुद्धिमत्त्वस्य अनाभोगेऽपि गुणस्थानपरिणतौ सत्यामिति ब्रुवते। अयमभिप्रायः—'सम्पन्ननिर्व्रणव्रतपरिणामाः प्राणिनो जिनभणितमिदमिति श्रद्दधानाः कचिदर्थेऽनाभोगबहुलतया प्रज्ञापकदोषाद् वितथश्रद्धानवन्तोऽपि न सम्यक्त्वादिगुणभङ्गभाजो जायन्ते'। यथोक्तम् (उत्तराध्ययननिर्युक्ति) "सम्मद्दिट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ ॥ सद्दहइ असब्भावं, अयाणमाणो गुरुणिओगा ॥१६३॥" [सम्यग्दृष्टिर्जीव उपदिष्टं प्रवचनं तु श्रद्दधाति। श्रद्दधात्यसद्भावमजानन् गुरुनियोगात् ॥] इति ॥ बुद्धिमत्त्वे सति ते व्रतपरिणामफलमविकलमुपलभन्त एवेति। यथा च सम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानावान्तरपरिणतितारतम्येऽपि बुद्धिमत्त्वसामान्यफलाभेदस्तथा मार्गानुसारिणां मिथ्यादृशां मिथ्यात्वगुणस्थानावान्तरपरिणतितारतम्येऽपि। अत एवापुनर्बन्धकादीनामादित एवारभ्यानाभोगतोऽपि 'सदन्धन्यायेन' मार्गगमनमेवेत्युपदिशन्त्यध्यात्मचिन्तकाः। यत्तु मिथ्यादृशां सकामनिर्जरासम्भवे सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्योरविशेषप्रसङ्ग इति केनचिदुच्यते, तदसत्। एवं सति मिथ्यादृष्ट्यादीनां सयोगिकेवलिपर्यन्तानां शुक्ललेश्यावत्त्वेनाविशेषप्रसङ्गात्। अवान्तरविशेषान्न तदविशेष इति चेत्? । सोऽयं प्रकृतेऽपि तुल्यः, सम्यग्दृष्टिनिर्जराऽपेक्षया मिथ्यादृष्टिनिर्जराया अल्पत्वस्याभ्युपगमादिति यथाशास्त्रं भावनीयम् ॥ ३७ ॥

नन्वेवं मिथ्यादृशा गुणानुमोदनेन परपाखण्डिप्रशंसालक्षणः सम्यक्त्वातिचारः स्यादित्याशङ्कां परिहर्तुमाह—

परपाखंडिपसंसा, इहइं खलु कोवि णेवमइआरो ॥ सो तम्मयगुणमोहा, अणवत्थाए व होज्जाहि ॥ ३८ ॥

[परपाखण्डिप्रशंसा, इह खलु कोऽपि नैवमतिचारः ॥ स तन्मतगुणमोहाद्, अनवस्थया वा भवेद् ॥ ३८ ॥]

परपाखंडिपसंसत्ति । एवमुक्तप्रकारेण, इह मार्गानुसारिगुणानुमोदने, परपाखण्डिप्रशंसाऽतिचारः, कोऽपि न स्यात् । यतः स परपाखण्डिप्रशंसातिचारः तन्मताः परपाखण्डिमात्रसंमता ये गुणा अग्निहोत्रपञ्चाग्निसाधनकष्टादयस्तेषु मोहोऽज्ञानं तत्त्वतो जिनप्रणीततुल्यत्वादिमिथ्याज्ञानलक्षणं ततो भवेत्, 'परपाखण्डिनः परदर्शनिनः तेषां प्रशंसा' इत्यत्र व्युत्पत्तावर्थात् पाखण्डताऽवच्छेदकधर्मप्रशंसाया एवातिचारत्वलाभाद् । यथा हि 'प्रमादिनो न प्रशंसनीयाः' इत्यत्र प्रमादिना प्रमादितावच्छेदकधर्मेणाप्रशंसनीयत्वं लभ्यते, न त्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनां सम्यक्त्वादिनाऽपि, 'तथा पाखण्डिनो न प्रशंसनीयाः' इत्यत्रापि पाखण्डिनां पाखण्डतावच्छेदकधर्मेणैवाप्रशंसनीयत्वं लभ्यते, न तु मार्गानुसारिणां क्षमादिगुणेनापि । अभिनिवेशविशिष्टक्षमादिगुणानामपि पाखण्डतावच्छेदकत्वमेवेति तद्रूपेण प्रशंसायामप्यतिचार एव । अत एवोग्रकष्टकारिणामप्याज्ञोल्लङ्घनवृत्तीनां प्रशंसाया दोषावहत्वमुक्तं—तेसिं बहुमाणेणं, उम्मग्गणुमोअणा अणिट्ठफला ॥ तम्हा तित्थयराणा-ठिएसु जुत्तोत्थ बहुमाणो॥३९॥पंचाशक ११मुं ॥(तेषां बहुमानेनोन्मार्गानुमोदनाऽनिष्टफला । तस्मात्तीर्थकराज्ञास्थितेषु युक्तोऽत्र बहुमानः ॥) इत्यादिना श्रीहरिभद्रसूरिभिः । वा अथवा, अनवस्थया मार्गभ्रंशलक्षणया, अतिचारो भवेद् । मुग्धपर्षदि क्षमादिगुणमादायापि मिथ्यादृष्टिप्रशंसाया परदर्शनिभक्तत्वप्रसङ्गादेकैकाममञ्जसाचाराद्, एवं मार्गोच्छेदापत्तेः । अत एवाभिमुखमुग्धपर्षद्गतस्य परपाखण्डिसम्बन्धिकष्टप्रशंसादिना महानिशीथे परमाधार्मिकमध्योत्पत्तिरुक्ता । तथा च तत्पाठः "जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा परपासंडीणं पसंसं करेज्जा, जे यावि णं णिण्हवाणं पससं करेज्जा, जे णं णिण्हवाणं आययणं पविसेज्जा, जे णं णिण्हवाणं गंथ-सत्थ-पय-क्खर वा परूवेज्जा, जे णं णिण्हवाणं संतिए कायकिलेसाइए तवे इ वा संजमे इ वा नाणे इ

वा विन्नाणे इ वा सुए इ वा पंडिच्चे इ वा अभिमुहमुद्धपरिसामज्झगए सिलाहेज्जा सेवि य णं परमाहम्मिएसु उववज्जेज्जा, जहा सुमतित्ति"॥ (यो भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा परपाषण्डिना प्रशंसा कुर्यात्, योऽपि च निह्नवाना प्रशंसा कुर्यात्, यः खलु निह्नवानामायतनं प्रविशेत्, यः खलु निह्नवाना ग्रन्थशास्त्रपदाक्षर वा प्ररूपयेत्, यः खलु निह्नवानां सत्कान् कायक्लेशादीन् तपो वा संयमं वा ज्ञानं वा विज्ञानं वा श्रुतं वा पाण्डित्यं वा अभिमुखमुग्धपर्षद्गतः श्लाघयेत् सोऽपि च परमाधार्मिकेषु उपपद्येत, यथा सुमतिरिति ॥) तथा च यः स्वस्य परेषां च गुणानुरागवृद्धिकारणमवगम्यैव जिनप्रणीतक्षमादिगुणगणमादाय मार्गानुसारिणा मिथ्यादृशा प्रशंसा करोति तस्य न दोषगन्धोऽपि, प्रत्युत 'अहो सकलगुणसारं जिनप्रवचनम्', इति धर्मोन्नतिरेव स्यादिति भावः ॥ ३८ ॥

अथ भवन्तु मिथ्यादृशामपि केऽपि केऽपि गुणास्तथापि हीनत्वादेव ते नानुमोद्या इत्याशङ्काशेषं निराकर्तुमाह—

जइ हीणं तेसि गुण, सम्मत्तधरो ण मन्नइत्ति मई ॥ ता कस्सवि सुहजोगं, तित्थयरो णाणुमन्निज्जा ॥३९॥

[यदि हीनं तेषा गुणं, सम्यक्त्वधरो न मन्यते इति मतिः ॥ ततः कस्यापि शुभयोगं, तीर्थकरो नानुमन्येत ॥ ३९ ॥]

जइ हीणंति। यदि हीन तेषां मिथ्यादृशां, गुण क्षमादिकं, न मन्यते नानुमन्यते, सम्यक्त्वधरः, उत्कृष्टपदत्वादिति तव मतिः स्यात्, तदा कस्यापि शुभयोग तीर्थकरो नानुमन्येत, तीर्थकरापेक्षया सर्वेषामपि छद्मस्थानामधस्तनस्थानवर्तित्वात्। न चैतदिष्टम्, तत उपरितनगुणस्थानस्थानामपि सर्व मार्गानुसारिकृत्यमनुमोदनीयमेव। यत्र सम्यक्त्वगुणविशेषप्रदर्शनार्थं मिथ्यादृग्गुणमात्रस्य शास्त्रेऽकिञ्चित्करत्वप्रतिपादनं तेतावता सर्वथा तद्विलोप एव सिध्यति, चारित्रगुणविशेषप्रदर्शनार्थं (आवश्यके) "दसारसीहस्स य सेणियस्स, पेढालपुत्तस्स य सच्चइस्स ॥ अणुत्तरा दंसणसंपया सिया, विणा चरित्तेण हरगइं गया ॥११७२॥"(दशारसिंहस्य

च श्रेणिकस्य पेढालपुत्रस्य च सत्यकेः। अनुत्तरा दर्शनसम्पदासीद्विना चारित्रेणाधरां गतिं गता॥) इत्यादिना सम्यक्त्वस्यापि तत्प्रतिपादनादिति द्रष्टव्यम् ॥३९॥ तदेवमन्येषामपि मार्गानुसारिगुणानामनुमोद्यत्वसिद्धौ 'सम्यग्दृशाऽन्येषां गुणा नानुमोद्या एव' इत्युत्सूत्रं त्यक्तव्यम्, स्तोकस्याप्युत्सूत्रस्य महानर्थहेतुत्वादित्युपदेशमाह—

ता उस्सुत्तं मोत्तुं, अणुमोइज्जा गुणे उ सव्वेसिं॥ ज थोवा वि तओ (लहु), लहेज्ज दुक्खं मरीइव्व ॥४०॥

[तत उत्सूत्रं मुक्त्वाऽनुमोदेत गुणान् सर्वेषां तु। यत्स्तोकादपि ततः (लघु) लभेत दुःखं मरीचिरिव ॥ ४० ॥]

ता उस्सुत्तंति। तत् तस्मात्कारणात्, उत्सूत्रं मुक्त्वा, तुरेवकारार्थः, स च सर्वेषाम् इत्यनन्तरं योज्यः; सर्वेषामेव गुणाननुमोदेत; भव्य इति शेषः। यद् यस्मात्, स्तोकादपि ततः उत्सूत्रात्, मरीचिरिव दुःखं लभेत। मरीचिर्हि "कविला इत्थंपि इहयंपि" (कपिल! इत्थमपीहापि।) इति स्तोकादप्युत्सूत्रात्सागरोपमकोटाकोटीमानसंसारपरिभ्रमणजन्यदुःखं लब्धवान्, ततो यो मार्गानुसार्यनुमोदनां लुम्पन्नुत्सूत्रसहस्रवादी तस्य किं वाच्यमिति भावः॥ अत्र केचिदाहुः-"मरीचिरुत्सूत्राद् दुःखं लब्धवानिति वयं न सहामहे, उत्सूत्रस्य नियमतोऽनन्तसंसारकारणत्वात्, तेन चासंख्येयसंसारार्जनात्, तत उत्सूत्रमिश्रितमेवेदं मरीचिवचनं, नतूत्सूत्रमिति प्रतिपत्तव्यम्। तथा हि-साधुधर्मे द्विरुक्तेऽपि साधुधर्मानभिमुखेन कपिलेन 'युष्मत्समीपे कश्चिद्धर्मोऽस्तीति' पृष्टे, आवश्यकवृत्त्यभिप्रायेण तु 'भवदर्शने किञ्चिद्धर्मोऽस्तीति' पृष्टे, 'अहो! अयं प्रचुरकर्मा द्विरुक्तोऽपि साधुधर्मानभिमुखो मदुचितः सहायः संवृत्त' इति विचिन्त्य मम देशविरतिधर्मोऽस्तीत्यभिप्रायेण मनागिहाप्यस्तीति मरीचिरुक्तवान्। तत्र मरीचेर्यदि देशविरतिविमर्शना नाभविष्यत् तर्हि मनागिति नाभणिष्यत्। एतद्वचनं परिव्राजकवेषे सति परिव्राजकदर्शने किञ्चिद्धर्मव्यवस्थापकं सम्पन्नम्। इह शब्दस्यास्पष्टा-

र्थवाचकत्वेन श्रोतुः कपिलस्य परिव्राजकदर्शनेऽपि किञ्चिद्धर्मोऽस्तीत्यवबोधात्, अन्यथा कपिलः परिव्राजकवेषं नाग्रहीष्यत्, तस्य धर्मचिकीर्षयैव तद्वेषोपादानात्, राजपुत्रत्वेनान्यकारणासम्भवात्, ततश्च कापिलीयदर्शनप्रवृत्तिः। सा च कपिलस्य मरीचेरन्येषां च महानर्थकारणम्, कुप्रवचनरूपत्वात्। तदेवम्भूतं वचनमुत्सूत्रमिश्रं, मरीच्यपेक्षया सत्यत्वेऽपि कपिलापेक्षया उत्सूत्रत्वात्। मम पार्श्वे मनाग् धर्मोऽस्तीति देशविरतस्य मरीचेरभिप्रायान्मरीच्यपेक्षया हि सत्यमेतत्, परिव्राजकदर्शने मनाग् धर्मोऽस्तीति कपिलस्य बुद्धिजनकत्वेन कपिलापेक्षया चासत्यरूपमेवेति॥" तदसत्, उत्सूत्रकथनाभिप्रायेण प्रवृत्तस्यास्य वचनस्य मायानिश्रितासत्यरूपस्योत्सूत्रत्वाद्। आपेक्षिकसत्यासत्यभावाभ्यामुत्सूत्रमिश्रितत्वाभ्युपगमे च भगवद्वचनस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। तदपि हि भगवतस्तद्भक्तानां चापेक्षया सत्यं पाखण्डिना चापेक्षयाऽसत्यमिति। अथ भगवता वचनं परस्यासत्यबोधाभिप्रायेण न प्रयुक्तमिति नोत्सूत्रम्, मरीचिना तु प्रकृतवचनं कपिलस्यासत्यबोधाभिप्रायेणैव प्रयुक्तम्। स ह्येव ज्ञातवान्–एतन्मद्वचनं कपिलस्य परिव्राजकदर्शने धर्मबुद्धिजनकं भविष्यतीत्येवमेवायं बोधनीय इति, कथमन्यथाऽस्य परिव्राजकवेषमयमदास्यद्? इति महद्वैषम्यमिति चेत्। हन्त तर्हि उत्सूत्रमेवेदं प्राप्तमिति गतमुत्सूत्रमिश्रेण। द्रव्यतोऽसत्यस्य किशलयपाण्डुपत्रालापरूपसूत्रवचनस्येव द्रव्यतः सत्यस्य प्रकृतवचनस्योत्सूत्ररूपस्यापि मिश्रत्वायोगात्, शुद्धाशुद्धद्रव्यभावाभ्यां मिश्रत्वाभ्युपगमे जिनपूजादावपि मिश्रपक्षाभ्युपगमप्रसङ्गाच्च। अथ देशविरत्यभिप्रायेण मदपेक्षया मया सत्यं वक्तव्यम्, परिव्राजकवेषाभिप्रायेण कपिलापेक्षया त्व(त्वा)सत्यमित्येवं भावभेदादेवेदमुत्सूत्रमिश्रमिति चेत्, न, एतादृशभावयोरेकदाऽसम्भवात्, उपयोगद्वययौगपद्याभ्युपगमस्यापसिद्धान्तत्वाद्। एक एवायं समूहालम्बनोपयोग इति चेत्, तर्हि केन कस्य मिश्रत्वम्?। नियमतः पदार्थद्वयापेक्षयैतदिति विषयभेदादेकत्रापि मिश्रत्वमिति चेत्, तर्हि गतं केव-

लेनोत्सूत्रेण, सर्वस्याप्यसत्याभिप्रायस्य धर्म्यंशे सत्यत्वात् " सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः " इति शास्त्रीयप्रवादप्रसिद्धेः। तर्हि प्रकारभेदादस्तु मिश्रत्वम्, एकत्रैव वचने सत्यासत्यबोधकत्वावच्छिन्नप्रकारभेदोपरक्ताभिप्रायोपश्लेषादुत्सूत्रमिश्रत्वसम्भवादिति चेत्। न, सूत्रकथनांशेऽभिप्रायस्य प्राबल्येऽनुत्सूत्रस्योत्सूत्रकथनांशे तत्प्राबल्ये चोत्सूत्रस्यैव सम्भवान्मिथ्यान्यपदेशेन मिश्रस्यानवकाशाद्। अन्यथा 'क्रियमाण न कृतम्' इत्यंशेऽसत्यं प्रतिपादयामि इतरांशे च सत्यमिति मिथ्यान्यपदेशेन वदतो जमाल्यनुसारिणोऽपि नोत्सूत्रं स्यात् किन्तूत्सूत्रमिश्रमिति महदसमञ्जसम्। अपि च-इदं मरीचिवचनमुत्सूत्रमिश्रमिति वदता मूलत एव जैनी प्रक्रिया न ज्ञाता। यतः सूत्रोत्सूत्रव्यवस्था तावच्छ्रुतभावभाषामाश्रित्य क्रियते। सा च सत्यासत्यानुभयरूपत्वात् त्रिविधैव दशवैकालिकनिर्युक्त्यादिसिद्धान्तप्रतिपादिता। पराभिप्रायेण तु मिश्ररूपाया अपि तस्याः सिद्धौ भगवद्भद्रबाहूक्तविभागव्याघातप्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत्। इत्थं च मरीच्यपेक्षया मरीचेरनुत्सूत्रमेवेदं वचनं कपिलापेक्षया च विपर्यासबुद्धिजनकत्वज्ञानेऽपीत्थमुच्यमानमेतद्वचनं ममोत्सूत्रमिति परिज्ञानाभावात्कथञ्चिदनाभोगहेतुकमुत्सूत्रमिति वदतो माता च मे वन्ध्या चेति न्यायापात इति द्रष्टव्यम्। किञ्च-तस्योत्सूत्राभोगो नासीदित्यपि दुःश्रद्धानम्, व्युत्पन्नस्य तस्य तादृशास्पष्टवचनेऽप्युत्सूत्रत्वप्रत्ययावश्यकत्वाद्। न च साधुभक्तस्य तस्य तथोत्सूत्रभाषणमसम्भव्येवेति शङ्कनीयम्, कर्मपरिणतेर्विचित्रत्वाद्। अस्पष्टत्वं च तत्राभिमतानभिमतविधिनिषेधावधारणाऽक्षमत्वलक्षण न, उत्सूत्राभोगाभावात्; किन्त्वनभिमतनिषेधांशे देशविध्यारोपप्रयोजकतथाविधसङ्क्लेशात्। अत एव स्फुटाप्ररूपणमप्यस्यास्पष्टताख्यजातिविशेषशालिन्युत्सूत्रप्ररूपण एव पर्यवस्यति। तदुक्तं पाक्षिकसप्ततिकावृत्तौ—"उत्सूत्रप्ररूपणायाः संसारहेतुत्वात्। यथोक्तम्—"फुडपागडमकहंतो, जहट्ठियं बोहिलाभमुवहणइ॥ जह भगवओ विसालो, जरामरणमहोअही आसि॥" त्ति।

उपदेशमाला १०६ [स्फुटप्रकटमकथयन् यथास्थितं बोधिलाभमुपहन्ति । यथा भगवतो विशालो जरमरणमहोदधिरासीत् ॥१॥]" किञ्च-इहत्ति देशविरत्यभिप्रायेण चोक्तमिति कुतो निर्णीतम्। उपदेशमालावृत्तौ "कपिल ! इहाप्यत्रापीति" मत्सम्बन्धिनि साधुसम्बन्धिनि चानुष्ठाने धर्मोऽस्तीति भणनात् । न च तत्र 'साधुसम्बन्धिनि' इति भणनेन 'मत्सम्बन्धिनि देशविरत्यनुष्ठाने धर्मोऽस्ति' इत्येवाभिप्राय इति वाच्यम्॥"जिनधर्मालसं ज्ञात्वा, शिष्यमिच्छन् स तं जगौ॥मार्गे जैनेऽपि धर्मोऽस्ति,मम मार्गेऽपि विद्यते॥१॥"इति हैमवीरचरित्रवचनात्स्वमार्गेऽपि तेन धर्माभिधानात्। स्वमार्गश्च तस्य स्वपरिगृहीतलिङ्गाचारलक्षणं कापिलदर्शनमेव। तत्र न मार्गे नियतकारणताविशेषसम्बन्धेन धर्ममात्रमेव नास्ति कुतो देशविरत्यनुष्ठानम् ? इत्युत्सूत्रमेवैतदिति । अनियमाभिप्रायेण त्वस्योत्सूत्रपरिहारेऽन्यलिङ्गादिसिद्धाभ्युपगमाचारित्रादेरपि तत्राभ्युपगमापत्तिरिति न किञ्चिदेतत्। एतेन'कविला इत्थंपि'त्ति अपिशब्दस्यैवकारार्थत्वान्निरुपचरितः खल्वत्रैव साधुमार्गे 'इहयंपि'त्ति स्वल्पस्त्वत्रापि विद्यते। स एवमाकर्ण्य तत्सकाश एव प्रव्रजितः। मरीचिनाऽप्यनेन दुर्वचनेन संसारोऽभिनिर्वर्तित इति ज्ञानसागरसूरिवचनमपि व्याख्यातम्॥तत्रापि मार्गभेदाभिप्रायेणैव धर्मभेदाभिधानाद्। न हि साधुश्रावकयोर्मार्गभेदेन धर्मभेदः सम्भवदुक्तिकोऽपीति विचारणीयम्। यत्तु मरीचिवचनमिदमावश्यकनिर्युक्तौ'दुर्भाषितमेवोक्तं न तूत्सूत्रमिति' नेदमुत्सूत्रं वक्तव्यमिति केनचिदुच्यते । तदसत् ,दुर्भाषितपदस्यानागमिकार्थोपदेशे रूढत्वात् ,तदुत्सूत्रताया व्यक्तत्वात् । तदुक्तं१२पञ्चाशकसूत्रवृत्त्योः-"संविग्गोणुवएसं, ण देइ दुब्भासियं कडुविवागं। जाणंतो तंमि तहा, अतहक्कारो उ मिच्छत्तं ॥१७॥" व्याख्या—संविग्नो भवभीरुर्गुरुः, अनुपदेश नञः कुत्सितार्थत्वेन कुत्सितोपदेशमागमबाधितार्थानुशासनं, न ददाति-परस्मै न करोति, तद्दाने संविग्नत्वहानिप्रसङ्गात्। किम्भूतः सन् ? इत्याह-दुर्भाषितमनागमिकार्थोपदेशं, कटुविपाक दारुणफलं दुरन्तसंसा-

रावहं मरीचिभवे महावीरस्येव, जानन्—अवबुध्यमानः। को हि पश्यन्नेवात्मानं कूपे क्षिपतीत्यादि ॥" तथा श्रावकदिनकृत्यवृत्तावप्युक्तम्—"विपरीतप्ररूपणा उन्मार्गदेशना । इयं हि चतुरन्तादभ्रभवभ्रमणहेतुर्मरीच्यादेरिवेति ॥" धर्मरत्नप्रकरणसूत्रवृत्त्योरप्युक्तम् "अइसाहसमेयं जं, उस्सुत्तपरूवणा कडुविवागा ॥ जाणंतेहि वि दिज्जइ, णिद्देस्सो सुत्तबज्झत्थे ॥१॥" "ज्वलज्ज्वालानलप्रवेशकारिनरसाहसादप्यधिकमतिसाहसमेतद्वर्तते, यदुत्सूत्रप्ररूपणा(णाः)—सूत्रनिरपेक्षदेशना(नाः) कटुविपाका दारुणफला, जानानैः अवबुध्यमानैः, अपि, दीयते—वितीर्यते, निर्देशो निश्चयः,सूत्रबाह्ये—जिनेन्द्रा(जिनागमा)नुक्ते,अर्थे—वस्तुविचारे। किमुक्तं भवति "दुब्भासिएण इक्केण, मरीई दुक्खसागर पत्तो ॥ भमिओ कोडाकोडी, सागरसरिणामविज्ञाणं ॥आव०४३८॥ उस्सुत्तमायरतो, वंधइ कम्मं सुचिक्कणं जीवो ॥ संसार च पवड्ढइ, मायामोसं च कुव्वइ य ॥उपदेशमा० २२१॥ [दुर्भाषितेनैकेन मरीचिर्दुःखसागर प्राप्तः । भ्रान्तः कोटाकोटीसागरसदृग्नामधेयानाम् ॥ उत्सूत्रमाचरन् बध्नाति कर्म सुचिक्कणं जीवः । संसार च प्रवर्धयति मायामृषा च करोति च ॥१॥] उम्मग्गदेसओ मग्ग—णासओ गूढहियमाइल्लो ॥ सढसीलो अ ससल्लो, तिरिआउं (अआउं-गइं) वंधइ (ए) जीवो ॥पंचव० १६५५॥ उम्मग्गदेसणाए, चरणं णासंति जिणवरिंदाणं ॥ वावण्णदंसणा खलु, न हु लब्भा तारिसा दट्ठुं ॥प्रवचनसा० ६४६॥" [उन्मार्गदेशको मार्गनाशको गूढहृदयमायावान् । शठशीलश्च सशल्यः तिर्यग्गतिं(गायुः) बध्नाति जीवः ॥ उन्मार्गदेशनया चरणं नाशयन्ति जिनवरेन्द्राणाम् । व्यापन्नदर्शनाः खलु नैव लभ्यास्तादृशा द्रष्टुं ॥] इत्या(त्या)गमवचनानि श्रुत्वाऽपि स्वाग्रहग्रस्तचेतसो यदन्यथाऽन्यथाऽप्याचक्षते विदधति च तन्महासाहसमेव, अनर्वाक्पारासारसंसारापारपारावारोदरविवरभाविभूरिदुःखभाराङ्गीकारादिति ॥ तथा श्राद्धविधिवृत्तावप्याशातनाधिकारे प्रोक्तम्—"एतासु चोत्सूत्रभाषणार्हद्गुर्वाद्यवज्ञादिर्महत्याशात-

नाऽनन्तसंसारहेतुश्च सावद्याचार्य-मरीचि-जमालि-कूलवालकादेरिव । यतः—उस्सुत्तभासगाणं, बोहिणासो अणंतसंसारो ॥ पाणच्चएवि धीरा, उस्सुत्तं ता ण भासंति ॥१॥ तित्थयरपवयणसुअं, आयरिअं गणहरं महिड्ढीयं।" इत्यादि॥ [उत्सूत्रभाषकाणां बोधिनाशोऽनन्तसंसारः। प्राणत्यागेऽपि धीरा उत्सूत्रं ततो न भाषन्ते ॥ तीर्थकर प्रवचनं श्रुतमाचार्यं गणधर महर्द्धिकञ्च ।] तथा योगशास्त्रवृत्तावप्युक्तम्—"भगवानपि हि भुवनगुरुरुन्मार्गदेशनात्सागरोपमकोटाकोटी यावद्भवे भ्रान्तस्तत्काऽन्येषा स्वपापप्रतीकारं कर्तुमशक्नुवतां गतिरिति । तथा तत्रैव—" अल्पादपि मृषावादाद् " इत्यस्य व्याख्यायाम्, अल्पस्यापि मृषावादस्य महानर्थहेतुत्वे संमतिवचनमिदमुपदर्शितम्—अहह सयलन्नपावा, वितहपन्नवणमणुमवि दुरंतं॥ जं मरीइभवउवज्जियदुक्कयअवसेसलेसवसा ॥१॥ सुरथुअगुणो वि तित्थं-करो वि तिहुअणअतुल्लमल्लो वि ॥ गोवाईहिं वि बहुसो, कयत्थिओ तिजयपहू तं सि ॥ २ ॥त्ति ॥ गोबंभणभूणंतगावि, केइ इह दढप्पहारगई ॥ बहुपावा वि य सिद्धा, सिद्धा किर तंमि चेव भवे ॥ ३ ॥"त्ति । [अहह सकलान्यपापाद् वितथप्रज्ञापनमण्वपि दुरन्तम्। यन्मरीचिभवोपार्जितदुष्कृतावशेषलेशवशात्॥ सुरस्तुतगुणोऽपि तीर्थंकरोऽपि त्रिभुवने अतुल्यमल्लोऽपि गोपादिभिरपि बहुशः कदर्थितस्त्रिजगत्प्रभुस्त्वमसि॥ गो-ब्राह्मण-भ्रूणान्तका अपि केचिदिह दृढप्रहार्यादयः। बहुपापा अपि च सिद्धाः, सिद्धाः किल तस्मिन्नेव भवे॥] तथोपदेशरत्नाकरेऽपि प्रोक्तम्—"तथा केषाञ्चिद्देशना पुनः प्रस्तावौचित्यादिसर्वगुणसुभगा परं केवलेनोत्सूत्रप्ररूपणदूषणेन कलिता, साऽपि पुरनिर्द्धमनजलतुल्या, अमेध्यलेशेन निर्मलजलमिवोत्सूत्रलेशप्ररूपणेनापि सर्वेऽपि गुणा यतो दूषणतामिव भजन्ति, तस्य विषमविपाकत्वाद् । यदागमः—" दुब्भासिएण इक्केण" इत्यादि" । तथा तत्रैव प्रदेशान्तरे प्रोक्तम्—"केचिद् गुरव आलम्बनं विनैव सततं बहुतरप्रमादसेवितया कुचारित्रिणः देशनायामप्यचातुर्यभृतश्च, यथा तथाविधाः पार्श्वस्थादयः, यथा वा मरीचिः

"कविला इत्थंपि इहयंपि" इत्यादिदेशनाकृद्। "देशनाचातुर्यं(सौभाग्यं) चोत्सूत्रपरीहारेण सम्यक् सभाप्रस्तावौचित्यादिगुणवत्त्वेन च ज्ञेयं ॥" (तट१ अंश २ तरंग ११) इत्यादि॥ यत्तु कश्चिदाह–उत्सूत्रलेशवचनसामर्थ्यादेव प्रतीयते मरीचेर्वचनं न केवलमुत्सूत्रं किन्तूत्सूत्रमिश्रमिति। तन्न, एवं सति "जो चेव भावलेसो, सो चेव भगवओ बहुमओ उ ॥ २३॥"त्ति [यश्चैव भावलेशः स एव भगवतो बहुमतस्तु।] पञ्चाशकवचनाद्॥ य एव, भावलेशो भगवद्बहुमानरूपो द्रव्यस्तवाद् भवति, स एव भगवतो मुख्यवृत्त्याऽनुमत इत्यर्थप्रतीतौ तत्र भावलेशस्याभावमिश्रितस्य भगवद्बहुमतत्वापत्तेः; तस्माल्लेशपदमपकर्षाभिधायकं न तु मिश्रितत्वाभिधायकमिति मन्तव्यं। स्यादयमभिप्रायः—धर्मस्यापि ह्यशुभानुबन्धादिति, आह–"धम्मो वि सबलओ होइ" [धर्मोऽपि शबलो भवति।] इत्यादिना शास्त्रे शबलत्वमुच्यते, शबलत्वं च मिश्रत्वमेव मरीचिवचनस्यापि कुदर्शनप्रवृत्त्याऽशुभानुबन्धान्मिश्रत्वमविरूद्धं, कुदर्शनप्रवृत्तेरेव तस्य संसारवृद्धिहेतुत्वेनावश्यकचूर्णावुक्तत्वादिति। सोऽय दुरभिप्रायः, यतः इत्थं सति फलत एवेदमुत्सूत्रं स्याद् न तु स्वरूपतः, उच्यते स्वरूपतोऽपीदमुत्सूत्रं, उत्सूत्रत्वादेव च संसारहेतुरिति, यत्किञ्चिदेतत्। अत एव श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णावपि "पडिसिद्धाणं करणे" इति व्याख्याने विपरीतप्ररूपणा विविच्य तत्कृताशुभफलभागित्वेन मरीचिरेव दृष्टान्ततयोपदर्शितः। तथा हि–"विवरीअपरूवणाए य"त्ति, चशब्दः पूर्वापेक्षया "विवरीअं वितहं उस्सुत्तं भण्णइ, परूवणा पन्नवणा देसनत्ति णे पज्जाया" [विपरीतं वितथं उत्सूत्रं भण्यते, प्ररूपणा प्रज्ञापना देशनेति एपां पर्यायाः।] विपरीता चासौ प्ररूपणा च विपरीतप्ररूपणा तस्यां सत्या प्रतिक्रमणं भवति॥ सा चैवंरूपा–"सिअवायमए समए, परूवणेगंतवायमहिगिच्च॥ उस्सग्ग-ववायाइसु, कुग्गहरूवा मुणेयव्वा॥१॥ पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ णत्थि॥ चारित्तंमि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थिया॥२॥" एवं उस्सग्गमेव केवल पण्ण-

वेइ ॥ अववायं च-"चेइअपूआकज्जा, जइणा वि हु नयरसामिणव्व किल ॥ अन्नियसुअसूरीण व, नीआवासे वि न हु दोसो॥३॥" [स्याद्वादमये समये प्ररूपणैकान्तवादमधिकृत्य । उत्सर्गापवादादिषु कुग्रहरूपा ज्ञातव्या ॥ पिण्डमशोधयन्नचारित्री अत्र संशयो नास्ति। चारित्रेऽसति सर्वा दीक्षा निरर्थका ॥ एवमुत्सर्गेमेन केवल प्रज्ञापयति । अपवाद च—चैत्यपूजा कार्या यतिनापि खलु नगरस्वामिनेव किल । अन्निकासुतसूरिण इव नित्यावासेऽपि नैव दोषः ॥ ३ ॥] तहा—"लिंगावसेसमित्तेवि, वंदणं साहुणा वि दायव्वं ॥ 'मुक्कधुरा संपागड-सेवी' इच्चाइ वयणाओ ॥१॥" अहवा-[लिङ्गावशेषमात्रेऽपि वन्दनं साधुनाऽपि दातव्यम् । 'मुक्तधुः संप्रकटसेवी' इत्यादि वचनात् ॥ अथवा] पासत्थो-सन्न-हाछंदे, कुसीले सबले तहा । दिट्ठीए वि इमे पंच, गोयमा न निरिक्खए ॥१॥ जो जहावायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अन्नो॥ वड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो॥२॥ (पिंडनि०गा०१८६ उपदेशमा०५०४)[पार्श्वस्थो-त्सन्न-यथाछन्दाः कुशीलः शबलस्तथा। दृष्ट्याऽपि इमान् पञ्च गौतम ! न निरीक्षेत॥ यो यथावादं न करोति मिथ्यादृष्टिस्ततः खलु कोऽन्यः। वर्द्धयति च मिथ्यात्वं परस्य शङ्कां जनयन् ॥] इच्चाइ णिच्छयमेव पुरओ करेइ। किरिया कारणं(मोक्खस्स)न नाणं, नाणं वा न किरिया, कम्मं पहाणं न ववसाओ, ववसाओ वा न कम्मं, एगंतेण णिच्चमणिच्चं वा दव्वमयं पज्जायमयं वा सामन्नरूवं विसेसरूवं वा वत्थुं पयासेइ, एवंविहा एगंतवायप्पहाणा परूवणा विवरीयपरूवणा भवइ। अओ तेसिं पडिक्कमणंति चउत्थो हेऊ। [इत्यादि निश्चयमेव पुरतः करोति। क्रिया कारणं न ज्ञानं, ज्ञानं वा न क्रिया, कर्म प्रधानं न व्यवसायो, व्यवसायो वा न कर्म्म, एकान्तेन नित्यमनित्यं वा द्रव्यमयं पर्यायमयं वा सामान्यरूपं विशेपरूपं वा वस्तु प्रकाशयति, एवंविधा एकान्तवादप्रधाना प्ररूपणा विपरीतप्ररूपणा भवति। अतस्तेषां प्रतिक्रमणमिति चतुर्थो हेतुः।] इयमयुक्ततरा दुरन्तानन्तसंसारकारणम् । यदुक्तमागमे-"दुब्भासिएण इक्केण, मरीई दुक्खसागर पत्तो ॥ भमिओ कोडाकोडी,

सागरसरिणामधिज्ञाणं॥ ॥इत्यादि(आव०४३८)[दुर्भाषितेनैकेन मरीचिर्दुःखसागर प्राप्तः। भ्रान्तः कोटाकोटी सागरसदृग्नामधेयानाम्॥] अत्र कश्चिदाह-'नन्वत्र दुरन्तानन्तशब्दौ दुःखलभ्यान्तत्वेनाऽन्ताभावेन चासंख्यातानन्ताभिधायकौ विरुद्धार्थाविति कथमेतदुपपत्तिरिति, स भ्रान्तः। "वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे॥ काल-मणंतदुरंतं, समयं गोअम! मा पमाएह(यए)॥१॥"(उत्तरा० अ०१०)[वन-स्पतिकायमतिगत उत्कृष्टं जीवस्तु संवसेत्। कालनन्तं दुरन्तं समयं गौतम मा प्रमादीः॥] इत्यादावनन्तशब्दसमानाधिकरणस्य दुरन्तम-शब्दस्य दर्शनाद् दुरन्तानन्तवचनस्यातिशयितानन्तवाचकत्वेन विरोधाभावाद्। इत्थं सति विपरीतप्ररूपणाया दुरन्तानन्तसंसारकारणत्वे म-रीचिदृष्टान्तोपन्यासस्य साक्षात्तस्यासंख्यातभववाचकप्रमाणविरोधेनानुपपत्तिस्तु तस्या दुरन्तानन्तसंसारकारणत्वोपलक्षितायुक्ततरत्वो-पनयनाभिप्रायेण निरसनीया॥ यत्तु श्रावकस्य विपरीतप्ररूपणाया अत्र प्रकृतत्वात्तस्य चानाभोगाद् गुरुनियोगाद्वा तत्सम्भवात्तथाविधक्लि-ष्टपरिणामाभावान्नासावनन्तसंसारहेतुः,अत एव श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रस्य वृत्तौ केवल दुरन्तशब्दस्यैवाभिधानम्। या च विपरीतप्ररू-पणा मार्गपतितानामनन्तसंसारहेतुः सा सभाप्रबन्धेन धर्मदेशनाधिकारिणा बहुश्रुतत्वेन लोकपूज्यानामाचार्यादीनां कुतश्चिन्निमित्तान्नि-जलज्जादिहानिभयेन सावद्याचार्यादीनामिव, परविषयकमात्सर्येण गोष्ठामाहिलादीनामिव, तीर्थकृद्वचनस्याश्रद्धाने(न) जमा-ल्यादीनामिवाभोगपूर्विकाऽवसातव्या। ते चेहाधिकाराभावेनानुक्ता अप्यनन्तसंसारित्वेन स्वत एव भाव्याः। येन कारणेन कस्यचिदना-भोगमूलकमप्युत्सूत्रं कुदर्शनप्रवृत्तिहेतुत्वेन दीर्घसंसारहेतुरपि भवति, तेन दुरन्तसंसारमधिकृत्य मरीचिरिव(रेव) दृष्टान्ततया दर्शितः। तस्य च तथाभूतमप्युत्सूत्रं तथैव सञ्जातम्, श्रीआवश्यकचूर्णावपि तथैवोक्तत्वात्; अन्यथा द्वित्रादिभवभाविमुक्तीनामपि मुनिप्रभृतीनाम-नन्तसंसारित्ववक्तव्यताऽऽपत्तौ जैनप्रक्रियाया मूलत एवोच्छेदः स्यादित्यादि परेणोक्तं, तदसत्। श्रावकस्यापि "जणस्स धम्मं परिक-

हेइ''त्ति [जनस्स धर्मं परिकथयति ।] वचनाद् गुरूपदेशायत्ततया धर्मकथनाधिकारित्वश्रवणात्कर्मपरिणतिवैचित्र्येण तस्यापि गुरूपदेशायत्ततां परित्यज्य कथञ्चित्स्वाच्छन्द्याचार्यादीनामिव विपरीतप्ररूपणासम्भवात् तस्याश्च स्वरूपतोऽनन्तसंसारकारणत्वात् तत्प्रतिक्रमणार्थमिहेत्थमुपनिबन्धाद्। न चान्यत्र दुरन्ताभिधानमनन्तत्वप्रतिक्षेपकम्, दुरन्तत्वस्यानन्तत्वाविरोधित्वाद्। अनन्तसंसाराधिकाराभावादिह दृष्टान्तानुक्तिरिति तु प्रकृतग्रन्थस्य खण्डन न तु मण्डनम्। सा चायुक्ततरा, 'दुरन्तानन्तसंसारहेतुः' इत्यग्रस्थितपाठपरित्यागेनैव तद्दृष्टान्ताध्याहारसम्भवात्, तस्मादुक्तोपलक्षणव्याख्यानरीत्यैव प्रकृतोपनयसमर्थनं न्याय्यम्। ईदृशोत्सूत्रवचने स्वरूपतोऽनन्तसंसारहेतुत्ववचने चरमशरीरिक्रियमाणारम्भेऽपि स्वरूपतो नरकहेतुत्ववचनवत् प्रक्रियाविरोधादिति सम्यग्विभावनीयम्। इत्थं च–''आयरिअपरंपरएण, आगयं जो उ आणुपुव्वीए(छेयबुद्धीए)॥कोवेइ छेयवाई,जमालिणासं व णासीहि॥१॥''''आचार्याः श्रीसुधर्मस्वामि-जम्बूनाम-प्रभवार्यरक्षिताद्यास्तेषां परम्परा-प्रणालिका पारम्पर्यं तेन, आगतं यद्व्याख्यानं सूत्राभिप्रायः,तद्यथा-व्यवहारनयाभिप्रायेण क्रियमाणमपि कृतं भवति। यस्तु कुतर्कदर्पाध्मातमनसा(मानसो) मिथ्यात्वोपहतदृष्टितया छेकबुद्ध्या-निपुणबुद्ध्या 'कुशाग्रीयशेमुषीकोऽहम्' इति कृत्वा, कोपयति दूषयति–अन्यथा तमर्थं सर्वज्ञप्रणीतमपि व्याचष्टे 'कृतं कृतम्' इत्येवं ब्रूयाद्॥ वक्ति च न हि मृत्पिण्डक्रियाकाल एव घटो निष्पद्यते, कर्मगुणव्यपदेशानामनुपलब्धेः, स एवं छेकवादी–निपुणोऽहम् इत्येवंवादी पण्डिताभिमानी, जमालिनाशं-जमालिनिह्नववत्सर्वज्ञमतविगो(को)पको, विनङ्क्ष्यति-अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारचक्रवालं बम्भ्रमिष्यति'' इत्यादिसूत्रकृताङ्गयाथातथ्याध्ययननिर्युक्तिवृत्तिवचनमात्रमवलम्ब्य ये जमालेररघट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारचक्रवालभ्रमणे साध्ये दृष्टान्ततयोपदर्शितत्वाद् दृष्टान्तस्य च निश्चितसाध्यधर्मवत्त्वात् तस्यानन्तसंसारित्वसिद्धिरिति वदन्ति ते पर्यनुयोज्याः। नन्वयमपि दृष्टान्तः प्रागुक्त-

मरीचिदृष्टान्तवदुपलक्षणपर एवेत्यरघट्टघटीयन्त्रन्यायोपलक्षितसंसारचक्रवालपरिभ्रमणे साध्ये नाऽयुक्त इति कथमस्माद्भवतामिष्टसिद्धिः?, अन्यथाऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायोऽत्र प्रकरणमहिम्ना पुनः पुनश्चतुर्गतिभ्रमणपर्यवसित इति चतुर्गतिभ्रमणमपि जमालेरनेन न्यायेन सिद्ध्येत् । यत्तु यस्यैकेन्द्रियादिषु पुनः पुनरुत्पादेन द्राघीयसी संसारस्थितिस्तमुद्दिश्यैवायं न्यायः प्रवर्तते ॥ तदुक्तम्–'एयं पुण एवं खलु, अन्नाणपमायदोसओ णेयं ॥ जं दीहा कायठिई, भणिआ एगिंदियाईणं ॥१६॥'ति [एतत्पुनरेवं खलु अज्ञानप्रमाददोषतो ज्ञेयम् । यद्दीर्घा कायस्थितिर्भणिता एकेन्द्रियादीनाम्]॥ इति उपदेशपदे । व्याख्यायां च–"एकेन्द्रियादिजातिषु दूरं मनुजत्वविलक्षणास्वरघट्टघटीयन्त्रन्यायक्रमेण पुनः पुनरावर्तते । एतदपि कुतः सिद्धम्? इत्याह यद् यस्मात्कारणाद्, दीर्घा द्राघीयसी, कायस्थितिः पुनः पुनर्मृत्वा तत्रैव काये उत्पादलक्षणा, भणिता प्रतिपादिता सिद्धान्ते, एकेन्द्रियादीनां जातीनामिति एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिलक्षणानां जीवानामिति ॥" तत एकेन्द्रियादिजात्याश्रितस्यैवारघट्टघटीयन्त्रन्यायस्याश्रयणान्न दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमिति । तदसत् । तत्र मनुजत्वगतिदौर्लभ्याधिकारादरघट्टघटीयन्त्रन्यायसामान्यस्यैकेन्द्रियादिजातिमात्रेण विशेषविवक्षायामप्यत्र सर्वज्ञमतविकोपकस्य चतुरशीतिलक्षजीवयोनिसङ्कुलसंसारपरिभ्रमणाधिकारात्पुनः पुनर्गतिचतुष्टयभ्रमणाश्रितस्यैव विवक्षितत्वाद् । अत एव श्रुतविराधनातश्चातुर्गतिकसंसारपरिभ्रमणं भवतीति स्फुटमेवान्यत्राभिहितम्, जमालिदृष्टान्तश्च तत्रोपन्यस्त इति । तथा हि—"इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं तीते काले अणंता जीवा आणाए विराहेत्ता चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरिअट्टिंसु १ । इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पन्ने काले परित्ता जीवा आणाए विराहित्ता चातुरंतसंसारकंतारं अणुपरिअट्टंति २ । इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरिअट्टिस्संतित्ति" ॥ नन्दिसूत्रे–एतद्वृत्तिर्मलयगिरिकृता यथा–इच्चेइयमि-

त्यादि इत्येतद्द्वादशाङ्गं गणिपिटकम्, अतीतकालेऽनन्ता जीवा आज्ञया यथोक्ताज्ञापरिपालनाभावतो विराध्य, चतुरन्तसंसारकान्तारं विविधशारीरमानसानेकदुःखविटपिशतसहस्रदुस्तरं भवगहनं, अणुपरिअट्टिंसुत्ति अनुपरावृत्तवन्त आसन्। इह द्वादशाङ्गं सूत्रार्थोभयभेदेन त्रिविधं, द्वादशाङ्गमेव चाज्ञा "आज्ञाप्यते जन्तुगणो हितप्रवृत्तौ यया साऽऽज्ञेति" व्युत्पत्तेः, ततः सा आज्ञा च त्रिधा तद्यथा–सूत्राज्ञा अर्थाज्ञा तदुभयाज्ञा च। सम्प्रत्यमूषामाज्ञाना विराधनाश्चिन्त्यन्ते॥ तत्र यदाऽभिनिवेशतोऽन्यथा सूत्रं पठति तदा सूत्राज्ञाविराधना। सा च यथा जमालिप्रभृतीनाम्। यदाऽभिनिवेशवशतोऽन्यथा द्वादशाङ्गार्थं प्ररूपयति तदाऽर्थाज्ञाविराधना। सा च गोष्ठामाहिलादीनामिवावसातव्या। यदा पुनरभिनिवेशवशतः श्रद्धाविहीनतया हास्यादितो वा द्वादशाङ्गस्य सूत्रमर्थं च विकुट्टयति तदोभयाज्ञाविराधना; सा च दीर्घसंसारिणामभव्यानां चानेकेषां विज्ञेयेति। तथा आज्ञया सूत्राज्ञयाऽभिनिवेशतोऽन्यथापाठादिलक्षणया विराधनया विराध्यातीते कालेऽनन्ता जीवाश्चतुरन्तं संसारकान्तारं नारकतिर्यग्नरामरविविधवृक्षजालदुस्तरं भवाटवीगहनमित्यर्थः, अनुपरावृत्तवन्त आसन् जमालिवद्। अर्थाज्ञया पुनरभिनिवेशतोऽन्यथाप्ररूपणादिलक्षणया विराधनया गोष्ठामाहिलवत्, उभयाज्ञया पुनः पञ्चविधाचारपरिज्ञानकरणोद्यतगुर्वादेशादिलक्षणया गुरुप्रत्यनीकद्रव्यलिङ्गधार्यनेकश्रमणवद्, इति तु हारिभद्र्यामेतद्वृत्तावुक्तमिति॥" तस्मादुपलक्षणव्याख्यान एव यथोक्तदृष्टान्तोपपत्तिरिति स्मर्तव्यम्। यत्तु आशातनाबहुलानां नियमेनानन्तसंसारो भवतीति ज्ञापनार्थमेवेदं जमालिदृष्टान्तोपदर्शनं, चतुरन्तशब्दस्तु संसारविशेषणत्वेन संसारस्वरूपाभिधायको न पुनः सर्वेषामप्याशातनाकारिणां गतिचतुष्टयाभिधायकः, न हि गतिचतुष्टयगमनमेवानन्तसंसारित्वाभिव्यञ्जकं, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारात्, तस्माद् गत्यादीनां प्रति प्राणिनं भिन्नत्वान्न तौल्यमिति परेणात्र समाधानं क्रियते, तदसम्बद्धवाग्वादमात्रम्। चतुरन्तश-

ब्दार्थस्य संसारविशेषणत्वे चतुरन्तसंसारपरिभ्रमणस्य विशिष्टसाध्यस्य पर्यवसानात् चतुरन्तान्वितसंसारस्य भ्रमणेऽन्वयात्, तथा च दृष्टान्ते जमालौ साध्यवैकल्यदोपानुद्धारात् । न हि विशिष्टे साध्ये विशेष्यांशसद्भावमात्रेण दृष्टान्ते साध्यवैकल्यदोष उद्धर्तुं शक्यते । अनभिज्ञस्याहच्चैत्यानगारशब्दाभ्यामिव चतुरन्तसंसारकान्तारशब्दाभ्यामेकस्यैवार्थस्य बोधनमित्यभ्युपगमे च प्रेक्षावत्तामुपहासपात्रत्वापत्तिः । गत्यादीनां च यथा प्रति प्राणिनं भिन्नत्वं तथा संसारस्याप्यध्यवसायविशेषाद् भिन्नत्वं किं नेष्यते? । "उम्मग्गमग्गसंपट्ठियाणं" इत्यादिनोत्सूत्रभाषिणां नियमादनन्तसंसारसिद्धौ च "सीअलविहारओ खलु, भगवंतासायणाणिओगेण ॥ तत्तो भवो अणतो, किलेसबहुलो जओ भणिअं ॥४२२॥ 'तित्थयरपवयणसुअं' ॥४२३॥ [शीतलविहारतः खलु भगवदाशातनानियोगेन । ततो भवोऽनन्तः क्लेशबहुलो यतो भणितम् ॥ तीर्थकरप्रवचनश्रुतं] इत्याद्युपदेशपदवचनाच्छीतलविहारिणां पार्श्वस्थादीनां नियमादनन्तसंसारापत्तिः। इष्यते च तत्र परिणामभेदाद्भेद इत्यत्राप्यध्यवसायप्रत्ययः संसारविशेषो महानिशीथोक्तरीत्या श्रद्धेयः । किञ्च—अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन यत्र संसारपरिभ्रमणप्रदर्शनं तत्र नियमादनन्तसंसार इत्यभ्युपगमे उत्सूत्रभाषिणामिव कामासक्तानामपि नियमतोऽनन्तसंसाराभ्युपगमप्रसङ्गः, तेषामपि संसारभ्रमणे तन्न्यायप्रदर्शनात्। तदुक्तमाचाराङ्गशीतोष्णीयाध्ययन उ० २ गाथा २ वृत्तौ-"संसिच्चमाणा पुणरिंति गब्भं" इत्यवयवव्याख्याने "तेन-कामोपादानजनितेन कर्मणा, संसिच्यमाना आपूर्यमाणाः, गर्भाद् गर्भान्तरमुपयान्ति-संसारचक्रवालेऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन पर्यटन्त आसते इत्युक्तं भवतीति॥" एवमनेकेषु प्रदेशेष्वितथमभिधानमस्तीति न किञ्चिदेतत्। यच्च "जमाली णं भंते ! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव कहिं उववज्जिहि ?, गोयमा ! चत्तारि पंच तिरिक्खजोणिय-मणुअ-देवभवगहणाइं संसार अणुपरिअट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिहिति जाव अंतं काहेति ।" [जमालिर्भगवन् ! देवस्तस्माद् देवलोकादायुःक्ष-

येण यावत्क्व उत्पत्स्यते ? गौतम ! चत्वारि पञ्च तिर्यग्योनिक-मनुज देवभवग्रहणानि संसारमनुपर्यट्य ततः पश्चात्सेत्स्यति यावदन्तं क-रिष्यतीति ॥] इत्यत्र चत्वारो द्वीन्द्रियादयः पञ्च चैकेन्द्रियाः पृथिव्यादयस्ते च ते तिर्यग्योनिकाश्च तेषु देवमनुष्येषु भवग्रहणानि भ्रान्त्वा" इति व्याख्यानादत्र च तीर्थकराशातनाकृतोऽधिकृतत्वाद् भवानन्त्यलक्षणबहुत्वस्य स्पष्ट वाद् भगवत्यपेक्षयैव जमालेर-नन्तभवसिद्धिरिति परस्य मतं तदपूर्वबुद्धिपाटवमूलम्। एतादृशस्य गम्भीरार्थस्य वृत्तिकृताऽस्पष्टीकृतस्य स्वयमेव स्पष्टीकरणात् कथं चायं तपस्वी नाकलयत्येतावदपि, यदमू चतुष्पञ्चशब्दौ भवग्रहणसमानाधिकरणौ भिन्नविभक्त्यन्तौ व्यस्तौ समासान्तःपातिनः तिर्यग्योनिक-शब्दस्य विशेषणतामापद्यते इति। न चेमौ न विभक्त्यन्ताविति वाच्यम्, विभक्त्यन्तमन्तरेण शसन्तचतुःशब्दनिष्पन्नस्य 'चत्तारि' इति शब्दस्य सर्वथाऽसिद्धेः। नाप्यत्रालुप्(क्)समासोऽस्तीति, एतेन चतसृषु पञ्चसु च जातिषु तिर्यग्मनुजदेवभवगहणानीति भणनादनन्तभ-वसिद्धिरित्यप्यपास्तम्, 'चत्तारि' इत्यत्र द्वितीयाबहुवचने सप्तमीबहुवचनार्थत्वस्य 'पञ्च' इत्यत्र तरसप्तमीबहुवचनलोपस्य समुच्चयार्थक-चकाराध्याहारस्य च प्रसङ्गात्। किञ्च—चतुष्पञ्चशब्दयोः संख्यावाचकयोर्व्यक्तिवचनत्वेन कृतत्वाभ्या जातिरूपस्थितिरिति विभाव-नीयम्। यदि च जमालेरनन्तः संसारः सूत्रे वक्तव्योऽभविष्यत् तदा 'तिरिय-मणुस्सदेवेसु अणंता भवग्गहणाइं संसारमणुपरिअ-ट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिस्सइ' [तिर्यग्मनुष्यदेवेष्वनन्तानि ग्रहणानि संसारमनुपर्यट्य ततः पश्चात्सेत्स्यति ॥] इत्यादि। अथवा "जहा गोसाले मंखलिपुत्ते तहेव णेरइअवज्जं संसारमणुपरिअट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिस्सइ" [यथा गोशालो मंखलिपुत्रस्तथैव नैरयिकवर्जं संसारमनुपर्यट्य ततः पश्चात्सेत्स्यति ॥] इत्यादि भणनीयमभविष्यद्। न यथा नवसु जातिषु भवग्रहणेन भ्रमणादपि कुत आनन्त्य-लाभः ?, नवभिरपि वारैः तत्पूर्तिसम्भवात्, प्रतिव्यक्तिभ्रमण च नाक्षरबलाल्लभ्यते बाधितं च सर्वतिर्यग्देवमनुजेषु तत् स्वेच्छामात्रेण

नियतानन्ततिर्यग्योनिकभवग्रहणाश्रयणे च किं सूत्रावलम्बनव्यपदेशेन?, स्वकल्पनाया महत्स्वध्यारोपस्य महदाशातनारूपत्वात्। एतेन "च्युत्वा ततः पञ्चकृत्वो, भ्रान्त्वा तिर्यग्नृनाकिषु॥ अवाप्तबोधिर्निर्वाणं, जमालिः समवाप्स्यति॥१०६॥" इति हैमवीरचरित्रीयपर्व १० (सर्ग ८) श्लोके पञ्चकृत्वशब्दः पञ्चवाराभिधायकः, स च तिर्यक्शब्देन योजितः सन् जमालिस्तिर्यग्योनौ पञ्चवारान् यास्यतीत्यर्थाभिधायकः सम्पन्नः, तथा च तिर्यग्योनौ वारपूर्तिर्मनुजादिगत्यन्तरभवान्तरप्राप्तिमन्तरेण न भवति, सा च प्राप्तिराशातनाबहुलस्य जमालेरनन्तकालान्तरितैव स्याद्, एवं पञ्चवारगमनेऽनन्तभवग्रहणमनन्तगुणमपि सम्भवति। मनुजगतिवारपूर्तिस्तूत्कर्षतोऽपि ससाष्टभवैरेव स्याद्। देवनारकयोस्त्वनन्तरं पुनरुत्पादाभावेनैकेनैव भवेन वारपूर्तिः स्याद् इत्यादिकापि परस्य कल्पना दूरमपास्ता वेदितव्या। 'पञ्चकृत्वः' इत्यस्य तिर्यक्शब्देनैव योजनाया असम्भवात्, द्वन्द्वसमासमर्यादया प्रत्येकमेव तदन्वयाद् भवग्रहणव्यक्त्यपेक्षस्य पञ्चवारत्वस्यानन्तवारभवग्रहणेषु जात्यपेक्षसङ्कोचेन समर्थयितुमशक्यत्वात्, तादृशशाब्दबोधस्याकाङ्क्षां विनाऽनुपपत्तेः। न ह्येकत्रानन्तवारभवग्रहणाभ्युपगमेऽप्येकवारभ्रमणमेव वक्तुं युक्तम्, स्थानभेदेन तत्स्थानावच्छिन्नाविकृतक्रियाजन्यव्यापारोपहितकाललक्षणवारभेदाद्; विजातीयस्थानगमनानन्तरिततज्जातीयस्थानावच्छिन्नभ्रमणक्रियाजन्यभवग्रहणव्यापारोपहितो यावान् कालस्तावत एकवारत्वाभ्युपगमे च "तिर्यक्ष्वनन्तवार भ्रान्तः" इति वदत एव व्याघातः। किञ्च एवं "बहवो जीवा नित्यनिगोदेष्वनन्तवार जन्ममरणानि कुर्वन्ति" इत्याद्यखिलप्रवचनवचनविलोपप्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत्। किञ्च-'च्युत्वा ततः पञ्चकृत्वः' इत्यादिश्लोकैकवाक्यतया हि 'चत्तारि पंच' इत्यादि भगवतीसूत्रं त्वया व्याख्यातुमिष्टं तथा च तत्र विजातीयभवान्तरिततया तिर्यक्षु पञ्चवारमेवानन्तभवग्रहणसिद्धिरिति सर्वेषामपि प्रत्यनीकानामीदृशमेव संसारपरिभ्रमणं सिध्येत् न त्वनन्तान्यान्यभवान्तरितभवबहुलम्; यतो "देवकिब्बिसिया णं भंते! ताओ

देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिंति? कहिं उववज्जिहिंति? गोयमा! जाव चत्तारि पंच णेरइय-तिरिक्खजोणिय-मणुस्स देवभवग्गहणाइं संसारं अणुपरियट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिहिंति, बुज्झिहिंति, जाव अंतं काहेंति" त्ति [देवकिल्बिषिका भदन्त! तस्माद्देवलोकादायुःक्षयेण भवक्षयेण स्थितिक्षयेण अनन्तरं च्यवं च्युत्वा क गमिष्यन्ति? क उत्पत्स्यन्ते? गौतम! यावच्चत्वारि पञ्च नैरयिक-तिर्यग्योनिक-मनुष्य-देवभवग्रहणानि संसारमनुपर्यट्य ततः पश्चात्सेत्स्यन्ति, भोत्स्यन्ति यावदन्तं करिष्यन्तीति।] त्वया सामान्यसूत्रमङ्गीक्रियते ततश्चोक्तस्य 'चत्तारि पंच' इत्यादिविशेषसूत्रस्य नारकगतिप्रतिनियमाभावेन विशेषोऽप्युपगम्यते न त्वधिकः कश्चिदपीति। अथास्त्वन्यत्र यथा तथा भगवत्यपेक्षया (श० ९ उ० ३३) तु जमालेरनन्ता एव भवा लभ्यन्ते, यतो यावच्छब्दः सामान्यसूत्रेऽस्ति, तस्य च प्रयोगः कश्चिद्विशेष्यत्वेन कश्चिच्च विशेषणत्वेन स्यात्, तत्र विशेष्यत्वेन प्रयुक्तो यावच्छब्द उक्तगणसम्बन्धिप्रथमान्त्यपदाभ्यां निर्दिष्टस्य गणमध्यवर्तिनां पदार्थानां संग्राहको भवति। यथा—"जमाली णं भंते! अणगारे अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे पंताहारे लूहाहारे तुच्छाहारे अरसजीवी विरसजीवी जाव तुच्छजीवी उवसंतजीवी पसंतजीवी विवित्तजीवी? हंता गोयमा!" [जमालिर्भदन्त! अनगारोऽरसाहारो विरसाहारोऽन्ताहारः प्रान्ताहारो रूक्षाहारस्तुच्छाहारोऽरसजीवी विरसजीवी यावत्तुच्छजीवी उपशान्तजीवी प्रशान्तजीवी विविक्तजीवी? हन्त गौतम!।] इत्यादिसामान्यसूत्रोक्तस्य गणस्याद्यन्तशब्दाभ्यां विशिष्टो 'गोअमा! जमाली णं अणगारे अरसाहारे जाव विवित्तजीवीति' सूत्रोक्तवाक्यगतो यावच्छब्दस्तस्य च सर्वादित्वेन बुद्धिस्थवाचकत्वान्मध्यवर्तिनामपि पदार्थानां नानारूपाणां नानासंख्याकानां च संग्राहकत्वम्, एवमाद्यन्तशब्दयोरपि गणानुरोधेन भिन्नत्वमेव बोध्यं न पुनर्यावच्छब्दोऽपि घटपटादिवन्नियतपदार्थवाचक इति। विशेषणभूतस्तु यावच्छब्द उक्तपदान्त्यानामर्थानां देशकालादिनियामको

भवति । तत्र देशनियामकत्वं–यावत्पञ्चविंशतिर्योजनानि पत्तन तावद्गन्तव्यमित्यादौ । कालनियामकत्वं च—"जाव णं से जीवे सया समिअं तं तं भावं परिणमइ ताव च णं से जीवे आरभइ सारभइ समारभइ" [यावत्स जीवः सदा समितं तं तं भावं परिणमति, तावच्च स जीव आरम्भते संरम्भते समारम्भते ।] इत्यादौ प्रसिद्धम् । विशेपणत्वविशेष्यत्वस्वरूपविकलस्तु यावच्छब्दो डित्थडवित्थादिवदर्थशून्य एव स्यात्; तदिह यावच्छब्दो नानर्थको न वा विशेष्यभूतः, आद्यन्तशब्दाभ्यामविशिष्टत्वाद्; विशेष्यभूतस्य च तस्य ताभ्यां विशिष्टस्यैव प्रयोगात्, किन्तु विशेपणभूतः; 'प्राक् पतितं विशेपणम्' इति वचनात्, स चात्राधिकारात्कालनियामक इति । यावत्कालं चतुष्पञ्चसूत्रे स स्थावरजातिपु नारकतिर्यग्योनिकमनुजदेवानां भवग्रहणानि यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तावत्कालं संसारमनुपरावृत्त्य ततः पश्चात्सेत्स्यन्ति, यावत्सर्वदुःखानामन्तं करिष्यन्तीति सामान्यसूत्रार्थः पर्यवस्यति । एवं सामान्यसूत्रोक्तानुसारेण विशेपसूत्रेऽपि कालनियमार्थं तावच्छब्दवद् यावच्छब्दोऽप्यध्याहार्यः, तानन्तरेण वाक्यद्वयानुपपत्त्या कालनियमानुपपत्तिरिति व्यक्तेन सामान्यसूत्रादिव विशेपसूत्रादप्यनन्तभवसिद्धिरिति चेत्, तदिदमसिद्धमसिद्धेन साधयतो महातार्किकत्वमायुष्मतः। यतो 'जाव चत्तारि' इत्यादावपि शसन्तचतुष्पञ्चपदसमानाधिकरणभवग्रहणपदोत्तरद्वितीयाविभक्तेरेव "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" [सिद्धहेम०-२-२-४२] इत्यनुशासनात्कालनियमसिद्धौ न पुनस्तदभिधानाय यावच्छब्दप्रयोगः, व्यर्थपुनरुक्ततयोः प्रसङ्गात्, तस्मात्तदनुरोधेन तावच्छब्दस्य विशेपसूत्रे यावत्तावच्छब्दयोश्चाध्याहारकल्पनाऽतिजघन्यैवेति । नन्वेवं "स्थितेर्गतिश्चिन्तनीया" इति यावच्छब्दस्य सूत्रस्थस्य कोऽर्थः ? इति चेत्, ततो देवलोकादायुःक्षयादिना च्युत्वेति पूर्वप्रक्रान्तपदसमुदायार्थं एवेत्यवेहि, अथैवं गणसम्बन्धाद्यन्तपदविशिष्टस्यैव यावच्छब्दस्य पूर्वप्रक्रान्तगणवाक्यार्थवाचकत्वमिति व्युत्पत्तिभङ्ग इति चेत्. न, तादृशनियमे प्रमाणाभावात्, पूर्वप्रक्रान्तवाक्यार्थवाचकत्वे यावच्छब्दस्य स्वस-

म्बन्धिपदोपसन्दानमात्रस्य तात्पर्यग्राहकत्वेनापेक्षितत्वाद्। अत एव क्वचिद्गणसम्बन्ध्याद्यन्तपदविशिष्टादिव क्वचिदन्त्यपदविशिष्टादपि यावच्छब्दात्तदुपस्थितिः। तथा हि–एगंतपंडिए णं भंते! मणुस्से किं णेरइआउं पकरेइ ४? पुच्छा। गोअमा! एगंतपंडिए णं मणुस्से आउअं सिअ पकरेइ, सिअ णो पकरेइ। जइ पकरेइ णो णेरइआउअं पकरेइ, णो तिरि०, णो मणु०, देवाउअं पकरेइ। णो णेरइआउअं किच्चा णेरइएसु उववज्जइ, णो तिरि०, णो मणु०, देवाउअं किच्चा देवेसु उववज्जइ?॥ गोअमा! एगंतपंडिअस्स णं मणुस्सस्स केवलमेव दो गतीओ पण्णत्ताओ, तं० अंतकिरिया चेव कप्पोववत्तिया चेव, से तेणट्ठेणं गोअमा! जाव देवाउअं किच्चा देवेसु उववज्जइत्ति॥" [एकान्तपंडितो भदन्त! मनुष्यः किं नैरयिकायुः प्रकरोति ४ पृच्छा? गौतम! एकान्तपण्डितः आयुः स्यात्प्रकरोति स्यान्न प्रकरोति। यदि प्रकरोति नो नैरयिकायुः प्रकरोति, नो ति०, नो म०, देवायुः प्रकरोति॥ नो नैरयिकायुः कृत्वा नैरयिकेषूत्पद्यते नो ति०, नो म०, देवायुः कृत्वा देवेषूत्पद्यते? गौतम! एकान्तपण्डितस्य मनुष्यस्य केवले एव द्वे गती प्रज्ञप्ते तद्यथा अन्तक्रियैव कल्पोपपत्तिरेव अथ तेनार्थेन गौतम! यावद्देवायुः कृत्वा देवेषूत्पद्यते] अत्र हि यावच्छब्दस्य न गणसम्बन्ध्याद्यन्त्यपदविशिष्टतयैव पूर्वप्रक्रान्तवाक्यार्थवाचकत्वं, किन्तु स्वसम्बन्ध्यन्त्यपदोपसन्दानादेव, तद्वदिहापि चत्वारि पञ्चेत्यादिस्वसम्बन्धिपदोपसन्दानाद् यावच्छब्दस्य पूर्वप्रक्रान्तवाक्यार्थवाचकत्वे न किञ्चिद्बाधकमिति युक्तं पश्यामः। किञ्च–सूत्रे द्योतकरचनारूपमपि यावत्पदं दृश्यते। यथा स्कन्दकाधिकारे श. २ उ० १ "भावओ णं सिद्धे अणंता नाणपज्जवा अणंता दंसणपज्जवा जाव अणंता अगुरुअलहुअपज्जवा" [भावतः सिद्धे अनन्ता ज्ञानपर्यवा अनन्ता दर्शनपर्यवा यावदनन्ता अगुर्वलघुपर्यवाः] इत्यत्र। न ह्यत्र गणमध्यस्थस्यान्यस्यार्थस्य परामर्शो यावच्छब्देन कर्तुं शक्यते, यतोऽसौ गणस्तावदित्थमुपदर्शितः "भावओ णं जीवे अणंता नाणपज्जवा अणंता दंसणपज्जवा अणंता चरित्तपज्जवा अणंता गुरुअलहुअपज्जवा अणंता अगुरु-

अलहुपज्जव त्ति" [भावतो जीवे अनन्ता ज्ञानपर्यवा अनन्ता दर्शनपर्यवा अनन्ताश्चारित्रपर्यवा अनन्तगुरुलघुकपर्यवा अनन्ता अगुर्वलघुकपर्यवाः] तत्र ज्ञानदर्शनपर्यायाः सिद्धस्य साक्षादेवोक्ताः, चारित्रपर्यायाश्च तस्य न सम्भवन्ति "णो पारभविए चरित्ते" [नो पारभविकं चारित्र] इत्यत्र सिद्धानां चारित्रस्य व्यक्तमेव निषिद्धत्वाद् । गुरुलघुपर्यायाश्चौदारिकादिशरीराण्याश्रित्य व्याख्याता इति तेऽपि सिद्धस्य न सम्भवन्ति। अगुरुलघुपर्यायाश्च कार्मणादिद्रव्याणि जीवस्वरूपं चाश्रित्य व्याख्याताः, तत्र कार्मणादिद्रव्याश्रितास्ते सिद्धस्य न सम्भवन्ति, जीवस्वरूपं त्वाश्रित्य सर्वांशशुद्धास्ते सम्भवन्ति परं तेऽपि साक्षाच्छब्देनोक्ता इति यावच्छब्दवाच्यं नावशिष्यते इति ततो यथा तत्र वाक्यार्थद्योतक एव यावच्छब्दस्तद्वदिहापि स्यादिति किमनुपपन्नमिति निपुणधिया निभालनीयं प्रेक्षावद्भिः । किञ्च— 'जाव चत्तारि पंच' इत्यादिसूत्रमपि नरकोपपातातिरिक्तविशेषाभावमादाय परिमितभवजमालिजातीयदेवकिल्बिषिकविषयं जमालिसादृश्यप्रदर्शनायोपन्यस्तं न तु देवकिल्बिषिकसामान्यविषयमिति सम्भाव्यते, अन्यथा "अत्थेगइआ अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरिअट्टंति" [सन्त्येकेऽनादिकमनवदग्रं संसारकान्तारमनुपरिवर्तन्ते] इत्यग्रिमसूत्राभिधानानुपपत्तेः, ततो 'अत्थेगइआ' इत्यादिकमपरिमितभवाभिधायकं 'जाव चत्तारि' इत्यादिकं च परिमितभवाभिधायकमिति युक्तम्, भवति हि सामान्याभिधानस्याप्येकविशेषप्रदर्शने तदितरविशेषपरत्वम् । यथा 'ब्राह्मणा भोजयितव्याः कौडिन्यो न भोजयितव्य' इत्यत्र ब्राह्मणा भोजयितव्या इति वचनस्य कौण्डिन्येतरब्राह्मणभोजनविधिपरत्वमिति। यत्तु 'अत्थेगइआ' इत्यादिसूत्रमभव्यविशेषमधिकृत्यावसातव्य, तद्व्यञ्जकं तु अन्ते निर्वाणाभणनमेवेति परेणोच्यते । तदसत्, अन्ते निर्वाणाभणनादीदृशसूत्राणामभव्यविशेषविषयत्वे—"असंवुडे णं अणगारे आउअवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ घणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालठितिआओ दीहकालठितिआओ पकरेइ, मंदाणु-

भागा(वा)ओ तिव्वाणुभागा(वा)ओ पकरेइ, अप्पपदेसग्गाओ बहुप्पदेसग्गाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं सिअ बंधइ, सिअ णो बंधइ, असायावेअणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारमणुपरिअट्टइ।" "कोहवसट्टे णं भंते जीवे किं बंधइ? किं पकरेइ? किं चिणाइ? किं उवचिणाइ? संवुडा?। कोहवसट्टे णं जीवे आउअवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ, एवं जहा पढमसए असंवुडस्स अणगारस्स जाव अणुपरिअट्टइ। माणवसट्टे णं भंते! जीवे एवं चेव, एवं मायावसट्टेवि, एवं लोभवसट्टेवि, जाव अणुपरिअट्टइ" [असंवृतोऽनगारः आयुर्वर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः शिथिलबन्धनबद्धा दृढबन्धनबद्धाः प्रकरोति ह्रस्वकालस्थितिका दीर्घकालस्थितिकाः प्रकरोति मन्दानुभावास्तीव्रानुभावाः प्रकरोति अल्पप्रदेशाग्रा बहुप्रदेशाग्राः प्रकरोति। आयुश्च कर्म स्याद्बध्नाति स्यान्न बध्नाति असातावेदनीयं च कर्म भूयोभूय उपचिनोति अनादिकं चानवदाग्रं दीर्घाध्वं चातुरन्तसंसारकान्तारमनुपरिवर्तते क्रोधवशार्तो भदन्त जीवः किं बध्नाति किं प्रकरोति किं चिनाति किमुपचिनाति शंस (श्रावक)? क्रोधवशार्तो जीवः आयुर्वर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः शिथिलबन्धनबद्धा एव यथा प्रथमशतके असंवृतस्यानगारस्य यावदनुपरिवर्तते। मानवशार्तो भदन्त जीव एवमेव, एवं मायावशार्तोऽपि। एवं लोभवशार्तोऽपि यावदनुपरिवर्तते] भ० श० १२ उ० १ इत्यादिसूत्राणामपि तथात्वापत्तेरिति। ननु यद्येवं 'चत्तारि पंच' इत्यादिसूत्रे जमालेर्नानन्तभवविपयता तदा निर्विषयता स्यात्, चतुःपञ्चशब्दाभ्यामेकार्थानभिधानादिति चेद्। न, "सिअ भंते! जीवे जाव चत्तारि पंच पुढवीकाइआ एगतओ साहारणसरीरं बंधंति, एगतओ पच्छाहारेंति परिणामेंति वा सरीरं वा बंधंति? गो० णो इणट्ठे समट्ठे। सिअ भंते जाव चत्तारि पंच आउक्काइआ, एवं सिअ भंते जाव चत्तारि पंच तेउक्काइआ" [स्याद्भदन्त यावच्चत्वारः पंच पृथ्वीकायिका एकतः साधारणशरीरं बध्नन्ति एकतः पश्चादाहारयन्ति परिणामयन्ति वा शरीरं बध्नंति? गौतम! नायमर्थः समर्थः

स्याद्भदन्त यावच्चत्वारः पंच अप्कायिकाः यावत्स्याद्भदन्त यावच्चत्वारः पंच तेजस्कायिकाः] इत्यादिषु सूत्रेषु भगवत्यां "जया णं भंते! तेसिं देवाणं इंदे चयइ से कहमिआणिं पकरेइ? जाव चत्तारि पंच सामाणिआ त तं ठाणं उवसंपज्जित्ता णं विहरति" [यदा भदन्त तेषां देवानामिन्द्रश्च्यौति स कथमिदानी प्रकरोति? यावच्चत्वारः पञ्च सामानिका देवास्तत्तत्स्थानमुपसम्पद्य विहरन्ति] इत्यादि जीवाभिगमसूत्रेऽन्येषु च बहुषु स्थानेषु तयोः "सत्तट्ठ भवग्गहणाइ, सत्तट्ठ पयाइ" इत्यत्र सप्ताष्टपदयोरिव संकेतविशेषादेकसंख्यावाचकत्वसिद्धेः। पच तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देवभवग्गहणाइ' इत्यादिकोऽप्यादर्शान्तरे पाठोऽस्ति, तत्र च शङ्कालेशस्याप्यभाव एव। नन्वेवमपि 'पञ्चशब्दो गतित्रयानुरोधेन त्रिगुणितः किं पञ्चदशभवाऽभिधायकः? उत तिर्यग्योनिकदेवसम्बन्धिनौ द्वौ द्वौ भवौ एकश्च मनुजसम्बन्धी, अथवा त्रयो भवास्तिर्यक्सम्बन्धिन एको देवसम्बन्धी एकश्च मनुष्यसम्बन्धीत्येवं पञ्चभवाभिधायकः? इत्येवं सन्देहानिवृत्तिरेवेति चेद्। न, शास्त्रव्युत्पन्नस्यैतादृशसन्देहानुदयाद्, द्वन्द्वसमासस्य सर्वपदप्रधानत्वेन प्रत्येकमेव पञ्चसंख्याऽन्वयाद्, अनेनैव वाऽभिप्रायेण "च्युत्वा ततः पञ्चकृत्वः" इत्याद्यभिधानात्। "जिणणाहेण भणियं, सुरतिरियनरेसु पंचवेलाओ। भमिऊण पत्तवोही, लहिही निव्वाणसुक्खाइं ॥१॥" [जिननाथेन भणित सुरतिर्यग्नरेषु पञ्चवेलाः। भ्रान्त्वा प्राप्तवोधिर्लप्स्यते निर्वाणसौख्यानि] इति श्रीअभयदेवसूरिसन्तानीयगुणचन्द्रगणिकृते प्राकृतवीरचरित्रेऽपीत्थमेवोक्तम्। "तिर्यग्मनुष्यदेवेषु, भ्रान्त्वा स कतिचिद् भवान्॥ भूत्वा महाविदेहेषु, दूरान्निर्वृतिमेष्यति॥ १॥" इत्युपदेशमालाकर्णिकायामपीत्थमेव निगदितम्। अत्र यत्परेणोच्यते 'कतिचिद् भवान्' इति यद् भणितं तत्किल्बिषिकदेवभवाच्च्युतो जमालिरनन्तर सर्वलोकगर्हणीयान् मनुष्यादिदुर्गतिसम्बन्धिनः कतिचिद् भवानवाप्य पश्चात्सूक्ष्मैकेन्द्रियादिषु यास्यतीति ज्ञापनार्थमेव। तथा चागमोऽपि दश०अ०५उ०२"लद्धूण वि देवत्त, उववन्नो देवकिब्बिसे॥

तत्थवि से न याणेइ, किं मे किच्चा इमं फलं ॥ ४७ ॥ तत्तो वि से चइत्ता णं, लब्भिही एलमूअगं ॥ णरगं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥४८॥" [लब्ध्वापि देवत्व उपपन्नो देवकिल्बिषे। तत्रापि स न जानाति किं मम कृत्वेदं फलम् ॥ ततोऽपि स च्युत्वा लप्स्यते एडमूकत्व ॥ नारकतिर्यग्योनिं वा बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥] इति। तदतिकदाग्रहविजृम्भितम्, अत्र तिर्यगादिषु प्रत्येकं परिमितभवभ्रमणस्य व्यक्तमेवाभिधानात्, इच्छामात्रेणाविशिष्टानन्तभवकल्पनस्याप्रामाणिकत्वात्, स्थूलभवाभिधानमात्रमेतदित्यत्र प्रमाणाभावात्, न च 'दूरान्निर्वृतिं मेष्यतीति' वचनानुपपत्तिरेवात्र प्रमाणम्, आसन्नतादूरतयोरापेक्षिकत्वात्। किञ्च दूरपदं विनाऽप्येवंविधोऽर्थोऽन्यत्र दृश्यते। तदुक्तं सर्वानन्दसूरिविरचितोपदेशमालावृत्तौ—"तिर्यक्षु कानपि भवानतिवाह्य कांश्चि-द्देवेषु चोपचितसञ्चितकर्मवश्यः ॥ लब्ध्वा ततः सुकृतजन्मगृहे विदेहे, जन्मायमेष्यति मुसैकसनिर्विमुक्तिम् ॥ १ ॥" इति। यत्तु जमालेः साक्षात्तीर्थकरदूषकस्यापि पञ्चदश भवाः, सुबाहुकुमारस्य च जिनाज्ञाराधकस्यापि षोडश भवा इति जिनाज्ञाराधनापेक्षया तद्विराधनमेव सम्यगिति परस्याभिधानं तदविवेकमूलम्। एवं हि दृढप्रहारिप्रभृतीनां घोरपापकारिणां तद्भवमुक्तिगामित्वम्, आनन्दादीनां च देवमनुजभवप्राप्तिक्रमेणेति सुकृतापेक्षया दुष्कृतमेव सम्यगिति वदतोऽपि मुखं कः पिदध्यादिति। यदपि साधुभक्तस्य द्रव्यतस्तीर्थकृतोऽपि मरीचेः कापिलीयदर्शनप्रवृत्तिहेतुसन्दिग्धोत्सूत्रभाषणनिमित्तदुर्वचनमात्रेणाप्येकेन्द्रियादिष्वसंख्येयभवभ्रमणं, जमालेश्च साक्षात्तीर्थकरदूषकस्यापि पञ्चदश भवा इति महदसमञ्जसमिति परेणोद्घुष्यते तदपि तथाभव्यताविशेषादेव न पर्यनुयोगार्हम्, अन्यथा सन्दिग्धोत्सूत्रभाषिणोऽपि मरीचेर्नरकभवदुःखप्राप्तिः, निश्चितोत्सूत्रभाषिणश्च जमालेर्नैयमित्यत्र भवतोऽपि किमुत्तरं वाच्यमिति रागद्वेषरहितेन चेतसा चिन्तनीयम्। दोघट्टीसंज्ञकायां वृत्तौ तु 'ततश्च्युतश्चत्वारि पंच तिर्यग्मनुष्यदेवभवग्रहणानि संसारमनुपर्यट्य महाविदेहे

सेत्स्यति'-इति शब्दसन्दर्भेण भगवतीसूत्रालापकानुवाद्येव दृश्यते। सिद्धर्षीयोपदेशमालाटीकायास्त्वादर्शभेदात्पाठभेदो दृश्यते। तथा हि-"आजीवन्ति द्रव्यलिङ्गेन लोकमित्याजीवका निह्नवास्तेषां गणो गच्छस्तस्य नेता नायको गुरुरित्यर्थः, राज्यश्रियं प्रहाय-परित्यज्य, प्रव्रज्यां गृहीत्वा, चशब्दादागमं चाधीत्य, जमालिर्भगवज्जामाता, हितमात्मनोऽकरिष्यद्, 'यदि' इत्यध्याहारः, ततो न-नैव, वचनीये निन्द्यत्वे, इह-लोके प्रवचने वा अपतिष्यत्। तथा हि-मिथ्यात्वाभिनिवेशादसौ भगवद्वचनं 'क्रियमाण कृतम्' इत्यश्रद्दधानः "कृतमेव कृतम्" इति विपरीतप्ररूपणालक्षणादहिताचरणादेव लोकमध्ये वचनीये पतितोऽति दुष्करतपोविधानेऽपि किल्बिषदेवत्वं भवं चानन्तं निर्वर्तितवान्" इत्ययं(त्येवं) केषुचिदादर्शेषु पाठो दृश्यते॥ "विपरीतप्ररूपणादहिताचरणादेव 'निह्नवोऽयम्'-इति लोकमध्ये वचनीये पतितोऽतिदुष्करतपोविधानेऽपि किल्बिषदेवत्वं निर्वर्तितवान्।" इत्ययमपि क्वचिदादर्शे पाठो दृश्यते॥ क्वचिच्च "तथामिथ्यात्वाभिनिवेशादसौ भगवद्वचनं 'क्रियमाण कृतम्'—इत्यश्रद्दधानः" कृतमेव कृतम् इति विपरीतप्ररूपणलक्षणादहिताचरणादेव 'निह्नवोऽयम्'-इति लोकमध्ये वचनीये पतितोऽतिदुष्करतपोविधानेऽपि किल्बिषदेवत्वं भवं चानन्तं निर्वर्तितवान्। उक्तं च प्रज्ञप्तौ 'जइ ण भंते! जमाली अणगारे अरसाहारे विरसाहारे जाव विवित्तजीवी कम्हा णं भंते! जमाली अणगारे कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे तेरससागरोवमठिइएसु देवकिब्बिसिएसु देवेसु देवकिब्बिसियत्ताए उववन्ने?, गोयमा! जमाली णं अणगारे आयरियपडिणीए इत्यादि यावत् लंतए कप्पे जाव उववन्ने। जमाली ण भंते! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव कहि उववज्जिहिति?, गोयमा! चत्तारि पंच तिरिक्खजोणियमणुस्सदेवभवग्गहणाइ संसारमणुपरिअट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिहिति जाव अंतं काहेति।" [यदि भदन्त जमालिरनगारोऽरसाहारो विरसाहारो यावद्विविक्तजीवी कस्माद्भदन्त जमालिरनगारः कालमासे कालं

कृत्वा लांतके कल्पे त्रयोदशसागरोपमस्थितिकेषु देवकिल्बिकेषु देवेषु देवकिल्बिषिकतया उत्पन्नः, गौतम जमालिरनगारः आचार्य-
प्रत्यनीक इत्यादि यावत् लान्तके कल्पे यावदुत्पन्नः ॥ जमालिर्भदन्त ततो देवलोकादायुःक्षयेण यावत्कुत्रोत्पत्स्यते गौतम चत्वारि पञ्च
तिर्यग्योनिकमनुष्यदेवभवग्रहणानि संसारमनुपर्यट्य ततः पश्चात्सेत्स्यति यावदन्तं करिष्यति] इत्येवम्भूतः पाठोऽस्ति।'' हेयोपादेयवृत्ता-
वपि केषुचिदादर्शेष्वयमेव पाठोस्ति। आदर्शान्तरे च-''अतिदुष्करतपोविधानेऽपि किल्बिषदेवत्वं निर्वर्तितवान्''-इति। उक्त
च प्रज्ञप्तौ-'जइ णं भंते०'' इत्यादिरचनया पाठोऽस्ति। एवंस्थिते मध्यस्था गीतार्था इदं प्रतिपादयन्ति-यदुत भगवत्यादिबहु-
ग्रन्थानुसारेण परिमितभवत्वं जमालेर्ज्ञायते, सिद्धर्षीयवृत्तिपाठविशेषाद्यनुसारेण चानन्तभवत्वमिति, तत्त्व तु तत्त्वविद्वेद्यमिति; पर
भगवतीसूत्र प्रकृतार्थेन विवृतमस्ति, तत्साम्मुख्यं च वीरचरित्रादिग्रन्थं तेषु दृश्यते, संमतिप्रदर्शन त्वर्थद्वयाभिधानप्रक्रमेऽप्येका-
र्थापुरस्कारेणापि सम्भवति। यथा ''नानाकार कायेन्द्रियम्, असंख्येयभेदत्वात्, अस्य नान्तर्बहिर्भेदो निर्वृत्तेर्न कश्चित् प्रायः, प्रदीर्घत्र्यस्र-
संस्थित कर्णाटकायुधं क्षुरप्रस्तदाकार रसनेन्द्रियम्, अतिमुक्तकपुष्पदलचन्द्रकाकार किंचिन्मकेसरवृत्ताकारमध्यविनत घ्राणेन्द्रियम्, किं-
चित्समुन्नतमध्यपरिमण्डलाकारं धान्यमसूरवचक्षुरिन्द्रियम्, पाथेयभाण्डकयवनालिकाकार श्रोत्रेन्द्रियं नालिककुसुमाकृति चानसेयम्,
तत्राद्यं स्वकायपरिमाण द्रव्यमनश्च, शेषाण्यङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणानि सर्वजीवानाम्। तथा चागमः(प्रज्ञापना) ''फासिंदिए ण भंते
किंसंठिए पण्णत्ते ?, गोयमा! णाणासंठाणसंठिए। जिब्भिंदिए णं भंते किंसंठिए पण्णत्ते ?, गोयमा ? खुरप्पसंठिए। घाणिंदिए ण भंते किं-
संठिए पण्णत्ते ?, गोयमा! अतिमुत्तयचंदगसंठिए पण्णत्ते। चक्खुरिंदिए ण भंते किंसंठिए पण्णत्ते ? गोयमा! मसूरयचंदसंठिए। सोइंदिए
णं भंते! कि संठिए पण्णत्ते ?, गोयमा! कलंबुआपुप्फसंठिए पण्णत्ते'' [स्पर्शनेन्द्रिय भदन्त कि संस्थितं प्रज्ञप्तं, गौतम नानासंस्थानसंस्थितं।

जिह्वेन्द्रियं भदन्त किं संस्थितं प्रज्ञप्तं, गौतम क्षुरप्रसंस्थितं। घ्राणेन्द्रियं भदन्त किं संस्थितं प्रज्ञप्तं, गौतम अतिमुक्तकचन्द्रकसंस्थितं। चक्षुरिन्द्रियं भदन्त किं संस्थितं प्रज्ञप्तं, गौतम मसूरकचन्द्रसंस्थितं। श्रोत्रेन्द्रियं भदन्त किं संस्थितं प्रज्ञप्तं, गौतम कदम्बपुष्पसंस्थितं प्रज्ञप्तं] इति तत्त्वार्थवृत्तौ अ० २ सू० १७।" अत्र हीन्द्रियसंस्थानं तत्परिमाणं चेति द्वयमुपक्रान्तं, संमतिप्रदर्शनं तु पूर्वार्थ एवेत्येवं सिद्धर्षीयवृत्त्यादर्शविशेषेऽपि जमालेरनन्तभवस्वामित्वप्रदर्शनं चतुरन्तसंसारकान्तारदृष्टान्तत्वप्रदर्शनसदृशम्, सूत्रसंमतिस्तु देवर्द्धिलिपिकत्वाश एव-इत्ययमर्थो न्याय्योऽन्यो वा तत्र कश्चित्सुन्दरोऽभिप्राय इति यथा बहुश्रुताः प्रतिपादयन्ति तथा प्रमाणीकर्तव्यं न तु कुविकल्पचक्रेण ग्रन्थकदर्थना कर्तव्या। यत्तु वस्तुगत्या समयभाषया तिर्यग्योनिकशब्द एवानन्तभवाभिधायको भवति। यदुक्तं "तिर्यग्योनीनां च" इति तत्त्वार्थसूत्र अ० ३ सू० १८ भाष्यवृत्तौ-'तिर्यग्योनयः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियास्तेषामपि परापरे स्थिती इत्यादि यावत्साधारणवनस्पतेरनन्ता अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यः"-इत्यादि इति। परेणोक्तं तत्त्वनाकलितग्रन्थानां विभ्रमापादकं प्रेक्षावतां तूपहासपात्रम्। परापरभवस्थितिकायस्थितिविवेकस्य तत्र प्रतिपादितत्वात्, उत्कृष्टकायस्थितेरेव तिर्यग्योनीनामनन्तत्वपर्यवसानात् प्रकृते च भवग्रहणाधिकारात् न तत्कायस्थितिग्रहणं कथमपि सम्भवतीति किं पल्लवग्राहिण्या समधिकविचारणयेति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ॥ ४० ॥ तदेवं मरीचेरिव स्तोकस्याप्युत्सूत्रस्य दुःखदायित्वात् 'अन्येषां गुणानुमोदनं न कर्त्तव्यम्'-इत्युत्सूत्रं त्याज्यम्, कर्त्तव्या च गुणानुमोदना सर्वेषामपीति व्यवस्थापितम्। अथ सूत्रभाषकाणां गुणमाह—

सुत्तं भासंताणं, णिच्चं हिययट्ठिओ हवइ भयवं ॥ हिययट्ठिअंमि तंमि य, णियमा कल्लाणसंपत्ती ॥ ४१ ॥

[सूत्रं भाषमाणानां नित्यं हृदयस्थितो भवति भगवान्। हृदयस्थिते तस्मिंश्च नियमात्कल्याणसंपत्तिः ॥ ४१ ॥]

'सुत्तं भासंताणं'ति। सूत्रं भाषमाणानां, नित्यं निरन्तरं, भगवांस्तीर्थङ्करो, हृदयस्थितो भवति, भगवदाज्ञाप्रणिधाने भगवत्प्रणिधानस्यावश्यकत्वात्, आज्ञायाः ससम्बन्धिकत्वात्। हृदयस्थिते च तस्मिन् भगवति सति, नियमान्निश्चयात्, कल्याणसम्पत्तिः, समापत्त्यादिभेदेन तीर्थकृद्दर्शनस्य महाकल्याणावहतायाः पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितत्वादिति ॥ ४१ ॥

कल्याणप्रापकत्वं च हृदयस्थितस्य भगवतोऽनर्थनिराकरणद्वारा स्यादित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यानर्थनिराकरणहेतुत्वगुणमभिष्टुवन्नाह–

हिययट्ठिओ अ भयवं, छिंदइ कुविगप्पमत्तभत्तस्स ॥ तयभत्तस्स उ तंमि वि, भत्तिमिसा होइ कुविगप्पो ॥४२॥

[हृदयस्थितश्च भगवान् छिनत्ति कुविकल्पमात्मभक्तस्य । तदभक्तस्य तु तस्मिन्नपि भक्तिमिषाद् भवति कुविकल्पः ॥ ४२ ॥]

'हिययट्ठिओ अ'त्ति हृदयस्थितश्च भगवानात्मभक्तस्य स्वाराधकस्य, कुविकल्पं कुतर्काभिनिवेशरूपं, छिनत्ति। दुर्निवारो हि प्राणिनामनादिभवपरम्परापरिचयान्मोहमाहात्म्यजनितः कुविकल्पः, केवलं भगवद्भक्तिरेव तमुच्छिद्य तदुत्पादं निरुद्ध्य वा तत्कृताशुभविपाकान्निस्तारयतीति। तदुक्तमन्यैरपि—" पुण्ये मनः कस्य मुनेरपि स्यात्, प्रमाणमेतस्य हि (मेनसापि) दृश्यवृत्ति ॥ तांश्चिन्तितचित्तं परमेश्वरस्तु, भक्तस्य हृष्यत्करुणो रुणद्धि ॥ १ ॥" इति । अन्वयप्रदर्शनमेतद् । व्यतिरेकमाह–तदभक्तस्य तु कुतर्काध्माततया भगवद्भक्तिरहितस्य तु, तस्मिन्नपि सकलदोषरहिते जगज्जीवहिते भगवत्यपि, भक्तिमिषाल्लोकसाक्षिककृत्रिमभक्तिव्यपदेशात्, कुविकल्पोऽसद्दोषाध्यारोपलक्षणो भवतीति, भगवतो हृदयेऽवस्थानाभावादिति भावः ॥ ४२ ॥

कथं भगवत्यपि भक्तिमिषात् कुविकल्पो भवतीत्याह—

जेणं भणंति केइ, जोगाउ कयावि जस्स जीववहो ॥ सो केवली ण अम्हं, सो खलु सक्खं मुसावाई ॥४३॥

[येन भणन्ति केचिद् योगात् कदापि यस्य जीववधः । स केवली नास्माकं, स खलु साक्षान्मृषावादी ॥ ४३ ॥]

'जेणं'ति । येन कारणेन, भणंति केचिद्, यदुत यस्य योगात्कदाचिदपि जीववधो भवति, सोऽस्माकं केवली न भवति । स खलु साक्षान्मृषावादी, जीववधं प्रत्याख्यायापि तत्करणात् इदं हि भक्तिवचन मुग्धैर्ज्ञायते, परमार्थतस्तु भगवत्यसद्दोषाध्यारोपात् कुविकल्प एवेति भावः ॥ ४३ ॥ एतन्निराकरणार्थमुपक्रमते—

ते इय पज्जणुजुज्जा, कह सिद्धो हंदि एस णियमो भे ॥ जोगवओ दुव्वारा, हिंसा जमसक्कपरिहारा ॥४४॥

[ते इति पर्यनुयोज्याः कथं सिद्धो हदि एष नियमो भवताम् । योगवतो दुर्वारा हिंसा यदशक्यपरिहारा ॥ ४४ ॥]

'ते इय'त्ति । ते एवं वादिनः पर्यनुयोज्याः प्रतिप्रष्टव्याः, इत्यमुनाप्रकारेण, यदुत एष नियमो-यस्य योगात् कदाचिदपि जीववधो भवति स न केवलीत्येवंलक्षणः, कथ भे भवतां, सिद्धः?, यद्यस्मात्कारणाद्, योगवतः प्राणिन आत्रयोदशगुणस्थानम्, अशक्यपरिहारा हिंसा दुर्वारा, योगनिरोधं विना तस्याः परिहर्तुमशक्यत्वात्, तदीययोगनिमित्तकहिंसानुकूलहिंस्यकर्मविपाकप्रयुक्ता हि हिंसा तदीययोगाद् भवन्ती केन वार्यतामिति । अथैवं सर्वेषामपि हिंसाऽशक्यपरिहारा स्यादिति चेत्, न । अनाभोगप्रमादादिकारणघटितसामग्रीजन्यायास्तस्या आभोगाप्रमत्ततादिना कारणविघटनेन शक्यपरिहारत्वाद्, योगमात्रजन्यायास्त्वनिरुद्धयोगस्याशक्यपरिहारत्वादिति विभावनीयम् । नन्वीदृश्यां जीवविराधनाया जायमानायां केवलिना जीवरक्षाप्रयत्नः क्रियते न वा?, आद्ये न क्रियते चेत्, तदाऽसंयतत्वापत्तिः । क्रियते चेत्, तदा चिकीर्षितजीवरक्षणाभावात्प्रयत्नवैफल्यापत्तिः; सा च केवलिनो न सम्भवति, तत्कारणस्य वीर्यान्तरायस्य क्षीणत्वाद्, अत एव देशनाविषयकप्रयत्नविफलतायां केवलिनः केवलित्वं न सम्भवतीति परेषां सम्यक्त्वाद्यलाभे धर्मदेशनामप्यसौ न करोतीत्यभ्युपगम्यते । तदुक्तमावश्यकनिर्युक्तौ-"सव्वं च देसविरइ, सम्मं पिच्छइ य होइ कहणाउ ॥ इहरा

अमूढलक्खो, ण कहेइ भविस्सइ ण तं वत्ति ॥५६४॥" [सर्वां च देशविरतिं सम्यक्(त्व) पश्यति च भवति कथनात्। इतरथा अमूढलक्ष्यो न कथयति भविष्यति न तद्वेति ॥ १ ॥] ततः क्षीणवीर्यान्तरायत्वादशक्यपरिहारापि जीवविराधना केवलिनो न सम्भवतीति चेत् ॥ न, यथा हि-भगवतः सामान्यतः सर्वजीवहितोद्देशविषयोऽपि वाक्प्रयत्नः स्वल्पसंसारिष्वेव सफलो भवति, न तु बहुलसंसारिषु, प्रत्युत तेषु कर्णशूलायते। यत उक्तं सिद्धसेनदिवाकरैः(द्वा०२)"सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव! तवापि खिलान्यभूवन् ॥ तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु, सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥१३॥" इति। अत एव च लोकनाथत्वमपि भगवतो बीजाधानादिसंविभक्तभव्यलोकापेक्षया व्याख्यातं ललितविस्तरायाम्, "अनीदृशि नाथत्वानुपपत्तेरिति"। न चैतावता भगवतो वाक्प्रयत्नस्य विफलत्वं, शक्यविषय एव विशेषतः साध्यत्वाख्यविषयतया तत्प्रवृत्तेस्तत्फलवत्त्वव्यवस्थितेः। तथा सामान्यतः सर्वजीवरक्षाविषयोऽपि भगवतः कायप्रयत्नो विशेषतः शक्यजीवरक्षाविषयत्वेन सफलः सन् नाशक्यविषये वैफल्यमात्रेण प्रतिक्षेप्तुं शक्यत इति। न चाधिकृतविषये वाक्प्रयत्नो न विफलः, स्वल्पसंसार्यपेक्षया साफल्याद्, इतरापेक्षया वैफल्यस्य तत्रावास्तवत्वाद्; अशक्यपरिहारजीवविराधनायां तु तद्रक्षाप्रयत्नः सर्वथैव विफल इति वैषम्यमिति तत्र वीर्यान्तरायक्षयवैफल्यापत्तिरिति तत्साफल्यार्थं भगवद्योगानां हिंसायाः स्वरूपायोग्यत्वमेवाभ्युपेयमिति शङ्कनीयम्। एवं सति हि भगवतः क्षुत्पिपासापरीषहविजयप्रयत्नः क्षुत्पिपासानिरोधं विना विफल इति वीर्यान्तरायक्षयवैफल्यापत्तिनिरासार्थं भगवतः क्षुत्पिपासयोरपि स्वरूपायोग्यत्वं कल्पनीयमिति दिगम्बरस्य वदतो दूषणं न दातव्यं स्यादिति। यदि च क्षुत्पिपासयोर्निरोद्धुमशक्यत्वात् तत्परीषहविजयप्रयत्नो भगवतो मार्गाच्यवनादिस्वरूपेणैव फलवानिति विभाव्यते तदाऽशक्यपरिहारजीवविराधनाया अपि त्यक्तुमशक्यत्वात्, तत्र जीवरक्षाप्रयत्नस्यापि भगवतस्तथा स्वरूपेणैव फलवत्त्वमिति किं वैष-

म्यम् १॥ इत्थं च-"तस्स असंचेययओ, संचेययओ अ जाइं सत्ताइं॥ जोगं पप्प विणस्संति, णत्थि हिंसाफलं तस्स ॥७५१॥" "तस्यैवंप्रकारस्य ज्ञानिनः कर्मक्षयार्थमभ्युद्यतस्य, असञ्चेतयतोऽजानानस्य, किं? सत्त्वानि, कथं? प्रयत्नं कुर्वतोऽपि, कथमपि न दृष्टः प्राणी, व्यापादितश्च। तथा सञ्चेतयतो जानानस्य, कथम्? अस्त्यत्र प्राणी ज्ञातो दृष्टश्च, न च प्रयत्नं कुर्वताऽपि रक्षितुं पारितः, ततश्च तस्यैवंविधस्य, यानि सत्त्वानि, योग कायादिव्यापार, प्राप्य विनश्यन्ति। तत्र नास्ति तस्य साधोः, हिंसाफलं साम्परायिकं संसारजननं दुःखजननमित्यर्थः। यदि परमीर्याप्रत्ययं कर्म भवति, तच्चैकस्मिन् समये बद्धमन्यस्मिन्समये क्षिप(क्षपय)तीति" ओघनिर्युक्तिसूत्रवृत्तिवचने "न च प्रयत्नं कुर्वतापि रक्षितुं पारितः" इति प्रतीकस्य दर्शनाज्जीवरक्षोपायानाभोगादेव तदर्थोपपत्तेः, केवलिभिन्नस्यैव ज्ञानिनो योगानामीर्यापथप्रत्ययकर्मबन्धानुकूलसत्त्वहिंसाहेतुत्वं सिद्ध्यति न तु केवलिन इति निरस्तम्। न च प्रयत्न कुर्वतापीत्यनेन प्रयत्नवैफल्यासिद्धिः, निजकायव्यापारसाध्ययतनाविषयत्वेन तत्साफल्याद्, अन्यथा तेन केवलिनो वीर्यविशुद्धिमापादयतो निर्ग्रन्थस्य चारित्राविशुद्ध्यापत्तेः, तस्याप्याचाररूपप्रयत्नघटितत्वाद् यतनात्वेन चोभयत्र शुद्ध्यविशेषाद्। न चाशक्यजीवरक्षास्थलीययतनायां तद्रक्षोपहितत्वाभावो रक्षोपायानाभोगस्यैव दोषो, न तु निर्ग्रन्थस्य चारित्रदोषः, स्नातकस्य तु केवलित्वान्न तदनाभोगः सम्भवतीति तद्योगा रक्षोपहिता एव स्वीकर्त्तव्या इति वाच्यम्। तथाविधप्रयत्नस्यैव जीवरक्षोपायत्वात्, केवलिनापि तदर्थमुल्लङ्घनप्रलङ्घनादिकरणात्॥ तदुक्तं प्रज्ञापनायां समुद्घातान्निवृत्तस्य केवलिनः काययोगव्यापाराधिकारे—"कायजोगं जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा, गच्छेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिसीएज्ज वा, तुअट्टेज्ज वा, उल्लंघेज्ज वा, पलंघेज्ज वा, पाडिहारिय पीढफलगसेज्जासंथारगं पच्चप्पिणेज्जत्ति॥ [पद ३६]" अत्र उल्लंघेज्ज वा पलंघेज्जवे'त्येतत्पदव्याख्यानं यथा—" अथवा विवक्षिते स्थाने तथाविधस-

स्यातिमसत्त्वाकुलां भूमिमवलोक्य तत्परिहाराय जन्तुरक्षानिमित्तमुल्लङ्घनं प्रलङ्घनं वा कुर्यात्। तत्र सहजात्पादविक्षेपान्मनागधिकतरः पादविक्षेप उल्लङ्घनं, स एवातिनिकटः प्रलङ्घनमिति ॥" न च जीवरक्षोपायप्रयत्नो निर्ग्रन्थेन ज्ञात एवेति तस्याशक्यपरिहारजीवहिंसायां तद्रक्षाविघटको नाऽनाभोगः, किन्त्वशक्तिः, सा च योगापकर्षरूपा निर्ग्रन्थस्नातकयोः स्थानौचित्येनाविरुद्धेति प्रतिपत्तव्यम् ॥ यदि च तादृशरक्षोपायाः केवलियोगा एव, तदनाभोगश्च निर्ग्रन्थस्य तद्विघटक इति वक्रः पन्थाः समाश्रीयते तदा प्रेक्षावत्तामुपहासयताऽऽयुष्मतः, यत एवमनुपायादेव तस्य तद्रक्षाभाव इति वक्तव्यं स्यात्, न तूपायानाभोगादिति कारणवैकल्यमेव हि कार्यविघटने तन्त्रं न तु कारणज्ञानवैकल्यमपि। न च केवलियोगानां स्वरूपत एव जीवरक्षाहेतुत्वमित्यपि युक्तिमद्, उल्लङ्घनप्रलङ्घनादिवैफल्यापत्तेः, केवलियोगेभ्यः स्वत एव जीवरक्षासिद्धौ तत्र तदन्यथासिद्धेः, अनुपायनिषेवेऽपि क्रियाव्यापाराभ्युपगमे च रोगादिस्थितिसाधनार्थमपि तदभ्युपगमप्रसङ्गात्। यदि च साध्वाचारविशेषपरिपालनार्थ एव केवलिनोऽसौ व्यापारो न तु जन्तुरक्षानिमित्तः, तस्याः स्वतः सिद्धत्वेन तत्साधनोद्देशवैयर्थ्यात्, जन्तुरक्षानिमित्तत्वं तूपचारादुच्यते, मुख्यप्रयोजनसिद्धेश्च न तद्वैफल्यमिति च वक्रकल्पना त्वयाऽऽश्रीयते, तदा 'स्वशस्त्रं स्वोपघातायेति' न्यायप्रसङ्गः। एवं ह्यशक्यपरिहारजीवहिंसास्थलेऽपि साध्वाचारविशेषपरिपालनार्थस्य भगवत्प्रयत्नस्य सार्थक्यसिद्धौ 'संचेयओ अ जाइ सत्ताइ जोगं पप्प विणस्संती'त्यत्र छद्मस्थ एवाधिकृत इति स्वप्रक्रियाभङ्गप्रसङ्गात्। तस्मादाभोगादनाभोगाद्वा जायमानायां हिंसायां प्राणातिपातप्रत्ययकर्मबन्धजनकयोगशक्तिविघटनं यतनापरिणामेन क्रियत इत्येदर्थप्रतिपादनार्थं " न च प्रयत्नं कुर्वताऽपि रक्षितुं पारितः " इत्युक्तम्। अत एव सूत्रेऽपीत्थमेव व्यवस्थितम्। तथा हि—"वज्जेमित्तिपरिणओ, संपत्तीए विमुच्चई वेरा ॥ अवहंतो वि ण मुच्चइ, किलिट्ठभावोऽतिवायस्स ॥६१॥" इति ॥ [ओघनिर्युक्ति] एतद्वृत्तिर्यथा—वर्जयाम्यहं

प्राणातिपातादीत्येवं परिणतः सन्, सम्प्राप्तावपि,कस्य? अतिपातस्य प्राणिप्राणविनाशस्येत्युपरिष्टात् सम्बन्धः, तथाऽपि विमुच्यते वैरात् कर्मबन्धाद् । यस्तु पुनः, क्लिष्टपरिणामः सोऽव्यापादयन्नपि न मुच्यते वैरादिति ज्ञात्वा जीवघातस्येर्यापथप्रत्ययकर्मबन्धजनने यतनापरिणामस्य सहकारित्वप्रतिपादनार्थं 'न च प्रयत्नं कुर्वतापि रक्षितुं पारितः' इत्युक्तमित्यपरे ॥ यत्तु वर्जनाभिप्राये सत्यनाभोगवशेन जायमानो जीवघातो द्रव्यहिंसात्मको न कर्मबन्धहेतुः, वर्जनाभिप्रायस्य कारणं तु जीवघाते नियमेन दुर्गतिहेतुकर्मबन्धो भवतीत्यभिप्राय एव, अन्यथा सुगतिहेतुषु ज्ञानादिष्वपि वर्जनाभिप्रायः प्रसज्येत । केवलिनस्तु वर्जनाभिप्रायो न भवत्येव, सर्वकालं सामयिकसातवेदनीयकर्मबन्धकत्वेन दुर्गतिहेतुकर्मबन्धाभावस्य निर्णीतत्वात् तस्माज्जीवघातस्तज्जनितकर्मबन्धभावश्चेत्युभयमप्यनाभोगवन्तं तं संयतलोकमासाद्यैव सिद्ध्यतीति परस्य मतं तदसद् । वर्जनाभिप्रायस्य भगवतः प्रज्ञापनावृत्तावेवोक्तत्वात्, स्वकीयदुर्गतिहेतुकर्मबन्धहेतुत्वाज्ञानेपि स्वरूपेण वर्जनीये वर्जनाभिप्रायस्य भगवत उचितप्रवृत्तिप्रधानसामयिकफलमहिम्नैव सम्भवाद्; अन्यथाऽनेषणीयपरिहाराभिप्रायोऽपि भगवतो न स्याद् अनेषणीयस्यापि स्वापेक्षया क्लिष्टकर्मबन्धहेतुत्वनिश्चयात्, तथा च 'तत्थ णं रेवतीए गाहावइणीए मम अट्ठाए दुवे कवोअसरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठोत्ति। " [तत्र च रेवत्या गाथापतिन्या मदर्थं द्वे कपोतशरीरे (कूष्मांडफले) उपस्कृते ताभ्या नार्थ इति ॥] अनेषणीयपरिहाराभिप्रायाभिव्यञ्जकं प्रज्ञप्तिसूत्रं शतक १५ व्याहन्येत, तस्माद्यथोचितकेवलिव्यवहारानुसारेण वर्जनाद्यभिप्रायस्तस्य सम्भवत्येव; प्रयत्नसाफल्यं तु शक्यविषयापेक्षया न त्वितरापेक्षयेति मन्तव्यम् । एतेन केवलज्ञानोत्पत्तिसमय एव केवलिना सर्वकालीनं सर्वमपि कार्यं नियतकारणसामग्रीसहितमेव दृष्टं, तत्र केवलिना निजप्रयत्नोऽपि विवक्षितजीवरक्षाया नियतकारणसामग्र्यामन्तर्भूतो दृष्टोऽनन्तर्भूतो वा, आद्ये केवलिप्रयत्नस्य वैफल्यं न स्यात्, तस्य तस्या नियतकारणसा-

मध्यन्तर्भूतत्वेन दृष्टत्वाद्, द्वितीये विवक्षितजीवरक्षार्थं केवलिनः प्रयत्न एव न भवेत्, केवलिना तत्सामग्र्यनन्तर्भूतत्वेन दृष्टत्वादिति, 'न च प्रयत्नं कुर्वतापि रक्षितुं न पारित' इति वचनं छद्मस्थसंयतमधिकृत्यैवेति कल्पनाऽप्यपास्ता, स्वव्यवहारविषयनियतत्वेनैव केवलिना सप्रयत्नस्य दृष्टत्वादिति दिग् ॥ ४४ ॥ ननु जीवहिंसा गर्हणीयाऽगर्हणीया वा ?, अन्त्ये लोकलोकोत्तरव्यवहारबाधः । आद्ये च गर्हणीयं कृत्यं भगवतो न भवतीति भगवतस्तदभावसिद्धिरित्याशङ्कायामाह—

खीणे मोहे णियमा, गरहाविसओ ण होइ किच्चंति ॥ सा ण जिणाणंति मई, दव्ववहे होइ णिव्विसया ॥४५॥

[क्षीणे मोहे नियमाद् गर्हाविषयो न भवति कृत्यमिति । सा न जिनानामिति मतिर्द्रव्यवधे भवति निर्विषया ॥ ४५ ॥]

'खीणे मोहे'त्ति क्षीणे मोहे निस्सत्ताकीभूते मोहनीयकर्मणि, नियमान्निश्चयेन, गर्हाविषयः । कृत्यं गर्हणीयं प्राणातिपातादिकर्म, न भवति, कस्यापि प्राणिनः । तदुक्तमुपदेशपदे-"इत्तो उ वीयरागो, ण किंचि वि करेइ गरहणिज्जं तु"त्ति । एतद्वृत्त्येकदेशो यथा-"इतस्त्वेवं एवाकरणनियमात्मकतरूपाद्, वीतरागः क्षीणमोहादिगुणस्थानवर्त्ती मुनिः, न नैव, किञ्चिदपि करोति जीवघातादिकं सर्वः गर्हणीयं त्ववद्य, देशोनपूर्वकोटीकालं जीवन्नपीति।" इति हेतोः । सा हिंसा, जिनानां विगलितसकलगर्हणीयकर्मणां क्षीणमोहवीतरागाणां न भवतीति तव मतिः, केवलं भावप्राणातिपातनिषेधापेक्षया सविषया स्याद्, द्रव्यवधे तु निर्विषया भवति, तस्याशक्यपरिहारत्वेनागर्हणीयत्वात् ; द्रव्यभावोभयरूपस्य केवलभावरूपस्य च प्राणातिपातादेर्व्रतभङ्गरूपत्वेन शिष्टलोकगर्हणीयत्वाद्-शिष्टगर्हायाश्चाप्रयोजकत्वात् । क्रूरकर्माणो हि 'न स्वयंभूरयं किन्तु मनुष्य इति कथमस्य देवत्वम् ?, कवलाहारवतो वा कथं केवलित्वम् ?' -इत्यादिकां भगवतोऽपि गर्हां कुर्वन्त्येवेति । न चेदेवं तदोपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो गर्हणीयप्राणातिपाताद्यभ्युपगमे यथाख्यातचारि-

त्रविलोपप्रसङ्गः । अथोपशान्तमोहवीतरागस्य मोहनीयमत्ताहेतुकः कदाचिदनाभोगसहकारिकारणवशेन गर्हापगयणजनस्य प्रत्यक्षत्वाद् गर्हणीयो जीवघातो भवत्येव, न तु यथाख्यातचारित्रलोपस्तेन भवति, उत्सूत्रप्रवृत्तेरेव तल्लोपहेतुत्वात् । न च प्रतिषिद्धप्रतिषेवणमात्रेणोत्सूत्रप्रवृत्तिः, किन्तु साम्परायिकक्रियाहेतुमोहनीयोदयसहकृतेन प्रतिषिद्धप्रतिषेवणेन । सा चोपशान्तवीतरागस्य न भवति, तस्या मोहनीयानुदयजन्येर्यापथिकीक्रियया बाधितत्वात्; उत्सूत्रप्रवृत्तीर्यापथिकीक्रिययोः सहानवस्थानाद् । यदागमः–"जस्स णं कोहमाणमायालोभा वुच्छिण्णा भवन्ति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जति। तहेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइआ किरिया कज्जति, से णं उस्सुत्तमेव रीयइत्ति ॥" [यस्य खलु क्रोधमानमायालोभा व्युच्छिन्ना भवन्ति, तस्य खलु ईर्यापथिकी क्रिया क्रियते तथैव यावत् उत्सूत्रं रीयमाणस्य साम्परायिका क्रिया क्रियते। स खलु उत्सूत्रं रीयते ॥ भ०श०७उ०१] तथाऽस्मादुत्सूत्रप्रवृत्तिप्रतिबन्धिका भावत ईर्यापथिकी क्रियैव, यथाख्यातचारित्रप्रतिबन्धिका च मोहनीयोदयजन्या साम्परायिकी क्रिया भवतीति सम्यक्पर्यालोचनायामुपशान्तवीतरागस्य नोत्सूत्रप्रवृत्तिर्न वा यथाख्यातचारित्रहानिरिति चेत्। न, द्रव्यवधस्य गर्हणीयत्वे प्रतिषिद्धप्रतिषेवणरूपत्वे च तेनोपशान्तमोहस्यापि यथाख्यातचारित्रस्य निर्ग्रन्थत्वस्य च विलोपप्रसङ्गस्य वज्रलेपत्वात्। "परिहारविसुद्धियसंजए पुच्छा, गो० णो पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा। एवं जाव अहक्खायसंजए" उद्देश६॥ "कसायकुसीले णं पुच्छा, गो०णो पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा, एव णिग्गथेवि, एवं सिणाएवि।" भ० श० २५ उद्देश७ [परिहारविशुद्धिकसंयते पृच्छा, गौतम! न प्रतिषेवको भवेत्, अप्रतिषेवको भवेद्, एवं यावत् यथाख्यातसंयते॥ कषायकुशीले पृच्छा, नो प्रतिषेवको भवेद् अप्रतिषेवको भवेत्। एव निर्ग्रन्थेऽपि, एवं स्नातकेऽपि ॥] इत्याद्यागमेन प्रतिषिद्धप्रतिषेवणस्योपरितनचारित्रनिर्ग्रन्थत्रयविरोधिताप्रतिपादनात् , 'प्रति संयमप्रतिकूलार्थस्य सञ्ज्वलनकषायोद-

यात्, सेवकः-प्रतिषेवक' इति प्रतिषेवणाद्वारे व्याख्यानात् प्रतिषेवणाविशेषेणैव यथाख्यातचारित्रादिविरोधव्यवस्थितेः ॥ अनाभोगजद्रव्यहिंसायाः प्रतिषिद्धप्रतिषेवणरूपत्वे उपशान्तमोहवृत्तित्वे च न बाधकमिति चेत् । न, प्रतिषेवापदविषयविभागेऽनाभोगजप्रतिषेवाया अपि परिगणनाद् । यदागमः—"दसविहा पडिसेवणा पण्णत्ता । तं० दप्प१प्पमाय२ऽणाभोगे ३, आउरे ४ आवईइ(सु) ५ य ॥ संकिए ६ सहसक्कारे ७, भय८प्पदोसा ९ य वीमंस १०त्ति ॥१॥" [दर्पप्रमादानाभोगे आतुरे आपत्सु च ॥ शकिते सहसात्कारे भयात्प्रद्वेषाद्विमर्शाच्च ॥ स्थानांग सू० ७३३] तस्माद् द्रव्यहिंसायाः प्रतिषेवणारूपत्वाभ्युपगमे तवाभ्युपशान्तमोहस्य प्रतिषेवित्वं स्यादित्यप्रतिषेवित्वव्याप्ययथाख्यातचारित्रनिर्ग्रन्थत्वयोस्तत्र का प्रत्याशा? मोहोदयविशिष्टप्रतिषेवणत्वेनोत्सूत्रप्रवृत्तिहेतुमभ्युपगम्य वीतरागे मोहसत्ताजन्यप्रतिषेवणाश्रयणेऽपसिद्धान्तादिदोषा दुर्द्धरा एव प्रसज्येरन्, मोहोदयसत्ताजन्योत्सूत्रप्रवृत्तिहेतुप्रतिषेवणाभेदस्य क्वापि प्रवचनेऽश्रुतत्वात्, प्रत्युत कषायकुशीलादिपरिहारविशुद्धिकाद्युपरितननिर्ग्रन्थसंयमत्रयस्याप्रतिषेवित्वाभिधानाद् । मोहोदयमात्रमपि न प्रतिषेवणाजनकमिति तत्सत्ताजन्यप्रतिषेवणवार्त्तापि दूरोत्सारितैवेति तस्या उत्सूत्रप्रवृत्तिहेतुत्वे मोहोदयविशिष्टत्वं तन्त्रमित्यत्र सूत्रसम्मतिप्रदर्शनमत्यसमञ्जसम्, ततः पुलाकबकुशप्रतिसेवाकुशीलत्रयवृत्त्यपकृष्टसंयमस्थाननियतसञ्ज्वलनोदयव्याप्य एव व्यापारविशेषः प्रतिषेवणारूपः स्वीकर्त्तव्यः, स एव च साधूनां गर्हणीय इति । " इत्तो उ वीयरागो, ण किंचि वि करेइ गरहणिज्जं तु ॥ " इत्यनेन तदत्यन्ताभाव एव वीतरागस्य प्रतिपाद्यते, न तु द्रव्यहिंसाभावोऽपीति प्रतिपत्तव्यम् ॥ ४५ ॥ एतदेव स्फुटीकुर्वन्नाह—

अकरणणियमावेक्खं, एयं भणिअंति अपडिसेवाए ॥ इत्तो जिणाण सिद्धी, ण उ दव्ववहस्स पडिसेहो ॥४६॥

[अकरणनियमापेक्षमेतद् भणितमिति अप्रतिषेवायाः । इतो जिनानां सिद्धिर्न तु द्रव्यवधस्य प्रतिषेधः ॥ ४६ ॥]

'अकरणणियमावेक्खं' ति । एतद् 'वीतरागो न किञ्चिद् गर्हणीयं करोति' इत्यकरणनियमापेक्षं भणितमुपदेशपदे, तत्र तस्यैवाधिकाराद्, अकरणनियमश्च पापशरीरकार्श्यहेतुराजयक्ष्मरोगस्थानीयः क्षयोपशमविशेषः, स च ग्रन्थिभेदादारभ्याऽऽक्षीणमोहं प्रवर्द्धते, यथा यथा च तत्प्रवृद्धिस्तथा तथा पापप्रवृत्त्यपकर्ष इति क्षीणमोहे मोहक्षयरूपस्याकरणनियमस्यात्यन्तोत्कर्षस्य सिद्धौ पापप्रवृत्तेरत्यन्तापकर्ष इति तत्र पापप्रवृत्त्यत्यन्ताभावः सिद्ध्यतीति सूत्रसन्दर्भेणैव तत्र (उपदेशपदे) स्फुटं प्रतीयते । तथा हि—"पावे अकरणणियमो, पायं परतिन्निवित्तिकरणाओ ॥ णेओ य गंठिभेए, भुज्जो तयकरणरूवो उ ॥६९५॥ [पापे अकरणनियमः प्रायः परतन्निवृत्तिकरणात् । ज्ञेयश्च ग्रन्थिभेदे भूयस्तदकरणरूपस्तु ॥१॥] कियदन्तरे च-"देसविरइगुणठाणे, अकरणणियमस्स एव सब्भावो ॥ सव्वविरइगुणठाणे, विसिट्ठतरओ इमो होइ ॥७२९॥ जं सो पहाणतरओ, आसयभेओ अओ य एसो त्ति ॥ एत्तो च्चिय सेढीए, णेओ सव्वत्थवी एसो ॥७३०॥ एत्तो उ वीयरागो, ण किंचि वि करेइ गरहणिज्जं तु। ता तत्तग्गइखवणाइ-कप्पमो एस विण्णेओ ॥७३१॥" त्ति । [देशविरतिगुणस्थाने अकरणनियमस्य एव सद्भावः । सर्वविरतिगुणस्थाने विशिष्टतरश्चायं भवति ॥ १ ॥ यत्स प्रधानतर आशयभेदोतश्च एप इति । इत एव श्रेण्या ज्ञेयः सर्वत्राप्येषः ॥२॥ इतश्च वीतरागो न किंचिदपि करोति गर्हणीयं तु । ततस्तत्तद्गतिक्षपणादिविकल्प एप विज्ञेयः ॥ ३ ॥ इति] तथा चैतो वचनादप्रतिसेवाया जिनानां सिद्धिः, प्रतिपेवारूपपापस्यैव(वा)प्रवृत्तेः पूर्वगुणस्थानेष्वपकर्षतारतम्याज्जिनानां तदत्यन्तापकर्षसम्भवाद् न तु द्रव्यवधस्य प्रतिषेधः, तस्यापकर्षतारतम्यादर्शनाद्, न हि सम्यग्दृष्टिदेशविरत्यादियोगाज्जायमानायां द्रव्यहिंसायामपकर्षभेदो दृश्यते, येन जिनेषु तदत्यन्ताभावः सिद्ध्येद्, अभ्यन्तरपापप्रतिषेवणे तु प्रतिगुणस्थानं महानेन भेदो दृश्यत इति केवलिनि तदत्यन्ताभावसिद्धिरनाबाधैवेति ॥ ४६ ॥

नन्वेव वीतरागपदेनोपशान्तमोहोऽपि (उपदेशपद) वृत्तिकृता कथं न गृहीतः? तस्याप्यप्रतिसेवित्वाद्-इत्याशङ्कायामाह—

परिणिट्ठियवयणमिणं, जं एसो होइ खीणमोहंमि ॥ उवसमसेढीए पुण, एसो परिणिट्ठिओ ण हवे ॥४७॥

[परिनिष्ठितवचनमिदं यदेषो भवति क्षीणमोहे। उपशमश्रेण्यां पुनः, एष परिनिष्ठितो न भवेद् ॥ ४७ ॥]

'परिणिट्ठियवयणमिणं' त्ति। परिनिष्ठितवचनं सम्पूर्णफलवचनमेतद्, यदेषोऽकरणनियमः, क्षीणमोहे भवतीति। उपशमश्रेण्यां त्वयमकरणनियमः, परिनिष्ठितो न भवेत्, तस्याः प्रतिपातस्य नियमात्, तथाऽकरणनियमवैशिष्ट्यासिद्धेः, परिनिष्ठितविशिष्टाकरणनियमाधिकारादेव क्षीणमोहादिर्वीतरागो वृत्तिकृता विवक्षित इति न कोऽपि दोष इति भावः। परिनिष्ठिताप्रतिषेवित्वफलभागित्वादेव च क्षीणमोहस्य कषायकुशीलादेर्विशेषोऽप्रतिषेवित्वं वा भगवतोऽभिधीयमानमपकृष्यमाणसकलपापाभावोपलक्षणमिति सर्त्तव्यम् ॥४७॥ ननु 'वीतरागो गर्हणीयं पाप न करोतीति' वचनाद् गर्हणीयपापाभावः क्षीणमोहस्य सिद्ध्यति, गर्हणीयं च पापं द्रव्याश्रव एव, तस्य गर्हापरायणजनस्य प्रत्यक्षत्वादिति द्रव्याश्रवाभावस्तत्र सिद्ध एव, अत एव क्षीणमोहस्य कदाचिदनाभोगमात्रजन्यसम्भावनारूढाश्रवच्छायारूपदोषसम्भवेऽपि न क्षतिः, तस्याध्यवसायरूपस्य छद्मस्थज्ञान(ना)गोचरत्वेनागर्हणीयत्वाद्, गर्हणीयद्रव्याश्रवाभावादेव तत्र वीतरागत्वाहानेः-इत्याशङ्कायामाह—

दव्वासवस्स विगमो, गरहाविसयस्स जइ तहिं इट्ठो ॥ ता भावगयं पावं, पडिवन्नं अत्थओ होइ ॥ ४८ ॥

[द्रव्याश्रवस्य विगमो गर्हाविषयस्य यदि तत्रेष्टः ॥ ततो भावगतं पापं प्रतिपन्नमर्थतो भवति ॥ ४८ ॥]

'दव्वासवस्स'त्ति। गर्हाविषयस्य द्रव्याश्रवस्य विगमो यदि, तर्हीति तत्र क्षीणमोहे, इष्टोऽभिमतो भवतः, तर्हि अर्थतोऽर्थापत्त्या, भावगतं पापं तत्र, प्रतिपन्नं भवति, गर्हणीयपापत्वावच्छिन्नं प्रति त्वन्मते मोहनीयकर्मणो हेतुत्वात्, तन्निवृत्तौ गर्हणीयपापनिवृत्तावप्यगर्हणीयभावरूपपापानिवृत्तेः अगर्हणीयपापेऽप्यनाभोगस्य हेतुत्वात् तन्निवृत्तौ केवलिनस्तन्निवृत्तिः। क्षीणमोहस्य त्वाश्रवच्छायारूपमगर्हणीयपापमभ्युपगम्यत एवेति न दोष इति चेत्, न। अभ्यन्तरपापमात्रस्य गर्हापरायणजनाप्रत्यक्षत्वेन त्वन्मतेऽगर्हणीयत्वात् तत्सामान्येनाभोगस्य हेतुत्वात्। मोहाजन्यागर्हणीयपापेऽनाभोगस्यान्यत्र च तत्र मोहस्य हेतुत्वान्न दोष इति चेत्, न, गर्हणीयपापहेतोर्मोहस्यागर्हणीयपापहेतुत्वाभावाद्, अन्यथा तज्जन्यगर्हणीयागर्हणीयोभयस्वभावैकपापप्रसङ्गादिति न किञ्चिदेतत् ॥४८॥

द्रव्याश्रवस्य मोहजन्यत्वमेव व्यक्त्या निराकुर्वन्नाह—

णियणियकारणपभवा, दव्वासवपरिणई ण मोहाओ। इहरा दव्वपरिग्गह–जुओ जिणो मोहवं हुज्जा ॥४९॥

[निजनिजकारणप्रभवा द्रव्यास्रवपरिणतिर्न मोहात्। इतरथा द्रव्यपरिग्रहयुतो जिनो मोहवान् भवेत् ॥ ४९ ॥]

व्याख्या—द्रव्याश्रवाणां प्राणातिपात–मृषावादादीनां, परिणतिः, निजनिजानि कारणानि यानि नोदनाभिघातादियोगव्यापारमृषाभाषावर्गणाप्रयोगादीनि, तत्प्रभवा सती, न मोहान्मोहनीयकर्मणो भवति–मोहजन्या नेत्यर्थः। क्वचित्प्रवृत्त्यर्थं मोहोदयापेक्षायामपि द्रव्याश्रवत्वावच्छिन्ने मोहनीयस्याहेतुत्वाद्, अन्यथाऽऽहारसंज्ञावतां कवलाहारप्रवृत्तौ बुभुक्षारूपमोहोदयापेक्षणात्कवलाहारत्वावच्छिन्नेऽपि मोहस्य हेतुत्वात् केवली कवलभोज्यपि न स्यादिति दिगम्बरसगोत्रत्वापत्तिरायुष्मतः। अथ कवलाहारस्य वेदनीयकर्मप्रभवत्वान्न तत्र मोहनीयस्य हेतुत्वम्, आश्रवस्य तु मोहप्रभवत्वप्रसिद्धेर्द्रव्याश्रवपरिणतिरपि मोहजन्यैव, तत्रोदितं चारित्रमोहनीयं

भावाश्रवहेतुरसंयतानां सम्पद्यते, संयतानां तु प्रमत्तानामपि मत्तानर्त्तिचारित्रमोहनीयं द्रव्याश्रवमेव सम्पादयति, सुमङ्गलसाधोरिवाऽऽभोगेनापि जायमानस्य तस्य ज्ञानाद्यर्थमत्यापवादिकत्वेन तज्जन्यकर्मबन्धाभावात्संयमपरिणामस्यानपायेनाविरतिपरिणामस्याभावात्तदुपपत्तेः। या तु तेषामारम्भिकी क्रिया सा न जीवघातजन्या, किन्तु प्रमत्तयोगजन्या; "सव्वो पमत्तजोगो आरंभोत्ति" [सर्वः प्रमत्तयोगः आरम्भ इति ।] वचनात्; अन्यथाऽऽरम्भिकी क्रिया कस्यचित्प्रमत्तस्य कादाचित्क्येव स्यात्, तत्कारणस्य जीवघातस्य कस्यचित्कादाचित्कत्वात्, अस्ति चाऽऽरम्भिकी क्रिया प्रमत्तगुणस्थानं यावदनारतमेव । किञ्च-यदि जीवघातेनाऽऽरम्भिकी क्रिया भवेत्। तदाऽपरोऽप्रमत्तो दूरे, उपशान्तवीतरागस्याप्यारम्भिकी क्रिया वक्तव्या स्याद्; अस्ति च तस्य सत्यपि जीवघाते ईर्यापथिक्येव क्रियेति न जीवघातात्संयतस्यारम्भिकी क्रिया, किन्तु प्रमत्तयोगादिति स्थितम् । स च प्रमत्तो योगः प्रमादैर्भवति । ते च प्रमादा अष्टधा शास्त्रे प्रोक्ताः-१अज्ञान२संशय३विपर्यय४राग५द्वेष६मतिभ्रंश७योगदुष्प्रणिधान८धर्मानादरभेदात्। ते चाज्ञानवर्जिताः सम्यग्दृष्टेरपि सम्भवन्तोऽतः प्रमत्तसंयतपर्यन्तानामेव भवन्ति न पुनरप्रमत्तानामपि, प्रमादाप्रमादयोः सहानवस्थानात् । तेनेहाष्टासु प्रमादेषु यौ रागद्वेषौ प्रमादत्वेनोपात्तौ तौ योगानां दुष्प्रणिधानजननद्वाराऽऽरम्भिकीक्रियाहेतूग्राह्यौ; तयोश्च तथाभूतयोः फलोपहितयोग्यतया जीवघातं प्रति कारणत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि स्वरूपयोग्यतया तथात्वं सार्वदिकमेव । यद्यपि सामान्यतो रागद्वेषावप्रमत्तसंयतानामपि कदाचित्फलोपहितयोग्यतयापि जीवघातहेतू भवतस्तथापि तेषां तौ न प्रमादौ; यतनाविशिष्टया प्रवृत्त्या सहकृतयोस्तयोरारम्भिकीक्रियाया अहेतुत्वात्, तदप्यनाभोगसहकृतयतनाविशिष्टयो रागद्वेषयोर्योगाना दुष्प्रणिधानजनने सामर्थ्याभावात्, सम्यगीर्यया प्रवृत्त्या तयोस्तथाभूतसामर्थ्यस्यापहरणात्। न चैवं प्रमत्तानां सम्भवति, तेषामयतनया विशिष्टयोस्तयोर्योगानामशुभताजनकत्वेनारम्भिकीक्रियाहेतुत्वाद्,

अत एव प्रमत्ताना विनाऽपवादं जीवघातादिकं प्रमादसहकृतानाभोगजन्यम्। तदुक्तं दशवैकालिकअ० ४वृत्तौ-"अयतनया चरन् प्रमादानाभोगाभ्यां प्राणि(ण)भूतानि हिनस्तीति।" ततः संयताना सर्वेषां द्रव्याश्रव एव भवति। तत्र प्रमत्तसंयतानामपवादपदप्रतिषेवणावस्थायामाभोगेऽपि ज्ञानादिरक्षाभिप्रायेण संयमपरिणामानपायाद् द्रव्यत्वम्, अन्यावस्थायां त्वनाभोगाद्। अप्रमत्तसंयतानां त्वपवादानधिकारिणां घात्यजीवविषयकाभोगप्रमादयोरभाव एवेत्यर्थादनाभोगसहकृतमविशेषितं मोहनीयं कर्मैव जीवघातादिकारणं सम्पन्नम्, तयोरेकतरस्याभावेऽप्यप्रमत्तसंयतानां द्रव्याश्रवो न भवत्येवेति ततः प्रमत्तान्तानां प्रमादाद् अप्रमत्तानां तु मोहनीयानाभोगाभ्या द्रव्याश्रवपरिणतिरिति सिद्धमिति॥ मोहं विना द्रव्याश्रवपरिणतिर्न स्वकारणप्रभवा केवलिनः सम्भवतीति चेत्, तत्राह-**इतरथा** द्रव्याश्रवपरिणतेर्मोहजन्यत्वनियमे, **द्रव्यपरिग्रहेण** वस्त्रपात्ररजोहरणादिलक्षणेन, **युतो जिनो मोहवान् भवेत्**, द्रव्यहिंसाया इव द्रव्यपरिग्रहपरिणतेरपि त्वन्मते मोहजन्यत्वाद्। न च धर्मोपकरणस्य द्रव्यपरिग्रहत्वमशास्त्रीयमिति शङ्कनीयम्। "दव्वओ णाम एगे परिग्गहे णो भावओ १; भावओ णामेगे णो दव्वओ २, एगे दव्वओवि भावओवि ३, एगे णो दव्वओवि णो भावओवि ४। तत्थ अरत्तदुट्ठस्स धम्मोवगरणं दव्वओ परिग्गहो णो भावओ १। मुच्छियस्स तदसंपत्तीए भावओ णो दव्वओ २, एवं चेव संपत्तीए दव्वओवि भावओवि ३ चरिमभंगो पुण सुन्नोत्ति ४॥ [द्रव्यतो नाम एकः परिग्रहः, नो भावतः। भावतो नाम एकः परिग्रहः, नो द्रव्यतः। एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि। एको नो द्रव्यतोऽपि नो भावतोऽपि। १ तत्र अरक्तद्विष्टस्य धर्मोपकरणं द्रव्यतः परिग्रहः, नो भावतः। २ मूर्छितस्य तदसंप्राप्त्या भावतो नो द्रव्यतः। ३ एवं चैव संप्राप्त्या द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि। ४ चरमभङ्गः पुनः शून्य इति।] इति चतुर्भङ्गया दशवैकालिक-पाक्षिकसूत्रवृत्तिचूर्ण्यादौ सुप्रसिद्धत्वात्। न च द्रव्यपरिग्रहयुतस्यापि भगवतो मोहवत्त्वमिष्यते, अतो

न द्रव्याद्रव्यपरिणतिर्मोहजन्येति भावः ॥४९॥ अनयैव प्रतिवन्द्या केवलिनो द्रव्यहिंसाया मत्यां रौद्रध्यानप्रसङ्गं परापादितं परिहरन्नाह—

एएणं दव्ववहे, जिणस्स हिंसाणुबंधसंपत्ती ॥ इय वयणं पक्खित्तं, सारक्खणभावसारिच्छा ॥ ५० ॥

[एतेन द्रव्यवधे जिनस्य हिंसानुबंधसंप्राप्तिः । इति वचनं प्रक्षिप्तं संरक्षणभावसादृश्यात् ॥ ५० ॥]

'एएणं'ति । एतेन द्रव्यपरिग्रहयुतस्यापि भगवतो मोहाभावेन, द्रव्यवधेऽभ्युपगम्यमाने, जिनस्य हिंसानुबन्धसम्प्राप्तिः हिंसानुबन्धिरौद्रध्यानप्रसङ्गः; छद्मस्थसंयताना हि घात्यजीवविषयकानाभोगसहकृतमोहनीयलक्षणसहकारिकारणवशेन कायादिव्यापारा जीवघातहेतवो भवन्ति, त एव च योगा घात्यजीवविषयकाभोगसहकृततथाविधमोहनीयक्षयोपशमादिसहकारिकारणविशिष्टा जीवरक्षाहेतव इत्यनुभवसिद्धम् । केवलिनस्तु योगाः पराभिप्रायेणानाभोगमोहनीयाद्यभावेन परिशेषात् केवलज्ञानसहकृता एव जीवघातहेतवो भवन्ति, केवलज्ञानेन 'एतावन्तो जीवा अमुकक्षेत्रादौ ममावश्यं हन्तव्याः' इति ज्ञात्वैव केवलिना तद्घातात्, तथा च तस्य जीवरक्षादिकं कदापि न भवेत्, केवलज्ञानसहकृततद्योगानां सदा घातकत्वात्, जीवघातस्यैव जीवरक्षायाम(अ)प्यवश्यभावित्वेन परिज्ञानाद्, उभयत्र केवलज्ञानस्य सहकारिकारणत्वकल्पने च केवलिनो योगानां जीवघातजीवरक्षाहेतू शुभाशुभत्वे सर्वकालं युगपद् भवतः ॥ एतच्चानुपपन्नम्, परस्परं प्रतिबन्धकत्वादित्येकतरस्याभ्युपगमे पराभिप्रायेण सर्वकालमशुभत्वमेव सिद्ध्यतीति हन्तव्यचरमजीवहननं यावद्धिंसानुबन्धिरौद्रध्यानप्रसङ्गः, इति—एतद्वचनं परस्य, प्रक्षिप्तम्, संरक्षणभावस्य संरक्षणानुबन्धिरौद्रध्यानस्य, सादृश्याद् द्रव्यपरिग्रहाभ्युपगमे भगवतस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् । शक्यं ह्यत्रापि भवादृशेन वक्तुम्, छद्मस्थसंयतानां परिग्राह्यवस्तुविषयकानाभोगसहकृतमोहनीयलक्षणसहकारिकारणवशेन कायादिव्यापाराः परिग्रहग्रहणहेतवः, अत एव च परिग्राह्यवस्तुविषयकाऽऽभोगसहकृततथावि

धमोहनीयक्षयोपशमादिसहकारिकारणविशिष्टाः परिग्रहत्यागहेतव इत्यनाभोगमोहनीयाभावे केवलियोगानां परिग्रहग्रहणे केवलज्ञानमेव सहकारिकारणमिति यावत्केवलिनो धर्मोपकरणधरणं तावत् संरक्षणानुबन्धिरौद्रध्यानमक्षतमेवेति । द्रव्यपरिग्रहेऽभिलापमूलसंरक्षणीयत्वज्ञानाभावान्न रौद्रध्यानमिति यदि विभाव्यते, तदा द्रव्यहिंसायामपि स्वयोगनिमित्तकहिंसाप्रतियोगिनि जीवे स्वेष्टहिंसाप्रतियोगित्वरूपघात्यत्वज्ञानाभावादेव न तदिति प्रगुणमेव पन्थानं किमिति न वीक्षसे ? ॥५०॥ अथ वस्त्रादिधरणं साधोरुत्सर्गतो नास्त्येव, कारणिकत्वात्; "तिहिं ठाणेहि वत्थं धरेज्जा, हिरिवत्तियं परीसहवत्तियं दुगंछावत्तियं' (स्थानांग) [त्रिभिः स्थानैः वस्त्रं धारयेत्–ह्रीप्रत्ययं परिषहप्रत्ययं जुगुप्साप्रत्ययम् ॥] इत्यागमेऽभिधानात्, किन्त्वापवादिकम् । तद्धरणकारणं च जिनकल्पायोग्याना स्थविरकल्पिकानां सार्वदिकमेव, निरतिशयत्वादिति तद्धरणमपि सार्वदिकं प्राप्तम् । तदुक्त विशेषावश्यके—"विहियं सुए चिय जओ, धरेज्ज तिहि कारणेहिं वत्थं ति ॥ तेणं चिय तदवस्सं, णिरतिसएणं धरेयव्वं ॥ २६०२ ॥ जिणकप्पाजोग्गाणं, ही-कुच्छ-परिसहा जओ वस्सं ॥ ही लज्जत्ति व सो सं-जमो, तयत्थं विसेसेणं ॥ २६०३ ॥"ति [विहितं श्रुत एव यतो धारयेत् त्रिभिः कारणैः वस्त्रमिति । तेनैव तदवश्यं निरतिशयेन धारयितव्यं ॥ जिनकल्पायोग्यानां ह्रीकुत्सापरिषहा यतोऽवश्यम् । ह्री लज्जेति वा स संयमस्तदर्थं विशेषेण ॥ इति ।] भगवतश्च यद्यपि वस्त्रादिधरणं ह्री-कुत्सापरिषहप्रत्ययं न सम्भवति, तस्य तदभावात्, तथापि शीतोष्णादिपरीषहप्रत्ययं तत्, आहारनिमित्तक्षुत्पिपासापरीषहवद्वस्त्रधरणनिमित्तशीतोष्णादिपरिषहसत्ताया अपि भगवत्यविरोधात्, तथाप्रकारेण तथाविधं कर्म क्षपणीयमित्यभिप्रायाच्च न रागादिविकल्पः, तथाविधसाध्वाचारस्थितिपरिपालनाभिप्रायेणैव वा तदिति धर्मार्थमत्युपगृहीतत्वाद् द्रव्यपरिग्रहे भगवतो न दोषः । यज्जातीयद्रव्याश्रवे संयतानामनाभोगेनैव प्रवृत्तिस्तज्जातीयद्रव्याश्रवस्यैव मोहजन्यत्वाभ्युपगमादनर्थदण्डभूतद्रव्य-

हिंसादेरेव तथात्वाद्, धर्मोपकरणरूपे द्रव्याश्रवे तु संयतानां नानाभोगेनैव प्रवृत्तिः, किन्तु धर्माधर्मार्थमत्याऽपरिग्रहत्वाभोगेनैवेति सकारणलब्धजन्मनस्तस्य भगवत्यविरोधः-इत्याशङ्कायामाह—

अववाओवगमे पुण, इत्थं नूणं पइण्णहाणी ते ॥ पावंति असुहजोगा, एवं च जिणस्स तुज्झ मए ॥५१॥

[अपवादोपगमे पुनरित्थं नूनं प्रतिज्ञाहानिस्ते । प्राप्नुवन्ति अशुभयोगा एवं च जिनस्य तव मते ॥ ५१ ॥]

'अववाओवगमे पुण'त्ति, अत्र भगवतो द्रव्यपरिग्रहे, अपवादोपगमेऽपवादाङ्गीकारे, पुनस्ते तव, प्रतिज्ञाहानिः, अपवादप्रतिषेवणं च संयतेष्वपि प्रमत्तस्यैव भवतीति तव प्रतिज्ञेति। च पुनः, एव धर्मोपकरणमज्ञानेनापवादतो द्रव्याश्रवाभ्युपगमे, तव मते जिनस्याशुभयोगाः प्राप्नुवन्ति । इदं हि तव मतम्—योगानामशुभत्वं तावन्न जीवघातहेतुत्वमात्रेण, उपशान्तगुणस्थानं यावदप्रमत्तसंयतानां कदाचित्सद्भूतजीवघातसम्भवेन भग०शत०१उ०१ "तत्थ णं जे ते अपमत्तसंजया ते णं णो आयारंभा, णो परारंभा, णो तदुभयारंभा, अणारंभा" [तत्र ये ते अप्रमत्तसंयतास्ते नो आत्मारम्भा नो परारम्भा नो तदुभयारम्भाः अनारम्भाः ॥] इत्यागमप्रतिपादितानारम्भकत्वानुपपत्तिप्रसक्तेरशुभयोगानामारम्भकत्वव्यवस्थितेः, किन्तु फलोपहितयोग्यतया घात्यजीवविषयकाभोगपूर्वकजीवघातहेतुत्वेन; अत्र फलोपहितयोग्यतयेति पदं केवलियोगानामशुभत्वनिवारणार्थमेव, तेषां स्वरूपयोग्यतयैव यथोक्तजीवघातहेतुत्वाद्, न पुनः फलोपहितयोग्यतयापि, कारणानामभावात् । तथाऽशुभत्व प्रमत्तयोगानामेव. तदभिव्यञ्जकं तु प्रमत्तयोगानां फलवच्छुभाशुभत्वाभ्यां द्वैविध्याभिधायकमागमवचनमेव। तथा हि-"तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते णं सुहं जोगं पडुच्च णो आयारंभा, जाव अणारंभा। असुहं जोगं पडुच्च आयारंभावि जाव णो अणारंभत्ति।" [तत्र ये ते प्रमत्तसंयतास्ते शुभं योगं प्रतीत्य नो आत्मारम्भा

यावदनारम्भाः । अशुभं योगं प्रतीत्य आत्मारम्भा अपि यावद् नो अनारम्भा इति ॥] अत्रापि प्रमत्तसंयतानां सामान्यतः प्रमत्ततासिद्ध्यर्थं तदीययोगानां स्वरूपयोग्यतयाऽऽभोगपूर्वकजीवघातहेतुत्वं वक्तव्यम्, कादाचित्काशुभयोगजन्यारम्भकत्वसिद्ध्यर्थं चाभोगोऽपि घात्यजीवविषयत्वेन व्यक्तो वक्तव्यः, तद्वत एव कस्यचित्प्रमत्तस्य सुमङ्गलसाधोरिवापवादावस्था प्राप्तस्यात्माद्यारम्भकत्वात्, संयतत्व च तस्य तदानीमपवादपदोपाधिकविरतिपरिणामस्यानपायाद्, न चैवमप्रमत्तसंयतस्य भवति, तस्यापवादपदाधिकारित्वाभावेनाभोगपूर्वकजीवघातहेतूना योगानामभावात् । यस्त्वपवादप्रतिषेवणारहित्यावस्थायामप्यप्रमत्तानामिव सद्भूतजीवघातः स चानाभोगजन्य एव, तदानीमनाभोगस्यापि तस्य विद्यमानत्वाद्, अत एवाप्रमत्तानामिव योगाना शुभत्वेन नात्माद्यारम्भकत्वमिति । फलोपहितयोग्यतास्वरूपयोग्यतयोश्चायं भेदः—'यस्य यदन्तर्गतत्वेन विवक्षितकार्यं प्रति कारणता तस्य तदन्तर्गतत्वेनैव फलवत्तया फलोपहितयोग्यता', 'अन्यथा तु स्वरूपयोग्यता,' सत्यपि तस्य कारणत्वे तदितरसकलकारणराहित्येन विवक्षितकार्याजनकत्वात्, पर स्वरूप योग्यता एकस्मिन्नपि कारणे सजातीयविजातीयानेकशुभाशुभकार्याणां नानाप्रकारा आधाराधेयभावसम्बन्धेन सह जाताः कारणसमानकालीनाः, फलोपहितयोग्यतास्तु स्वरूपयोग्यताजनिता अपि कादाचित्का एव, तदितरसकलकारणसाहित्यस्य कादाचित्कत्वात्, यच्च कादाचित्क तत्केपाञ्चित्कारणाना सम्भवन्त्योऽपि कादाचित्क्य एव मन्तव्याः; अत एव केवलिना योगा अशुभकार्यमात्रं प्रति सर्वं कालं स्वरूपयोग्यताभाज एव भवन्ति, न पुनः कदाचिदपि फलोपहितयोग्यताभाजोऽपि, अशुभकार्यमात्रस्य कारणानां ज्ञानावरणोदयादिघातिकर्मणामभावेन तदितरसकलकारणसाहित्याभावात् । शुभकार्याणां तु यथासम्भवं कदाचित्फलोपहितयोग्यतापि स्यात्, तथैव तदितरसकलकारणसाहित्यस्य सम्भवादिति न कश्चिद्विरोधः । इत्थं चापवाददशाया प्रमत्तसंयतानां योगानां फलोपहितयोग्यतया

ऽऽभोगपूर्वकजीवघातहेतुत्वेन यथाऽशुभत्वं तथा केवलिन आपवादिकस्य धर्मार्थमन्या धर्मोपकरणस्य धरणेऽपि त्वन्मतनीत्याऽऽभोगपूर्वकपरिग्रहग्रहणस्य फलोपहितयोग्यतया हेतूनां योगानामशुभत्वापत्तिः स्फुटैवेति । अथ यद्यपवादेन धर्मोपकरणग्रहणं भगवतोऽभ्युपगम्येत तदा स्यादयं दोषः, अपवादं च केवलिनः कदाऽपि नाभ्युपगच्छामः, तस्य प्रतिषिद्धप्रतिषेवणात्मकत्वेन स्वरूपतः सावद्यत्वात्; निरवद्यत्वं चास्य पुष्टालम्बनप्रतिषेधितस्य रोगविशेषविनाशकस्य परिकर्मितवत्सनागस्येव प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना सोपाधिकमेव । यापि 'गंगाए णाविओ णंदो" ['गंगाया नाविको नन्दः' इत्यादि धर्मरुचिकथानके द्रष्टव्यम् ।] इत्यादिव्यतिकरोपलक्षितस्य धर्मरुचेरनगारस्य नाविकादिव्यापादनप्रवृत्तिः सापि परमार्थपर्यालोचनाया पुष्टालम्बनेन, तत्कृतोपसर्गस्य ज्ञानादिहानिहेतुत्वाद्, ज्ञानादिहानिजन्यपरलोकानाराधनाभयेन प्रतिषिद्धप्रवृत्तेः पुष्टालम्बनमूलत्वात्; केवलं शक्त्यभावमात्राभ्यां पुष्टालम्बनतदितरापवादयोः प्रशस्ताप्रशस्तसञ्ज्वलनकषायोदयकृतो विशेषो द्रष्टव्यः; ज्ञानादिहानिभयं च केवलिनो न भवतीति तस्य नापवादवार्त्तापि । यच्च धर्मोपकरणधरणं तद्व्यवहारनयप्रामाण्यार्थम्, व्यवहारनयस्यापि भगवतः प्रमाणीकर्त्तव्यत्वाद् । इत्थं च श्रुतोदितरूपेण धर्मोपकरणधरणे न केवलिलक्षणहानिः, 'इदं सावद्यम्' इति प्रज्ञाप्य तत्प्रतिषेवणाद्, अत एव-"ववहारो वि हु बलवं, जं वंदइ केवली वि छउमत्थं॥ आहाकम्मं भुंजइ, सुअववहार पमाणंतो" ॥२२९॥ (पुष्पमाला) तद्वृत्तिः-"न केवलं निश्चयोऽपि तु स्वविषये व्यवहारोऽपि बलवान् । यच्चसारकारणात् समुत्पन्नकेवलज्ञानोऽपि शिष्यो यद्यपि निश्चयतो विनयसाध्यस्य कार्यस्य सिद्धत्वात्केवली न कस्यचिद्वन्दनादिविनयं करोति, तथापि व्यवहारनयमनुवर्त्तमानः पूर्वविहितविनयो गुरुं वन्दते-आसनदानादिकं च विनयं तस्य तथैव करोति, यावदद्यापि न ज्ञायते, ज्ञाते पुनर्गुरुरपि निवारयत्येवेति भावः । अपर च—अतीवगूढाचारेण केनचिद् गृहिणा विहितमाधाकर्म तच्च श्रुतोक्त

परीक्षया परीक्षमाणेनाप्यशठेन छद्मस्थसाधुनाऽविज्ञातं गृहीत्वा केवलिनिमित्तमानीतं यथावस्थितं च केवलिनस्तज्ज्ञानतो निश्चयनयमतेनाभोक्तव्यमपि श्रुतरूपं व्यवहारनयं प्रमाणीकुर्वन्नसौ भुङ्क्त एव, अन्यथा श्रुतमप्रमाणं कृतं स्यात्, एतच्च किल न कर्त्तव्यम्, व्यवहारस्य सर्वस्य प्रायः श्रुतेनैव प्रवर्तमानत्वात्, तस्माद् व्यवहारनयोऽपि बलवानेव केवलिना समर्थितत्वाद् ।" इति पुष्पमालासूत्रवृत्त्यादिवचनात् केवलिनोऽनेषणीयाहारस्य प्रवृत्तिसिद्धावपि नापवादसिद्धिः, ज्ञानादिहानिभयेन तत्राऽप्रवृत्तेः, श्रुतव्यवहारशुद्ध्यर्थमेव तत्र प्रवृत्तेः, तत्र 'इद सावद्यम्' इति भणितेरभावान्न वचनविरोधः । 'यदि च तदनेषणीयं कथञ्चित् कदाचिदपि केवलिना भुक्तम्' इति छद्मस्थज्ञानगोचरीभवेत् तर्हि केवली न भुङ्क्त एव केवल्यपेक्षया श्रुतव्यवहारशुद्धेरेवाभावाद्, 'अशुद्धमिति ज्ञात्वापि केवलिना भुक्तम्' इति छद्मस्थेन ज्ञातत्वात् । अत एव रक्तातिसारोपशमनार्थं रेवतीकृतकूष्माण्डपाको भगवता श्रीमहावीरेण प्रतिषिद्धः, कदाचित्साधुना श्रुतव्यवहारशुद्ध्यानीतोऽपि रेवती तु जानात्येव—यद् भगवता श्रीमहावीरेण ज्ञात्वैव भुक्तं इति छद्मस्थज्ञानगोचरत्वेन श्रुतव्यवहारभङ्ग एवेति । एतेन केवलिनोऽभिप्रायाभावाज्जीवघातादौ सत्यपि न दोष इति पराशङ्कापि परास्ता, रेवतीकृतकूष्माण्डपाकपरित्यागानुपपत्तिप्रसक्तेः । किञ्च—स्वतन्त्रक्रियावतो ज्ञानपूर्वकप्रवृत्तावभिप्रायाभावं वक्तुं कः समर्थः ? । न च श्रुतव्यवहारशुद्धमनेषणीयं भुञ्जानः केवली सावद्यप्रतिषेधि(वि)ता भविष्यतीति शङ्कनीयम्, सर्वेषामपि व्यवहाराणां जिनाज्ञारूपत्वेन श्रुतव्यवहारस्य सावद्यत्वाभावात्, तच्छुद्ध्यानीतस्य निरवद्यत्वाद् । अयं भावः-यथाऽप्रमत्तसंयतो जीववधेऽप्यवधकः, 'जवहगो सो उ' गा० ७५०'त्ति [अवधकः स तु ।] ओघनिर्युक्तिवचनात्, अनाभोगे सत्यप्यप्रमत्ततायास्तथामाहात्म्यात्, यथा चोपशान्तमोहवीतरागो मोहसत्तामात्रहेतुके सत्यपि जीवघाते केवलिवद्वीतरागो नोत्सूत्रचारी च, मोहनीयानुदयस्य तथामाहात्म्यात्, तथा श्रुतव्य-

वहारशुद्धेर्माहात्म्यादनेषणीयमपीतरैषणीयमेवेति कुतः सावद्यप्रतिषेवित्वगन्धोऽपीति चेत्, तदिदमखिलं गूढशब्दमात्रेण मुग्धप्रतारणम्। यतो यदि भगवत्स्वीकृतद्रव्यपरिग्रहानेषणीयाहारयोः स्वरूपतः सावद्यत्वेऽपि श्रुतव्यवहारशुद्धस्योपादेयत्वधिया दोषानावहत्वं तदाऽपवादस्थानीयत्वमेव तयोः प्राप्तम्, औपाधिकशुद्धताशालित्वात्। न चापवादः स्थविरकल्पनियत इति कल्पातीतस्य भगवतस्तदभावः, एवं सत्युत्सर्गस्याप्यभावापत्तेः, तस्यापि जिनकल्पस्थविरकल्पनियतत्वात्। यदि चोत्सर्गविशेष एव कल्पनियत इति तत्सामान्यस्य भगवति नासम्भवस्तदाऽपवादविशेषस्यैव तथात्वे तत्सामान्यस्यापि भगवत्यनपायत्वमेव। युक्तं चैतत्, तीर्थकृतोऽप्यतिशयानुपजीवनरूपस्वजीतकल्पादन्यत्र साधुसामान्यधर्मताप्रतिपादनात्। तदुक्तं बृहत्कल्पभाष्यवृत्त्योः उद्देश० १—"अत्र परः प्राह- यदि यद्यत्प्राचीनगुरुभिराचीर्णं तत्तत्पाश्चात्यैरप्याचरितव्यम्, तर्हि तीर्थकरैः प्राकारत्रयच्छत्रत्रयादिका प्राभृतिका तेषामेवार्थाय सुरैर्विरचिता यथा समुपजीविता, तथा वयमप्यस्मन्निमित्तकृतं किं नोपजीवामः?। सूरिराह-कामं खलु अणुगुरुणो धम्मा तह वि हु ण सव्वसाहम्मा॥ गुरुणो जं तु अइसए, पाहुडिआई समुवजीवे ॥९९६॥ काममनुमतमस्माकं, यदनुगुरवो धर्मास्तथापि न सर्वसाधर्म्यात् चिन्त्यते, किन्तु देशसाधर्म्यादेव। तथाहि-गुरवस्तीर्थकराः, यत्तु यत्पुनः, अतिशयान् प्राभृतिकादीन्, प्राभृतिका सुरेन्द्रादिकृता समवसरणरचना तदादीन्, आदिशब्दादवस्थितनखरोमाधोमुखकण्टकादिसुरकृतातिशयपरिग्रहः; समुपजीवन्ति स तीर्थकृज्जीतकल्प इति कृत्वा न तत्रानुधर्मता चिन्तनीया, यत्र पुनस्तीर्थकृतामितरेषां च साधूनां सामान्यधर्मत्वं तत्रैवानुधर्मताचिन्त्यते॥ सा चेयमाचीर्णेति दर्श्यते ॥ सगड-दह-समभोमे, अविअ विसेसेण विरहिअतरागं ॥ तहवि खलु अणाइन्नं, एसऽणुधम्मो पवयणस्स ॥९९७॥ यदा भगवान् श्रीमन्महावीरस्वामी राजगृहनगरादुदायननरेन्द्रप्रव्राजनार्थं सिन्धुसौवीरदेशावतंसं वीतभयं नगरं प्रस्थितस्तदा

किलापान्तराले बहवः साधवः क्षुधार्त्तास्तृपार्दिताः संज्ञाबाधिताश्च बभूवुः। यत्र च भगवानावासितस्तत्र तिलभृतानि शकटानि, पानीयपूर्णश्च ह्रदः, समभौमं च गर्त्ताबिलादिवर्जितं स्थण्डिलमभवद्, अपि च विशेषेण तत्तिलोदकस्थण्डिलजातं विरहिततरमतिशयेनागन्तुकैस्तदुत्थैश्च जीवैर्वर्जितमित्यर्थः। तथापि खलु भगवताऽनाचीर्णं नानुज्ञातम्, एषोऽनुधर्मः प्रवचनस्य, सर्वैरपि प्रवचनमध्यमध्यासीनैरशस्त्रोपहतपरिहारलक्षण एव धर्मोऽनुगन्तव्य इति भावः। अथैतदेव विवृणोति-"व(तु)क्कंतजोणि-थंडिल-अतसा, दिन्ना ठिई अवि छुहाइ॥ तहवि ण गेण्हेसुं जिणो, मा हु पसंगो असत्थहए॥९९८॥" यत्र भगवानावासितस्तत्र बहूनि तिलशकटान्यावामितान्यासन्। तेषु च तिला व्युत्क्रान्तयोनिका अशस्त्रोपहता अप्यायुःक्षयेणाचित्तीभूताः। ते च यद्यस्थण्डिले स्थिता भवेयुस्ततो न कल्पेरन्, इत्यत आह स्थण्डिले स्थिताः, एवंविधा अपि त्रसैः संसक्ता भविष्यन्ति, अत आह-अत्रसाः-तदुद्भवागन्तुकत्रसविरहिताः, तिलशकटस्वामिभिर्गृहस्थैश्च दत्ताः, एतेनादत्तादानदोषोऽपि तेषु नास्तीत्युक्तं भवति, अपि च ते साधवः, क्षुधा पीडिता आयुषः स्थितिक्षयमकार्षुः, तथापि श्रीजिनो वर्द्धमानस्वामी नाऽग्रहीत्, मा भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः, 'तीर्थङ्करेणापि गृहीतम्' इति मदीयमालम्बनं कृत्वा मत्सन्तानवर्त्तिनः शिष्या अशस्त्रोपहतं मा ग्राहिषुरिति भावः। 'व्यवहारनयबलीयस्त्वख्यापनाय भगवता न गृहीता' इति हृदयम्॥ युक्तियुक्तं चैतत् प्रमाणस्थपुरुषाणाम्। यत उक्तम्-"प्रमाणानि प्रमाणस्थैः, रक्षणीयानि यत्नतः॥ विषीदन्ति प्रमाणानि, प्रमाणस्थैर्विसंस्थुलैः॥१॥ इत्यादि॥" अत्र हि स्वजीतकल्पातिरिक्तस्थले तीर्थकृतः साधुसमानधर्मता प्रोक्ता, सा चाशस्त्रोपहतसचित्तवस्तुनोऽग्रहणेनोपपादिता, तच्चातिप्रसङ्गनिराकरणाभिप्रायेण, स च श्रुताप्रामाण्यबुद्ध्यैव स्यात् न तु भगवता प्रतिषेवितमिति छद्मस्थबुद्धिमात्रेण, छद्मस्थैरुत्सर्गतः प्रतिषिद्धत्वेन ज्ञायमानाया अपि भगवतो भिक्षाहिण्डन-भेषजग्रहणादिप्रवृत्तेः श्रवणाद्, अपवादतोऽप्र-

तिषिद्धत्वज्ञानात्, तद्दर्शनेन छद्मस्थानामतिप्रसङ्ग इत्युक्तौ च सिद्धाऽनायासेनैव भगवतोऽपवादप्रवृत्तिः, तस्मादुत्सर्गनिम्नोत्थानतादर्शित-परस्परप्रतियोगिकप्रकर्षापकर्षशालिगुणोपहितक्रियारूपोत्सर्गापवादाभावेऽपि साधुसमानधर्मतावचनाद् भगवति सूत्रोदितक्रियाविशेषरू-पयोस्तयोर्यथोचिततया सम्भवोऽविरुद्ध इति युक्तं पश्यामः, तथा च धर्मोपकरणानेषणीयादिविषयप्रवृत्तेर्भगवतः स्वरूपत आपवादिक-त्वेन तव मते आभोगेन प्रतिषिद्धविषयप्रवृत्त्युपधानस्य योगाशुभतानियामकत्वात्, तथा भगवद्योगानामशुभत्वापत्तिर्वज्रलेपायिता । यदि च यत्तु श्रुतव्यवहारशुद्धस्याप्यनेषणीयत्वेनाभिधानं तत् श्रुतव्यवहारस्यामभिकृत्यैवावसातव्यम्, 'यथाऽयं साधुरक्षको राजा' इत्यत्र राजत्वमगृहीतश्रामण्यावस्थामपेक्ष्यैवेति व्याख्यानाश्रयणाद्, भगवत्स्वीकृतानां श्रुतव्यवहारसिद्धाना प्रतिषिद्धत्वाभिमतविषयप्रवृ-त्तीना वस्तुतो न प्रतिषिद्धविषयत्वम्, न वा ताभिः 'इदं सावद्यम्' इति प्रज्ञाप्य प्रतिषेवितम्, इदमित्यनेन प्रत्यक्षव्यक्तिग्रहणात् तस्याश्चानवद्यत्वादिति विभाव्यते, तदा 'अनेषणीयं न ग्राह्यम्' इत्यादिप्रतिषेधवाक्ये श्रुतव्यवहारशुद्धानेषणीयातिरिक्तानेषणीयादेर्निषे-ध्यत्वं वक्तव्यम्; तथा चापवादिकमन्यदपि कृत्यं श्रुतव्यवहारसिद्धमित्यप्रतिषिद्धमेवेत्याभोगेन प्रतिषिद्धविषयप्रवृत्तिः साधूनां क्वापि न स्यादिति त्वदपेक्षया यतीनामशुभयोगत्वमुच्छिद्येतैवेति प्रमत्तानां शुभाशुभयोगत्वेन द्वैविध्यप्रतिपादकागमविरोधः, तस्मादाभोगेन जीवघातोपहितत्वं न योगानामशुभत्वम्, अशुभयोगजन्यजीवघातो जीवारम्भकत्वव्यवहारविषयः, अशुभयोगारम्भकपदयोः पर्यायत्व-प्रसङ्गाद्, एकेन्द्रियादिष्वारम्भकत्वव्यवहाराभावप्रसङ्गाच्च ॥ नहि ते आभोगेन जीवं घ्नन्तीति । अस्ति च तेषामारम्भकत्वव्यवहारः । तदुक्तं भगवतीवृत्तौ—'तत्थ णं जे ते असंजया ते अविरइं पडुच्च आयारंभा वि जाव णो अणारंभा ॥" [तत्र ये ते असंयतास्ते अविरतिं प्रतीत्य आत्मारम्भा अपि यावद् नो अनारम्भाः ।] इत्यस्य व्याख्याने "इहायं भावः—यद्यप्यसंयतानां सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां

नात्मारम्भकादित्वं साक्षादस्ति, तथाप्यविरति प्रतीत्य तदस्ति तेषाम्, न हि ते ततो निवृत्ताः अतोऽसंयतानामविरतिस्तत्र कारणमिति। निवृत्तानां तु कथञ्चिदात्माद्यारम्भकत्वेऽप्यनारम्भकत्वम्। यदाह—'जा जयमाणस्स' इत्यादि; किन्तु सूत्रोदितेतिकर्त्तव्यतोपयोगपूर्वकव्यापारत्वं च शुभयोगत्वम्, तदुक्तं भगवतीवृत्तौ—"शुभयोग उपयुक्ततया प्रत्युपेक्षणादिकरणम्, अशुभयोगस्तु तदेवानुपयुक्ततयेति। तत्र शुभयोगः संयतानां षष्ठेऽपि गुणस्थाने संयमस्वभावादेव, अशुभयोगश्च प्रमादोपाधिकः। तदुक्तं तत्रैव—"प्रमत्तसंयतस्य हि शुभोऽशुभश्च योगः स्यात्, संयतत्वात्प्रमादपरत्वाच्चेति" तत्र प्रमत्तसंयतानामनुपयोगेन प्रत्युपेक्षणादिकरणादशुभयोगदशायामारम्भिकीक्रियाहेतुव्यापारवत्त्वेन सामान्यत आरम्भकत्वादात्मारम्भकादित्वम्, शुभयोगदशायां तु सम्यक्क्रियोपयोगस्यारम्भिकीक्रियाप्रतिबन्धकत्वात्, तदुपहितव्यापाराभावेनानारम्भकत्वम्, प्रमत्तगुणस्थाने सर्वदाऽऽरम्भिकीक्रियाभ्युपगमस्त्वयुक्तः, अनियमेन तत्र तत्प्रतिपादनात्। तदुक्तं प्रज्ञापनाया २२ क्रियापदे–' आरभिया णं भंते! किरिया कस्स कज्जइ? गोयमा! अण्णयरस्सावि पमत्तसंजयस्स ॥ " इति। [आरम्भिकी भदन्त! क्रिया कस्य क्रियते? गौतम! अन्यतरस्यापि प्रमत्तसंयतस्य।] एतद्वृत्तिर्यथा "आरभिया णं इत्यादि अण्णयरस्सावित्ति। अत्रापिशब्दो भिन्नक्रमः, प्रमत्तसंयतस्याप्यन्यतरस्यैकतरस्य कस्यचित्प्रमादे सति कायदुष्प्रयोगभावतः पृथिव्यादेरुपमर्दसम्भवाद्, अपिशब्दोऽन्येषामधस्तनगुणस्थानवर्त्तिना नियमप्रदर्शनार्थः। प्रमत्तसंयतस्याप्यारम्भिकी क्रिया भवति किं पुनः शेषाणां देशविरतप्रभृतीनामिति"॥ अस्या व्यवस्थायां सिद्धायां जानतोऽपि भगवतो धर्मोपकरणधरणेऽवर्जनीयस्य द्रव्यपरिग्रहस्येव गमनागमनादिधर्म्यव्यापारेऽवर्जनीयद्रव्यहिंसायामप्यप्रमत्तत्वादेव नाशुभयोगत्वमिति प्रतिपत्तव्यं। न च भगवतो धर्मोपकरणसत्त्वेऽपि मूर्च्छाऽभावेन परिग्रहत्वत्यागान्न परिग्रहदोषः, द्रव्यहिंसाया तु सत्यां प्राणवियोगरूपतल्लक्षणसत्त्वात्तद्दोषः

स्याद्देवेति व्यामूढधिया शङ्कनीयम् ; 'प्रमादयोगेन प्राणव्यपरोपणं हिंसा'–इति तत्त्वार्थे तल्लक्षणकरणाद् भगवति तदभावादेव, अत एव 'हिंसा नियतो दोषः, परिग्रहस्त्वनियतो दोषः' इत्यप्यपास्तम्, मैथुनादन्यत्राश्रवेऽनियतदोषत्वप्रतिपादनात् । तदुक्तं तत्त्वार्थवृत्तौ–अ०७सू०११ 'प्रमत्तयोगादसदभिधानमनृतम्, प्रमत्तयोगाददत्तादानं स्तेयम्, प्रमत्तयोगान्मूर्च्छा परिग्रहः, मैथुने प्रमत्तयोगादिति पदं न, यत्राप्रमत्तस्य तथाभावे सति कर्मबन्धाभावस्तत्र प्रमत्तयोगग्रहणमर्थवद् भवति, प्रमत्तस्य कर्मबन्धो नाप्रमत्तस्येति, प्राणातिपातवत्, मैथुने तु रागाद्वेषान्वयाविच्छेदात् सर्वावस्थासु मैथुनासेविनः कर्मबन्ध इत्यादि ।" एतेन द्रव्यहिंसया भगवतः प्राणातिपातकत्वप्रसङ्गोऽपि निरस्तः, द्रव्यपरिग्रहेण परिग्रहित्वप्रसङ्गतुल्ययोगक्षेमत्वात् । किञ्च वीतरागाणामप्रमत्तानां च जीवविराधनायां सत्यामप्यारम्भिकीप्राणातिपातिकीक्रियाऽभाव एव भणितः । तदुक्तं भगवत्यां शतक १ उद्देश २ "तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पण्णत्ता । तंजहा–सरागसंजया य वीयरागसंजयाय । तत्थणं जे ते वीयरागसंजया ते णं अकिरिया । तत्थ णं जे ते सरागसंजया, ते दुविहा पण्णत्ता । तंजहा-पमत्तसंजया य अपमत्तसंजया य । तत्थ णं जे ते अपमत्तसंजया तेसि णं एगा मायावत्तिया किरिया कज्जइ, तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया तेसि णं दो किरियाओ कज्जंति । तंजहा-आरंभिया य मायावत्तिआ य इत्यादि ॥" [तत्र च ये ते संयतास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—सरागसंयताश्च वीतरागसंयताश्च । तत्र च ये ते वीतरागसंयतास्ते चाक्रियाः । तत्र ये ते सरागसंयतास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा–प्रमत्तसंयताश्च अप्रमत्तसंयताश्च । तत्र ये ते अप्रमत्तसंयतास्तेषामेका मायाप्रत्ययिकी क्रिया क्रियते । तत्र ये ते प्रमत्तसंयतास्तेषां द्वे क्रिये क्रियेते, तद्यथा आरम्भिकी मायाप्रत्ययिकी च ॥] एतद्वृत्तिर्यथा "सरागसंजय"त्ति अक्षीणानुपशान्तकषायाः, 'वीयरागसंजय'त्ति उपशान्तकषायाः क्षीणकषायाश्च । 'अकिरिय'त्ति वीतरागत्वेनारम्भादीनामभावादक्रियाः । 'एगा मायावत्तिय'त्ति

अप्रमत्तसंयतानामेकैव मायाप्रत्यया क्रिया 'कज्जइ'त्ति क्रियते भवति; कदाचिदुड्डाहरक्षणप्रवृत्तानामक्षीणकषायत्वादिति । 'आरम्भिय'त्ति प्रमत्तसंयताना च 'सर्व. प्रमत्तयोग आरम्भ इति कृत्वाऽऽरम्भिकी स्यात्. अक्षीणकषायत्वाच्च मायाप्रत्ययेति ।" तथा तत्रैवाष्टमशते षष्ठोद्देशके प्रोक्तं-"जीवे णं भंते! ओरालियसरीराओ कइकिरिए? गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंच किरिए, सिय अकिरिएत्ति॥" एतद्वृत्तिर्यथा—"परशरीरमौदारिकाद्याश्रित्य जीवस्य नारकादेश्च क्रिया अभिधातुमाह-'जीवेणमि'त्यादि । 'ओरालियसरीराओ'त्ति औदारिकशरीरात्परकीयमौदारिकशरीरमाश्रित्य कतिक्रियो जीव इति प्रश्नः । उत्तर तु 'सिय तिकिरिए'त्ति यदैकजीवोऽन्यस्य पृथिव्यादेः सम्बन्ध्यौदारिकशरीरमाश्रित्य कायं व्यापारयति तदा त्रिक्रियः, कायिक्यधिकरणिकीप्राद्वेषिकीनां भावाद्, एतासां च परस्परेणाविनाभूतत्वात् स्यात् 'त्रिक्रियः' इत्युक्तम्, न पुनः स्याद् 'एकक्रियः' स्य द्व 'द्विक्रिय' इति । अविनाभावश्च तासामेवमधिकृतक्रिया ह्यवीतरागस्यैव नेतरस्य, तथाविधकर्मबन्धहेतुत्वाद्, अवीतरागकायस्य चाधिकरणत्वेन प्रद्वेषान्वितत्वेन च कायक्रियासद्भावे इतरयोरवश्यंभावः, इतरभावे च कायिकीसद्भावः । उक्तं च प्रज्ञापनायामिहार्थे-"जस्स णं जीवस्स काइआ किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणिया किरिया णियमा कज्जइ, जस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ तस्स वि काइया किरिया णियमा कज्जइ"इत्यादि । [यस्य जीवस्य कायिकी क्रिया क्रियते, तस्याधिकरणिकी नियमात्क्रियते । यस्याधिकरणिकी क्रिया क्रियते तस्यापि कायिकी क्रिया नियमात्क्रियते ।] तथाऽऽद्यक्रियात्रयसद्भावे उत्तरक्रियाद्वयं भजनया भवति । यदाह—' जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ, तस्स पारियावणिया सिय कज्जइ, सिय णो कज्जइ" इत्यादि । [यस्य जीवस्य कायिकी क्रिया क्रियते तस्य पारितापनिकी स्यात् क्रियते, स्यात् नो क्रियते ।] ततश्च यदा कायव्यापारद्वारेण द्यक्रियात्रय एव वर्त्तते, न तु परितापयति न चातिपातयति, तदा

त्रिक्रिय एवेति, अतोऽपि स्यात् 'त्रिक्रिय' इत्युक्तम्। यदा तु परितापयति तदा चतुष्क्रियः, आद्यक्रियात्रयस्य तत्रावश्यंभावात्। यदा त्वतिपातयति तदा पञ्चक्रियः, आद्यक्रियाचतुष्कस्य तत्रावश्यंभावात्। उक्तं च–"जस्स पारिताावणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया णियमा कज्जइ" इत्यादि। [यस्य पारितापनिकी क्रिया क्रियते तस्य कायिकी नियमात् क्रियते।] अत एवाह–"सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए" त्ति तथा 'सियअकिरिए' त्ति वीतरागावस्थामाश्रित्य, तस्या(स्या)हि वीतरागत्वादेव न सन्त्यभिहितक्रिया इति।" एतद्वचनानुसारेण ह्येतत्प्रतीयते-यदारम्भिकी क्रिया प्रमादपर्यन्तमेव, न तु जीवविराधनाया सत्यामप्युपरिष्टादपि। प्राणातिपातक्रिया च प्रद्वेषेण प्राणातिपातकाल एव, न च पृथिव्यादीना तदसम्भवः, तत्कृताकुशलपरिणामानिवृत्त्यैव तत्प्रतिपादनादिति। साऽप्यप्रमत्तस्य न सम्भवति। न चावीतरागकायस्याधिकरणत्वेन प्रद्वेषान्वितत्वेन च कायिकीक्रियासद्भावे त्रिक्रियत्वस्य नियमप्रतिपादनाद् एवंभूतस्याप्रमत्तस्यापि प्राणातिपातव्यापारकाले प्राणातिपातिकीक्रियासम्भव इतिवाच्यम्, कायिकीक्रियाया अपि प्राणातिपातजनकप्रद्वेषविशिष्टाया एव ग्रहणाद्, इत्थमेवाद्यक्रियात्रयनियमसम्भवात्। तदुक्तं 'प्रज्ञापनावृत्तौ'–"इह कायिकी क्रिया औदारिकादिका(कि)याश्रिता प्राणातिपातनिर्वर्तनसमर्था प्रतिविशिष्टा परिगृह्यते, तथा(न या)काचन कार्मणकायाश्रिता वा, तत आद्यानां तिसृणां क्रियाणां परस्पर नियम्यनियामकभावः। कथमिति चेत्; उच्यते–कायोऽधिकरणमपि भवतीत्युक्तं प्राक्, ततः कायस्याधिकरणत्वात् कायिक्यां सत्यामवश्यमाधिकरणिकी, आधिकरणिक्यामवश्यं कायिकी, सा च प्रतिविशिष्टा कायिकी क्रिया प्रद्वेषमन्तरेण न भवति, ततः प्राद्वेषिक्यापि सह परस्परमविनाभावः। प्रद्वेषोऽपि च काये स्फुटलिङ्ग एव, वक्त्ररूक्षत्वादेस्तदविनाभाविनः प्रत्यक्षत एवोपलम्भात्। उक्तं च—"रुक्षयति रुष्यतो ननु, वक्त्रं स्निह्यति च रज्यतः पुंसः। औदारिकोऽपि देहो, भाववशात् परिणमत्येवम् ॥ १ ॥ इति।" यदि च प्रद्वेषान्वयाविच्छे-

दमात्रादवीतरागमात्रस्य कायिक्यादिक्रियात्रयनियमः स्यात्, तदा सूक्ष्मसंपराये प्राणातिपातसम्पत्तौ प्राणातिपातक्रियया षड्विधबन्धकत्वस्याप्युपपत्तौ "जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोअमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा ।" [जीवो भदन्त ! प्राणातिपातेन कति कर्मप्रकृतीर्बध्नाति ?, गौतम !, सप्तविधबन्धको वाऽष्टविधबन्धको वा ।] इत्युक्तव्यवस्थानुपपत्तिः । नन्वेवं "जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइकिरिए ?, गोअमा !, सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । [जीवो भदन्त ! ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नन् कतिक्रियः ? गौतम ! स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः स्यात् पञ्चक्रियः ।] इति प्रज्ञापनासूत्रस्य पद२२ का गतिः ? भवदुक्तरीत्या ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नतो दशमगुणस्थानवर्तिनोऽक्रियत्वस्यापि सम्भवेन 'स्यादक्रियः' इति भङ्गन्यूनत्वादिति चेत्, स्वसहचरिते स्वकार्ये वा ज्ञानावरणीये प्राणातिपातस्य परिसमाप्तिनिर्वृत्तिभेदप्रकारोपदर्शनपरमेतत् सूत्रम्, न तु तद्बन्धे क्रियाविभागनियमप्रदर्शनपरम्–इत्येषा गतिरिति गृहाण । तदुक्तं तद्वृत्तौ "इह प्रागुक्तं जीवः प्राणातिपातेन सप्तविधमष्टविधं वा कर्म बध्नाति, स तु तमेव प्राणातिपातं ज्ञानावरणीयादि कर्म बध्नन् कतिभिः क्रियाभिः समापयतीति प्रतिपाद्यते । अपि च कार्येण ज्ञानावरणीयाख्येन कर्मणा कारणस्य प्राणातिपाताख्यस्य निर्वृत्तिभेद उपदर्श्यते, तद्भेदाच्च बन्धविशेषोऽपीति । उक्तं च–"तिसृभिश्चतसृभिरथ, पञ्चभिश्च (क्रियाभिः)हिंसा समाप्यते क्रमशः ॥ बन्धोऽस्य विशिष्टः स्याद्, योगप्रद्वेषसाम्यं चेद् ॥१॥" इति तमेव प्राणातिपातस्य निर्वृत्तिभेदं दर्शयति–'सिय तिकिरिए'इत्यादीति," अथैवमप्रमत्तस्यैवाक्रियत्वस्वामिनः सुलभत्वाद् भगवतीवृत्तौ अक्रियत्वं वीतरागावस्थामाश्रित्यैव कथमुपपादितम् ?, इति चेत्, स्पष्टत्वार्थम् । बादरसम्परायं यावत् प्रद्वेषान्वयेन त्रिक्रियत्वाभ्युपगमेऽपि सूक्ष्मसम्परायस्याऽक्रियत्वस्थानस्य परिशिष्टत्वेनैतदुपपादनार्थम्, एतत्प्रकारस्यावश्याश्रयणीयत्वात् । प्रद्वेषाभावेन तत्र कायिक्यधिकरणिकी-

क्रियाभ्युपगमे च कायिक्यादिक्रियात्रयस्य परस्पर नियमानुपपत्तिरिति ॥ कायिकी क्रिया द्विविधा-अनुपरतकायिकी क्रिया दुष्प्रयुक्तकायिकी क्रिया चेति सिद्धान्तेऽभिधानात्, कायिकी क्रियाऽऽरम्भिक्यासमनियता, प्राणातिपातिकी च प्राणातिपातव्यापारफलोपहितत्वात् तद्व्याप्यैवेति प्रतिपत्तव्यम्, तत आरम्भकत्वं प्राणातिपातकत्वं च सत्यामपि द्रव्यहिंसायां प्रमत्तस्यैव नाप्रमत्तस्येति भगवतस्तया तदापादनमयुक्तमेवेति दिक् ॥५१॥ अथावश्यंभाविन्यां जीवविराधनायामाभोगवतो भगवतो यद् घातकत्वमापाद्यते तत्किं लोकोत्तरव्यवहाराद्, उत लौकिकव्यवहाराद्, उताहो स्वमतिविकल्पितव्यवहाराद् ? । नाद्यः, लोकोत्तरघातकत्वव्यवहारे आभोगेन जीवविराधनामात्रस्यातन्त्रत्वाद्, आभोगेनापि जायमानाया तस्यामपवादपदप्रतिसेविणोऽघातकत्वस्य, अनाभोगेनापि जायमानायां तस्यां प्रमादिनो घातकत्वस्य च तद्व्यवहारेणेष्टत्वाद् । नापि द्वितीयः, यतो लोका अपि नाभोगेन जीवघातमात्रादेव घातकत्वं व्यवहरन्ति, कूपनष्टायां गवि तत्कर्तुर्गोवधकर्तृत्वप्रसङ्गाद्, गोराभोगस्यापि तदा स्फुटत्वाद्, आभोगजन्यस्य च हिंसायामसिद्धत्वाद् । हिंसायां हि विषयाभोगहेतुराभोगस्त्वन्यथा सिद्ध इत्येतद्दोषवारणार्थं 'मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारत्वं हिंसा वक्तव्या, तथापि काशीमरणोद्देशपूर्वकानुष्ठाने आत्महिंसात्वापत्तिवारणार्थमदृष्टाद्वारकत्वं विशेषणं देयम्, इत्यदृष्टाद्वारकमरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारत्वमेव हि हिंसा न्यायशास्त्रसिद्धा। तृतीयस्तु पक्षोऽवशिष्यते । स तु स्वमतिविकल्पितत्वादेव स्वशास्त्रप्रतिज्ञाबाधया महादोषावह इत्यभिप्रायेणाह—

अणुसंगयहिंसाए, जिणस्स दोसं तुहं भणतस्स ॥ साहूण वि आभोगा, णइउत्ताराइ विहडिज्जा ॥ ५२ ॥

[अनुषङ्गजहिंसया, जिनस्य दोषं तव भणतः । साधूनामप्याभोगाद्, नद्युत्तारादि विघटेत ॥ ५२ ॥]

'अणुसंगयहिंसाए'त्ति अनुषङ्गजया—धर्मदेशनामात्रोद्देश्यकप्रवृत्त्युपजायमानकुनयमतखेदादिवत्स्वानुद्देश्यकप्रवृत्तिजनितया

हिंसया जिनस्य दोष भणतस्तत्र साधूनामप्यनाभोगान्नद्युत्तारादि विघटेन, तेषामपि नद्युत्तारादौ जलजीवादिविराधनाया अध्यक्षसिद्धत्वादिति। नन्वेतदसिद्धम्, नहि जलजीवानामप्रत्यक्षत्वेन तद्विराधनायाः प्रत्यक्षत्वं सम्भवति, प्रतियोगिनोऽप्रत्यक्षत्वे तदनुयोगिनोऽप्यप्रत्यक्षत्वात्। न च जलस्य प्रत्यक्षत्वेन तज्जीवानामपि प्रत्यक्षत्वमिति वाच्यम्, इदं जलमिति ज्ञानमात्रेणेदं जलं सचित्तमिति विवेकेन परिज्ञानोदयप्रसक्तेः। तस्मात् "दुविहा पुढविकाइआ पन्नत्ता तंजहा परिणया चेव अपरिणया चेव, जाव वणप्फइकाइअ' त्ति [द्विविधाः पृथ्वीकायिकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–परिणताश्चैव अपरिणताश्चैव यावद् वनस्पतिकायिका इति ॥] श्रीस्थानाङ्ग सू० ७३। "तत्र परिणताः स्वकायपरकायशस्त्रादिना परिणामान्तरमापादिता अचित्तीभूता इत्यर्थः-इत्यादिप्रवचनवचनेन नद्यादिजले सचित्ताचित्तयोरन्यतरत्वेन परिज्ञाने सत्यपि इदं जलं सचित्तम्, इदं वा अचित्तम्-इति व्यक्त्या विवेकमधिकृत्य परिज्ञानाभावेन छद्मस्थसंयतानामनाभोग एव, तेन सिद्धा नद्युत्तारादौ जलजीवविराधनाऽनाभोगजन्याशक्यपरिहारेण-इत्याशङ्कायामाह—

वज्जंतो अ अणिट्ठं, जलजीवविराहणं तहिं सक्खं। जलजीवाणाभोगं, जंपंतो किं ण लज्जेसि ॥ ५३ ॥

[वर्जयँश्चानिष्टा जलजीवविराधनां तत्र साक्षात्। जलजीवानाभोगं जल्पन् किं न लज्जसे ॥ ५३ ॥

'वज्जंतो य'त्ति। तत्र नद्युत्तारे, जलजीवविराधनामनिष्टां साक्षाद्वर्जयन् वर्जनीयाभ्युपगन्तेश्च, जलजीवानाभोगं जल्पन् किं न लज्जसे? ॥ अयं भावः–नद्युत्तारे बहुजलप्रदेशपरित्यागेनाल्पजलप्रदेशप्रवेशरूपा यतना तावत्त्वयापि स्वीक्रियते, सा च जलजीवानाभोगाभ्युपगमे दुर्घटा, स्वल्पजलं सचित्तं भविष्यति बहुजलं चाऽचित्तमिति विपरीतप्रवृत्तिहेतुशङ्कापिशाचीप्रचारस्यापि दुर्वारत्वाद्। भगवदुक्तयतनाक्रमप्रामाण्यान्नेयं शङ्केति चेत्, तर्हि यतनाया अपि बहुतरासत्प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपाया विवेकेन परिज्ञानं

न्यूनाधिकजलजीवविराधनाभोगाधीनमिति व्यवहारमचित्ततया जलजीवाभोगाभ्युपगमावश्यकत्वात् तत्र वदतो व्याघात एव महा-
त्रपाकारणमिति । किञ्च—नद्यादिजलजीवानां निश्चयतश्छद्मस्थानां सचित्तत्वापरिज्ञानेऽपि तत्र स्थितपनकसेवालादीनां निश्चयतोऽपि
सचित्तत्वं परिज्ञायते एव । तदुक्तमोघनिर्युक्तौ—"सव्वो वऽणंतकाओ, सचित्तो होइ णिच्छयणयस्स । ववहारओ अ सेसो, मीसो
पम्हाणरोट्टाइ ॥ ३६३ ॥" पिंडनि० ४४ "एतद्वृत्तिर्यथा—सर्व एवानन्तवनस्पतिकायो निश्चयनयेन सचित्तः, शेषः
परीतवनस्पतिर्व्यवहारनयमतेन सचित्तो मिश्रश्च प्रम्लानानि यानि फलानि कुसुमानि पर्णानि च, "रोट्टो लोट्टो तंदुलाः कुट्टिताः
तत्थ तंदुलमुहाइं अच्छंति, तेण कारणेन सो मीसो भवइत्ति।" ते च पनकशेवालादयो जलेऽवश्यं भाविन इति तद्विषयविराधना निश्च-
यतोऽप्याभोगेन सिद्धेति । तत्रानाभोगेनैव जीवविराधनेति दुर्वचनम् । न च ते तत्रास्माभिः प्रत्यक्षतो न दृश्यन्ते, अतस्तद्विराधनाऽना-
भोगजैवेति वक्तव्यम्, स्वच्छस्तोकजलनद्यादिषु पनकादीनामस्माभिरप्युपलभ्यमानत्वेन 'नास्माभिस्ते तत्र दृश्यन्त' -इत्यस्यासिद्धत्वात् ।
किञ्च आगमवचनादपि तत्र तदवश्यंभावो निश्चीयते । तदुक्तं—प्रज्ञापनातृतीयपदवृत्तौ—"बादरतेजस्कायिकेभ्योऽसङ्ख्येय-
गुणाः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः, तेभ्यो बादरनिगोदा असङ्ख्येयगुणाः, तेषामत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वाद्, जलेषु सर्वत्रापि च
भावात् । पनकसेवालादयो हि जलेऽवश्यंभाविनः, ते च बादरानन्तकायिका इति । तथा बादरेष्वपि मध्ये सर्वबहवो वनस्पतिकायिकाः,
अनन्तसङ्ख्याकतया तेषां प्राप्यमाणत्वात् । ततो यत्र ते बहवस्तत्र बहुत्वं जीवानाम्, यत्र स्वल्पे तत्राल्पत्वम् । वनस्पतयश्च तत्र बहवो
यत्र प्रभूता आपः, 'जत्थ जलं तत्थ वणं' इति वचनात्, तत्रावश्यं पनकसेवालादीनां भावात्, ते च पनकसेवालादयो बादरनामक-
र्मोदये वर्त्तमाना अपि अत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वाद् अतिप्रभूतपिण्डीभावाच्च सर्वत्र सन्तोऽपि न चक्षुषा ग्राह्याः । तथा चोक्तमनुयोग-

द्वारेषु 'ते णं वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जइभागमेत्ता सुहुमपणगजीवस्स सरीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा ॥ इति ।" [तानि च वालाग्राणि दृष्ट्यवगाहनातोऽसंख्येयभागमात्राणि सूक्ष्मपनकजीवस्य शरीरावगाहनातोऽसंख्येयगुणानि ॥] ततो यत्रापि नैते दृश्यन्ते, तत्रापि ते सन्तीति प्रतिपत्तव्याः। आह च मूलटीकाकारः—इह "सर्वबहवो वनस्पतयः इति कृत्वा यत्र ते सन्ति तत्र बहुत्वं जीवानाम्, तेषां च बहुत्वम्, "जत्थ आऊकाओ तत्थ णियमा वणस्सइकाइआ इति पणगसेवालहढाई बायरा वि होंति, सुहुमा आणाज्ञा, ण चक्खुण"त्ति ॥" पनकसेवालहढादयो बादरा अपि भवन्ति सूक्ष्मा आज्ञाग्राह्या न चक्षुषेति ॥] किञ्च-नद्युत्तारादौ मण्डूकादित्रसविराधना "तसा य पच्चक्खया चेव"त्ति वचनात् अवश्यं जायमानाभोगपूर्विकैव, इत्येवं च सति जीवोऽयमिति साक्षात्कृत्वा यो जीवघातं करोति तस्य विरतिपरिणामो दूरे, निश्चयतः सम्यक्त्वमपि न स्यात्, अनुकम्पाया अभावेन सम्यक्त्वलक्षणाभावाद्-इत्यादि परोक्तं यत्किञ्चिदेव, आप्तवचनाज्जीवत्वेन निश्चितस्य विराधनायाः स्वादर्शनमात्रेणाभोगपूर्वपूर्वकत्वाभावे आप्तोक्तवस्त्राद्यन्तरितत्रसादिविराधनायामपि तदापत्तेः, दृष्ट्वा स्थूलत्रसविराधनायामाभोगविशेषाद्विषयविशेषाच्च पातकविशेषस्तु स्याद्, न चैतावताऽन्यत्रानाभोग एव व्यवस्थापयितुं शक्यते। न खलु राजदारगमने महापातकाभिधानादन्यत्र परदारगमने परदारगमनत्वमेव नेति वक्तुं युक्तम्। एतेनाभोगमूलाऽऽभोगपूर्विका च जीवविराधना निनापराधं मिथ्यादृशोऽपि प्रायोऽनार्यजनस्यैव भवति, सा च नावश्यंभाविनी, प्रायः सम्भविसम्भवात्। संयतानां त्वनाभोगमूलैव सा, नत्वाभोगमूला, अत एव नद्युत्तारादौ सत्यामपि जलजीवविराधनायां संयमो दुराराधो न भणितः, भणितश्च कुन्थूत्पत्तिमात्रेणापि, तत्र निदानं तावदाभोगाऽनाभोगावेव। तत्र यद्यपि संयतानामुभयत्रापि जीवविराधनाऽनाभोगादेव, तथापि स्थावरसूक्ष्मत्रसजीवविषयकोऽनाभोगः सर्वांशैरपि सर्वकालीनो न पुनः क्वाचित्कः कादाचित्कश्च, तस्य चापगमः

प्रयत्नशतैरप्यशक्यः, केवलज्ञानसाध्यत्वात्, शक्यश्च कुन्थ्वादिस्थूलत्रसजीवविषयकस्तदनाभोगस्य भूयो निरीक्षणादिनेति, तथाभूतं च निरीक्षणं दुःसाधमिति संयमो दुराराधो भणितः। एवं सम्यक् प्रयत्नपरायणानामपि कदाचित् कुन्थ्वादिस्थूलत्रसजीवविराधना स्यात्। सा च प्रायोऽसम्भविसम्भवेनावश्यंभाविनीति वक्तव्यम्, शक्यपरिहारजीवविषयकप्रयत्नवतोऽपि तत्परिहरणोपायस्यापरिज्ञानात्साऽप्यवश्यंभाविनी, विराधना द्वेधा—अनाभोगमूला अनाभोगपूर्विका, अनाभोगमूला आभोगपूर्विका चेति। तत्राद्या जीवघाते जाते सत्येव तत्परिज्ञानाद्। द्वितीया तु निम्नप्रदेशादौ पिपीलिकादिकसद्भावस्यैवोत्पादिते पादे दृष्ट्वाऽपि पादं प्रत्यादातुमशक्तस्य जीवघातानन्तरे जीवविषयकाभोगस्य विद्यमानत्वात्, परमनाभोगमूलिकापि स्थूलत्रसजीवविराधना संयतानां तज्जन्यकर्मबन्धाभावेऽपि लोकनिन्द्या भवत्येव, तत्कर्तुर्हिंसाव्यपदेशहेतुत्वात्, तथाव्यपदेशः स्थूलत्रसजीवसम्बन्धित्वेन निजसाक्षात्कारविषयत्वात्। न चैवं केवलिनस्सा निश्चिताऽपि सूक्ष्मत्रसजीवविराधना तस्याश्छद्मस्थसाक्षात्कारविषयत्वाभावेन हिंसकव्यपदेशहेतुत्वाभावात्। अत एवाग्रसेनायामनेकशतसहस्रपञ्चेन्द्रियजीवविराधकोऽपि देशविरतिश्रावको 'जीवविराधकः' इति व्यपदेशविषयो न भवति, भवति चैकस्या अपि पिपीलिकाया विराधनेनाऽऽभोगेनापि, आभोगे च स्वज्ञातिज्ञातेऽपास्तेयोऽपि स्यात्, तेन निजसाक्षात्कारविषयीभूताविषयीभूतयोर्जीववधयोर्महान् भेदः, अन्यथाऽग्रसेनी श्रावको व्याधादिभ्योऽपि जीवघातकत्वेनाधिको वक्तव्यः स्यात्—इत्यादि परस्य कल्पनाजालमपास्तम्, संयतानां नद्युत्तारे जलजीवविराधनाया आभोगमूलत्वेऽप्याज्ञाशुद्धत्वेनादुष्टत्वात्। यच्च तया न संयमस्य दुराराधत्वम्, तस्याः कादाचित्कत्वादालम्बनशुद्धत्वाच्च। यथा च कुन्थूत्पत्तिमात्रेण सार्वदिकयतनाहेत्वाभोगदौर्लभ्यात् संयमस्य दुराराधत्वम्, तथा तथाविधक्षेत्रकालादिवशात् सूक्ष्मबीजहरितादिप्रादुर्भावेऽपि सार्वदिकतद्यतनाहेत्वाभोगदौर्लभ्यात् संयमस्य दुराराधत्वमेवेति तु दशवैकालिका

द्ध्ययनवतामपि सूक्ष्माष्टकविदा परिणतलोकोत्तरदयास्वरूपाणां प्रतीतमेव । स्थावरसूक्ष्मत्रसविषयकोऽनाभोगः केवलज्ञानं विना दुरत्यय इति तु सूक्ष्माष्टकयतनाविधानान्यथानुपपत्त्यैव बाधितं परिणामशुद्ध्यर्थं तद्, न तु तदाभोगार्थम्–इत्येवं तदाभोगापलापे च स्थूलत्रसाभोगाभ्युपगमोऽप्युच्छिद्येत, तत्रापीत्थं वक्तुं शक्यत्वात्, चेष्टालिङ्गाभिव्यक्तेः स्थूलत्रसाभोगोऽभिव्यक्त एवेति चेत्, पृथिव्यादिजीनाभोगोऽपि जिनवचनाभिहितलिङ्गादाज्ञाप्रामाण्याद्वा किं नाभिव्यक्तः ? व्यक्तीयत्तयाऽनाभोगस्तु मनाक्स्पन्दत्कुन्थुतदनुकारिरजस्त्रुटिपुञ्जेऽपि वक्तुं शक्यत इति न किञ्चिदेतत्। ततो यतनां कुर्वतामशक्यपरिहारा हिंसा सूक्ष्मस्थूलजीवविषयकभेदेऽप्यशक्यपरिहारत्वेन समानैव, विषयभेदात् तद्भेदं तु व्यवहारेण न वारयाम'। अत एवात्रह्मसेवायामपि देशविरतस्य कृतसङ्कल्पमूलस्थूलजीवहिंसाप्रत्याख्यानाभङ्गान्न व्याधादिवद्दुष्टत्वम्। न चैवं देशविरतस्येव साधोरप्याभोगेन पृथिव्यादिवधे न दुष्टत्वमिति साधोः प्रत्याख्यानभङ्गदोषविशेषसमर्थनार्थं पृथिव्यादिजीवाभोगोऽप्यवश्यमभ्युपेयः। यदि च स्थूलत्रसविषयक एवाभोगोऽभ्युपगम्येत, तदा तद्विषयैव हिंसैकान्ततो दुष्टा स्यात्. न चैवं जैनप्रक्रियाविदो वदन्ति, तैः क्षुद्रमहत्सत्त्ववधसादृश्यवैसदृश्ययोरनेकान्तस्यैवाभ्युपगमात्। तदुक्तं सूत्रकृताङ्गे श्रु०२ अ०५ "जे केइ खुद्दगा पाणा, अदुवा संति महालया॥ सरिसं तेहि वेर ति, असरिसं ति य णो वए॥६॥ एतेहि दोहिं ठाणेहि, ववहारो ण विज्जई। एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायार तु जाणए॥७॥" त्ति एतद्वृत्तिर्यथा–"ये केचन क्षुद्रकाः सत्त्वाः प्राणिन एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादयोऽल्पकाया वा पञ्चेन्द्रिया अथवा महालया महाकायाः सन्ति विद्यन्ते, तेषां च क्षुद्रकाणामल्पकायानां कुन्थ्वादीनां महान् चाऽऽलयः शरीरं येषा ते महालया हस्त्यश्वादयस्तेषा च व्यापादने सदृशं वैरमिति वज्रं–कर्म विरोधलक्षणं वा वैर, सदृशं समानम्, तुल्यप्रदेशत्वात् सर्वजन्तूनामित्येवमेकान्तेन नो वदेत्। तथा विसदृशमसदृशम्, तद्व्यापत्तौ वैरं कर्मबन्धो विरोधो वा,

इन्द्रियविज्ञानकायानां विसदृशत्वात्, सत्यपि प्रदेशतुल्यत्वे न सदृशं कर्मबन्धनमपि नो वदेत्। यदि हि वध्यापेक्ष एव कर्मबन्धः स्यात् ततस्तद्वशात् कर्मणोऽपि सादृश्यमसादृश्यं वा वक्तुं युज्यते, न च तद्वशादेव बन्धः, अपि त्वध्यवसायवशादपि; ततश्च तीव्राध्यवसायिनोऽल्पकायसत्त्वव्यापादनेऽपि महद्वैरम्, अकामस्य तु महाकायसत्त्वव्यापादनेऽपि स्वल्पमिति। एतदेव सूत्रेणैव दर्शयितुमाह-'एतेही'त्यादि। आभ्यामनन्तरोक्ताभ्यां स्थानाभ्यामनयोर्वा स्थानयोरल्पकायमहाकायव्यापादनापादितकर्मबन्धसदृशत्वासदृशत्वयोर्व्यवहरणं व्यवहारो निर्युक्तिकत्वान्न युज्यते। तथाहि-न वध्यस्य सदृशत्वमसदृशत्वं वा केवलं कर्मबन्धस्य कारणम्, अपि तु वधकस्य तीव्रभावो मन्दभावो ज्ञात(न)भावोऽज्ञात(न)भावो महावीर्यत्वमल्पवीर्यत्वं चेत्येतदपि; तदेवं वध्यवधकयोर्विशेषात् कर्मबन्धविशेष इत्येवं व्यवस्थिते वध्यमेवाश्रित्य सदृशत्वासदृशत्वव्यवहारो न विद्यत इति। तथाऽनयोरेव स्थानयोः प्रवृत्तस्यानाचारं विजानीयादिति॥ तथाहि-यज्जीवसाम्यात् कर्मबन्धसदृशत्वमुच्यते, तदयुक्तम्, यतो नहि जीवव्यापत्त्या हिंसोच्यते, तस्य शाश्वतत्वेन व्यापादयितुमशक्यत्वात्, अपि त्विन्द्रियादिव्यापत्त्या। तथा चोक्तम्-पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः॥ प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥१॥' इत्यादि। अपि च भावमप्यपेक्ष्यैव कर्मबन्धोऽभ्युपेतुं युक्तः। तथाहि-वैद्यस्यागमसव्यपेक्षस्य सम्यक् क्रियां कुर्वतो यद्यातुरविपत्तिर्भवति, तथापि न वैरानुषङ्गो भवेद्भावदोषाभावात्। अपरस्य तु सर्पबुद्ध्या रज्जुमपि घ्नतो भावदोषात् कर्मबन्धः, तद्रहितस्य तु न बन्ध इति, उक्तं चागमे—'उच्चालियंमि पाए'[उच्चालिते पादे।]इत्यादि। तन्दुलमत्स्याख्यानकं तु सुप्रसिद्धमेव। तदेवंविधवध्यवधकभावापेक्षया स्यात्सदृशत्वम्, स्यादसदृशत्वमिति, अन्यथाऽनाचार इति॥" एतेन लौकिकघातकत्वव्यवहारविषयीभूतैव हिंसा महाऽनर्थहेतुरिति परस्य यत्र तत्र प्रलपनमपास्तम्॥ अपि चैवमापवादिकोऽपि वधो महानर्थाय सम्पद्यते,

ज्ञानादिहानिनिवारणमात्राभिप्रायस्य संयमपरिणतेऽ(रन)पायहेतुत्वेऽपि तत्कृतवधे लौकिकपातकव्यवहारविषयत्वेनाशुद्धत्वानिवृत्तेः। पठ्यते च यतनादिनाऽपवादस्य शुद्धत्वमेव। तदुक्तं बृहत्कल्पभाष्ये— "गीयत्थो जयणाए, कडजोगी कारणंमि णिद्दोसो॥ एगेसिं गीयकडो, अरत्तदुट्ठो य जयणाए॥४९४६॥" त्ति। [गीतार्थो यतनया कृतयोगी कारणे निर्दोषः। एकेषा गीतकृतोऽरक्तद्विष्टश्च यतनया॥] तस्मादागमोदितयतनयाऽध्यात्मशुद्धिरेव संयमरक्षाहेतुर्नत्वनाभोग इति स्थितम्। अत एव विरताविरतयोर्जानतोरजानतोश्च विराधनायां यतनाऽयतनानिमित्तकाऽध्यात्मशुद्धि-तदशुद्धिविशेषात् कर्म्मनिर्जरा बन्धविशेषो व्यवस्थितः। तदुक्तं बृहत्कल्पभाष्यवृत्त्योर्द्वितीयखण्डे— "अथ ज्ञाताज्ञातद्वारमाह- जाणं करेइ इक्को, हिंसमजाणमपरो अविरओ अ॥ तत्थवि बंधविसेसो, महंतरं देसिओ समए॥३९३८॥ इह द्वावविरतौ, तत्रैकस्तयोर्जानन् हिंसां करोति विचिन्त्येत्यर्थः, अपरः पुनरजानन्, तत्रापि तयोरपि बन्धविशेषः 'महतरं'ति महतान्तरेण देशितः समये-सिद्धान्ते। तथाहि-यो जानन् हिंसां करोति, स तीव्रानुभावं बहुतर पापकर्मोपचिनोति; इतरस्तु मन्दतरविपाकमल्पतरं तदेवोपादत्ते। "विरतो पुण जो जाणं, कुणति अजाणं व अप्पमत्तो य। तत्थवि अज्झत्थसमा, संजायति णिज्जरा ण चओ॥३९३९॥" यः पुनर्विरतः प्राणातिपातादिनिवृत्तः स जानानोऽपि सदोषमिदम् इत्यवबुध्यमानोऽपि गीतार्थतया द्रव्यक्षेत्राद्यागाढेषु प्रलम्बादिग्रहणेन हिंसां करोति, यद्वा न जानाति परमप्रमत्तो विकथादिप्रमादरहित उपयुक्तः सन् यत्कदाचित् प्राण्युपघातं करोति तत्राप्यध्यात्मसमा चित्तप्रणिधानतुल्या निर्ज्जरा सञ्जायते। यस्य यादृशस्तीव्रो मन्दो मध्यमो वा शुभाध्यवसायस्तस्य तादृश्येव कर्मनिर्जरा भवतीति भावः। 'न चओ'त्ति न पुनश्चयः कर्मबन्धः सूक्ष्मोऽपि भवति, प्रथमस्य भगवदाज्ञया यतनया प्रवर्त्तमानत्वाद्, द्वितीयस्य तु प्रमादरहितस्याजानतः कथञ्चित्प्राण्युपघातसम्भवेऽप्यदुष्टत्वादिति। यत्तु जीवघातवर्जनाभिप्रायवतां

यतनया प्रवर्त्तमानानां छद्मस्थसंयतानामनाभोगजन्याशक्यपरिहारेण जायमानं जीवघातानृतभाषणादिकं संयमपरिणामानपायहेतुः, संयमपरिणामानपायहेतुत्वं हि वर्जनाभिप्रायोपाधिकमेव, जीवविराधनायाः संयमपरिणामापगमहेतोर्जीवघातपरिणामजन्यत्वलक्षणस्य निजस्वरूपस्य वर्जनाभिप्रायेण परित्याजनात् ॥ अयं भावः–"यद्धर्मविशिष्टं यद्वस्तु निजस्वरूपं जहाति स धर्मः तत्रोपाधिरिति" नियमाद्, वर्जनाभिप्रायविशिष्टा हि जीवविराधना जीवघातपरिणामजन्यत्वं संयमनाशहेतुं परित्यजति, तेन संयमपरिणामानपायद्वारा वर्जनाभिप्रायजन्यां निर्जरां प्रति जीवविराधनाया अपि प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणतापि। यदागमः ओघनि० "जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ णिज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥७५९॥" त्ति ७६० पिंडनिर्युक्ति। अत्र हि 'सुत्तविहिसमग्गस्स' त्ति कृतसर्वमायप्रत्याख्यानस्य वर्जनाभिप्रायवतः साधोरित्यर्थः। तत्र जायमानाया निर्जराया जीवविराधना प्रतिबन्धिका न भवति, जीवघातपरिणामजन्यत्वाभावेन वर्जनाभिप्रायोपाध्यपेक्षया दुर्बलत्वाद्, एतेन जीवविराधनापि यदि निर्जरां प्रति कारणं भवेत्, तर्हि तथाभूतापि विराधना तपःसंयमादिवद्भूयस्येव श्रेयस्करी, भूयोनिर्जराहेतुत्वादिति पराशङ्कापि परास्ता, स्वरूपतः कारणभूतस्य तथा वक्तुं शक्यत्वात्। न चैवं जीवविराधना तथा, तस्याः संयमपरिणामापगमद्वारा स्वरूपतो निर्जरायाः प्रतिबन्धकत्वात्। प्रतिबन्धकं च यथायथाऽल्पमसमर्थं च तथातथा श्रेयः, तेन तस्याः कारणत्वं प्रतिबन्धकाभावत्वेन, प्रतिबन्धकाभावस्य च भूयस्त्वं प्रतिबन्धकानामल्पत्वेनैव स्याद्. अन्यथा तदभावस्य कारणता न स्यादित्यादिकूटकल्पनारसिकेणोच्यते। तदसत्, निश्चयतः सर्वत्र संयमप्रत्ययनिर्जरायामध्यात्मशुद्धिरूपस्य भावस्यैव हेतुत्वात्, तदङ्गभूतव्यवहारेण चापवादपदादिप्रत्ययाया हिंसाया अपि निमित्तत्वे बाधकाभावात्, "जे आसवा ते परिस्सवा" [ये आस्रवास्ते परिस्रवाः] इत्यादिवचनप्रामाण्यात्। निमित्तकारणोत्कर्षापकर्षौ च न कार्योत्कर्षापकर्ष-

प्रयोजकाविति न निर्ज्जरोत्कर्षार्थं तादृशहिंसोत्कर्षाश्रयणापत्तिः, यच्च 'जा जयमाणस्से'त्यादिवचनपुरस्कारेण वर्जनाभिप्रायेणानाभोगजन्याशक्यपरिहारहिंसायाः प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणत्वाभिधानं तत्तु तद्वृत्त्यर्थानाभोगविजृम्भितम्, तत्रापवादप्रत्ययाया एव हिंसाया व्याख्यानात्। तथाहि यतमानस्य सूत्रोक्तविधिसमग्रस्य-सूत्रोक्तविधिपरिपालनपूर्णस्य, अध्यात्मविशोधियुक्तस्य रागद्वेषाभ्यां रहितस्येति भावः, या भवेद्विराधनाऽपवादपदप्रत्यया, सा भवति निर्ज्जराफला। इदमुक्तं भवति-कृतयोगिनो गीतार्थस्य कारणवशेन यतनयाऽपवादपदमासेवमानस्य या विराधना सा सिद्धिफला भवतीति पिण्डनिर्युक्तिवृत्तौ। न चेयमनाभोगजन्या वर्जनाभिप्रायवती वा, किन्तु ज्ञानपूर्वकत्वेनर्जुसूत्रनयमतेन विलक्षणैव सती व्यवहारनयमतेन च विलक्षणा कारणसहकृता सती बन्धहेतुरपि निर्ज्जराहेतुर्घटकारणमिव दण्डो घटभङ्गाभिप्रायेण गृहीतो घटभङ्गे, अत एवेयमनुबन्धतो हिंसारूपा सत्यैदम्पर्यार्थापेक्षया 'न हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि' इति निषेधार्थलेशमपि न स्पृशति, अविधिहिंसाया एवात्र निषेधाद्। विधिपूर्वकस्वरूपहिंसायास्तु सदनुष्ठानान्तर्भूतत्वेन परमार्थतो मोक्षफलत्वात्। तदुक्तमुपदेशपदसूत्रवृत्त्योः—"अथ साक्षादेव कतिचित्सूत्राण्याश्रित्य पदार्थादीनि व्याख्याङ्गानि दर्शयन्नाह-"हिंसिज्ज ण भूयाइं, इत्थ पयत्थो पसिद्धगो चेव॥ मणमाइएहिं पीडां, सव्वेसिं चेव ण करिज्जा" ॥८६५॥ "हिंस्याद् व्यापादयेद्, न नैव, भूतानि पृथिव्यादीन् प्राणिनः, अत्र सूत्रे, पदार्थः प्रसिद्धश्चैव प्रख्यातरूप एव, तमेव दर्शयति-मनआदिभिर्मनोवाक्कायैः, पीडां बाधां, सर्वेषां चैव समस्तानामपि जीवानां, न कुर्याद् न विदध्यादिति॥ तथा "आरंभिपमत्ताणं, इत्तो चेइहरलोचकरणाई॥ तक्करणमेव अणुवं-धओ तहा एस वक्कत्थो" ॥८६६॥ व्याख्या—आरम्भः-पृथिव्याद्युपमर्दः स विद्यते येषां ते आरम्भिणो गृहस्थाः, प्रमाद्यन्ति निद्राविकथादिभिः प्रमादैः सर्वसावद्ययोगविरतावपि सत्यां ये ते प्रमत्ता यतिविशेषाः, आरम्भिणश्च

प्रमत्ताश्च आरम्भिप्रमत्ताः तेषाम् ,इतः पदार्थात्, चैत्यगृहलोचकरणादि, चैत्यगृहमर्हतो भगवतो बिम्बाश्रयः, लोचकरणं च केशोत्पाटनरूपम्, आदिशब्दात् तत्तदपवादपदाश्रयणेन तथा तथा प्रवचनदुष्टनिग्रहादिपरपीडाग्रहस्तेषां करणं, तत्करणमेव प्राग्निषिद्धहिंसादिकरणमेव प्राप्तम्। कुतः? इत्याशङ्क्याह-अनुबन्धतोऽनुगमात्, तथा तत्प्रकारायाः परपीडाया इत्येष चालनारूपो वाक्यार्थ इत्यर्थः॥ "अविहिकरणंमि आणा-विराहणा दुट्ठमेव एएसिं। तो विहिणा जइअव्वं, ति महावक्कत्थरूवं तु" ॥८६७॥ व्याख्या-अविधिकरणेऽनीतिविधाने चैत्यगृहलोचादेरर्थस्य, आज्ञाविराधनाद् भगवद्वचनविलोपनाद्, दुष्टमेव, एतेषां चैत्यगृहादीनां करणम्, तत्र चैयमाज्ञा-"जिनभवनकारणविधिः, शुद्धा भूमिर्दलं च काष्ठादि॥ भृतकानतिसन्धानं, स्वाशयवृद्धिः समासेन॥१॥" लोचकर्मविधिस्तु-"धुवलोओ अ जिणाणं, वासावासेसु होइ थेराणं॥ तरुणाणं चउमासे, वुड्ढाणं होइ छम्मासे॥१॥" इत्यादि। [ध्रुवलोचश्च जिनानां वर्षावासेषु भवति स्थविराणाम्। तरुणानां चतुर्मास्यां वृद्धानां भवति षण्मास्याम्॥] तत्तस्माद्, विधिना जिनोपदेशेन यतितव्यम्-इत्येवं महावाक्यार्थस्य प्राक्चालितप्रत्यवस्थानरूपस्य, रूपं तु स्वभावः पुनः॥८६७॥ महावाक्यार्थमेव गाथापूर्वार्धेनोपसंहरन्नैदम्पर्यमाह॥ "एवं एसा अणुबंध-भावओ तत्तओ कया होइ॥ अइदंपज्जं एवं, आणा धम्मम्मि सारो त्ति"॥८६८॥ एवं विधिना यत्ने क्रियमाणे, एषा हिंसा, अनुबन्ध भावतउत्तरोत्तरानुबन्धभावान्मोक्षप्राप्तिपर्यवसानानुगमात्, तत्त्वतः परमार्थतः, कृता भवति, मोक्षमस्या अजिनाज्ञाया उपरमाभावादिति ऐदम्पर्यमेतदत्र यदुताज्ञा धर्मे सारः। इति: परिसमाप्ताविति।" प्रतिबन्धकाभावत्वेनोक्तहिंसाया निर्जराहेतुत्वे चाभ्युपगम्यमाने केवलायास्तस्याः प्रतिबन्धकत्वाभावाज्जीवघातपरिणामविशिष्टत्वेन प्रतिबन्धकत्वे विशेषणाभावप्रयुक्तस्य विशिष्टाभावस्य शुद्धविशेष्यस्वरूपत्वे विशेष्याभावप्रयुक्तस्य तस्य शुद्धविशेषणरूपस्यापि सम्भवाज्जीवघातपरिणामोऽपि देवानाम्प्रियस्य निर्जराहेतुः प्रसज्येतेत्यहो!

काचनापूर्वेयं तर्कागमचातुरी। वर्जनाभिप्रायेण जीवघातपरिणामजन्यत्वलक्षणं स्वरूपमेव विराधनायास्त्याज्यतेऽतो नेयमगती प्रतिबन्धिकेति चेत्, किमेतद्विराधनापदप्रवृत्तिनिमित्तमुत विशेषणं विराधनापदार्थस्य। आद्ये पदप्रवृत्तिनिमित्तं नास्ति, पदार्थश्च प्रतिपाद्यते इत्ययमुन्मत्तप्रलापः। अन्त्ये च विशिष्टप्रतिबन्धकत्वपर्यवसाने उक्तदोषतादवस्थ्यमिति मुग्धशिष्यप्रतारणमात्रमेतत्। न च 'यद्धर्मविशिष्टं यद्वस्तु निजस्वरूपं जहाति स धर्म्मस्तत्रोपाधिः' इति नियमाद् वर्जनाभिप्रायविशिष्टा हि जीवविराधना जीवघातपरिणामजन्यत्वं संयमनाशहेतुं परित्यजतीति भावार्थपर्यालोचनादनुपहितविराधनात्वेन प्रतिबन्धकत्वं लभ्यत इत्युपहितायास्तस्याः प्रतिबन्धकाभावत्वं स्वरूपेणैवाक्षतमित्यपि युक्तम्, प्रकृतविराधनाव्यक्तौ जीवघातपरिणामजन्यत्वस्यासत्त्वेन त्याजयितुमशक्यत्वाद्, अत एव तत्प्रकारकप्रमितिप्रतिबन्धरूपस्यापि तद्धानस्यानुपपत्तेः। अथ वर्जनाभिप्रायाभावविशिष्टविराधनात्वेन प्रतिबन्धकत्वे न कोऽपि दोषः, प्रत्युत वर्जनाभिप्रायस्य पृथक्कारणत्वाकल्पनाल्लाघवमेवेति चेत्, न। वर्जनाभिप्रायमात्रस्याज्ञाबाह्यानुष्ठानेऽपि सत्त्वान्नोत्तेजकत्वमित्याज्ञाशुद्धभावस्येहोत्तेजकत्वं वाच्यम्, स च विशिष्टनिर्जरामात्रे स्वतन्त्रकारणमिति न तत्रास्येहोत्तेजकत्वं युज्यते; अन्यथा दण्डाभावविशिष्टचक्रत्वादिनापि घटादौ प्रतिबन्धकता कल्पनीया स्यादिति न किञ्चिदेतत्। तस्मादाज्ञाशुद्धभाव एव सर्वत्र संयमरक्षाहेतुर्न त्वनाभोगमात्रमिति। नद्युत्तारेऽपि यतीनां तत एवादुष्टत्वम्, न तु जलजीवानाभोगादिति स्थितम् ॥ ५३ ॥

अथ तत्र जलजीवानाभोगे व्यक्तं दूषणमाह—

जलजीवाणाभोगा, णइउत्तारंमि जइ ण तुह दोसो॥ पाणेवि तस्स ता सो, मूलच्छेज्जो ण हुज्जाहि ॥५४॥

[जलजीवानाभोगाद् नद्युत्तारे यदि न तव दोषः। पानेऽपि तस्य तर्हि स मूलच्छेद्यो न भवेद् ॥ ५४ ॥]

व्याख्या—'जलजीवाणाभोग'त्ति नद्युत्तारे जलजीवानाभोगाद् यदि तत्र न दोषः, तर्हि तस्य जलस्य, पानेऽपि स दोषो, मूलच्छेद्यो मूलप्रायश्चित्तविशोध्यो न भवेत्, नहि नदीमुत्तरतो जलजीवानाभोगस्तत्पाने च तदाभोग इति त्वया वक्तुं शक्यते, तदनाभोगस्य त्वया केवलज्ञाननिवर्त्तनीयत्वाभ्युपगमात्, तथा चोभयत्रैव मिथ्यादुष्कृतप्रायश्चित्तशोध्यमेव पापं स्यात्। ननु ज्ञात्वा जलपानेऽपि मूलच्छेद्यम्, तच्च श्रुतपरम्पराविरुद्धमित्याभोगविषयतापि जलजीवानामवश्यं वक्तव्या, प्रायश्चित्तभेदस्तु यतनाऽयतनाविशेषादिति। यदि च ज्ञात्वा जलपाने न जलजीवाभोगात्प्रायश्चित्तविशेषः, किन्तु निःशूकत्वादित्युच्यते, तर्हि स्थूलत्रसाभोगोऽप्युच्छिद्येत, तद्वधेऽपि निःशूकताविशेषादेव पातकविशेषोपपत्तेः। शास्त्रे त्वाभोगाऽनाभोगावकर्त्तव्यत्वज्ञानतदभावरूपावेवोक्तौ। तदुक्तं पञ्चाशकवृत्तौ—“तत्राभोगोऽकर्त्तव्यमिति ज्ञानम्, अनाभोगस्तदज्ञानमिति। तौ चोभयविराधनायामपि सम्भवत एव॥” प्रतिपादितं च प्रायश्चित्तमाभोगानाभोगभेदात् पृथिव्यादिविराधनायामपि पृथगेवेति न किञ्चिदेतत्। एतेन यदुच्यते विनापवादं ज्ञात्वा जीवघातको यद्यसंयतो न भवेत्, तर्हि असंयतत्वमुच्छिन्नं सत्कथं भवेद्–इत्यादि परेण तदपास्तम्। अपवादमन्तरेणापि सामान्यसाधूनामपवादपदानधिकारिणा चोत्कृष्टचारित्रवता प्रतिमाप्रतिपन्नजिनकल्पिकादीनां नद्युत्तारादावाभोगपूर्वकजीवविराधनायाः साधितत्वात्। नद्युत्तारश्च जिनकल्पिकादीनामपि, 'जत्थत्थमेइ सूरो' (यत्रास्तमियात्सूर्यः) इत्यादि प्रवचनेषु दिवसतृतीयपौरुष्यतिक्रमे नद्याद्युत्तरतस्ते जलात्पदमात्रमपि बहिर्न निक्षिपन्ति किन्तु तत्रैव तिष्ठन्ति–इत्यादिभणनेन प्रतीत एव। सोऽप्यापवादिकश्चेत्, तर्हि विहाराऽऽहारादिक्रियास्वौत्सर्गिकीषु जीवविराधनया योगसमुत्थया जिनकल्पिकादीनामसंयतत्वप्रसक्तेर्वज्रलेपत्वमेव, तस्या योगावश्यंभावित्वस्य प्रवचनादेव निश्चयाद्, अङ्गीकृतं चैतत्परेणापि। यदुक्तं तेन—“यत्रानुष्ठाने आरम्भस्तज्जिनैः प्रतिषिद्धमेव, उत जिनोपदिष्टक्रियायामारम्भो न

भवत्येव" इति लुम्पकीयपक्षद्वयदूषणार्थं ग्रन्थान्तरे। आद्यपक्षे साधूनां विहारा-ऽऽहार नीहार-नद्युत्तार-प्रतिक्रमण-प्रतिलेखनो-पाश्रय-प्रमार्जनादिक्रियाणां प्रवचनप्रसिद्धानामारम्भाविनाभाविनीना प्रतिषेधे सम्पन्ने तवैव गलपादुका। द्वितीयेऽध्यक्षबाधा, नद्युत्तारादिषु षण्णामपि जीवानां विराधनासम्भवात्, 'जत्थ जलं तत्थ वणं' [यत्र जलं तत्र वनम्।] इत्यागमवचनात् प्रतिक्रमणप्रतिलेखनादिषु च वायुजीवादीनामारम्भस्यागमप्रसिद्धत्वात्, एजनादिक्रियायुक्तस्यारम्भाद्यवश्यंभावात्। यदागमः—"जाव णं एस जीवे एअइ वेयइ चलइ फंदइ इत्यादि यावदारंभे वट्टइ" [यावदेष जीव एजते व्येजते चलति स्पन्दते इत्यादि यावदारम्भे वर्तते।] इत्यादि। किंच—अपवादे आभोगपूर्विकायामपि जीवविराधनायां सम्यक्त्वनाशादिदूषणं यत् त्वया नोच्यते, तत्र किं म्रियमाणानां जीवानां प्राणत्यागाभावः, सद्गतिर्वा कारणं, द्वयमप्यागमबाधितमित्याशयशुद्धत्वमेव तत्र कारणं वाच्यमित्यशक्यपरिहारजीवविराधनायामप्याशयशुद्धत्वादेव दोषाभावोऽस्तु, किमनाभोगप्रपञ्चेन अत एव जीवघातेऽपि लोके द्रव्यहिंसाया भावहिंसायां शब्दादीनां रताविवानैकान्तिककारणत्वात्, जीवरक्षाविषयकप्रयत्नेनैव साधोरन्तस्तत्त्वशुद्धेरदुष्टत्वं विशेषावश्यके उपपादितं नत्वनाभोगेनैव, तथा च तद्ग्रन्थः—"एवमहिंसाऽभावो, जीवघणंति ण य तं जओ भिहियं॥ सत्थोवहयमजीवं, ण य जीवघणंति तो हिंसा॥१७६२॥" नन्वेवं सति लोकस्यातीवपृथिव्यादिजीवघनत्वादहिंसाभावः, संयतैरप्यहिंसाव्रतमित्थं निर्वाहयितुमशक्यमिति भावः, तदेतद् न, यतोऽनन्तरमेवाभिहितमस्माभिः—शस्त्रोपहत पृथिव्यादिकमजीव भवति। तदजीवत्वे चाकृताकारितादिपरिभोगेन निर्वहत्येव यतीनां संयमः। न च 'जीवघनो लोकः' इत्येतावन्मात्रेणैव हिंसा सम्भवतीति॥१॥ आह ननु जीवाकुले लोकेऽवश्यमेव जीवघातः सम्भाव्यते (सम्भवी) जीवांश्च घ्नन् कथं हिंसको न स्याद्? इत्याह। "ण य घायउत्ति हिंसो, णाघायंतोत्ति णिच्छियमहिंसो। ण विरलजीवमहिंसो,

ण य जीवघणंति तो हिंसो॥१७६३॥ अहणंतोवि हु हिंसो,दुट्ठत्तणओ मओ अहिमरोव्व। बाहिंतो ण वि हिंसो, सुद्धत्तणओ जहा विज्जो ॥१७६४॥" नहि घातक इत्येतावता हिंस्रः, नचाघ्नन्नपि निश्चयनयमतेनाहिंस्रः, नापि विरलजीवम् इत्येतावन्मात्रेणाहिंस्रः, न चापि जीवघनम् इत्येतावता च हिंस्र इति॥ किं तर्हि? अभिमरो गजादिघातकः स इव दुष्टाध्यवसायोऽघ्नन्नपि हिंस्रो मतः। बाधमानोऽपि च शुद्धपरिणामो न हिंस्रः, यथा वैद्य इति॥ घ्नन्नप्यहिंस्रोऽघ्नन्नपि च हिंस्र उक्तः। स इह कथंभूतो ग्राह्यः? इत्याह—"पंचसमिओ तिगुत्तो, नाणी अविहिंसओ ण विवरीओ। होउ व संपत्ती से, मा वा जीवोवरोहेणं ॥१७६५॥" पञ्चभिः समितिभिः समितः, तिसृभिश्च गुप्तिभिर्गुप्तो ज्ञानी जीवस्वरूपतद्रक्षाक्रियाभिज्ञः सर्वथा जीवरक्षापरिणामपरिणतस्तत्प्रयतश्च कथमपि हिंसन्नप्यविहिंसको मतः। एतद्विपरीतलक्षणस्तु नाहिंसकः, किन्तु हिंस्र एवायम्, अशुभपरिणामत्वाद्, भाव(बाह्य) जीवहिंसायास्तु, जीवोपरोधेन जीवस्य कीटादेरुपरोधेनोपघातेन, सम्पत्तिर्भवतु मा वा भूद्वा, सा तस्य साध्वादेः हिंसकत्वे तस्या अनैकान्तिकत्वादिति॥ कुतस्तस्या अनैकान्तिकत्वम्? इत्याह—"असुहो जो परिणामो, सा हिंसा सो उ बाहिरणिमित्तं। कोवि अवेक्खेज्ज ण वा, जम्हा णेगंतियं बज्झं ॥१७६६॥" यस्मादिह निश्चयनयतो योऽशुभपरिणामः स एव हिंसेत्याख्यायते। स च बाह्यं सत्त्वातिपातक्रियालक्षणं निमित्तं कोऽप्यपेक्षते,कोऽपि पुनस्तन्निरपेक्षोपि भवेत्,यथा तन्दुलमत्स्यादीनाम्,य(त)स्मादनैकान्तिकमेव बाह्यनिमित्तम्, तत्सद्भावेऽप्यहिंसकत्वात्, तदभावेऽपि च हिंसकत्वादिति॥ नन्वेवं तर्हि बाह्यो जीवघातः किं सर्वथैव हिंसा न भवति?;उच्यते, कश्चिद् भवति, कश्चित्तु न, कथम्? इत्याह—"असुहपरिणामहेऊ, जीवाबाहोत्ति तो मयं हिंसा। जस्स उ ण सो णिमित्तं, संतोवि ण तस्स सा हिंसा" ॥१७६७॥ ततस्तस्माद् यो जीवाबाधोऽशुभपरिणामस्य हेतुरथवाऽशुभपरिणामो हेतुः कारणं यस्याबाध-

शुभपरिणामहेतुर्जीवाबाधो जीवघातः स एव हिंसेति मतं तीर्थंकरगणधराणाम्। यस्य तु जीवाबाधस्य सोऽशुभपरिणामो, न निमित्त स जीवाबाधः, मन्नपि तस्य साधोर्न हिंसेति ॥ अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयन्नाह—"सद्दादओ रइफला, ण वीयमोहस्स भावसुद्धीओ। जह तह जीवाबाहो ण सुद्धमणसो वि हिंसाए ॥१७६८॥" यथेह वीतरागद्वेषमोहस्य भगवत, इष्टाः शब्दरूपादयो, भावविशुद्धितो न कदाचिद्रतिफला रतिजनकाः सम्पद्यन्ते, यथा वेह शुद्धात्मनो रूपवत्यामपि मातरि न विषयाभिलाषः सञ्जायते, तथा शुद्धपरिणामस्य यत्नवतः साधोः सत्त्वोपघातोऽपि, न हिंसायै सम्पद्यते, ततोऽशुभपरिणामजनकत्वे बाह्यं निमित्तमनैकान्तिकमेवेति ॥" यदि चाशक्यपरिहारविराधनाभोगः साधूनां सम्यक्त्वक्षतिकरः स्यात् तदौत्सर्गिकविहारादिक्रियापरित्याग एव स्यात्, तत्रापि योगजन्यविराधनानिश्चयाद्, न च प्रमाणान्तरेण निश्चितेऽपि स्वादर्शनमात्रेणानाभोगः शक्यो वक्तुमित्युक्तमेव, न चेदेवं तदा निरन्तरजीवाकुलभूमिं निर्णीयापि रात्रौ तत्रैव स्वैरगमने जीवाप्रत्यक्षत्वेन तत्र तज्जीवविराधनाऽनाभोगजा वक्तव्या स्यात्। तथा च लोकशास्त्रविरोधः। किंचैवमब्रह्मसेवायामपि केवलिवचसा निश्चीयमानाया अपि त्रसविराधनाया अनाभोगपूर्वकत्वे साधोः प्रथममहाव्रतभङ्गो न स्यात्, स्याच्च प्रकृष्टावधिमतां प्रत्यक्षयोगजन्यविराधनानामिति न किञ्चिदेतत् ॥ ५४ ॥

एवं व्यवस्थिते सत्यत्र विश्रान्तस्य परस्याक्षेपं समाधत्ते—

नणु आभोगा इत्थं, विरयाणं हुज्ज देसविरयत्तं ॥ णेवं, जं पडिपुन्ना, पडिवत्ती सुत्तआणा य ॥ ५५ ॥

[नन्वाभोगादत्र विरतानां भवेद् देशविरतत्वम्। नैवं, यत्प्रतिपूर्णा प्रतिपत्तिः सूत्राज्ञा च ॥ ५५ ॥]

व्याख्या—नणुत्ति। नन्वत्र नद्युत्तारे जलजीवविराधनायामाभोगाद्विरतानां, सर्वसंयमवतां देशविरतत्वं भवेत्, निश्चि-

तेऽपि जलजीवघातेऽवस्थितस्य विरतिपरिणामस्याभ्युपगमे तस्य देशविरतिरूपस्यैव पर्यवसानाद्, निश्चितेऽपि जलजीवघाते तज्जीवविषयकविरतिपरिणामस्यानपायेन चारित्राखण्डताभ्युपगमे न सर्वेषामपि सम्यग्दृशां सर्वविरतिप्रतिपत्तौ न किञ्चिद्बाधकमिति देशविरत्युच्छेद एव स्यादिति भावः। नैवम्, यद्–यस्मात् कारणाद्विरतानां प्रतिपूर्णा प्रतिपत्तिः–अष्टादशशीलाङ्गसहस्रग्रहणलक्षणा सूत्राज्ञा; तेन न निश्चितायामपि जलजीवविराधनाया नद्युत्तारादौ देशविरतत्वम्, प्रतिपन्नसर्वविरतेः सूत्राज्ञयाऽखण्डनात्। न च प्रतिदिनकर्त्तव्यविचित्रोत्सर्गापवादगहनाष्टादशशीलाङ्गसहस्रप्रतिपत्तियोग्यतां स्वात्मन्यनिश्चित्यादित एव तत्प्रतिपत्तिर्निर्युक्तेति तदधस्तनगुणस्थानयोग्यतया देशविरतिप्रतिपत्तिसम्भवान्न तदुच्छेद इति भावः। इदं तु ध्येयम्–निश्चयनयमतेनाष्टादशापि शीलाङ्गसहस्राण्यसङ्ख्येयात्मप्रदेशवत्परस्परनियतान्येवेत्येकस्यापि सुपरिशुद्धस्य शीलाङ्गस्य सत्त्वं शेषसद्भाव एव स्यादिति समुदितरेव तैः सर्वविरतिसम्भवः। तदुक्तं हरिभद्राचार्यैः पंचाशक १४ "एत्थ इमं विण्णेयं, अइदंपज्जं तु बुद्धिमंतेहिं। इक्कंपि परिसुद्धं, सीलंगं सेससब्भावे ॥१०॥ एक्को वाऽऽयपएसोऽसंखेज्जपएससंगओ जह उ। एयंपि तहा णेयं, सतत्तचाओ इहरहा उ ॥११॥ जम्हा समग्गमेयंपि, सव्वसावज्जजोगविरई उ॥ तत्तेणेगसरूवं, ण खंडरूवत्तणमुवेइ ॥१२॥ (अत्रेदं विज्ञेयमैदंपर्यं तु बुद्धिमद्भिः। एकमपि सुपरिशुद्धं शीलाङ्गं शेषसद्भावे ॥ एकोऽप्यात्मप्रदेशोऽसंख्येयप्रदेशसंगतो यथा तु। एतदपि तथा ज्ञेयं स्वतत्त्वत्याग इतरथा तु ॥ यस्मात्समग्रमेतदपि सर्वसावद्ययोगविरतिस्तु। तत्त्वेनैकस्वरूपं न खण्डरूपत्वमुपैति ॥) व्यवहारनयमते त्वेकाद्यङ्गभङ्गेऽपि सञ्ज्वलनोदयस्य चरणैकदेशभङ्गहेतुत्वादपरशीलाङ्गसद्भावादवशिष्टप्रतिपन्नचारित्रसद्भावान्न देशविरतत्वम्; न हि पर्वतैकदेशलोष्ठापगमेऽपि पर्वतस्य लोष्टुत्वमापद्यते, मूलभङ्गे तु चारित्रभङ्ग एव, "अत एव यो मन्यते 'लवणं भक्षयामीति' इति तेन मनसा न करोत्याहारसंज्ञाविहीनो रसने-

न्द्रियसंवृतः पृथिवीकायसमारम्भं मुक्तिसम्पन्न इत्येकतद्भङ्गः कृतः। ततस्तद्भङ्गेन च प्रतिक्रमणप्रायश्चित्तेन शुद्धिः स्यात्, अन्यथा मूलेनैव स्यादिति। न च तद्भङ्गक्षणेऽपि शेषाङ्गसत्त्वान्न मूलापत्तिरिति शङ्कनीयम्; मण्डपशिलादृष्टान्तेनैकस्यापि गुरुदोषस्य मूलनाशकत्वाभ्युपगमात्। इदं च शीलाङ्गान्यूनत्वं भावविरतिमपेक्ष्य द्रष्टव्यम्, न तु बाह्यामपि प्रवृत्तिमपेक्ष्य, यतः सा परतन्त्रस्य स्वतन्त्रस्य वा पुष्टालम्बनदशायां स्वतन्त्रभङ्गेच्छारूपाविरतिभावं विना द्रव्यहिंसादिकारिण्यपि स्यादेव, न च तया सर्वार्थानभिष्वङ्गस्य भावविरतिबाधनम्, उत्सूत्रा तु प्रवृत्तिर्बाधत एव विरतिभावम्, केवलं सा गीतार्थप्रज्ञापनायोग्या निरनुबन्धा, अभिनिवेशवती तु न मूलच्छेद्यातिचारजातमन्तरेण स्यादिति गीतार्थस्य तन्निश्रितस्य वाऽऽज्ञापरतन्त्रस्योत्सूत्रप्रवृत्तिरहितस्याष्टादशशीलाङ्गसहस्रमयो सर्वविरतिपरिणामः पूर्णो भवति, बाह्यप्रवृत्तिपूर्णतामात्रं त्वत्रातन्त्रमिति। तदुक्तं—''एयं च एत्थ एवं, विरईभावं पडुच्च दट्ठव्वं। ण उ बज्झंपि पवित्तिं, जं सा भावं विणा वि भवे ॥ १३ ॥ जह उस्सग्गंमि ठिओ, खित्तो उदगंमि केणइ तवस्सी। तव्वहपवित्तकाओ, अचलियभावोऽपवित्तो उ(अ) ॥ १४ ॥ एवं चिय मज्झत्थो. आणाओ(इ)कत्थई पयट्टंतो। सेहगिलाणादट्ठा, अपवत्तो चेव णायव्वो ॥ १५ ॥ आणापरततो सो, सा पुण सव्वन्नुवयणओ चेव। एगंतहिया वेज्जग–णाएणं सव्वजीवाणं ॥१६॥ भाव विणावि एवं, होइ पवित्ती ण बाहए एसा। सव्वत्थ अणभिसंगा, विरईभावं सुसाहुस्स ॥ १७ ॥ उस्सुत्ता पुण बाहइ, समइविअप्पसुद्धा वि णियमेण। गीयणिसिद्धपवज्जग–रूवा णवरं णिरणुबंधा ॥ १८ ॥ इह(य)रा उ अभिणिवेसा, इयरा नय मूलछेज्जविरहेण। होएसा एत्तो च्चिय, पुव्वायरिआ इमं बाहु॥ १९॥ गीयत्थो अ विहारो, बीओ गीयत्थमीसिओ चेव(भणिओ)। इत्तो तइअविहारो णाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥२०॥ गीयस्स ण उस्सुत्ता, तज्जुत्तस्सेयरस्स य(वि)तहेव। णियमेणं चरणवं जं ण जाउ आणं विलंघेइ ॥२१॥ ण य तज्जुत्तो (गीयत्थो) अण्ण, न णिवारए

जोग्गय मुणेऊणं । एव दोण्हवि चरण, परिसुद्धं अण्णहा णेव ॥ २२ ॥ ता एवं विरतिभावो, संपुन्नो एत्थ होइ णायव्वो । णियमेणं अट्ठारससीलंगसहस्सरूवो उ ॥ २३ ॥ त्ति [एतच्च अत्रैवं विरतिभावं प्रतीत्य द्रष्टव्यम् । न तु बाह्यामपि प्रवृत्तिं यत्मा भावं विनाऽपि भवेद् ॥ यथा कायोत्सर्गे स्थितः क्षिप्त उदके केनचित्तपस्वी । तद्वधप्रवृत्तकायोऽप्यचलितभावोऽप्रवृत्तस्तु ॥ एवमेव मध्यस्थ आज्ञया (आज्ञातः) क्वचित्प्रवर्तमानः । शैक्षग्लानाद्यर्थमप्रवृत्त एव ज्ञातव्यः ॥ आज्ञापरतन्त्रः सः, सा पुनः सर्वज्ञवचनतः । एकान्तहिता वैद्यकज्ञातेन सर्वजीवानाम् ॥ भावं विनाऽप्येवं भवति प्रवृत्तिर्न बाधते एषा । सर्वत्रानभिष्वङ्गाद्(ङ्गा) विरतिभावं सुसाधोः ॥ उत्सूत्रा पुनर्बाधते स्वमतिविकल्पशुद्धाऽपि नियमेन । गीतार्थनिषिद्धप्रपदनरूपा नवरं निरनुबन्धा ॥ इतरथा त्वभिनिवेशादितरात्(रा) न च मूलच्छेद्यविरहेण । भवत्येषाऽत एव पूर्वाचार्या इदं चाहुः ॥ गीतार्थश्च विहारो द्वितीयो गीतार्थमिश्रितश्चैव । इतस्तृतीयो विहारो नानुज्ञातो जिनवरैः ॥ गीतार्थस्य नोत्सूत्रा तद्युक्तस्येतरस्य च तथैव । नियमेन चरणवान् यत्न जातानां लिङ्घयति ॥ न च तद्युक्तोऽन्य न निवारयति योग्यतां ज्ञात्वा । एवं द्वयोरपि चरणं परिशुद्धमन्यथा नैव ॥ तस्मादेवं विरतिभावः सपूर्णोऽत्र भवति ज्ञातव्यः । नियमेनाष्टादशशीलांगसहस्ररूपस्तु ॥ इति] ततो नद्युत्तारादावुत्सूत्रप्रवृत्त्यभावादाज्ञाशुद्धस्य साधोर्न सातिचारतामपीति कुतस्तरां देशविरतत्वम् ? तदेवं नद्युत्तारेऽन्यत्र वाऽपवादपदे भगवदाज्ञया द्रव्याश्रवप्रवृत्तावपि न दोषत्वमिति स्थितम् । एवं चात्र विहितानुष्ठानेऽनुबन्धतोऽहिंसात्वेन परिणतायां द्रव्यहिंसायामपीति भगवदाज्ञैव प्रवृत्तिहेतुरिति सम्पन्नम्, आज्ञातः क्वचिद् द्रव्यहिंसादौ प्रावर्त्तमानोऽप्यप्रवृत्त इति 'पश्चाशकवृत्ति' वचनात् । यत्तूच्यते परेण नद्युत्तारादौ जलजीवविराधनाऽनुज्ञा किं साक्षादादेशरूपा, उत कल्पनाभिव्यञ्जिता ?, नाद्यः, 'स साधुर्जीवविराधनां करोतु' इत्यादिरूपेण केवलिनो वाक्प्रयोगासम्भवात् । यदुक्त-'अरिहंता भगवंतो' इत्यादि । अत एव

दीक्षा जिघृक्षताऽपि विज्ञप्तो भगवान् 'जहासुहं' इत्येवोक्तवान् न पुनस्त्वं गृहाणेत्यादि । यत्तु क्रियाकालेऽभ्यर्थितो भगवानादेशमुखेनाप्यनुज्ञां ददाति, तत्रानुज्ञायाः फलवत्त्वेन भाषाया निरवद्यत्वात् । नापि द्वितीयः, यतः कल्प्यता नद्युत्तारस्येष्टफलहेतुत्वेनैव स्यात्, इष्टफलं सहेतुत्वं च नद्युत्तारस्य यतनाविशिष्टस्यैव भणितम्, अयतनाविशिष्टस्य तु तस्य प्रतिषेध एवेत्ययतनाजन्यजीवविराधनयैव नद्युत्तारोऽप्यनिष्टफलहेतुत्वेनाकल्प्यो भणित इति जलजीवविराधनाविशिष्टो नद्युत्तारः केवलिनाऽनुज्ञात इति वक्तुमप्यकल्प्यम् । न च यतनया नदीमुत्तरतः साधोरनाभोगजन्याशक्यपरिहारेण या जलजीवविराधना साऽनुज्ञातेत्युच्यत इति वाच्यम्, तस्यामनुज्ञाया अनपेक्षणान्निष्फलत्वाद्, ज्ञातेऽपि प्रायश्चित्तानुपपत्तिप्रसक्तेश्च, जिनाज्ञया कृतत्वात् । एवमन्यत्रापि कल्प्यताऽकल्प्यता च फलद्वारा साक्षाद्वोक्ताऽवसातव्या; पर सर्वत्रापि वस्तुस्वरूपनिरूपणोपदेशेन न पुनः क्वाप्यादेशेनापि । अयं भावः–जिनोपदेशो हि सम्यग्दृशां वस्तुस्वरूपपरिज्ञानार्थमेव भवति । तत्र वस्तुनः स्वरूपं हेयत्वज्ञेयत्वोपादेयत्वभेदेन त्रिधा । तत्र किञ्चिद्वस्तु जीवघाताद्याश्रवभूतं हेयम्, दुर्गतिहेतुत्वात् । किञ्चिच्च जीवरक्षादि संवररूपमुपादेयम्, सुगतिहेतुत्वात्, किञ्चिच्च स्वर्गनरकादिकं ज्ञेयमेव, उभयस्वभावविकलत्वात् । यत्तु ज्ञातं सर्वमपि वस्तु सुगतिहेतुस्तत्र "सविशेषणे०" इत्यादिन्यायेन ज्ञानस्यैव प्राधान्यम्, तच्चोपादेयान्तर्भूतमवसातव्यम् । एवं च किञ्चिदेकमेव वस्तु विशेषणाद्यपेक्षया त्रिप्रकारमपि भवति । यथा एकैव गमनक्रिया जीवघातादिहेतुत्वेनाऽयतनाविशिष्टा साधूनां हेयैव, हेयत्वेन चाकल्प्यैव; तथा सैव क्रिया जीवरक्षादिहेतुत्वेन यतनाविशिष्टा साधूनामुपादेया, उपादेयत्वेन च कल्प्या; उभयविशेषणरहिता तु ज्ञेयैव । एवं धार्मिकानुष्ठानमात्रे वक्तव्ये "सविशेषणे०"-इत्यादिन्यायेन विधिनिषेधमुखेन यतनाऽयतनाविषयक एव जिनोपदेशः सम्यन्नः, तथा च जीवरक्षार्थं यतनोपादेयत्वेन कल्प्या, अयतना च जीवघातहेतुत्वेन हेयत्वेनाकल्प्येत्येवंविधिनिषेधमुखेन वस्तुस्वरूपावबोधको

जिनोपदेशो ज्ञानाद्यर्थमपवादपदप्रतिसेवणेऽप्यनादिसिद्धकल्प्यत्वादिलक्षणवस्तुस्वरूपावबोधको जिनोपदेशो भवति। यथा साध्व्या उपसर्गकर्तारमधिकृत्य "पंचिंदियववरोवणा कप्पिअ"त्ति [पञ्चेन्द्रियव्यपरोपणा कल्प्या इति ।।] निशीथचूर्णावुक्तं पुनः स हन्तव्य इति विधिमुखेन जिनोपदेशो भवति; "सव्वे पाणा सव्वे भूआ सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हन्तव्वा" [सर्वे प्राणाः सर्वे भूताः सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वा न हन्तव्याः ।।] इत्याद्यागमेन विरोधप्रसङ्गात्। यच्च दशाश्रुतस्कन्धचूर्णौ— "अवण्णवाइं पडिहणेज्ज"त्ति [अवर्णवादिनं प्रतिहन्यात् ।] भणितं तदाचार्यशिष्याणां परवादनिराकरणे सामर्थ्यं दर्शितम्। यथा—"मिच्छदिट्ठीसु पडिहएसु सम्मत्तं थिरं होइ"-त्ति [मिथ्यादृष्टिषु प्रतिहतेषु सम्यक्त्वं स्थिरं भवति ।] श्रीसूत्रकृदङ्गचूर्णौ भणितम्। अत एव "साहूण चेइआण य" [साधूनां चैत्यानां च ।] इत्यादौ सर्वबलेनेति स्वप्राणव्यपरोपणं यावदित्येवं भणितम्, न पुनर्जिनप्रवचनाहितकर्त्ता 'हन्तव्य' इति, जैनानां तथाभाषाया वक्तुमप्यनुचितत्वात्। यद्यपि सर्वबलेन निवारणे पञ्चेन्द्रियव्यापादनं कादाचित्कं भवत्यपि, तथापि 'स व्यापादनीयो व्यापाद्यतां च' इत्यादिरूपेण मनोव्यापारवानपि केवली न भवति, तथाभूतस्यापि मनोव्यापारस्य सावद्यत्वेन प्रत्याख्याततत्वात्। न चापवादिकस्तथाव्यापारः सावद्यो न भविष्यतीति शङ्कनीयम्, यतोऽपवादप्रतिसेवणं न संयतेष्वपि प्रमत्तस्यैव भवति, कथं तर्हि सर्वोत्कृष्टनियताप्रमत्तस्य केवलिनोऽपीति ?, परं पञ्चेन्द्रियव्यापादनभयेन यदि सति सामर्थ्ये प्रवचनाहितं न निवारयति, तर्हि संसारवृद्धिर्दुर्लभबोधिता चेत्यादि श्रीकालिकाचार्यकथादौ भणितम्। अहितनिवारणे न क्रियमाणे कदाचित्पञ्चेन्द्रियव्यापत्तौ प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्याशयस्य शुद्धत्वाज्जिनाज्ञाऽऽराधकः सुलभबोधिश्चेत्यादिरूपेण वस्तुस्वरूपावबोधको जिनोपदेशो भवतीति तात्पर्यम्। एवं जिनोपदेशेन वस्तुस्वरूपमवगम्य स्वत एव यथौचित्येन प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां जिनाज्ञाराधको भवतीति जिनोपदेशस्य कल्प्याकल्प्यतावबोध

एव चरितार्थत्वाज्जलजीवविराधनानुज्ञा केवलिनः कलङ्क एव । न च नद्युत्तारस्य कारणत्वेन जलजीवविराधनाऽऽप्यापवादिकीति तत्र जिनोपदेशो भविष्यतीति शङ्कनीयम्, अचित्तजलनद्युत्तारस्याभावापत्त्या तस्या नद्युत्तारे कारणत्वाभावात्। तस्मान्नद्युत्तारस्य कारणं न जलजीवविराधना, किन्तु पादादिक्रियैवेति । एतेन 'जलं वस्त्रगलितमेव पेयम् नागलितम्, इत्युपदिशता केवलिना जले जीवविराधना सचित्तजलपानं चोपदिष्टं भविष्यतीति शङ्काऽपि परास्ता। यतः "सविशेषणे०" इत्यादिना न्यायेन तत्र जलगलनमेवोपदिष्टम्, तच्च त्रसजीवरक्षार्थमिति । न च केवलिना जीवघातादिकं साक्षादनुज्ञातमिति न ब्रूमः, विहारादिकमनुजानता तदविनाभावेन जायमानमनुज्ञातमित्यस्यापि वचनस्यावकाशः, एवं सति गजसुकुमालश्मशानकायोत्सर्गमनुजानतः श्रीनेमिनाथस्य तदविनाभावितदीयशिरःप्रज्वालनस्याप्यनुज्ञापत्तेः । न च नद्युत्तारे जलजीवविराधना यतनया कर्त्तव्येति जिनोपदेशो भविष्यतीत्यपि सम्भावनीयम्, यतनाविराधनयोः परस्पर विरोधाद्, यतना हि जीवरक्षाहेतुरयतना च जीवघातहेतुरिति । तस्माज्जीवविराधना नियमादयतनाजन्यैव, अयतना चान्ततो जीवघातवदनाभोगजन्याशक्यपरिहारेणैव, जीवरक्षा च यतनाजन्यैवेत्यनादिसिद्धो नियमो मन्तव्यः । अत एव छद्मस्थसंयतानामुपशान्तवीतरागपर्यन्तानां यतनया प्रवर्त्तमानानामपि या विराधना सा नियमादनाभोगवशेनायतनाजन्यैव, परमप्रमत्तसंयतानां नातिचारहेतुरपि, आशयस्य शुद्धत्वात्। एतच्च सम्भावनयाप्यात्मकृतत्वेनाज्ञाताया छद्मस्थसाक्षात्कारगम्यजीवविराधनायामवसातव्यम्, ज्ञातायां च प्रायश्चित्तप्रतिपित्सोरेव, अन्यथा तु निःशूकतया संयमापगमः प्रतीत एव । न चाप्रमत्तानामयतना न भविष्यतीति शङ्कनीयम्, अनाभोगजन्यायतनायाश्छद्मस्थमात्रस्य सत्त्वेनाप्रमत्तताया अनाबाधकत्वात्, तेन संयतानां सर्वत्राप्यनाभोगजन्याशक्यपरिहारेण जायमाने जीवघातमृपाभाषणाद्यंशे जिनोपदेशो न भवत्येव, तथाभूताया अपि विराधनाया अयतनाजन्यत्वेन निषिद्धत्वाद्, अत एव संय-

तानां द्रव्यतोऽपि हिंसा कर्मबन्धकारणम्, असत्यपि कृतप्रत्याख्यानभङ्गनालोचनाविषयः । यदागमः—"से अ पाणाइवाए चउव्विहे पण्णत्ते, तं०—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ" [स च प्राणातिपातश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः ॥] इत्यादि प्रत्याख्यानं च सर्वविरतिसिद्ध्यर्थमेव, तस्या अपि द्रव्यत आश्रवरूपत्वात्, सूक्ष्मपृथिव्यादीनामिवाविरतिप्रत्ययकर्मबन्धहेतुत्वात्, हिंसायाः कारणत्वाच्च; एतेन यत्र क्वापि धार्मिकानुष्ठाने सम्भावनयाप्यवश्यं भवति तदनुष्ठानविषयको जिनोपदेशो न भवति, सावद्यारम्भस्योपदेशविषयत्वापत्त्या कृतसर्वसावद्यप्रत्याख्यानतः प्रत्याख्यानभङ्गेन 'कोली यथा वार्द्धी तथा कर्त्ता न भवेद्' इत्येवं प्रत्पणात्मकं पाशचन्द्रमतमप्युपेक्षितं द्रष्टव्यम्, जैनप्रवचने प्रागुक्तप्रकारेण तदंशे जिनोपदेशापत्तेरवतारिता कारणम्; यद्वस्तुजातं चिकीर्षितकार्यस्य प्रतिकूलमननुकूलं वा भवेत्तदविनाभावसम्बन्धेन जायमानमप्यनुकूलकारणवदुपदेशविषयो न भवति । यथा नद्युत्ताराद्युपदेशे जीवघातो यथा वा क्षुद्वेदनाद्युपशमनार्थाहारविधौ तिक्तमधुरादिरसास्वादः, परं यान्ति निर्जीपितकार्यस्यानुकूलकारणान्यपि व्यवहारतः सावद्यानि भवन्ति तद्विषया जिनाज्ञा क्रियाकालेऽप्यादेशमुखेन न स्याद्, एवं व्यवहारनो भाषायाः सावद्यत्वप्रसक्तेः; किं त्विष्टफलोपदर्शनेन कर्त्तव्यत्वाभिव्यञ्जितोपदेशमुखेनैवावसातव्या । सा चाज्ञा निश्चयतो निरवद्यैव, संसारप्रत्यनुकरणप्रक्रियानुवर्तितपुण्यप्रकृतिबन्धहेतुत्वात् । एतेन कुसुमादिभिर्जिनेन्द्रपूजामुपदिशता कुसुमादिजीवविराधनाप्युपदिष्टैव, पूजाविनाभावित्वेन तस्या पूजावदुपदिष्टत्वादिति वचनमपास्तम्, कुसुमादिजीवविराधनायाः पूजायाः कर्त्रभिप्रायाविषयत्वेन पूजाविषयकपरिणामस्यावतारहेतुत्वेन कल्पितकुसुमादीनामिव द्रव्यपूजायामप्यनन्तभूतत्वात्, उपदेशमन्तरेणापि जायमानत्वात्, पूजा कर्त्ता त्यक्तुमशक्यत्वात्, अन्यथा कुसुमादीनामिव तस्या अपि भूयस्त्वमेव विशिष्टपूजाङ्गं वाच्यं स्याद्, न च कुसुमादिभूयस्त्वं तद्भूयस्त्वाव्यापकम्, कुसुमादीनां सचित्ताचित्ततया

द्वैविध्यव्यवस्थानात्। तस्मात्तीर्थकृतामाज्ञोपदेशः कर्मक्षयनिमित्तं प्रत्युपेक्षणेर्यासमित्यादिषु संयता यतनया प्रवर्त्तेरन् नान्यथा, संसारवृद्धिहेतुत्वादित्येवंविधिनिषेधमुखाभ्यामेवावसातव्यो न पुनस्त्वमित्थं कुरु इत्यादिसाक्षादादेशमुखेनापि। न च यतनया नद्युत्तारवत्तया द्रव्यपूजापि संयताना भवत्विति शङ्कनीयम्, सा पूना त्रसस्थावरजीवरक्षायतनाधिकाराद्, नद्युत्तारे 'एगं पायं जले किच्चा' [एकं पादं जले कृत्वा ॥] इत्यादिविधिना तन्निर्वाहाद्, द्रव्यस्तवे च त्रसजीवरक्षार्थयतनावतां श्राद्धानामेवाधिकारात्, सर्वारम्भपरिजिहीर्षापूर्वकपृथिव्यादियतनापरिणामे च तेषामपि चारित्र एवाधिकार इति तत्कारापणं च साधूनामुपदेशमुखेन युक्तम्, निश्चयतोऽनुज्ञाविषयत्वाद्, न त्वादेशमुखेन; पृथिवीदलादीनां तत्कारणानां व्यवहारतः सावद्यत्वात्, सोऽप्युपदेशो जिनपूजायतनाविषय एवेति सर्वत्र यतनायामेव भगवदाज्ञा, नतु क्वचिद् द्रव्यहिसायामपीति। तत्र ब्रूमः—अनुज्ञा तावद्भगवतो विधिवचनरूपा नद्युत्ताराद्यविनाभाविन्यां जलजीवप्राणवियोगरूपाया जलजीवविराधनायां न कथञ्चिदेव, तस्या उदासीनत्वात्। तदनुकूलव्यापाररूपाया तु तस्या नद्युत्तारादिव्यापाररूपाया साऽवर्जनीयैव उभयस्वभावस्यानैकान्तिकस्य निमित्तकारणस्य बुद्धिभेदेन पृथक्कर्तुमशक्यत्वाद्, यत एव च यतनाविशिष्टस्य नद्युत्तारस्येष्टफलहेतुत्वं भणितम्। अत एव नैमित्तिकविधिरूपाया भगवदाज्ञाया बहुलाभाल्पव्ययद्रव्यहिसायां व्यवहारतः पर्यवसानमुत्सर्गतः प्रतिषिद्धं हि केनचिन्निमित्तेनैव विधीयत इति तत इदमुच्यते "अप्पेण बहुं इच्छइ विसुद्धआलंबणो समणो।" [अल्पेन बहु इच्छति विशुद्धालम्बनः श्रमण इति ॥] निश्चयतस्तु नैकान्ततो बाह्यं वस्तु विधीयते निषिध्यते वा, केवलं शुभभावो विधीयतेऽशुभभावस्तु निषिध्यते, अत एव भावानुरोधेन बाह्ये वस्तुनि विधिनिषेधकामचारः। तदुक्तं सङ्घदासगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादैः—(बृ० कल्पभाष्ये) "ण य(वि) किंचि अणुण्णायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं। एसा तेसि आणा, कज्जे सच्चेण होअव्वं ॥३३३०॥ ति। [नापि किञ्चिदनुज्ञातं प्रतिषिद्धं

याऽपि जिनवरेन्द्रैः । एषा तेषामाज्ञा कार्यं सत्येन भवितव्यम् ॥] तथा च 'यदेव निश्चयव्यवहारेण नद्युत्तारादेरनुज्ञातत्वं तदेव द्रव्यहिंसाया अपि' इत्यनशिष्टकल्पनाजालमनुत्थानोपहतम् । इदं तु ध्येयम्–अनुज्ञाविषयतावच्छेदकं न हिंसात्वं नद्युत्तारत्वादिकं वा, किन्तु सामान्यविशेषविधिविधेयतावच्छेदकविधिशुद्धव्यापारत्वं यतनाविशिष्टनद्युत्तारत्वादिकं वा फलतस्तु विधिशुद्धहिंसाया अप्यनुज्ञाविषयत्वं व्यवहारबाधितमेव अत एव विधिना क्रियमाणाया जिनपूजादिविषयहिंसाया अनुबन्धभावतो मोक्षप्राप्तिपर्यवसानत्वमुपदेशपदपञ्चवस्तुकादावुक्तम् । यत्तु 'अरिहंता भगवतो' इत्यादि सम्मतिप्रदर्शनेन भगवतो विराधनाविषयकवाक्प्रयोगासम्भव उपपादितस्तदत्यन्तमसमञ्जसम्, सम्मतिवचनस्य कायव्यापारेणेव प्रवर्त्तकत्वनिवर्त्तकत्वाभावाभिधानतात्पर्याद्वाक्प्रयोगस्याप्यप्रवर्त्तकनिवर्त्तकत्वविधिनिषेधव्याघातैर्यर्थ्याद् । यदपि "सविशेषणे०" इत्यादिन्यायेन यतनाऽयतनाविषयत्वमेव सर्वत्र जिनोपदेशस्योपदर्शितं तदपि विशेष्यभागस्याकिञ्चित्करत्वप्रदर्शनार्थं महावाक्यार्थपर्यवसानार्थमैदम्पर्यार्थपर्यवसानार्थं वा ?, नाद्यः, नद्युत्तारजन्यस्य भिक्षाचर्याविहारादिफलस्य यतनामात्रादसिद्धेर्विशेष्यभागस्याकिञ्चित्करत्वासम्भवाद् । न द्वितीयः, महावाक्यार्थस्य सर्वैरेव पदार्थैः पर्यवसानाद् । नापि तृतीयः, 'आज्ञा धर्मे सार' इति सार्वत्रिकैदम्पर्यार्थस्य प्रकृतवाक्यार्थे योजनायामपि विशेष्यस्य त्यागायोगात् । किञ्चैवं 'जय चरे' [यतं चरेत् ।] इत्यादौ यतनांश एवोपदेशो न तु चरणाद्यंश इत्येकत्र वाक्ये कथं पदपदार्थयोजना ?, यदपि ज्ञानाद्यर्थमपवादप्रतिषेवणेऽयतनादिसिद्धकल्प्यत्वादिलक्षणवस्तुस्वरूपावबोधक एव जिनोपदेशः, प्रवृत्तिस्त्वौचित्यज्ञानेन स्वत एवेत्युक्तं, तदप्यगाधभ्रमसमुद्रमज्जनविजृम्भितम्, जिनोपदेशात् कल्प्यत्वादिबोधे स्वत एव प्रवृत्तिवचनस्याविचारितरमणीयत्वात्, कल्प्यताबोधकस्योपदेशस्यैव प्रवृत्तिजनकेच्छाजनकज्ञानविषयेष्टसाधनतादिबोधकत्वेन प्रवर्त्तकत्वाद्, एतदेव हि सर्वत्र विधेः प्रवर्त्तकत्वमभ्युपयन्ति शास्त्रविदः । विधेः प्रवर्त्तकत्वादेव च

कल्प्यतादिबोधकादर्थवादादपि विधिकल्पनमाद्रियते, इत्थं च 'पञ्चेन्द्रियववरोवणा वि कप्पिय'त्ति [पञ्चेन्द्रियव्यपरोपणाऽपि कल्प्या' इति ।] निशीथचूर्णावुक्त न पुनः 'स हन्तव्य' इतीति यदुक्तं तत् ध्वनिभेदेनार्थपरावर्त्तमात्रम्। यच्च 'सव्वे पाणा' इत्यादिना विरोधोद्भावनं कृतं तत् 'न हन्तव्य' इत्यादिशब्दसादृश्यमात्रेणैव, किन्तु हिसाविषयकोपदेशार्थमात्रेण स्यात्, तन्निराकरणं चैतत्सूत्रस्याविधिकृतहिसाविषयत्वेनैव हरिभद्रसूरिभिः कृतमिति नात्र पर्यनुयोगावकाशः। किञ्च सामान्यतः सर्वजीवपरितापनानिषेधेऽपि क्वचिदपवादतस्तदुपदेशो विधिमुखेनापि दृश्यते, यथा भगवत्यां–"तं छंदेण अज्जो तुब्भे गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएह, धम्मिआए पडिसारणाए पडिसारेह, धम्मिएणं पडोआरेणं पडोआरेह; धम्मियाएहि अट्ठेहि हेऊहिं पसिणेहि य णिप्पिट्ठपसिणवागरणं करेह"। त्ति [तच्छन्देन आर्य! यूयं गोशालं मंखलिपुत्रं धार्मिकया प्रतिचोदनया प्रतिचोदयत, धार्मिकया प्रतिसारणया प्रतिसारयत, धार्मिकेण प्रत्यवतारेण प्रत्यवतारयत धार्मिकैरर्थैर्हेतुभिः प्रश्नैश्च निष्पृष्टप्रश्नव्याकरणं कुरुतेति।] एतद्धि गोशालस्य परितापजनकं वचनं भगवतैव लाभं दृष्ट्वाऽऽज्ञप्तम्, न चोत्सर्गतः परपरितापजनकं वचनं साधूनां वक्तुं युज्यत इत्यवश्यमपवादविधिरुत्सर्गविधिवदङ्गीकर्त्तव्यः। इत्थं च 'अवण्णवाइ पडिहणेज्ज'त्ति '[अवर्णवादिनं प्रतिहन्यात्।] दशाश्रुतस्कन्धचूर्णिवचनस्य यदन्यार्थपरिकल्पनं तदयुक्तमेव, मिथोविरुद्ध चेद यदुतापवादविधिप्रतिषेधः, पञ्चेन्द्रियव्यापादनभयेन सति सामर्थ्ये प्रवचनाहितानिवारणे संसारवृद्धिर्दुर्लभबोधिता चेति। इत्थं हि प्रवचनाहितनिवारणे निमित्ते पञ्चेन्द्रियव्यापादनस्य बलवदनिष्टानुबन्धित्वबोधार्थमपवादविधिरवश्यं कल्पनीयः, अन्यथा सामान्यनिषेधजनितभयानिवृत्तेरिति। यच्चाहितनिवारणे क्रियमाणे कदाचित्पञ्चेन्द्रियव्यापत्तौ प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्याशयस्य शुद्धत्वाज्जिनाराधकत्वं सुलभबोधिकत्वं चोक्तं तदविचारितरमणीयम्, यतनावतोऽपवादेऽपि प्रायश्चित्तानुपदेशात्। तदुक्तं बृहत्कल्पवृत्तौ

तृतीयखण्डे—"तथा मूलगुणप्रतिसेव्यप्यालम्बनमहितः पूज्यः, पुलाकवत्; स हि तुलादिकार्ये चक्रवर्तिस्कन्धावारमपि गृह्णीयाद्, विनाशयेद्वा, न च प्रायश्चित्तमाप्नुयाद्।" इत्यादि। यत्तु तस्य "हिट्ठट्ठाणट्ठिओ वि" ॥४५२५॥ [अधस्तनस्थानस्थितोऽपि।]–इत्यादिनाऽधस्तनस्थानस्थायित्वमुक्तं तत्स्वाभाविकम्, न तु प्रतिसेवनाकृतमिति बोध्यम्। किञ्च तस्य प्रायश्चित्तं स्यात् तदा पुनर्व्रतारोपणादि स्याद्, आकुट्या पञ्चेन्द्रियघाते मूलादिमहाप्रायश्चित्ताभिधानाद्। उक्तं च–"तस्य हस्तशताद्बहिर्गमने इव निरतिचारताभिव्यञ्जकं सम्माश्रय-विशोधकमालोचनाप्रायश्चित्तमेव। तथा च द्वितीयखण्डे बृहत्कल्पभाष्यवृत्तिग्रन्थः–" आयरिए गच्छम्मि य, कुलगणसंघे य चेइअविणासे। आलोइअपडिक्कंतो, सुद्धो जं णिज्जरा विउला ॥२९६३॥" व्या० षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात्, आचार्यस्य वा गच्छस्य वा कुलस्य वा गणस्य वा सङ्घस्य वा चैत्यस्य वा विनाशे उपस्थिते सति सहस्रयोधिप्रभृतिना स्ववीर्यमक्षापयता तथा पराक्रमणीयं यथा तेषामाचार्यादीनां विनाशो नोपजायते, स च तथा पराक्रममाणो यद्यपराधमापन्नस्तथाऽप्यालोचितप्रतिक्रान्तः शुद्धः–गुरुसमक्षमालोच्य मिथ्यादुष्कृतप्रदानमात्रेणासौ शुद्ध इति भावः। कुतः? इत्याह–यद्यस्मात्कारणाद्, विपुला महती, निर्जरा कर्मक्षयलक्षणा तस्य भवति, पुष्टालम्बनमवगम्य भगवदाज्ञया प्रवर्त्तमानत्वादिति॥" इत्थं च सर्वत्र वस्तुस्वरूपावबोधक एवापवादोपदेशो नतु विधिसूत्र इति यत्किञ्चिदेव, बहूनां छेदग्रन्थस्थापवादसूत्राणां विधिमुखेन स्पष्टमुपलम्भात्। तथा आचाराङ्गेऽपि "से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा रुक्खाणि वा गुच्छाणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा तणगहणाणि वा हरिआणि वा अवलंबिया उत्तरिज्जा, से तत्थ पाडिपहिआ उवागच्छंति ते पाणि जाएज्जा, तओ संजयामेव अवलंबिय २ उत्तरेज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा।" [अथ स तत्र प्रचलन् प्रपतन् वृक्षान् गुच्छान् वा लता वा वल्लीर्वा तृणानि वा तृणगहनानि वा हरितानि वा अवलम्ब्य उत्तरेत्, अथ तत्र

प्रातिपथिका उपागच्छन्ति तेषां पाणिं याचेत, ततः संयत एव अवलम्ब्य उत्तरेत्, ततः संयत एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥] इत्यत्र गच्छगतस्य साधोर्वल्ल्याद्यालम्बनस्य विधिमुखेनैवोपदेशात्। न च "से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा गत्ताओ वा दरीओ वा सति परक्कमे संजयामेव परक्कमिज्जा णो उज्जुअं गच्छिज्जा। केवली बूआ, आयाणमेयंति" ॥ [अथ भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य वप्रा वा परिखा वा प्राकारा वा तोरणानि वा अर्गला वा अर्गलपाशका वा गर्ता वा दर्यो वा सति पराक्रमे संयत एव पराक्रमेत, नोऋजुकं गच्छेत्। केवली ब्रूयादादानमेतत्][द्वि.श्रु.अ०३ उ०२] प्रागुक्तनिषेधकारणानिष्टसम्भावनावचनमेतद्, नतु विधिवचनमिति वाच्यम्; विधिवचनत्वेनापि वृत्तिकृता वृत्त्यां व्याख्यानात्। तथाहि "से इत्यादि। स भिक्षुर्ग्रामान्तराले यदि वप्रादिकं पश्येत्, ततः सत्यन्यस्मिन् सङ्क्रमे तेन ऋजुना पथा न गच्छेद्, यतस्तत्र गर्तादौ निपतन् सचित्तं वृक्षादिकमवलम्बेत, तच्चायुक्तम्। अथ कारणिकस्तेनैव गच्छेत्, कथञ्चित्पतितश्च गच्छगतो वल्ल्यादिकमप्यवलम्ब्य प्रातिपथिकं हस्तं वा याचित्वा संयत एव गच्छेदिति।" तथा सामान्यतः प्रतिषिद्धं लवणभक्षणमप्यपवादतो विधिमुखेन तत्रैवानुज्ञातं दृश्यते। तथाहि "से भिक्खू वा २ जाव समाणे सिया से परो अवहट्टु अंतो पडिग्गहे बिडं वा लोणं वा उब्भियं वा लोणं परिभाइत्ता णीहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुअं जाव णो पडिग्गहिज्जा, से आहच्च पडिग्गाहिए सिया, तं च णाइदूरगयं जाणेज्जा, से तमादाय तत्थ गच्छेज्जा, पुव्वामेव आलोइज्जा, आउसोत्ति वा भगिणित्ति वा इमं ते किं जाणया दिन्नं, उदाहु अजाणया? से य भणेज्जा, नो खलु मे जाणया दिन्नं, अजाणया दिन्नं, कामं खलु आउसो इदाणिं णिसिरामि तं भुंजह वा णं परिभाएह वा णं तं परेहिं समणुन्नायं समणुसिट्ठं तओ संजयामेव भुंजेज्ज वा पिवेज्ज वा, जं च णो

संचाएति भोत्तए वा पायए्वा साहम्मिया तत्थ वसंति, संभोइआ समगुण्णा अपरिहारिआ अदूरगया तेसिं अणुप्पदायव्वं सिया, णो जत्थ साहम्मिआ सिआ, जहेव वहुपरिआवन्ने कीरइ तहेव कायव्वं सिया, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गिअंति।" (द्वि.श्रु. अ०१उ०१०) एतद्वृत्तिर्यथा–"स भिक्षुर्गृहादौ प्रविष्टःस्यात्, तस्य च कदाचित्परो गृहस्थः 'अभिहट्टु अंतो' इति अन्तः प्रविश्य पतद्ग्रहे काष्ठच्छव्वकादौ, ग्लानाद्यर्थं खण्डादियाचने सति बिडं वा लवणं खनिविशेषोत्पन्नं, उद्भिज्जं वा लवणाकराद्युत्पन्नं, परिभाइत्ति दातव्यं विभज्य दातव्यद्रव्यात् कश्चिदंशं गृहीत्वेत्यर्थः। ततो निःसृत्य दद्यात्, तथाप्रकारं परहस्तादिगतमेव प्रतिषेधयेत्, 'तच्चाहच्चे'ति सहसा प्रतिगृहीतं भवेत्। तं च दातारमदूरगतं ज्ञात्वा स भिक्षुस्तल्लवणादिकमादाय तत्समीपं गच्छेद्, गत्वा च पूर्वमेव तल्लवणादिकमालोकयेद्दर्शयेद्, एतच्च ब्रूयाद् 'अमुक' इति वा, भगीनीति वा! एतच्च लवणादिकं किं त्वया जानता दत्तमुताजानता? एवमुक्तः सन् पर एवं वदेद्, यथा पूर्वं मयाऽजानता दत्तम्, साम्प्रतं तु यदि भवतोऽनेन प्रयोजनं ततो दत्तमेतत्परिभोगं कुरुध्वम्। तदेव परैः समनुज्ञातं समनुसृष्टं सत्प्रासुकं कारणवशादप्रासुकं वा भुञ्जीत पिबेद्वा, यच्च न शक्नोति भोक्तुं पातुं वा तत् साधर्मिकादिभ्यो दद्यात्, तदभावे बहुपर्यापन्नविधिं प्राक्तनं विदध्याद्, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति।' न चापवादविषयोऽपि मनोव्यापारः सावद्यत्वात् केवलिनो न सम्भवतीति शङ्कनीयम्, अधिकृतपुरुषविशेषेऽधिकनिवृत्तितात्पर्यावगाहित्वेनास्य निरवद्यत्वाद्, अन्यथा देशविरत्युपदेशोऽपि न स्यात्, तस्य चरणाशक्तपुरुषविषयत्वेनापवादिकत्वात्, अत एव चारित्रमार्गमनुपदिश्य देशविरत्युपदेशे स्थावरहिंसाऽप्रतिषेधानुमतेः क्रमभङ्गादपसिद्धान्त उपदर्शितः। यत्तु 'जलं वस्त्राऽऽगलितमेव पेयम्' इत्यत्र "सविशेषणे०" [सविशेषणे हि प्रयुज्यमानौ विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतः] इत्यादिन्यायाज्जलगलनमेवोपदिष्टं न तु विधिमुखेन निषिद्धोपदेशः कारणतोऽपीति, तदसद्,

यतो जलगालनमपि जलगसमेव, तदुक्तमाचाराङ्गनिर्युक्तौ–"उस्सिचण–गालण–धोअणे य उवगरण–कोस(मत्त)भंडे अ॥ बायरआउक्काए एयं तु समासओ सत्थं" ॥११३॥ [उत्सेचन–गालन–धावनं चोपकरण–कोशभाण्डं च। बादराप्काये एतत्तु समासतः शस्त्रम्॥] ति अत्र गालनं 'घनमसृणवस्त्रादन्तेन' इति वृत्तौ सम्पूर्य व्याख्यातम्। तच्च त्रिविधं त्रिविधेन निषिद्धमिति विधिमुखेन तदुपदेशे निषिद्धस्यापवादतस्तथोपदेशाविरोधाद्, निषिद्धमपि हि क्वचित्कदाचित्कथञ्चिद्विहितमपि भवतीति। यत्तूक्तं द्रव्यहिंसाया अयनाभोगवत्त्वादयतनाजन्यत्वेन निषिद्धत्वमेवेति तत्रायतनाजन्यहिंसायाः कटुकफलहेतुत्वात्, तन्न, आशयशुद्धेः प्रतिबन्धिकाया यतनातिरिक्ताया असिद्धेः, तस्याश्चायतनया सह विरोधात्, स्थूलयतनाया स्थूलायतनायाः प्रतिबन्धकत्वेन सूक्ष्मायतनाकल्पने प्रमाणाभावाद्, अयतनासत्त्वेऽप्रमत्तानामप्रमत्तताऽसिद्धेः। या च सूक्ष्मा विराधना द्वादशगुणस्थानपर्यन्तमालोचनाप्रायश्चित्तबीजमिष्यते सा न सूक्ष्मायतनारूपा, सूक्ष्माया अप्ययतनायाश्चारित्रदोषत्वेनोपशान्तक्षीणमोहयोर्यथाख्यातचारित्रिणोस्तदनुपपत्तेः; किन्त्वनाभोगलक्षणसूक्ष्मप्रमादजनितचेष्टाश्रवरूपा, अत एव द्वादशगुणस्थानपर्यन्तं तन्निमित्तालोचनाप्रायश्चित्तसम्भवः। तदुक्तं प्रवचनसारोद्धारवृत्तौ—"इयं चालोचना गमनागमनादिष्ववश्यकर्त्तव्येषु सम्यगुपयुक्तस्यादुष्टभावतया निरतिचारस्य छद्मस्थस्याप्रमत्तयतेर्द्रष्टव्या, सातिचारस्य तूपरितनप्रायश्चित्तसम्भवात्, केवलज्ञानिनश्च कृतकृत्यत्वेनालोचनाया अयोगात्। आह–यतीनामवश्यकर्त्तव्यानि गमनागमनादीनि तेषु सम्यगुपयुक्तस्यादुष्टभावतया निरतिचारस्याप्रमत्तस्य किमालोचनया? तामन्तरेणापि तस्य शुद्धत्वाद्, यथासूत्रं प्रवृत्तेः। सत्यमेतत्, केवलं याश्चेष्टानिमित्ताः सूक्ष्मप्रमादनिमित्ता वा सूक्ष्मा आश्रवक्रियास्ता आलोचनामात्रेण शुद्ध्यन्तीति तच्छुद्धिनिमित्तमालोचनेति। तथा व्यवहारदशमोद्देशकवृत्तावप्युक्तं–"निर्ग्रन्थस्यालोचना–विवेकरूपे द्वे प्रायश्चित्ते, स्नातकस्यैको विवेक इति। तथाऽऽलोचना गुणैः पुरतः

स्वापराधस्य प्रकटनम् कथितानन्मात्रेणैव शुद्धिः, यथाऽवश्यकृत्ये हस्तशतात् परतो गमनागमनादौ सम्यगुपयुक्तस्य निरतिचारस्य यतेः, सातिचारस्य तूपरितनप्रायश्चित्तसम्भवात् । यतेरवश्यकृत्ये गमनागमनादौ निरतिचारस्यालोचना विनाऽपि कथं न शुद्धिः, यथाम्ब्रं प्रवृत्तेः । सत्यम् ; परं याश्चेष्टानिमित्ताः सूक्ष्मा आश्रवक्रियास्तासां शुद्ध्यर्थमालोचनेति ॥" तथा यतिजीतकल्पवृत्तावप्युक्तम्–"अ-थाह शिष्यः–निरतिचारो यतिः करणीयान् योगान् करोति, ततः किमालोचनया विशोध्यम् ?, गुरुराह–सूक्ष्मा आश्रवक्रियाः सूक्ष्मप्र-मादनिमित्तका अविज्ञातास्तासामालोचनमात्रेण शुद्धिरित्यादि।" तथा १६ पञ्चाशकसूत्रवृत्त्योरप्युक्तम्–"ता एव चिय एयं, विहियाणु-ट्ठाणमेत्थ हवइत्ति। कम्माणुबंधछेअण-मणहं आलोअणाइजुअं॥५॥" "यस्मात्सर्वास्वासु कर्मबन्धोऽस्ति कर्मबन्धानुमेया च विराधना, उच्यते चासौ द्रव्यतो वीतरागस्यापि छद्मस्थस्य, चतुर्णामपि मनोयोगादीनामभिधानात्, ता तस्मात्, एवंविधाति एवमेव विराधनायाः शोध-नीयत्वेन, एतद् भिक्षाटनादिकं, विहितानुष्ठानं विधेयक्रिया, अत्र कर्मानयनप्रक्रमे, भवति स्यात्। इति शब्दः समाप्त्यर्थो गाथान्ते योज्यः । किंविधं भवति ? इत्याह–कर्मानुबन्धच्छेदनं कर्मसन्तानच्छेदकं, अनघं–अदोषम्, परोक्तदूषणाभावात्। किंभूतं सद् ? इत्याह–आलोचनादियुतं आलोचनाप्रतिक्रमणादिप्रायश्चित्तसमन्वितमिति गाथार्थ इति ॥" वस्तुतः कर्मबन्धानुमेया द्रव्यविराधना निर्ग्रन्थस्य स्नातकस्य च तुल्या, द्वयोरपि सामयिककर्मबन्धहेतुत्वात् ; परं छद्मस्थानां विहितानुष्ठानमालोचनादियुतमिष्टसाधनम्, तथैव विधानात् छद्मस्थयोगानां शोध्यत्वेन प्रायश्चित्तस्य च शोधकत्वेन व्यवस्थितेरित्यकषायस्य योगा ऐर्यापथिककर्मबन्धहेतुत्वेन नायतनयाऽशुद्धा । अकषायश्च वीतरागः सरागश्च सञ्ज्वलनकषायवानप्यविद्यमानतदुदयो मन्दानुभावत्वात् तत्त्वार्थवृत्तौ निर्दिष्टः, अनुदयकल्पानिर्देशनाद् इत्यकषायस्य नायतना, न वा तस्यावश्यंभाविद्रव्यहिंसादिकमप्ययतनाजन्यमिति प्रतिपत्तव्यम् । यत्तूक्तं 'द्रव्यतोऽपि हिंसायाः कृतप्रत्या-

ख्यानभङ्गेनालोचनाविषयत्वमिति' तज्जैनसिद्धान्तपरिभाषाज्ञानाभावविजृम्भितम्, द्रव्याद्याश्रयेण हिंसादिभावस्यैव प्रत्याख्याततत्वाद्, द्रव्यहिंसादिना हिंसादिप्रत्याख्यानभङ्गाभावाद् अनेनैवाभिप्रायेण धर्मोपकरणाङ्गीकरणे "से अ परिग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते, दव्वओ खित्त-ओ०"(स च परिग्रहश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, द्रव्यतः क्षेत्रतः०।) इत्यादिक्रमेण प्रत्याख्यातस्य परिग्रहस्य न भङ्गदोष इति विशेषावश्यके दिग-म्बरनिराकरणस्थलेऽभिहितम्। तथा च तद्ग्रन्थः–' अपरिग्गहया सुत्तत्ति, जा य मुच्छा परिग्गहोऽभिमओ। सव्वदव्वेसु न सा, कायव्वा सुत्तसब्भावो ॥२५८०॥ या च "सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणम्" इत्यादिनाऽपरिग्रहता सूत्रे प्रोक्तेति त्वया गीयते, तत्रापि मूर्च्छै-व परिग्रहस्तीर्थकृताऽभिमतो नान्यः। सा च मूर्च्छा यथा वस्त्रे तथा सर्वेष्वपि शरीराहारादिद्रव्येषु न कर्त्तव्येति सूत्रसद्भावः सूत्रपरमार्थः, न पुनस्त्वदभिमतः सर्वथावस्त्रपरित्यागोऽपरिग्रहतेति सूत्राभिप्रायः, तस्मादपरिज्ञातसूत्रभावार्थो मिथ्यैव खिद्यसे त्वमिति हृदयमिति॥" किञ्च यदि द्रव्यहिंसया कृतप्रत्याख्यानभङ्गः स्यात् तदा तवाप्युपशान्तमोहस्य यथाख्यातचारित्रं न स्यात्, अंशतो भङ्गा-वश्यंभावादिति। यच्च सर्वविरतिसिद्ध्यर्थं द्रव्यहिंसाया अपि प्रत्याख्यानमुपपादितम्, तदयुक्तम्, एवं योगानामपि प्रत्याख्यानापत्तेः "अयोगिकेवलिष्वेव, सर्वतः संवरो मतः॥" इति वचनादयोगिन्येव सर्वसंवरसिद्धेः। यच्च द्रव्याश्रवस्य सूक्ष्मपृथिव्यादीनामिवाविरतिप्रत्यय-कर्मबन्धहेतुत्वमुक्त तद् वृथैव तेषामविरतिभावं प्रतीत्यैव कर्मबन्धाभिधानात्, तद्योगानां द्रव्यहिंसाऽहेतुत्वाद्, भावहिंसाकारणत्वं च योगानामिव द्रव्यहिंसाया अपि न बाधकमिति। 'यच्चैतेनेत्यादिना पाशचन्द्रमतमुपेक्ष्य तस्मादयं भावः इत्यादिना किञ्चित् सम्प्र-दायानुसारि भणितं तदर्द्धजरतीयन्यायानुकारि, हिंसांशे जिनोपदेशाभावेन तन्मताश्रयणे 'पूजाद्युपदेशाभावापत्तेः, तदविनाभाविहिंसांशे उपदेशाभावेन प्रकृतोपदेशसमर्थनसम्भवेऽपि तदङ्गकुसुमार्चनाद्यंशे तस्य कुसुमादिजीववधानुकूलव्यापाररूपहिंसावगाहित्वस्य निराकर्तु-

मशकत्वाद्, एवमनिष्टबीजरूपमनशोऽनिष्टफलहेतुत्वेन कल्पनाभिव्यक्त्याप्यनुपपत्तेः, कुसुमादिहिंसायाः सन्दिग्धत्वेन तथात्वेऽनवस्थात-त्काहेतुत्वे मिथ्यादृशामपि तस्यास्तथात्वापत्तेः, तस्माद् द्रव्यस्तवस्थलीयहिंसायामनुबन्धशुद्धत्वेनैव भगवदाज्ञा सम्यक्त्वादिभावहेतुत्वा-दिति ॥ ५५ ॥ तदेवमाभोगेऽपि द्रव्यहिंसाया दोषानावहत्वं यन्सिद्धं तदाह—

तम्हा दव्वपरिग्गह–दव्ववहाण सममि(मेवि)आभोगे ॥ ण हु दोसो केवलिणो, केवलनाणे व चरणे वा ॥५६॥

[तस्माद् द्रव्यपरिग्रह–द्रव्यवधयोः समेऽप्याभोगे ॥ नैव दोषः केवलिनः केवलज्ञाने वा चरणे वा ॥ ५६ ॥]

'तम्ह'त्ति । तस्माद् द्रव्यपरिग्रह–द्रव्यवधयोः समेऽप्याभोगे साक्षात्कारे, केवलिनो नैव दोषः, केवलज्ञाने चारित्रे वा ज्ञानावरण–चारित्रमोहनीयक्षयजन्ययोः केवलज्ञान–चारित्रयोर्द्रव्याश्रवमात्रेणानपवादात् । यत्तु 'क्षीणमोहस्यापि स्नातकचा-रित्राभावात्सम्भावनारूढातिचाररूपस्यापि द्रव्याश्रवस्य यदि तत्प्रतिबन्धकत्वं तदा साक्षाज्जीवघातस्य द्रव्यरूपस्यापि तन्न्यायप्राप्तमेवेति केवलिनोऽपि द्रव्यहिंसा चारित्रदोष एवेति परेण प्रोच्यते,' तदसत्, स्नातकस्य निर्ग्रन्थभेदत्वाद् यथाख्यातस्यैव चारित्रभेदत्वात् तत्प्रति-बन्धकत्वस्य च द्रव्यहिंसायां त्वयाऽप्यनभ्युपगमात् । यदि च स्नातकचारित्रस्य द्रव्यहिंसा दोषः स्यात् तदा निर्ग्रन्थचारित्रस्यापि दोषः स्यादेव, निर्ग्रन्थस्नातकयोरेकसंयमस्थानाभ्युपगमात् । "णिग्गथसिणायाणं हुज्जं इक्कं न संजमट्ठाणं" (निर्ग्रन्थस्नातकयोस्तुल्यमेकं च संयमस्थानम्) इति पञ्चनिर्ग्रन्थीवचनादिति द्रष्टव्यम् ॥ ५६ ॥ हिंसाचतुर्भङ्ग्यनुसारेणैव द्रव्यहिंसया भगवतो दोषाभावमाह—

णोदव्वा णोभावा, जह तह हिंसा ण दव्वमित्तेणं ॥ तेण तीए दोसं, जिणस्स को भासए सण्णी ॥५७॥

[नोद्रव्याद् नोभावाद् यथा तथा हिंसा न द्रव्यमात्रेण ॥ तेन तया दोषं जिनस्य को भाषते संज्ञी ॥ ५७ ॥]

व्याख्या—'णोदव्व'त्ति। नोद्रव्याद् नोभावाद् यथा न हिंसा, तथा द्रव्यमात्रेणापि हिंसा, तत्त्वतो न हिंसा। तेन तया द्रव्यहिंसया, दोषं जिनस्य कः संज्ञी भाषेत–अपि तु न कोऽपीत्यर्थः। इदमुक्तं भवति–हिंसामधिकृत्य द्रव्यभावाभ्यां चतुर्भङ्गी तावदियं श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रवृत्तावुक्ता, १ द्रव्यतो भावतश्च हिंसा–'हन्मि' इति परिणतस्य व्याधादेर्मृगवधे। २ द्रव्यतो न भावतः–ईर्यासमितस्य साधोः सत्त्ववध। यदागमः–"वज्जेमित्ति परिणओ, संपत्तीए विमुच्चइ वेरा॥ अवहंतो वि ण मुच्चइ, किलिट्ठभावोऽतिवायस्स ॥६१॥ [चतुश्चत्वारिंशगाथावृत्तौ १६८ पृष्ठे विवरणमस्या गाथायाः]"त्ति। ३ भावतो न द्रव्यतः–अङ्गारमर्दकस्य कीटबुद्ध्याऽङ्गारमर्दने, मन्दप्रकाशे रज्जुमहिबुद्ध्या घ्नतो वा। ४ न द्रव्यतो न भावतः–मनोवाक्कायशुद्धस्य साधोरिति ॥ अत्र परश्चतुर्थभङ्गस्वामिनं सयोगिकेवलिनमेवाह। यत्तु चूर्णिकारेण "चउत्थो सुण्णो"त्ति भणितम्, तत्र स्वामिनमधिकृत्य केवलिनस्तत्स्वामिनो विद्यमानत्वात् तस्य सर्वोत्कृष्टचारित्रान्यथानुपपत्त्या मनोवाक्कायैः शुद्धत्वाद्, अन्यथा स्नातकः केवली न स्यात्, किन्तु हिंसास्वरूपमधिकृत्यैवोक्तम्, तच्चैवम्–यदि हिंसा तर्हि न द्रव्यतो न भावत इति वक्तुमप्यशक्यम्, द्रव्यभावयोरन्यतरत्वेनावश्यम्भावात्, तेन चतुर्थो भङ्गः शून्यो भणितः, विरोधाद्। न च शैलेश्यवस्थायां केवली स्वामी भविष्यतीति शङ्कनीयम्, तस्य सिद्धस्येव योगाभावेन मनोवाक्कायैः शुद्धत्वाभावाद्, नह्यविद्यमाने वस्त्रे 'वस्त्रेण शुद्ध' इति व्यवह्रियत इत्याद्यसौ समर्थयामास। तच्चायुक्तम्, हिंसाव्यवहाराभावमधिकृत्यैव चतुर्थभङ्गशून्यत्वाभिधानाद् विरुद्धधर्माभ्या तदभावस्येव तद्भेदस्यापि सम्भवेन तच्छून्यत्वव्यवहारोपपत्तेः। हिंसास्वरूपमधिकृत्य तु द्रव्यमात्रहिंसायामप्यहिंसात्वं प्रवचने प्रतीतमिति कदाचिद् द्वितीयभङ्गस्वामित्वेऽपि भगवतः स्नातकस्य निर्ग्रन्थस्येव चतुर्थभङ्गस्वामित्वाऽविरोध एव, अहिंसापरिणत्यभेदाश्रयणेन तद्भङ्गस्यापि सम्भवदुक्तिकत्वात्। न चैवं द्वितीयभङ्गकालेऽपि चतुर्थभङ्गा-

पत्तिद्रव्यहिंसाकालेऽप्यप्रमत्तयतीनां मनोवाक्कायशुद्धत्वानपायादिति वाच्यम्, चतुर्थभङ्गोपपादकमनोवाक्कायशुद्धताया गुप्तिरूपाया एव ग्रहणाद्, अत एव नियतचतुर्थभङ्गस्वामित्वमयोगिकेवलिनोऽपि नानुपपन्नम्, शुद्धप्रवृत्तिव्यापारेण निरोधव्यापारेणापि मनोवाक्का-यशुद्धताऽनपायाद्, अन्यथा तदविनाभाविध्यानानुपपत्तेः। उक्तं हि–"ध्यानं करणाना मनोगुप्ति–निरोधान्यतरनियतम्"–"सुदढप्पय-त्तवावारणं, णिरोहो व विज्जमाणाणं ॥ झाणं करणाण मयं, ण उ चित्तणिरोहमेत्तागं ॥ ३०७१ ॥ [सुदृढप्रयत्नव्यापारणं निरोधो वा विद्यमानानाम् । ध्यानं करणाना मतं न तु चित्तनिरोधमात्रकम् ॥] इत्यादिग्रन्थेन विशेषावश्यके शोधकेन च व्यापारमुपगम्य गो-परतेनापि शुद्धत्वव्यवहारो भवत्येव, यथा जलेन शुद्धं वस्त्रमिति। मनोवाक्कायशुद्धतयाऽयोगिकेवली नियमेनैव चतुर्थभङ्गस्वामी युज्यत इति। न च शैलेश्यवस्थायामपि शारीरस्पर्शमागताना मशकादीनां व्यापत्तौ चतुर्थभङ्गस्वामित्वनियमानुपपत्तिः, द्रव्यहिंसाया-स्तदनुकूलनोदनाख्ययोगव्यापारनियतत्वात्, तत्र तदभावात्तत्सम्बन्धमात्रस्यातिप्रसञ्जकत्वादिति दिक् ॥ ५७ ॥

यदि च 'न द्रव्यतो न भावतो मनोवाक्कायशुद्धस्य साधोः' इति वचनानुरोधेन सयोगिकेवलिनश्चतुर्थभङ्गस्वामित्वमेवाभिमतं भवेत् तदाऽप्रमत्तादीनां सयोगिकेवलिपर्यन्तानां द्रव्यहिंसया दोषाभावतौल्यं प्रवचनाभिहितं न घटेतेत्याह—

पयडं चिय वयणमिणं, दट्ठव्वं होइ कप्पभासस्स ॥ जं अपमत्ताईणं, सजोगिचरमाण णो हिंसा ॥ ५८ ॥

[प्रकटमेव वचनमिदं द्रष्टव्यं भवति कल्पभाष्यस्य । यदप्रमत्तादीना सयोगिचरमाणां नो हिंसा ॥ ५८ ॥]

व्याख्या—'पयड चिय'त्ति। प्रकटमेवैतद्वचनं कल्पभाष्यस्य द्रष्टव्यं भवति रागद्वेषरहितेन परीक्षकेण, यदप्रमत्ता-दीनां सयोगिकेवलिचरमाणां नो नैव हिंसा, व्याप्रियमाणयोगानामपीति शेषः। तथा च तद्ग्रन्थः—' अप्पेव सिद्धतमजा-

णमाणो, त हिसगं भाससि जोगवंतं ॥ दव्वेण भावेण य संविभत्ता, चत्तारि भंगा खलु हिंसगत्ते" ॥३९३२।' अपीत्यभ्युच्चये, अन्यदन्यदपि वक्तव्यमिति भावः । यदेवं योगवन्तं वस्त्रच्छेदनादिव्यापारान्तं जीवं, हिंसकं त्वं भाषसे, तन्निश्चीयते सम्यक् सिद्धान्तमजानत(नान) एवं प्रलापः (लपसि) । सिद्धान्ते योगमात्रप्रत्ययादेव न हिंसोपवर्ण्यते, अप्रमत्तसंयतादीनां सयोगिकेवलिपर्यन्तानां योगवतामपि तदभावात् । कथं तर्हि सा प्रवचने प्ररूप्यते ? इत्याह—द्रव्येण भावेन च संविभक्ताश्चत्वारो भङ्गाः खलु हिंसकत्वे भवन्ति । तथाहि—१. द्रव्यतो नामैका हिंसा न भावतः, २. भावतो नामैका हिंसा न द्रव्यतः, ३. एका द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि, ४. एका न द्रव्यतो नापि भावतः ॥ अथैषामेव यथाक्रमं भावना कुर्वन्नाह—"आहच्च हिंसा समिअस्स जा उ, सा दव्वओ होइ ण भावओ उ ॥ भावेण हिंसा उ असंजयस्स, जे वा वि सत्ते ण सदा वहेइ ॥३९३३॥ संपत्ति तस्सेव जदा भविज्जा, सा दव्वहिंसा खलु भावओ अ ॥ अज्झत्थसुद्धस्स जदा ण होज्जा, वधेण जोगो दुहओ वि हिंसा ॥ ३९३४ ॥" समितस्येर्यासमितावुपयुक्तस्य, याऽऽहत्य कदाचिदपि, हिंसा भवेत्, सा द्रव्यतो हिंसा । इयं च प्रमादयोगाभावात् तत्त्वतो अहिंसैव, "सत्त्वप्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इति (तत्त्वार्थ अ. ७ सू. ८) वचनात्, न भावत इति । भावेन भावतो, या हिंसा, न तु द्रव्यतः, साऽसंयतस्य प्राणातिपातादेरनिवृत्तस्य, उपलक्षणत्वात्संयतस्य वाऽनुपयुक्तगमनागमनादि कुर्वतो, यानपि सत्त्वानसौ, सदैव न हन्ति तानप्याश्रित्य मन्तव्या, "जे वि न वाविज्जंती, णियमा तेसिंपि हिंसओ सो उ ॥७५३॥(ओघनि०) "त्ति वचनात् ॥ यदा तु तस्यैव प्राणिव्यपरोपणसम्प्राप्तिर्भवति, तदा सा द्रव्यतो भावतश्च (तोऽपि) हिंसा प्रतिपत्तव्या । यः पुनरध्यात्मना चेतःप्रणिधानेन शुद्ध उपयुक्तगमनागमनादिक्रियाकारीत्यर्थः तस्य यदा वधेन प्राणिव्यपरोपणेन सह, योगः सम्बन्धो, न भवति, तदा द्विधापि द्रव्यतो भावतोऽपि च

अहिंसा हिंसा न भवतीति भावः ॥" तदेवं भगवत्प्रणीते प्रवचने हिंसाविषयाश्चत्वारो भङ्गा उपवर्ण्यन्ते । अत्र चाद्यभङ्गे हिंसायां
व्याप्रियमाणकाययोगेऽपि भावत उपयुक्ततया भगवद्भिरहिंसक एवोक्तः, ततो यदुक्तं भवता वस्त्रच्छेदनव्यापारं कुर्वतो हिंसा भवति इति
तत्प्रवचनरहस्यानभिज्ञतासूचकमिति ॥५८॥ नन्वत्र 'अप्रमत्तादीनामधिकृतवस्त्रच्छेदनव्यापारवान् हिंसकः, योगवत्त्वाद्'-इति परोपन्यस्ता-
नुमानदूषणव्यभिचारस्फोरणाय व्यभिचारस्थानत्वं प्रदर्शितम् । व्यभिचारश्च 'हेतुसत्त्वे साध्यासत्त्वमिति' केवलिनोऽप्रमत्तादिसाधारणेन
योगवत्त्वम्, अहिंसकत्वं च सिद्ध्यति, नतु कथमपि द्रव्यहिंसेति चेत्, न । अत्र च 'आद्यभङ्गः' इत्यादिनिगमनवचनविचारणयाऽधिकृ-
तवस्त्रच्छेदनव्यापारवानहिंसकः, हिंसाव्याप्रियमाणकाययोगवत्त्वेऽपि भावत उपयुक्तत्वात्, अप्रमत्तादिवद्-इति स्वतन्त्रसाधनदृष्टान्त एव
भगवति तत्सिद्धेः । किञ्च पूर्वपक्षिणा वस्त्रच्छेदनादिव्यापारे हिंसान्वितयोगत्वं तावद् भगवतीवचनेनैव प्रदर्शितम् । तथाहि-"सद्दो
तहिं मुच्छइ च्छेअणा वा, धावंति ते दो वि उ जाव लोगो ॥ वत्थस्स देहस्स य जो विकम्पो, ततोवि वातादि भरेन्ति लोगं" ॥३९२२॥
भो आचार्य । तत्र वस्त्रे छिद्यमाने, शब्दः सम्मूर्च्छति, छेदनका वा सूक्ष्मपक्ष्मावयवा उड्डीयन्ते, एते च द्वयेऽपि ततो विनिर्गता
लोकान्तं यावत्, धावन्ति प्राप्नुवन्ति । तथा वस्त्रस्य देहस्य च यो विकम्पश्चलनं ततोऽपि विनिर्गता वातादयः प्रसरन्तः
सकलमपि लोकमापूरयन्ति ॥ "अहिच्छसी जंति ण ते उ(य) दूरं, संखोभिया तेहऽवरे वयंती ॥ उड्ढं अहेया वि चउदिसं पि, पूरिंति
लोग तु खणेण सव्व ॥३९२३॥" अथाचार्य!, त्वमिच्छसि-मन्यसे ते च वस्त्रच्छेदनसमुत्थाः शब्दपक्ष्मवातादिपुद्गला, न दूरं लोका-
न्तं यान्ति, तर्हि तैः संक्षोभिताश्चालिताः सन्तोऽपरे व्रजन्ति; एवमपरापरपुद्गलप्रेरिताः पुद्गलाः प्रसरन्तः क्षणेनोर्ध्वमधस्ति-
र्यक्चतसृष्वपि दिक्षु सर्वमपि लोकमापूरयन्ति ॥ यत एवमतः-"विन्नाय आरंभमिणं सदोसं, तम्हा जहालद्धमहिट्ठिएज्जा ॥

वुत्तं सएओ खलु जाव देही, ण होइ सो अंतकरी तु ताव ॥ ३९२४ ॥" इदमनन्तरोक्तं सर्वलोकपूरणात्मकमारम्भं, सदोषं सूक्ष्मजीवविराधनया सावद्यं, विज्ञाय तस्मात् कारणाद्, यथालब्धं वस्त्रमधितिष्ठेत्–न च्छेदनादिकं कुर्यात्। यत उक्तं भणितं व्याख्याप्रज्ञप्तौ–यावदय देही जीवः, सैजः सकम्पश्चेष्टावानित्यर्थः, तावदसौ कर्मणो भवस्य वाऽन्तकारी न भवति। तथा च तदालापकः:–"जाव णं एस जीवे सया समिअं एअइ वेअइ चलइ फदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ ताव णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया ण भवइ"त्ति। (वृत्तिरस्यैकपष्टितमगाथावृत्तौ) तथा च हिसान्वितयोगत्वेन वस्त्रच्छेदनव्यापारवतो हिंसकत्वमापादयन्तं पूर्वपक्षिणं प्रत्यप्रमत्तादिष्वापादकसत्त्वेप्यापाद्याभावात् तर्कमूलव्याप्त्यसिद्धेस्तस्य मूलशैथिल्यरूपदोषप्रदर्शनार्थमित्थमुक्तम्, तथा चापादकसत्त्वादेवाप्रमत्तादिवत्केवलिनोऽपि द्रव्यहिंसासम्भवेऽपि न दोष इत्येतदेवाह—

हिंसगभावो हुज्जा, हिंसण्णियजोगओत्ति तक्कस्स ॥ दाएउं इय भणिअं, पसिढिलमूलत्तणं दोसं ॥ ५९ ॥

[हिंसकभावो भवेत्, हिसान्वितयोगतइति तर्कस्य ॥ दर्शयितुमिति भणितं, प्रशिथिलमूलत्वं दोषम् ॥ ५९ ॥]

"हिंसगभावो"त्ति। हिंसकभावो भवेद्धिसान्वितयोगतोऽधिकृतवस्त्रच्छेदनव्यापारवत इति शेषः, इत्येतस्य तर्कस्य प्रशिथिलमूलत्वमापाद्यापादकव्याप्त्यसिद्धिरूप दोषं दर्शयितुमिति भणितं–यदुताप्रमत्तादीनां सयोगिकेवलिपर्यन्तानां हिसाव्याप्रियमाणकाययोगे सत्यपि भावत उपयुक्तत्वान्न हिंसकत्वमिति योगवत्त्वमात्रं च नापादकमिति तत्रापाद्यव्याप्त्यसिद्धिप्रदर्शनमकिञ्चित्करमेवेति भावः ॥ ५९ ॥ नन्वप्रमत्तादीनामुपयुक्तानां योगवतामप्यहिसकत्वप्रदर्शनेन हिसान्वितयोगाभाव एव प्रदर्शितो भवति; तथा च प्रकृते आपादकाप्रसिद्धिप्रदर्शनपर एवायं ग्रन्थोऽस्तु इत्यत आह—

आपायगाऽपसिद्धी, ण य भणिया वत्थच्छेयअहिगारे ॥ ता तस्सं(हिं सं)मइवयणं, पवणत्तीए ण अण्णट्ठं॥६०॥

[आपादकाऽप्रसिद्धिर्न च भणिता वस्त्रच्छेदाधिकारे ॥ ततः तत्संमतिवचनं प्रज्ञप्तेर्नान्यार्थम् ॥ ६० ॥]

'आपायगापसिद्धि'त्ति । आपादकस्य हिमान्वितयोगस्याऽप्रसिद्धिः, न च भणिता वस्त्रच्छेदाधिकारे; किं भग- वतीवचनादारम्भस्य क्रियाविनाभावित्वमङ्गीकृत्यापि प्रतिबन्द्येव पूर्वपक्षिणा दूषणं दत्तम्। तथाहि-"आरंभसिद्धो जइ(इ) आसवाय, गुत्ती य सेआय तहा तु साहू ॥ णो(मा) फंद वारेहि व छिज्जमाणं, पइण्णहाणी य अतोऽण्णहा ते" ॥३९२७॥ 'आरम्भसिद्धो'त्ति । मकारोऽलाक्षणिकः। हे नोदक! यथाऽऽरम्भस्तव, आस्रवाय कर्मोपादानाय, इष्टोऽभिमतः, गुप्तिश्च तत्परिहाररूपा, श्रेयसे कर्मानु- पादानायाभिप्रेता, तथा च मति हे साधो! मा स्पन्द, मा वा वस्त्रं छिद्यमानं वारय। किमुक्तं भवति यदि वस्त्रच्छेदनमारम्भ- तया भवता कर्मबन्धनिबन्धनमभ्युपगम्यते ततो येयं वस्त्रच्छेदनप्रतिषेधाय हस्तस्पन्दनात्मिका चेष्टा क्रियते, यो वा तत्प्रतिषेधको ध्वनिरुच्चा- र्यते तावप्यारम्भतया भवता न कर्त्तव्यौ, अतो मदुक्तो(क्तादु)पदेशादन्यथा चेत् करोषि, ततस्ते प्रतिज्ञाहानिः-स्ववचनविरोधलक्षणं दूषणमापद्यत इत्यर्थः, अथ ब्रुवीथा-योऽयं मया वस्त्रच्छेदनप्रतिषेधको ध्वनिरुच्चार्यते स आरम्भप्रतिषेधकत्वान्निर्दोष इति ?। अत्रोच्यते- "अदोसवं ते जइ एस सद्दो, अण्णोवि कम्हा ण भवे अदोसो ॥ अहिच्छया तुज्झ सदोस एक्को, एवं मती कस्स भवे ण सिद्धी ॥३९२८॥" यद्येष त्वदीयः शब्दोऽदोषवान्, ततोऽन्योऽपि वस्त्रच्छेदनादिसमुत्थः शब्दः कस्माददोषो न भवेत्; तस्यापि प्रमाणातिरि- क्तपरिभोगविभूषादिदोषपरिहारहेतुत्वात्। अथेच्छया स्वाभिप्रायेण, तवैको वस्त्रच्छेदनशब्दः, सदोषोऽपरस्तु निर्दोषः, एवं सति कस्य न स्वपक्षसिद्धिर्भवेत्-सर्वस्यापि वा गाढवचन(वागाडम्बर)मात्रेण भवत इव स्वाभिप्रेतार्थसिद्धिर्भवेदिति भावः। ततश्चास्माभिरप्येवं

वक्तुं शक्यम्, योऽयं वस्त्रच्छेदनसमुत्थः शब्दः स निर्दोषः, शब्दत्वाद्, भवत्परिकल्पित(निर्दोष)शब्दवदित्यादि ॥" नत्वस्मात्कारणात्, तत्र वस्त्रच्छेदाधिकारे, सम्मतिवचनं प्रज्ञप्तेः "जीवे णं एस जीवे"इत्यादि, नान्यार्थं कि त्वेजनादिक्रियाणामारम्भाविनाभावित्व-
पादकमेव, अन्यथैतदर्थसमर्थनार्थमेतत्सूत्रमुपन्यस्तवन्तं तं पूर्वपक्षिणमन्यार्थप्रदर्शनेनैतदभिप्रायानभिज्ञमनस्यन् कल्पभाष्यकृ-द्विति। अस्मादेव भगवतीसूत्राद्यथाधितयथाश्रुतार्थाद्यावदेजनादिक्रिया तावदारम्भादिसम्भव इति केवलिनो द्रव्यहिंसायां न सन्देह इति भावः ॥ ६० ॥ एतदेव स्पष्टयति—

किरिआओ अंतकिरिया-विरोहिणीओ जिणेण भणिआओ ॥ आरंभाइजुआओ मंडियपुत्तेण पुट्ठेणं ॥६१॥

[क्रिया अन्तक्रियाविरोधिन्यो जिनेन भणिताः ॥ आरम्भादियुता मण्डितपुत्रेण पृष्टेन ॥ ६१ ॥]

व्याख्या—'किरिआओ'त्ति। मण्डितपुत्रेण पृष्टेन जिनेन श्रीवर्द्धमानस्वामिना, क्रिया एजनाद्याः, आरम्भादियुताः— आरम्भादिनियताः, अन्तक्रियाविरोधिन्यो भणिताः। तथा च भगवतीसूत्रम्—'जीवे णं भंते! सया समियं एअइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भाव परिणमइ?, हंता मण्डियपुत्ता! जीवेणं सया समियं एअइ, जाव तं तं भाव परिणमइ ॥ जावं च णं भंते! से जीवे सया समियं जाव तं तं भाव परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया भवइ?, णो इणट्ठे समट्ठे ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—जावं च णं से जीवे सया समिअं जाव अंतकिरिया णो भवइ?, मंडियपुत्ता! जावं च णं से जीवे सया समिअं जाव परिणमइ, तावं च णं से जीवे आरंभइ सारभइ समारंभइ, आरंभे वट्टइ सारंभे वट्टइ समारंभे वट्टइ, आरंभमाणे सारभ-माणे समारभमाणे, आरंभे वट्टमाणे सारंभे वट्टमाणे समारंभे वट्टमाणे, बहूणं पाणाणं भूआणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खावणयाए सोआ-

वणयाए जूरावणयाए तिप्पावणयाए पिट्टावणयाए किलामणया उद्दावणयाए परियावणयाए वट्टइ, से तेणट्ठेणं मंडियपुत्ता एव वुचइ, जावं च णं से जीवे सया समियं एजति जाव परिणमति, तावं च ण तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया ण हवइत्ति ॥'' एतद्वृत्तिर्यथा–'क्रियाधिकारादिदमाह–जीवेण इत्यादि । इह जीवग्रहणेऽपि सयोग एवासौ ग्राह्यः, अयोगस्यैजनादेरसम्भवात्; सदा–नित्यं, समियं ति–सप्रमाणं, एयइत्ति एजते कम्पते, 'एजृ कम्पने' इति वचनात्; वेयइत्ति व्येजते विविधं कम्पते, 'चलइ त्ति स्थानान्तरं गच्छति, 'फंदइ'त्ति स्पन्दते किञ्चिच्चलति, 'स्पदि किञ्चिच्चलने' इति वचनात्, अन्यमवकाशं गत्वा पुनस्तत्रैवागच्छतीत्यन्ये, 'घट्टइ'त्ति सर्वदिक्षु चलति, पदार्थान्तरं वा स्पृशति; 'खुब्भइ'त्ति क्षुभ्यति–पृथिवीं प्रविशति, क्षोभयति वा पृथिवीम्, बिभेति वा; 'उदीरइ'त्ति प्राबल्येन प्रेरयति, पदार्थान्तरं वा प्रतिपादयति। शेषक्रियासङ्ग्रहार्थमाह–'तं तं भावं परिणमति'त्ति उत्क्षेपणाव(प)क्षेपणाकुञ्चनप्रसारणादिकं परिणामं यातीत्यर्थः । एषा चैजनादिभावानां क्रमभावित्वेन सामान्यतः सदेति मन्तव्यम्, नतु प्रत्येकापेक्षया, क्रमभाविना युगपद्भावादिति । 'तस्स जीवस्स अंते'त्ति मरणान्ते 'अंतकिरिय'त्ति सकलकर्मक्षयरूपा । आरम्भइ त्ति आरभते पृथिव्यादीनुपद्रवयति, 'सारंभइ'त्ति संरभते–तेषु विनाशसंकल्पं करोति, 'समारंभइ'त्ति समारभते–तानेव परितापयति, आह च—

''संकप्पो संरंभो, परितावकरो ह(भ)वे समारंभो ॥ आरंभो उद्दवओ, सव्वणयाणं विसुद्धाणं ॥ १ ॥ इदं च क्रियाक्रियावतोः कथञ्चिदभेद इत्यभिधानाय तयोः समानाधिकरणतः सूत्रमुक्तम् । अथ तयोः कथञ्चिद्भेदोऽप्यस्तीति दर्शयितुं पूर्वोक्तमेवार्थं व्यधिकरणत आह—'आरंभे'इत्यादि । आरम्भेऽधिकरणभूते वर्त्तते जीवः, एवं संरंभे समारम्भे च, अनन्तरोक्तवाक्यार्थद्वयानुवादेन प्रकृतयोजनामाह–आरभमाणः संरभमाणः समारभमाणो जीवः–इत्यनेन प्रथमो वाक्यार्थोऽनुदितः, 'आरम्भे वर्त्तमानः'इत्यादिना तु द्वितीयः,

वर्त्तते, इति योगः, तथा शोकापनाया दैन्यप्रापणायाम्, 'जूरावणयाए'त्ति शोकातिरेकाच्छरीरजीर्णताप्रापणायाम्, 'तिप्पावण-याए'त्ति तेपापनायां 'तिपृ-ष्टेपृ क्षरणार्थाविति वचनात्' शोकातिरेकादेवाश्रुलालादिक्षरणप्रापणायाम्। 'पिट्टावणयाए'त्ति पिट्टनप्रापणायाम्, ततश्च परितापनायां शरीरसन्तापे वर्त्तते, क्वचित्पठ्यते 'दुक्खावणयाए'इत्यादि, तच्च व्यक्तमेव। यच्च तत्र 'किलामणयाए उद्दवणयाए' इत्यधिकमभिधीयते तत्र 'किलामणयाए'त्ति ग्लानिनयने, 'उद्दवणयाए'त्ति उत्रासन इति। अत्र ह्येजनादिक्रियाणामारम्भादिद्वारैवान्तक्रियाविरोधित्वं प्रतीयते। आरम्भादीनां चेजनादिक्रियानियतत्वम्, नियमश्चायं यथासम्भवं द्रष्टव्यः, तेन नाप्रमत्तानामारम्भवत्संरम्भसमारम्भयोरप्यापत्तिरिति वृद्धाः। युक्तं चैतत्—'जाव णं एस जीवे सया समिअं एअइ वेयइ जाव तं तं भावं परिणमइ ताव णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छविहबंधए वा एगविहबंधए वा, नो णं अबंधए।'' [यावदेष जीवः सदा समितमेजते, व्येजते यावत् त तं भावं परिणमते तावदष्टविधबन्धको वा सप्तविधबन्धको वा षड्विधबन्धको वा एकविधबन्धको वा, नो अबन्धकः॥] इत्यत्रैजनादिक्रियाणामष्टविधाद्यन्यतरबन्धव्याप्यत्ववत्प्रकृतेऽप्यारम्भाद्यन्यतरव्याप्यत्वस्यैव व्युत्पत्तिमर्यादया लाभात्। परः पुनरेनमेवार्थं "सुमुनीनां शोभना मुनयः सुमुनयः सुसाधवस्तेषामप्रमत्तगुणस्थानकादारभ्य त्रयोदशगुणस्थानं यावदारम्भे वर्त्तमानानामप्यारम्भिकी क्रिया न भवति'' इत्यादि स्वयमेव ग्रन्थान्तरे लिखितमस्मरन्निवान्यथैवात्र व्याख्याप्रकारमारचयति। तथाहि—अन्तक्रियाप्रतिबन्धकास्तावद्योगा एव, यावद् योगास्तावदन्तक्रिया न भवति, योगनिरोधे च भवतीति तेषां तत्प्रतिबन्धकत्वाद्, 'यदभावो यत्र कारणं तदेव तत्र प्रतिबन्धकमिति' जगत्स्थितेः। न चैवं क्वाप्यागमे जीवघातनिरोधे तज्जन्यकर्मबन्धनिरोधे वाऽन्तक्रिया-

भणिता । तस्मात्साक्षाज्जीवघातलक्षण आरम्भो नान्तक्रियायाः प्रतिबन्धकः, तदभावेऽन्तक्रियाया अभणनात्, प्रत्युताञ्जिकापुत्राचार्य-
गजसुकुमारादिदृष्टान्तेन सत्यामपि जीवविराधनायां केवलज्ञानान्तक्रिययोर्जायमानत्वात् कुतस्तत्प्रतिबन्धकत्वशङ्कापीति । अत्र सूत्रे
एजनादिक्रियाजन्य आरम्भो न भणितः, किन्तु क्रियारम्भयोरेकाधिकरणे नियमो भणितः, स चैवं–यो यावत्कालं यत(एज)नादिक्रि-
यावान् तावत्काल स आरम्भादिमानेव, एवं च सति कम्पनादिक्रिया व्याप्या, आरम्भश्च व्यापकः, तेन कम्पनादिक्रिया नारम्भहेतुः,
किन्त्वारम्भः कम्पनादिक्रियाहेतुः । यथा 'यावत्कालं यो धूमवाँस्तावत्कालं स आर्द्रेन्धनप्रभववह्निमानेव' इत्यत्र धूमस्तथाभूतवह्नेर्जनको
न भवति, भवति च तथाभूतो वह्निर्धूमजनक इत्यन्तक्रियाप्रतिबन्धकारम्भव्याप्यत्वेन कम्पनादिक्रियाणामन्तक्रियाप्रतिबन्धकत्वं व्या-
ख्येयम्, आरम्भशब्देन च योगा उच्यन्ते, जीवघातादिलक्षणारम्भादिजनकत्वेन कारणे कार्योपचारात्, शास्त्रसम्मतं च योगानामार-
म्भत्वम् । तदुक्तं **भगवतीवृत्तौ**—"ननु 'मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः कर्मबन्धहेतव' इति प्रसिद्धिः, इह तु आरम्भिक्यादयोऽभि-
हिता इति कथं न विरोधः ? उच्यते–आरम्भपरिग्रहशब्दाभ्यां योगपरिग्रहः, योगानां तद्रूपत्वात्, शेषपदेषु च शेषबन्धहेतुपरिग्रहः
प्रतीत एवेति ।" एतच्चायुक्तम्, आरम्भादिशब्दत्रयेण योगाभिधानस्य दुर्घटत्वाद्, एजनादिक्रियातिरिक्तकायादिसध्रीचीनजीवव्यापा-
ररूपयोगसद्भावे प्रमाणाभावाद्, योगानां योगनिरोधरूपान्तक्रियायां प्रतिबन्धकत्वाभावाच्च, नहि घटो घटनाशं प्रति प्रतिबन्धक इति।
तस्मादेजनादिरहितो नारम्भादिषु वर्त्तते, तथा च न प्राणादीनां दुःखापनादिषु, तथा च योगनिरोधाभिधानशुक्लध्यानेन सकलकर्मध्वं-
सरूपाऽन्तक्रिया भवतीति **भगवतीवृत्ता**वेवाग्रे व्यतिरेकप्रदर्शनादेजनादीनामारम्भादिद्वाराऽन्तक्रियाविरोधित्वव्याख्यानमेव न्याय्य-
मिति । "यत्तु एवमपि यद्यारम्भादिशब्दैरुक्तप्रकारेणेहाव्याख्यातत्वात् साक्षाज्जीवघातोऽभिमतः, तर्हि "जीवे णं भंते ! सया समिअं

एयइ'' इत्यादिसामान्यसूत्रे सयोगिजीवः केवलिन्यांते क्त एव ग्राह्यः, अन थ त्रविरोधेन सूत्राभिप्रायकल्पने मतिकल्पना महानर्थहेतुः-इत्याद्युक्तं'' तदुपहासपात्रम्, वृत्तिकृदभिप्रायोलङ्घनेन स्वस्यैव मतिकल्पनाया महानर्थहेतुत्वात्, 'सत्तहि ठाणेहि' इत्यादिसूत्रस्य भिन्नविषयत्वेन प्रकृतसामान्यसूत्रावधिकविशेषसूत्रस्य केनापि ग्रन्थकारेणानुपदर्शितत्वाचेति ॥६१॥ स्यादियमाशङ्का-सकलसयोगिगतैजनादिक्रियासामान्यस्य न साक्षादारम्भादिनियतत्वम्, भगवतीवृत्तावेव सूक्ष्मपृथिव्यादीनां साक्षादा-मारम्भकत्वनिषेधाद्, एवं च भवत्यपि केवलिनः सदा साक्षादारम्भानभ्युपगमेन यदा तदभावस्तदा द्वाराभावादेजनादिक्रिययाऽप्रतिबन्धात्केवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमेव केवलिनोऽन्तक्रियाप्रसङ्गः। यदि चान्तक्रियायां कदाचित् क्रियामात्रस्य कदाचिच्च साक्षादारम्भस्यानियतविरोधित्वं स्वीक्रियते तदा नियतारम्भादिद्वारकत्वेन तद्विरोधित्वव्याख्यानविरोध इत्यत्राह—

आरंभाइजुअत्त, तस्सत्तीए फुडेहि ण उ तेहिं ॥ तस्सत्तीविगमे पुण, जोगणिरोहो अपडिबद्धो ॥ ६२ ॥

[आरम्भादियुतत्वं तच्छक्त्या स्फुटैर्न तु तैः। तच्छक्तिविगमे पुनर्योगनिरोधोऽप्रतिबद्धः ॥ ६२ ॥

व्याख्या—आरम्भादियुतत्व' आरम्भादिनियतत्व 'क्रियाणाम्' इति प्राक्तनमिहानुषज्यते; 'तच्छक्त्या' आरम्भादिशक्त्या, तुरेवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, नतु तैः स्फुटैः-स्फुटैरेव तैरारम्भादिभिर्नेत्यर्थः। अय भावः- स्थूलकालावच्छेदेन तावदेतत्सूत्रोक्त एजनादिक्रियाणां साक्षादारम्भनियमो बादरयोगस्य नासम्भवी, इत्थम्भूतनियमस्यापि सूत्रेऽभिधानाद्, अत एव यस्मिन् समये कायिकी क्रिया तस्मिन् पारितापनिकी प्राणातिपातिकी च प्रज्ञापनोक्तैकगनियमेनैव वृत्तिकृतोपपादिता। तथाहि-''समयग्रहणेन चेह सामान्यः कालो गृह्यते, न पुनः परमनिरुद्धो यथोक्तस्वरूपो नैश्चयिकः समयः, परितापनस्य प्राणातिपातस्य वा बाणादिक्षेपजन्यतया

कायिक्याः प्रथमसमय एवासम्भवादिति ॥" अयं च नियम आरम्भजातीयस्य दोषत्वस्फुटीकरणार्थं व्यवहारेणोच्यते, न तु केवलिनोऽप्यारम्भो दोष इति नानुपपत्तिः, तथापि निश्चयतो योगाना केवलानामेव यत्प्रतिबन्धकत्वं परेणोद्भाव्यते, तत्र वयं वदामः—न स्फुटारम्भयुक्तानां नवा केवलानां योगानामन्तक्रियाप्रतिबन्धकत्वं निश्चिनुमः, किन्त्वारम्भशक्तियुक्तानामन्तक्रियाविरोधित्वं प्राणिघातानुकूलपुद्गलप्रेरणाकारिस्थूलक्रियारूपारम्भजननशक्तिसहितैर्योगैः स्थूलक्रियारूपारम्भजननद्वाराऽन्तक्रियाप्रतिघाताद्, अत एव चरमयोगे आरम्भजननशक्त्यनन्वयात्, तेन नान्तक्रियाप्रतिबन्ध इति तदनन्तरमेवान्तक्रियासम्भवस्तदिदमाह—'तच्छक्तिविगमे' आरम्भादिजननशक्तिविलये, पुनर्योगनिरोधोऽप्रतिबद्धोऽस्खलितसामग्रीकः, चरमयोगक्षणस्यैव योगनिरोधजनकत्वाद्। इदं च सूक्ष्मर्जुसूत्रनयमतमित्यविरुद्धमिति मन्तव्यम् ॥ ६२ ॥ नन्वेवमनेन सूत्रेण केवलिन आरम्भजननशक्त्यन्वितयोगवत्त्व भवद्भिरभ्युपगतम्, तच्चास्माकमपि सम्मतमेव, आरम्भस्वरूपयोग्यतायाः केवलियोगेष्वस्माभिरभ्युपगमात्। न चातः केवलिन्यारम्भसम्भवोऽपि, मोहनीयाभावेन तन्निरूपितफलोपहितयोग्यतायास्तत्रास्वीकारादिति पराशङ्कायामाह—

पोग्गलपणोल्लणाए, जो आरंभो इमीइ किरियाए ॥ णियमा मुणीण भणिओ, सस्सिअनाएण सोऽदुट्ठो ॥६३॥

[पुद्गलप्रणोदनायां य आरम्भोऽनया क्रियया ॥ नियमान्मुनीना भणितः शास्यिकज्ञातेन सोऽदुष्टः ॥ ६३ ॥]

व्याख्या—'पोग्गलपणोल्लणाए'त्ति। अनयाऽऽरम्भशक्त्या हेतुभूतया, क्रियया—एजनादिलक्षणया, पुद्गलप्रणोदनायां जीवघनलोकान्तःस्थापरापरपुद्गलप्रेरणायां तथाविधसहकारिसम्पर्कसमुद्भूतायां सत्यां, य आरम्भो भवति, स नियमान्मुनीनां शास्यिकज्ञातेनादुष्टो भणितः। अयं भावः—स्थूलक्रियया पुद्गलप्रेरणायामारम्भस्तावत्साधूनामप्यवर्जनीयो भवति। अत एवाऽऽ-

हारकसमुद्घातनिःसृष्टपुद्गलैरपि शरीरसम्बद्धैस्तदसम्बद्धैर्वा प्राणादिघाते त्रिक्रियत्वादिकमुक्तम्। तथा च समुद्घातपदे प्रज्ञापना-
सूत्रम्–"तेणं भंते! पोग्गला णिच्छूढा समाणा जाइं तत्थ पाणाइं भूआइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणंति जाव उवद्दवंति, ते णं भंते जीवे
कइकिरिए?, गोयमा! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए। ते णं भंते! जीवा ताओ जीवाओ कइकिरिआ?, गो० एवं चेव,
से णं भंते! जीवे ते य जीवा अण्णेसिं जीवाणं परपराघाएणं कडकिरिया?. गो०! तिकिरियावि चउकिरियावि पंचकिरियावि" त्ति।
[ते भदन्त! पुद्गला निक्षिप्ताः सन्तः यान् तत्र प्राणान् भूतान् जीवान् सत्त्वान् अभिघ्नन्ति, यावदुपद्रवन्ति स भदन्त! जीवः कतिक्रियः,
गौ०! स्यात् त्रिक्रियः स्यात् चतुष्क्रियः स्यात्पञ्चक्रियः। ते च भदन्त जीवाः ते कतिक्रियाः?, गौ०! स्याद् त्रिक्रिया अपि, चतुष्क्रिया अपि, पञ्चक्रिया वेति॥] पर प्रमत्तताद-
शायामारम्भप्रत्यया क्रिया निमित्तम्, अप्रमत्ततादशायां तु धार्मिकक्रियायोगान्तर्भूततया शास्यिकदृष्टान्तेन हितत्वाद् योगातिरिक्त-
दोषविधया न दोषभाक्। तदुक्तं बृहत्कल्पभाष्ये–"आहारणीहारविहीसु जोगो, सव्वो अदोसाय जहा जयस्स॥ हिआय सस्संमि व
सस्सियस्स, भंडस्स एयं परिकम्मणं तु॥३९३१॥" यथा यतस्य प्रयतपरस्य साधोः, आहारनीहारादिविधिविषयः सर्वोऽपि
योगो भवन्मतेनाप्यदोषाय भवति, तथा भाण्डस्योपकरणस्य परिकर्मणमपि छेदनादिकमेवमेव यतनया क्रियमाणं निर्दोषं द्रष्टव्यम्।
दृष्टान्तमाह–'हियाय सस्संमि व सस्सिअस्स' त्ति। शस्येन चरतीति शास्यिकः कृषीवलः, तस्य यथा तद्वि(शस्यवि)षयं परिकर्मणं
निद्दिणनादिकं, हिताय भवति, तथेदमपि भाण्डपरिकर्मणम्। तथा चोक्तं–"यद्वच्छस्यहितार्थं, शस्याकीर्णेऽपि विचरतः क्षेत्रे॥
या भवति शस्यपीडा, यत्नवतः साऽल्पदोषाय॥१॥ तद्वज्जीवहितार्थं, जीवाकीर्णेऽपि विचरतो लोके॥ या भवति जीवपीडा, यत्नवतः

साऽल्पदोषाय ॥ २ ॥" इति । तथा च स्थूलक्रियैवारम्भरूपा सम्पन्ना, मोहनीयं च न तस्यां हेतुः, दृष्टेष्टविरोधाद्-इत्येवम्भूतारम्भस्य भगवति सत्त्वे न बाधकमित्यारम्भशक्तिरेवारम्भाक्षेपिका, अन्यथा तु चरमयोग इव प्राक्तनयोगेष्वप्यारम्भशक्तिकल्पने प्रमाणाभावः, निश्चयेन कार्यं कुर्वत एव कारणत्वाभ्युपगमाद् । न च शक्तिविशेषं विना योगत्वेनैव केवलियोगस्यारम्भस्वरूपयोग्यत्वाभ्युपगमो यौक्तिकः, चरमयोगस्यापि तत्त्वापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, आरम्भस्वरूपयोग्ययोगत्वेनान्तक्रियाविरोधित्वाद्-इत्यारम्भशक्तिसत्त्वे केवलिनः स्थूलक्रियारूपारम्भो नानुपपन्न इति ॥ ६३ ॥ एतदेवाह—

सो केवलिणो वि हवे, चलोवगरणत्तणं जमेयस्स ॥ सहगारिवसा णिययं, पायं थूलाइ किरियाए ॥ ६४ ॥

[स केवलिनोऽपि भवेद् चलोपकरणत्वं यदेतस्य ॥ सहकारिवशान्नियतं प्रायः स्थूलया क्रियया ॥ ६४ ॥]

व्याख्या—'सो त्ति' स पुद्गलप्रेरणाद्वारक आरम्भः, केवलिनोऽपि भवेद्, यद् यस्माद्, एतस्य केवलिनश्चलोपकरणत्वं सहकारिवशाद्—गमनक्रियापरिणामादिसहकारिवशात्, प्रायः स्थूलया क्रियया नियत वर्त्तते । अयं भावः—चलोपकरणत्वं तावद् भगवतोऽप्यस्त्येव, तथा च भगवतीसूत्रम्—"केवली णं भंते ! अस्सि समयंसि जेसु आगासपएसेसु हत्थ वा पायं वा बाहु वा उरुं वा ओगाहित्ता णं चिट्ठइ पभू णं केवली सेअकालंसि तेसु चेव आगासपएसेसु हत्थं वा जाव ओगाहित्ता णं चिट्ठित्तए ?, गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? जाव केवली णं अस्सि समयसि जेसु आगासपएसेसु जाव चिट्ठइ णो णं पभू केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव आगासपएसेसु हत्थं वा जाव चिट्ठित्तए ?, गोयमा ! केवलिस्स णं वीरियसजोगसद्दव्वयाए चलाइ उवगरणाइ भवंति, चलोवगरणट्ठयाए अ णं केवली अस्सि समयसि जेसु आगासपएसेसु हत्थं वा जाव चिट्ठइ णो णं पभू केवली सेयकालंसि वि

तेसु चेव चिट्ठित्तए, से तेणट्ठेणं जाव वुच्चइ केवली अस्सि समयंसि जाव चिट्ठित्तए ॥" [केवली भदन्त! अस्मिन् समये येष्वाकाशप्रदेशेषु हस्तं वा पादं वा बाहुं वा उरु वा अवगाह्य तिष्ठति प्रभुः केवली एष्यत्काले तेष्वेवाकाशप्रदेशेषु हस्तं वा यावदवगाह्य स्थातुम्? गौतम! नायमर्थः समर्थः। स केनार्थेन भदन्त? एवमुच्यते–यावत्केवली अस्मिन् समये येष्वाकाशप्रदेशेषु यावत्तिष्ठति न प्रभुः केवली एष्यत्कालेऽपि तेष्वेवाकाशप्रदेशेषु हस्तं वा यावत्स्थातुम्। गौतम! केवलिनो वीर्यसयोगसद्द्रव्यतया चलानि उपकरणानि भवन्ति, चलोपकरणार्थतया च केवली अस्मिन् समये येष्वाकाशप्रदेशेषु हस्त वा यावत्तिष्ठति, न प्रभुः केवली एष्यत्कालेऽपि तेष्वेव स्थातुम्, स तेनार्थेन यावदुच्यते अस्मिन् समये यावत्स्थातुम्।] एतद्वृत्तिर्यथा—'अस्सिं समयंसि'त्ति। अस्मिन वर्त्तमानसमये 'उग्गाहित्ता णं'ति अवगाह्य–आक्रम्य 'सेयकालंसि वि'त्ति एष्यत्कालेऽपि 'वीरियसजोगसद्दव्वयाए त्ति वीर्यं–वीर्यान्तराय-क्षयप्रभवा शक्तिः तत्प्रधानं सयोग मानसादिव्यापारयुक्तं यत् सद्विद्यमान द्रव्यं जीवद्रव्यं तत्तथा, वीर्यसद्भावेऽपि जीवद्रव्यस्य योगान् विना चलनं न स्यादिति सयोगशब्देन सद्द्रव्यं विशेषितम्। सदिति विशेषणं च तस्य सदासत्तावधारणार्थम्। अथवा स्व आत्मा तद्रूपं द्रव्यं स्वद्रव्यम्, ततः कर्मधारयः, अथवा वीर्यप्रधानः सयोगो योगवान् वीर्यसयोगः, स चासौ सद्रव्यश्च मनःप्रभृतिवर्गणायुक्तो वीर्यसयोगसद्रव्यस्तस्य भावस्तत्ता, तया हेतुभूतया 'चलाइं'त्ति अस्थिराणि 'उवगरणाइं' अङ्गानि, 'चलोवगरणट्ठयाए अ'-त्ति चलोपकरणलक्षणो योऽर्थस्तद्भावश्चलोपकरणता तया, चशब्दः पुनरर्थ इति ॥" एतच्च चलोपकरणत्वं निरन्तरसूक्ष्मगात्रसञ्चारबीजं चलनसामान्यसामग्र्यां निविशमानं गमनादिक्रियापरिणाममात्रसहकृतं सद् गमनादिस्थूलक्रियामपि जनयत्येव। सा च स्थूलक्रियाऽव-र्जनीयारम्भसङ्गता सती केवलिनो न वीर्यान्तरायक्षयक्षतिकरी, यतस्तत्सामान्यकारणं चलोपकरणत्वमपि नामकर्मपरिणतिविशेषापादि-

तयोगाशक्तिनियतमेव । यदाह सूत्रकृताङ्गवृत्तिकृत्—"सयोगी जीवो न शक्नोति क्षणमप्येकं निश्चलं स्थातुम्, अग्निना ताप्यमानोदकवत् कार्मणशरीरानुगतः सदा परिवर्त्तयन्नेवास्ते" इत्यादीति । तत्कार्यस्थूलक्रियायामप्यशक्यपरिहारारम्भ(म्भा)त्यागे योगाशक्तिरेव निमित्तमिति । केचित्तु सूक्ष्मक्रियाणामिव स्थूलक्रियाणामपि चलोपकरणतावशादनियतदेशत्वावश्यकत्वात् तत्प्रयुक्तारम्भसम्भवः केवलिनोऽपि दुर्निवार इत्याहुः ॥६८॥ ननु यद्येवं स्थूलक्रियैव द्रव्यारम्भस्तदा केवलिनस्तस्य कादाचित्कत्वं न स्याद्, इष्यते चायमन्यसाधूनामपि कादाचित्क एव, 'आहच्च हिंसा समिअस्स जा उ, सा दव्वओ होइ ण भावओ उ (वृत्तिः २२७ पृष्ठे)।"त्ति वचनाद्—इत्याशङ्कामेतद्वचनं फलीभूतसाक्षात्सम्बद्धारम्भविषयत्वान्नानुपपन्नम्, स च केवलिनोऽपि कादाचित्क एवेत्यभिप्रायेण निराचिकीर्षुराह—

सक्खं तु कायफासे, जो आरंभो कयाइ सो हुज्जा ॥ अहिगिच्च त णिमित्तं, मग्गिज्जइ कम्मबंधठिई ॥६५॥

(साक्षात्तु कायस्पर्शे य आरम्भो कदाचित्स भवेत् ॥ अधिकृत्य तं निमित्त मृग्यते कर्मबन्धस्थितिः ॥ ६५ ॥)

'सक्खं तु'त्ति साक्षात्तु कायस्पर्शे य आरम्भः स कदाचिदेव भवेत् न च साक्षात्कायस्पर्शाज्जायमानं द्रव्यारम्भं व्यवहारिजनप्रतीयमानमिति गम्यं, निमित्तमधिकृत्य कर्मबन्धस्थितिर्मृग्यते शास्त्रकारैरिति गम्यम् । यद्यप्यप्रमत्तानामवश्यम्भावी जीवघातो न प्राणातिपातत्वेन दोषः, तथापि निमित्तभूतस्यास्यैकाधिकरणोपादानसद्भावासद्भावकृतं फलवैचित्र्यं विचार्यत इत्यर्थः ॥ कथमित्याह—

तत्थ णिमित्ते सरिसे, जेणोवादाणकारणाविक्खो । बंधाबंधविसेसो, भणिओ आयारवित्तीए ॥ ६६ ॥

[तत्र निमित्ते सदृशे येनोपादानकारणापेक्षः ॥ बन्धाबन्धविशेषो भणित आचारवृत्त्याम् ॥ ६६ ॥]

व्याख्या—'तत्थ'त्ति । तत्र साक्षात्कायस्पर्शाज्जायमानारम्भे निमित्ते सदृशे आकेवलिनमेकरूपे सति येन कारणेनोपादानकारणस्यापेक्षा नियतसद्भावासद्भावाश्रयणरूपा यत्र स तथा बन्धाबन्धविशेषः, कर्मबन्धतारतम्यतदभावप्रकारो भणित इति आचारवृत्तौ । तत्र प्रथममेतदधिकारसम्बद्धमाचाराङ्गलोकसाराध्ययनचतुर्थोद्देशकस्थ सूत्र (१५८) लिख्यते—"से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचे(च)माणे पसारमाणे विणिवट्टमाणे संपलिज्जमाणे एगया गुणसमिअस्स रीयंतो कायसंफासं समणुचिन्ना एगइआ पाणा उद्दाइंति, इहलोगवेदणवेज्जावडियं जं आउट्टिकयं कम्मं तप्परिन्नाय विवेगमेति एवं से अप्पमादेणं विवेग किट्टइ वेयवीत्ति" ॥ अथैतद्वृत्तिः—'से'इत्यादि । स भिक्षुः सदा गुर्वादेशविधायी एतद्व्यापारवान् भवति, तद्यथा—अभिक्रामन्—गच्छन्, प्रतिक्रामन्—निवर्त्तमानः, सङ्कुचन् हस्तपादादिसङ्कोचनतः, प्रसारयन् हस्तादीनवयवान्, विनिवर्त्तमानः समस्ताशुभव्यापारात्, सम्यक् परिः समन्ताद् हस्तपादादीनवयवांस्तन्निक्षेपस्थानानि वा रजोहरणादिना मृजन् सम्परिमृजन्, गुरुकुलवासे वसेदिति सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । तत्र निविष्टस्य विधिः-भूम्यामेकमूरुं व्यवस्थाप्य द्वितीयमुत्क्षिप्य तिष्ठेत्, निश्चलस्थानासहिष्णुतया भूमीं प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य(मार्ज्य) च कुक्कुटीविजृम्भितदृष्टान्तेन सङ्कोचयेत्प्रसारयेद्वा, स्वपन्नपि मयूरवत् स्वपिति, स किलान्यसत्त्वभयादेकपार्श्वशायी सचेतनश्च स्वपिति, निरीक्ष्य च परिवर्त्तनादिकाः क्रिया विधत्ते इत्येवमादि सम्परिमृजन् सर्वाः क्रियाः करोति । एवं चाप्रमत्ततया पूर्वोक्ताः क्रियाः कुर्वतोऽपि कदाचिदवश्यम्भावितया यत् स्यात्तदाह—'एगया'इत्यादि । एकदा कदाचिद् गुणसमितस्य गुणयुक्तस्याप्रमत्ततया यतेः रीयमाणस्य सम्यगनुष्ठानवतोऽभिक्रामतः प्रतिक्रामतः सङ्कुचतः प्रसारयतो विनिवर्त्तमानस्य सम्परिमृजतः कस्याञ्चिदवस्थाया कायः शरीर तत्संस्पर्शमनुचीर्णाः कायसङ्गमागताः सम्पातिमादयः प्राणिन एके परितापमाप्नुवन्ति, एके

ग्लानतामुपयान्ति, एकेऽवयवविध्वंसमापद्यन्ते । अपश्चिमावस्था तु सूत्रेणैव दर्शयति–एके प्राणाः प्राणिनः, अपद्रान्ति–प्राणैर्विमुच्यन्ते । अत्र च कर्मबन्धं प्रति विचित्रता । तथाहि–शैलेश्यवस्थायां मशकादीनां कायसंस्पर्शेन प्राणत्यागेऽपि बन्धोपादानकारणयोगाभावान्नास्ति बन्धः, उपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिनां स्थितिनिमित्तकषायाभावात् सामयिकः, अप्रमत्तयतेर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कृष्टतश्चान्तःकोटाकोटिस्थितिरिति । प्रमत्तस्य त्वनाकुट्टिकयाऽनुपेत्य प्रवृत्तस्य क्वचित्पाण्याद्यवयवसंस्पर्शात् प्राण्युपतापनादौ जघन्यत उत्कृष्टतश्च कर्मबन्धः प्राक्तन एव विशेपिततरः । स च तेनैव भवेन क्षिप्यत इति सूत्रेणैव दर्शयितुमाह–'इहलोग इत्यादि । इहास्मिन् लोके जन्मनि वेदनमनुभवनमिहलोकवेदन तेन वेद्यमनुभवनीयमिहलोकवेदनवेद्यं तत्रापतितमिहलोकवेदनवेद्यापतितम्, इदमुक्तं भवति–प्रमत्तयतिनापि यदकामतः कृत कर्म कायसङ्घट्टनादिना तदैहिकभवानुबन्धि, तेनैव भवेन क्षिप्यमाणत्वाद्, आकुट्टि(ट्टी)कृतकर्मणि तु यद्विधेयं तदाह 'ज आउट्टी'इत्यादि । यत्तु पुनः कर्माकुट्टया कृतमागमोक्तकारणमन्तरेणोपेत्य प्राण्युपमर्दनेन विहितं तत्परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया विवेकमेति विविच्यतेऽनेनेति विवेकः, प्रायश्चित्तं दशविधं तस्याऽऽन्तरं भेदमुपैति तद्, विवेकं वाऽभावाख्यमुपैति, तत्करोति येन कर्मणोऽभावो भवतीति ॥" अत्र गुर्वादेशविधायिनमभिक्रमणादिव्यापारवन्तमप्रमत्तसंयतमवश्यम्भाविजीवविराधनाभागिनमनूद्य कर्मबन्धाबन्धविशेषविधानं वृत्तौ पूरितम्, अनाकुट्टिकयाऽऽकुट्टिकया च जीवविराधनाकारिणं प्रमत्तसंयतमनूद्येहलोकवेदनवेद्यापतितस्य विवेकयोग्यस्य च कर्मबन्धस्य विधानं साक्षादेव सूत्रेऽभिहितम्, तत्र केवली 'उद्देसो पासगस्स णत्थि'त्ति वचनाद् गुर्वादेशविधायित्वाभावात् सम्भावितभाविजीवघातभयाविनाभाविनियताभिक्रमणादिक्रियाभावाच्च नानूद्य इति तद्बहिर्भावेनैवावश्यम्भाविजीवविराधनानिमित्तकबन्धाबन्धविचार इति परोऽभिमन्यते, तन्महामृषावादविलसितम् । साक्षादेव केवलिनमनूद्य वृत्तौ तत्स-

मर्थनस्य ब्रह्मणापि पराकर्तुमशक्यत्वात् । तत्रानूद्यतावच्छेदकधर्मे विरोधोद्भावनेन च वृत्तिकृत एव सूत्राभिप्रायानभिज्ञता वक्तुमुपक्रान्तो देवानाप्रियस्तमेव मन्यमानस्तमेव चाऽवमन्यस इति महाकष्टं तद् । न चैतद्विरोधोद्भावनं विचार्यमाणं चमत्कारकारि, गुर्वादेशविधायित्वस्य भगवति फलतोऽभिधानाविरोधाद्, अत एव " किं ते भंते ! जत्ता ? सोमिला ! जं मे तवणियमसंजमसज्झायज्झाणावस्सयमाईसु जयणा । सेत्तं जत्ता" । इत्यत्र सूत्रे एतेषु च यद्यपि भगवतो न किञ्चित्तदानीं विशेषतः सम्भवति, तथापि तत्फलसद्भावात्तदस्तीत्यवगन्तव्यमित्युक्तम् । अभिक्रमणादियतनाव्यापाराश्च यादृशाश्छद्मस्थसंयतानामयतनाभयाविनाभाविनस्तादृशा एवायतनाभयाभावेऽपि भगवतः सम्भवन्त्येव साधुसमानधर्मतयैव तस्याकल्पिकपरिहारादियतनावदभिक्रमणादियतनाया अप्युपपत्तेरिति न किञ्चिदेतत् । यत्त्ववश्यम्भावित्वं प्रायोऽसम्भविसम्भविकार्यत्वम्, यदेव हि प्रायोऽसम्भवि सत् कदाचित्सम्भवति तदेवावश्यम्भावीति व्यवह्रियते, अन्यथा सर्वमपि कार्यमवश्यम्भावित्वेन वक्तव्यं स्यात्, पञ्चसमवायवादिभिर्जैनैः सर्वस्यापि कार्यस्य नियतिजन्यतामधिकृत्यावश्यम्भावित्वेनेष्टत्वात्, कालादिषु पञ्चसु कारणेषु नियतेरपि परिगणनाद्, अत एव जमालिनिमित्तकनिह्नवमार्गोत्पत्तिरवश्यम्भाविनीति प्रवचने प्रतीतिः । तीर्थकरदीक्षितशिष्यात् निह्नवमार्गोत्पत्तेः प्रायोऽसम्भविसम्भवाद्, एवमप्रमत्तसंयतस्य कायादिव्यापाराज्ञायमानानाभोगवशेन कादाचित्कीत्यवश्यम्भाविनी वक्तुं युज्यते नतु केवलिनः, तस्य तत्कादाचित्कतानियामकानाभोगाभावादिति नावश्यम्भाविविराधनावन्तं केवलिनमनूद्य किमपि विचारणीयमस्ति' इति परेणोद्घुष्यते, तदसद् । अनाभोगादेरिव विषयासन्निधानादेरपि कादाचित्कत्वेनावश्यम्भावित्वोपपत्तेः केवलिनोऽप्यप्रमत्तयतेरिवावश्यम्भाविजीवविराधनोपपत्तेः । अन्यथा तमधिकृत्य वृत्तिकृता यत्सामयिककर्मबन्धाबन्धव्याख्यानं कृतं तस्यात्यन्तमनुपपत्तेः । किञ्च अवश्यम्भाविनी जीवविराधना प्रायोऽसम्भविसम्भवाऽप्रमत्तस्यैव

नतु प्रमत्तस्य, तदीयकायव्यापाराज्जायमानस्य जीवघातस्य प्रायः सम्भविसम्भवत्वात्, प्रमत्तयोगानां तथास्वभावत्वाद्, अत एव प्रमत्तसंयतस्य प्रमत्तयोगानङ्गीकृत्यारम्भिकी क्रियापि, तेषां योगानां जीवघातार्हत्वाद्, अन्यथा प्रमत्ताप्रमत्तयोरविशेषः सम्पद्येतेति परस्याभ्युपगमेऽवस्थितसूत्रस्यैवानुपपत्तिः, अनाकुट्टिकयाऽनुपेत्य प्रवृत्तमवश्यम्भाविजीवविराधनावन्तं प्रमत्तसंयतमधिकृत्यैवेहलोकवेदनवेद्यापतितकर्मबन्धस्य साक्षात्सूत्रेऽभिधानात्, तस्य च जीवविराधनाया अवश्यम्भावित्वस्य प्रायः सम्भविसम्भवत्वेन परेण निषेधात्, तस्मान्नायं पन्थाः, किन्त्वनभिमतत्वे सत्यवर्जनीयसामग्रीकत्वमवश्यम्भावित्वव्यवहारविषयः, अत एव जिज्ञासितयोर्द्वयोर्वस्तुनोः पुरःस्थितयोरेकस्य दर्शनार्थमुन्मीलितेन चक्षुषाऽपरस्यापि दर्शनमवश्यं भवतीति व्यवह्रियते। अत एव च जमालेर्भगवता दीक्षणे निह्नवमार्गोत्पादस्यावश्यम्भावित्वमपि नानुपपन्नम्, तदानीं तस्यानभिमतस्याप्यवर्जनीयसामग्रीकत्वाद्; एवंविधा चावश्यम्भाविनी विराधना संयतानां सर्वेषामपि सम्भवतीति तानधिकृत्य वृत्तिकृदुक्ता व्यवस्था केवलिन्यपि युक्तिमत्येवेति। वस्तुतः सर्वस्यापि कार्यस्य पुरुषकारभवितव्यतोभयजन्यत्वेऽपीदं कार्यं पुरुषकारजनितमिदं च भवितव्यताजनितमिति विभक्तो व्यवहार एकैकस्योत्कटत्वलक्षणां बहुत्वलक्षणां वा मुख्यतामादायैव शास्त्रकारैरुपपादितः। ॥ तदिह साधूनामनाकुट्या जायमाने जीवघाते भवितव्यताया एव मुख्यतया व्याप्रियमाणत्वात् तत्रावश्यम्भावित्वव्यवहारः, न त्वनाभोगजन्यत्वमेव तत्र तन्त्रम्, आभोगपूर्वकस्य कारणिकस्यापि तस्य विवेकयोग्यबन्धहेतोः पृथक्करणेनेहलोकवेदनवेद्यापतितकर्मबन्धहेतुतया परिशेषितस्यावश्यम्भावित्वेनैव परिगणनात्, ततो जीवरक्षापरिणामवतामाकुट्या जीवघातप्रवृत्तिरहितानां सर्वेषामेव संयतानां या काचिद्विराधना भवति साऽवश्यम्भाविनीति कायस्पर्शमनुचीर्णैः प्राणिभिरुपजायमाना तामाश्रित्याऽऽकेवलिनं वृत्तिकृदुक्तव्यवस्थायां न कोऽपि सन्देह इति सूक्ष्ममीक्षणीयम्। एवं सत्यपि परस्येयं शङ्को-

न्मीलति–यदुताऽत्र कर्मबन्धं प्रति विचित्रता । तथाहि–शैलेश्यवस्थायां कायसंस्पर्शेन मशकादीनां प्राणत्यागेऽपि पञ्चविधोपादानकारणाभावान्नास्ति बन्धः' इत्यत्र कर्तुः सम्यग्विचारे मशकादीना प्राणत्यागस्य कर्त्ता किमयोगिकेवली, उताऽन्यः कश्चिद् । नाद्यः, अयोगित्वकर्तृत्वयोर्विरोधेनायोगिकेवलिनः कर्तृत्वाभावात् ; नहि कायादिव्यापारमन्तरेण कर्त्ता भवितुमर्हति, 'क्रियाहेतुः स्वतन्त्रः कर्त्ता' इति वचनात् । यदि चायोगिकेवलिनः शरीरस्य सम्पर्कादपि जायमानो जीवघातस्तन्निमित्तकत्वेन तत्कर्तृको भण्यते, तर्हि अपसिद्धान्तः स्यात् । पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि प्राणत्यागलक्षणस्य कार्यस्य जायमानत्वेन पञ्चसमवायवादित्वहानेः । निमित्तत्वमात्रेण च कर्तृत्वव्यपदेशोऽपि न भवति, साध्व्यादिनिमित्तकोपसर्गस्य दानादेश्च साध्व्यादिकर्तृकत्वेन व्यपदेशप्रसक्तेः । द्वितीयविकल्पेऽन्यः कश्चित् कर्ता–इत्यत्रानन्यगत्याऽनाभोगवतः कूपपातवदनिष्टोऽपि मशकादीनां निजप्राणत्यागोऽनाभोगवशेन म्रियमाणमशकादिकर्तृक एव, 'यदि मशकादीनां निजकायादिव्यापारो नाभविष्यत् तर्हि शरीरसम्पर्काभावेन निजप्राणत्यागोऽपि नाभविष्यद्'–इति व्याप्तिबलेन मशकादियोगजन्यत्वात् । तथा चायोगिकेवलिनि मशकादिकर्तृका जीवविराधना बन्धाभाववती सम्भवत्यपि सयोगिकेवलिनि तु सा कथं स्यात् ? तत्र हिंसा भवन्ती तद्योगान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन तत्कर्तृकापि स्यात्, न च केवलिनो जीवविराधनाकर्तृत्वमिष्यत इति कर्तृकार्यभावसम्बन्धेन जीवविराधनाविचारे कथं केवलिनो निर्देशो युज्यते ? इति ॥ ६६ ॥ तत्र आह—

कारगसंबंधेणं, तस्स णिमित्तस्सिमा उ मज्जाया ॥ कत्ता पुणो पमत्तो, णियमा पाणाइवायस्स ॥ ६७ ॥

[कारकसम्बन्धेन, तस्य निमित्तस्येयं तु मर्यादा ॥ कर्ता पुनः प्रमत्तो, नियमात्प्राणातिपातस्य ॥ ६७ ॥]

व्याख्या—'**कारगसंबंधेण**'ति । कारकस्याधिकरणादिरूपस्यायोगिकेवल्यादेः पश्चानुपूर्व्या प्रमत्तसंयतान्तस्य सम्बन्धेन,

तस्य साक्षात्कायस्पर्शप्रत्ययारम्भस्य, निमित्तस्य, इयमाचाराङ्गवृत्तिकृदुक्ता मर्यादा—अयोगिकेवल्यादिकारकसम्बन्धमात्रेणैव साक्षादारम्भस्य बाह्यस्य निमित्तस्य प्रस्तुता फलाफलविचारणा क्रियते, नतु कर्तृकार्यभावसम्बन्धेन जीवविराधनाविचारः क्रियत इति नोक्तानुपपत्तिरित्यर्थः । कर्ता पुनः प्राणातिपातस्य नियमात् प्रमत्त एव, शास्त्रीयव्यवहारेण प्रमादवत एव प्राणातिपातकत्वव्यवस्थितेः, ततो यदि कर्तृकार्यभावसम्बन्धेनैवात्र जीवविराधनाविचारः प्रस्तुतस्तदा पराभ्युपगमरीत्या केवलिन इवाऽप्रमत्तसंयतस्यापि निर्देशोऽप्रामाणिक इति सर्वमेव वृत्तिकृदुक्त विशीर्येत। यदि चोपचारेणाप्रमत्तयतेरपि कथञ्चित्तत्कर्तृत्वमिष्यते, तदोपरिष्टादप्युपचारेणैतत्कल्पनं ग्रन्थकाराभिप्रायानुरोधादेव निराबाधमिति यदुच्यते परेण "सयोगिकेवली कदाचिज्जीवविराधकः सम्भवति, भवस्थकेवलित्वाद् अयोगिकेवलिवद्' इत्यत्र कदाचिज्जीवविराधकत्वं साध्यमयोगिकेवलिनि दृष्टान्ते नास्ति, तस्याकर्तृत्वात्। किञ्च—अयोगिकेवलिदृष्टान्तदातुरयोगित्वकर्तृत्वयोर्विरोधापरिज्ञानमपि स्फुटमेवेत्यादि," तत्सर्वं ग्रन्थाभिप्रायापरिज्ञानविजृम्भितमिति मन्तव्यम्; न ह्येवमधिकृनाचाराङ्गवृत्तिग्रन्थः कथमप्युपपादितो भवतीति ॥ ६७ ॥

नन्वय ग्रन्थः प्रासङ्गिक एव। तथाहि—अयोगिकेवलिनि मशकादिघातस्तावन्मशकादिकर्तृक एव, तथा च कर्मबन्धोऽप्यध्यवसायानुगतो मशकादीनामेव भवति, एककर्तृकयोरेव कर्मबन्धोपादानकारणयोः परस्पर कार्यकारणभावसम्बन्धाद् न पुनर्भिन्नकर्तृकयोरपि, सांसारिकजीवकर्तृकैः पञ्चविधोपादानकारणैः सिद्धानामपि कर्मबन्धप्रसक्तेः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामनादिसिद्धकार्यकारणभावव्यवस्थासिद्ध्यर्थमत्र च कर्मबन्धं प्रति विचित्रतेत्यादि प्रसङ्गतोऽभिहितम्। तत्रायोगिन्युपादानकारणाभावात् कर्मबन्धाभाव इति व्यतिरेकनियमः प्रदर्शितः, स चान्वयनियमस्य दार्ढ्यहेतुः, अन्यथा कर्मबन्धविचित्रताविचारेऽबन्धकस्यायोगिकेवलिनो भणनमनर्थकमेव सम्पद्येत,

प्रयोजनाभावाद् । योगवत्सु चोपादानकारणसत्त्वे कर्मबन्धलक्षणकार्यसत्त्वमित्यन्वयनियमं प्रदर्शयन्नेव योगवतामपि कर्मबन्धवैचित्र्यमुपादानकारणवैचित्र्यायत्तमेवेति नियमसिद्ध्यर्थं प्रथमं कारणवैचित्र्ये कार्य(र्या)वैचित्र्यमुपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिनां स्थितिनिमित्तकषायोदयाभावात् सामयिकः कर्मबन्ध इति समुच्चयभणनेन बभाण वृत्तिकारः, तेषां च त्रयाणामपि मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगप्रमादलक्षणानां पञ्चविधोपादानकारणाना मध्ये केवलयोगस्यैव सत्त्वेन कर्मबन्धोऽपि तत्प्रत्यय एव स च सामयिकसातवेदनीयकर्मबन्धलक्षणः समान एव भवति, विचित्रताहेतुमोहनीयोदयाभावाद्, न पुनरुपशान्तस्येव क्षीणमोहस्यापि जीवघातादिक भवतीति बुद्ध्या समुच्चयेन भणनम्, सर्वांशसाम्यमधिकृत्य समुच्चयेन भणितेरसम्भवाद्, अन्यथोपशान्तस्येव क्षीणमोहस्यापि जीवघातादिहेतुमोहनीयसत्तापि वक्तव्या स्यात्, तथा केवलिवदुपशान्तस्याऽपि सर्वज्ञत्वं वक्तव्यं प्रसज्येत; नहि नारकतिर्यग्नरामराः कर्मबन्धका इत्यादिसमुच्चयभणनेन सर्वेषामपि साम्यं कस्यापि संमतम् । तस्माद्यथा सामान्यतः कर्मबन्धमधिकृत्य नारकादीनां समुच्चयेन भणनं तथा सामयिकसातवेदनीयकर्मबन्धमधिकृत्योपशान्तादीनां समुच्चयेन भणनमित्यत्र प्रासङ्गिके प्रथमाङ्गवृत्तिग्रन्थे नास्माकमनभीप्सितसिद्धिरित्याशङ्कायामाह—

जो पुण इह कत्तारं, नियमा मसगाइजीवमहिकिच्च ॥ भणइ इमं पासंगिय-मइप्पसंगो फुडो तस्स ॥६८॥

[यः पुनरिह कर्तारं, नियमान्मशकादिजीवमधिकृत्य ॥ भणतीदं प्रासङ्गिकं, अतिप्रसङ्गः स्फुटस्तस्य ॥ ६८ ॥]

व्याख्या—'जो पुण'त्ति । यः पुनरिह शैलेश्यवस्थायामवश्यम्भाविन्या जीवविराधनाया कर्तारं नियमान्मशकादिजीवमधिकृत्येदमाचाराङ्गवृत्त्युक्तं प्रासङ्गिकं भणति तद्विराधनाकर्तृमशकादिजीवगतोपादानकर्मबन्धकार्यकारणभावप्रपञ्चप्रदर्शनमात्रप्रसङ्गप्राप्तं वदति, नतु स्वसम्बद्धजीवविराधनाफलाफलवैचित्र्यप्रदर्शनपरम्, तस्य स्फुट एवातिप्रसङ्गः । एवं ह्यप्रमत्तसंयतस्यापि

प्रमादनियतजीवविराधनाकर्तृत्वाभावेन जीवविराधनानिमित्तककर्मबन्धो म्रियमाणजीवगत एव पर्यवस्येद्, नत्वप्रमत्तसंयतनिष्ठ इति कर्मबन्धानुमेयविराधनाया अप्रमत्तसंयतादिषु विचित्राया अभिधानमखिलं व्यधिकरणमेव स्यादिति। किञ्च–अत्र 'कर्मबन्धं प्रति विचित्रता' इत्यत्र 'अत्र' इति निमित्तसप्तम्याश्रयणात् संयतसम्बद्धावश्यम्भाविजीवविराधनानिमित्तमधिकृत्यैव कर्मबन्धविचित्रता वक्तुमुपक्रान्ता, सा च कर्मबन्धाभावकर्मबन्धावान्तरभेदान्यतररूपेति नायोगिनि तद्विचित्रताऽनुपपत्तिः। अत एव–"सेलेसिं पडिवन्नस्स जे सत्ता फरिसं पप्प उद्दायंति मसगादी, तत्थ कम्मबंधो णत्थि। सजोगिस्स कम्मबंधो दो समया। जो अपमत्तो उद्दवेइ तस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठमुहुत्ता। जो पुण पमत्तो न य आउट्टिआए तस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठसवच्छराइं। जो उण आउट्टिआए पाणे उवद्दवेइ तवो वा छेओ वा वेयावडं वा करेइ॥" (शैलेशीं प्रतिपन्नस्य ये सत्त्वाः स्पर्शं प्राप्यापद्रान्ति मशकादयः तत्र कर्मबन्धो नास्ति। सयोगिनः कर्मबन्धो द्वौ समयौ। यः अप्रमत्तोऽपद्रापयति तस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षेणाष्टमुहूर्तानि॥ यः पुनः प्रमत्तो न चाकुट्ट्या तस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षेणाष्ट संवत्सराणि॥ यः पुनराकुट्ट्या प्राणिनोऽपद्रापयति तपो वा छेदो वा व्यावृत्तं वा करोतीत्यादि)" इत्याचाराङ्गचूर्णावप्यवश्यम्भाविजीवविराधनानिमित्तक एव कर्मबन्धाभावः कर्मबन्धविशेषश्चायोगिकेवल्यादीनां संयतानां पश्चानुपूर्व्या व्यक्तः प्रतीयते। कर्मबन्धाभावादौ निमित्तत्वं च तत्र स्वसमानाधिकरणोपादानानुरोधेनाऽभिधीयमानं निमित्तमनैकान्तिकमिति सम्प्रदायादविरुद्धम्। तथा च 'सजोगिस्स कम्मबंधो दो समया' इत्यत्र 'तत्र' इत्यस्यावश्यमनुषङ्गात्। तत्र कायस्पर्शं प्राप्य सत्त्वोपद्रवे सयोगिकेवलिनो द्वौ समयौ कर्मबन्ध इति स्फुटार्थप्रतीतावुपशान्तक्षीणमोहयोरपि तत्समानजातीयत्वेन तत्र द्वावेव समयौ कर्मबन्धः स्फुट इति वृत्तावुपशान्तादीनां समुच्चयेन भणनं न जीवघातमधिकृत्य, इति यदुच्यते तद्बहुश्रुतत्वयशःक्षतिकरमेव, समुच्चयप्रतियोगिनां

पदार्थानां तुल्यवत्प्रकृतधर्मविशिष्टक्रियान्वयित्वेनैव समुच्चयनिर्वाहाद् । एवं च यथा सिकतादौ घृतादिसंसर्गेऽपि स्नेहाभावान्न बन्धः, बदरचूर्णसक्तुचूर्णादीनां तु चिरकालस्थितिहेतुस्नेहविशेषाभावादल्पकालीनो बन्धः, कणिकादीनां तु स्नेहोत्कर्षादुत्कृष्टबन्ध इत्यत्र बदरचूर्णादीनां तुल्यवदेव स्नेहविशेषाभावविशिष्टप्रकृतघृतादिसंसर्गनिमित्तकाल्पकालीनबन्धभवनक्रियान्वयेनैव समुच्चयः प्रतीयते, तथा प्रकृतेऽप्युपशान्तादीना तुल्यवदेव स्थितिनिमित्तकषायाभावविशिष्टप्रकृतजीवघातनिमित्तकसामयिकबन्धभवनक्रियान्वयेनैव समुच्चयोपपत्तेरिति नारकतिर्यग्नरामरा इति दृष्टान्तेन प्रत्येकपदार्थधर्ममादाय समुच्चयखण्डनमपाण्डित्यविजृम्भितमेव, तस्य केनाप्यनभ्युपगतत्वात् । प्रकृतधर्मविशिष्टक्रियान्वयतुल्यतारूपसमुच्चयखण्डने तु समुच्चयतात्पर्यकवाक्यस्यैवानुपपत्तिरिति न किञ्चिदेतत् ॥ ६८ ॥

तदेवमाचाराङ्गवृत्त्यभिप्रायेण यावदयोगिकेवलिनं संयतानामपि कायस्पर्शनावश्यम्भाविन्या जीवविराधनाया व्यक्तमेव प्रतीतावपि ये 'अयोगिकेवलिन्यवश्यम्भावी मशकादिघातो मशकादिकर्तृको नत्वयोगिकेवलिकर्तृकः'—इति शब्दमात्रेण मुग्धान् प्रतारयन्ति त एवं प्रष्टव्याः—सोऽयमेवंविध एव सयोगिकेवलिनः कथं न भवति ? इति । इत्थं पृष्टाश्च त एवमुत्तर ददते—योगवतो हि केवलिनो जीवरक्षैव भवति, तत्कारणानां शुभयोगानां सत्त्वात् । अयोगिकेवलिनस्तु योगानामेवाभावेन स्वरूपयोग्यतयापि निजयोगजन्यजीवघातसामग्र्या अभाववज्जीवरक्षासामग्र्या अप्यभाव एवेति तत्राह—

जियरक्खा सुहजोगा, जइ तुह इट्ठा सजोगिकेवलिणो ॥ हंदि तया तयभावे, अजोगिणो हुज्ज हीणत्तं ॥६९॥

[जीवरक्षा शुभयोगाद्, यदि तवेष्टा सयोगिकेवलिनः ॥ हन्दि तदा तदभावे अयोगिनो भवेद्धीनत्वम् ॥ ६९ ॥]

'जिअरक्ख'त्ति । जीवरक्षा—जीवघाताभावरूपा, यदि तव मते सयोगिकेवलिन इष्टा, केवलियोगानामेव जीवरक्षाहेतुत्वात्,

हन्दीत्याक्षेपे, तदा तदभावे–योगाभावेन जीवरक्षाऽभावेऽयोगिकेवलिनो हीनत्वं सयोगिकेवल्यपेक्षयाऽपकृष्टत्वं, भवेद् । अयं भावः—जीवघाताभावरूपा जीवरक्षा किं त्वया गुणरूपाऽभ्युपगम्यते, दोषरूपा, उभयरूपा, अनुभयरूपा वा ?, आद्ये तद्गुणवैकल्येनायोगिकेवलिनो हीनत्व दुर्निवारमेव । द्वितीये तु स्वाभ्युपगमस्य हानिर्लोकशास्त्रविरोधश्च । तृतीयश्च पक्षो विहितक्रियापरिणतयोगरूपां जीवरक्षामधिकृत्य विहितक्रियात्वेन गुणत्वं योगत्वेन च दोषत्वमभिप्रेत्य सम्भवदुक्तिकोऽपि स्वाभाविकजीवघाताभावरूपां जीवरक्षामधिकृत्यासम्भवदुक्तिक एव; नहि स गुणो दोषश्चेत्युभयरूपतामास्कन्दतीति । चतुर्थे तु तदभावेऽप्ययोगिकेवलिन इव सयोगिकेवलिनोऽपि न बाधक इति, किं तत्रावश्यम्भाविजीवविराधनानिरासव्यसनितया ? ॥ अथ जीवघाताभावमात्ररूपा जीवरक्षा न गुणः, किन्तु योगजन्यजीवघाताभावरूपा, सा च मशकादिकर्तृकमशकादिजीवघातकालेऽयोगिकेवलिनोऽपि विशिष्टाभावसत्त्वान्नानुपपन्नेति न तस्य तद्गुणवैकल्यम् । न वा सयोगिकेवलिनोऽपि योगात् कदाचिदपि जीवघातापत्तिः, तादृशजीवरक्षारूपातिशयस्य चारित्रमोहनीयक्षयसमुत्थस्य ज्ञानावरणीयक्षयसमुत्थकेवलज्ञानस्येव सर्वकेवलिसाधारणत्वात् संयतानां यज्जीवविषयकाभोगस्तज्जीवरक्षाया नियतत्वाच्च । अत एव सामान्यसाधूनामप्यनाभोगजन्यायामेव विराधनायां परिणामशुद्ध्या फलतोऽवधकत्वमुपदर्शितम् ॥ तथा चोक्तं हितोपदेशमालायां—“ णणु कह उवउत्ताण वि, छउमत्थमुणीण सुहुमजिअरक्खा ? ॥ सच्चं तहवि ण वहगा, उवओगवरा जओ भणिअं ॥१॥” एतद्व्याख्या यथा–नन्विति पूर्वपक्षोपन्यासे। छद्मस्थानां विशिष्टातिशयज्ञानरहितानां मुनीनां साधूनामुपयुक्तानामपि सम्यगीर्यासमितानामपि, सूक्ष्माणां चर्मचक्षुषामदृश्यानां जीवानां कथं रक्षासम्भवः ?, आचार्य आह–सत्यमवितथमेतत्, तथापि विशिष्टज्ञानशून्या अपि, यद्युपयोगपराः पूर्वोक्तयुक्त्या चङ्क्रमणप्रवृत्तास्तदा सम्भवत्यपि प्राणिवधे न वधका–न वधकार्य-

पापभाजः ॥ न चैतत्काल्पनिकम्, यत 'उच्चालिअंमि पाए' इत्यादिः भणितम् ॥'' यत एव भगवतोऽहिंसातिशयः, अत एव 'अणासवो केवलीणं ठाणं' इति प्रश्नव्याकरणसूत्रे केवलिनां स्थानं केवलिनामहिंसाया व्यवस्थितत्वादित्युक्तम्। तथा चतुःशरणप्रकीर्णकेऽपि 'सवजिआणमहिंसं, अरिहंता'–इत्यत्र सर्वे सूक्ष्मबादरत्रसस्थावरलक्षणा ये जीवास्तेषां, न हिंसाऽहिंसा तामर्हन्त इति विवृतमिति चेत्, नन्वेवं योगजन्यजीवघाताभावरूपाया जीवरक्षाया भगवतोऽतिशयत्वं स्वीकुर्वाणस्य तव मते सयोगिकेवलिनो योगाज्जीवघातो मा भूद्, अयोगिकेवलिवन्मशकादियोगादेव तत्कायस्पर्शेन मशकादिघातस्तु जायमानः कथं वारणीयः? समानावच्छेदकतासम्बन्धेन तत्र केवलियोगानां प्रतिबन्धकत्वात् स वारणीय इति चेत्। तत्किं प्रतिबन्धकत्वं शुभयोगत्वेन, उत केवलियोगत्वेन, आहोस्वित् क्षीणमोहयोगत्वेन?। नाद्यः, अप्रमत्तसंयतानामपि जीवघातानापत्तेः, तेषामप्यात्माद्यनारम्भकत्वेन शुभयोगत्वात्। न द्वितीयः, केवलियोगत्वेन जीवघातप्रतिबन्धकत्वे क्षीणमोहयोगात् तदापत्तेरप्रतिबन्धात्, सा च तवानिष्टेति। नापि तृतीयः, क्षीणमोहयोगत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वे कल्पनीये आवश्यकत्वाल्लाघवाच्च मोहक्षयस्यैव तथात्वकल्पनौचित्यात्। तथा चायोगिकेवलिनोऽपि कायस्पर्शान्मशकादिव्यापत्त्यभ्युपगमो दुर्घटः स्यादिति। न च सर्वजीवाहिंसालक्षणोऽतिशयोऽहिंसायाः केवलिस्थानत्वं वाऽयोगिकेवलिबहिर्भावेन क्वापि प्रतिपादितम्, येन त्वया तत्र व्यभिचारवारणाय क्षीणमोहयोगत्वेन जीवघातप्रतिबन्धकत्वं कल्प्यमानं युक्तिक्षमं स्यादिति सर्वजीवाहिंसादिप्रतिपादनं सकलभावाकरणनियमनिष्ठाभिधानाभिप्रायेणैव नतु हिंसाया अपि सर्वथाऽभावाभिप्रायेण। अनाभोगस्तु न तज्जनको येन तदभावात्तद्वः स्यादिति तु शतशः प्रतिपादितमेवेति न किञ्चिदेतदिति स्मर्त्तव्यम्। किंच–मशकादिकर्तृकजीवघातं प्रत्यपि केवलियोगानां प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते तत् केवलं व्यसनितयैव, उत तादृशस्यापि तस्य दोषत्वात्। नाद्यः, व्यसनितामात्रकृतकल्पनाया अनादे-

यत्वाद् । न द्वितीयः, तादृशस्य जीवघातस्य सयोगिकेवलिनो दोषत्वेऽयोगिकेवलिनोऽपि तद्दोषत्वाप्रच्यवनादिति बहुतरमूहनीयम् ॥६९॥

अथ केवलिनो योगा एव रक्षाहेतव इति पराभ्युपगमप्रकारं विकल्प्य दूषयन्नाह—

सा तस्स सरूवेणं, वा वावारेण आइमे पक्खे ॥ पडिलेहणाइहाणी, बितिए अ असक्कपरिहारो ॥ ७० ॥

[सा तस्य स्वरूपेण वा व्यापारेण आदिमे पक्षे ॥ प्रतिलेखनादिहानिः, द्वितीये चाशक्यपरिहारः ॥ ७० ॥]

व्याख्या—'**सा तस्स**'त्ति । सा जीवरक्षा, तस्य केवलिनः शुभयोगस्य, स्वरूपेण सत्तामात्रेण, वा अथवा, व्यापारेण—जीवरक्षार्थं स्वस्य रक्षणीयजीवस्य वाऽन्यदेशनयनाभिमुखपरिणामेन । आदिमे प्रथमे, पक्षे **प्रतिलेखनादिहानिः** । प्रतिलेखना हि केवलिनः प्राणैः संसक्तरयैव वस्त्रादेः प्रवचने प्रसिद्धा ॥ **तदुक्तमोघनिर्युक्तौ**—"पाणेहि उ संसत्ता, पडिलेहा होइ केवलीणं तु ॥ संसत्तमसंसत्ता, छउमत्थाणं पडिलेहा" ॥२५७॥ (प्राणैः संसक्तानां प्रतिलेखा भवति केवलिनां तु । संसक्तासंसक्तानां छद्मस्थानां तु प्रतिलेखा ॥) सा च स्वरूपेणैव योगाना जीवरक्षाहेतुत्वेऽनुपपन्ना स्यात्, तद्व्यापारं विनापि जीवरक्षोपपत्तौ तद्विविक्तीकरणप्रयासस्य पलिमन्थत्वाद्, न च पलिमन्थः केवलिनोऽपि युज्यते, अत एव प्रत्युपेक्षितमपि वस्त्राद्यवश्यम्भाविजीवसंसर्गं जानन् केवली पलिमन्थादेव नाऽनागतमेव प्रत्युपेक्षते, किन्तूपभोगकाल एव प्रत्युपेक्षते इति व्यवस्थितम् ॥ **तदुक्तम्**—"संसज्जइ धुवमेअं, अपेहिअं तेण पुव्व पडिलेहे ॥ पडिलेहिअंपि संस–ज्जइत्ति संसत्तमेव जिणा ॥२५८॥" त्ति । एतद्व्याख्या यथा—संसज्यते प्राणिभिः संसर्गमुपयाति, ध्रुवमवश्यम्, एतद्वस्त्रादि, अप्रत्युपेक्षितं सत्, तेन पूर्वमेव केवलिनः प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ति । यदि पुनरपि (यदा तु पुनरेवं) संविद्रते—इदमिदानीं वस्त्रादि, प्रत्युपेक्षितमप्युपभोगकाले संसज्यते, तदा '**संसत्तमेव जिण**'त्ति संसक्तमेव जिनाः केवलिनः प्रत्युपेक्षन्ते,

न त्वनागतमेव, पलिमन्थदोषापादिति ॥" 'पडिलेहणाइहाणी' इत्यत्रादिना जीवरक्षाहेतूल्लङ्घनप्रलङ्घनादिव्यापारस्यापि केवलिनो वैयर्थ्यं बोध्यम्, नियतव्यापारेणैव केवलियोगाज्जीवरक्षेति ॥ द्वितीये च पक्षेऽङ्गीक्रियमाणेऽशक्यपरिहारोऽप्यवश्यमभ्युपगन्तव्य इति गम्यम्, सर्वत्र जीवरक्षाव्यापारस्य स्वकायस्य जीवानां वा विविक्तीकरणपर्यवसितस्य दुष्करत्वात् ॥ ७० ॥ तथाहि—

ण हु सक्का काउं जे, इह बायरवाउकायउद्धरणं ॥ केवलिणावि विहारे, जलाइजीवाण य तयंति ॥७१॥

[नैव शक्यं कर्तुमिह बादरवायुकायिकोद्धरणम् ॥ केवलिनाऽपि विहारे जलादिजीवानां च तदिति ॥ ७१ ॥]

व्याख्या—'णहु सक्क'त्ति । 'ण हु'नैव शक्यम्, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, कर्तुं 'जे'इति पादपूरणार्थो निपातः । इह जीवघने लोके, बादरवायुकायिकानां जीवानां स्वत एवोपनिपत्य केवलिनः कायमुपस्पृशतामुद्धरणं—विविक्तदेशसंक्रमणम्, केवलिनापि, च पुनः, विहारे जलादिजीवानां तद्—उद्धरणम्, इतिः वाक्यार्थपरिसमाप्तौ । अयं भावः—केवलियोगव्यापारस्य जीवरक्षाहेतुत्वे यत्र स्वाभावप्रयुक्तं तद्वैकल्यं तत्र तत्सार्थक्यमस्तु, यत्र तु जीवनिरन्तरतयैव जीवविविक्तीकरणमशक्यं, तत्रावश्यम्भाविन्यां जीवविराधनायां जिनस्य तद्योगानां वा को दोषः? नहि कारणान्तरवैकल्यप्रयुक्तकार्याभावेऽधिकृतकारणस्याशक्ततोद्भावनमधीततर्कशास्त्रा विदधते। इत्थं सति दण्डसत्त्वेऽपि चक्राभावे घटाभावाद्दण्डस्यापि घटाशक्तताया उद्भावनीयत्वप्रसङ्गादिति ॥ अत्र परः शङ्कते—

णणु जिणजोगाउ तहा, जलाइजीवाणऽघायपरिणामो ॥ अचित्तपएसे णं, जह गमणं पुप्फचूलाए ॥७२॥

[ननु जिनयोगात् तथा जलादिजीवानामघातपरिणामः ॥ अचित्तप्रदेशे यथा गमनं पुष्पचूलायाः ॥ ७२ ॥]

व्याख्या-'णणु'त्ति। नन्विति पूर्वपक्षे, यथा पुष्पचूलायाः साध्व्या अवाप्तकेवलज्ञानाया अपि मेघे वर्षत्यपि अतथाविधजलपरिणतिविशेषाद्, अचित्तप्रदेशे खे, गमन सम्पन्नम्, तथा विहारेऽपि जलादिजीवानां जिनयोगादघातपरिणामोऽस्तु, नह्येवमस्माक काप्यनुपपत्तिरस्ति, केवलिमात्रजीवमात्रयोर्घात्यघातकसम्बन्धाभावे केवलिनोऽघातकस्वभावेन जीवानां चाघात्यस्वभावेन तथैव केवलिनो विहारादिनिर्वाहो भवति, यथा न पृथिव्यादिजीवानां स्वयोगेन भयादिलेशोऽपि सम्पद्यत इति ॥ अत्र समाधानमाह—

भण्णइ सव्वं एय, भणियं णु तए परोप्परविरुद्धं ॥ दिट्ठंतियदिट्ठंता, जमेगरूवा ण संपन्ना ॥ ७३ ॥

[भण्यते सर्वमेतद् भणितं नु त्वया परस्परविरुद्धम् ॥ दार्ष्टान्तिकदृष्टान्तौ यदेकरूपौ न सम्पन्नौ ॥ ७३ ॥]

व्याख्या—'भण्णइ'त्ति। भण्यते-अत्रोत्तरं दीयते, सर्वमेतत्, 'नु' इति वितर्के, त्वया परस्परविरुद्धं भणितम्, यद् यस्माद्, दार्ष्टान्तिकदृष्टान्तौ नैकरूपौ सम्पन्नौ ॥ ७३ ॥ तथाहि—

एगत्थ जलमचित्तं, अण्णत्थ सचित्तयंति महभेओ॥ अफुसिअगमणं तीए, ण सुअं अण्णस्स व जिणस्स॥७४॥

[एकत्र जलमचित्तमन्यत्र सचित्तमिति महाभेदः ॥ अस्पृष्टगमनं तस्या न श्रुतमन्यस्य वा जिनस्य ॥ ७४ ॥]

व्याख्या-'एगत्थ'त्ति। एकत्र पुष्पचूलाया वर्षति मेघे गमने, अचित्त जल साक्षादेव शास्त्रे प्रोक्तम्, अन्यत्र केवलिनां विहारादौ नद्युत्तारे च जलं, सचित्तमिति महान् तयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्भेदः। नहि केवलिनो विहारादावनियतनद्युत्तारे निरन्तरप्रवाहपतितं तज्जलमचित्तमेवेति क्वाप्युक्तमस्ति। अथैवमप्युक्तं नास्ति 'यदुत तीर्थकृद्व्यतिरिक्तोऽमुकनामा केवली नदीमुत्तीर्णवानिति'

तीर्थकृतस्तु सुरसञ्चारितकनककमलोपरि गमनागमनपरिणतस्य जलस्पर्शस्याप्यभावात् तथापि केवलिनो नद्युत्तरणसम्भावनायामचित्तप्रदेशैरेव नद्युत्तारः कल्प्यते, नहि स विविच्य व्यवहर्त्तुं परिहर्त्तुं च जानन् सचित्तप्रदेशैर्नदीमुत्तरति; केवलित्वहानेः । तस्मात्पुष्पचूलादिदृष्टान्ते नद्यादौ यथास्थितमेव जलं जलवायुसूर्यकिरणादिलक्षणस्वकायपरकायशस्त्रादिना तथाविधकालादिसामग्रीयोगेन कदाचिदचित्ततया परिणमति; पुनरपि तदेव जलं सचित्तभवनहेतुकालादिसामग्रीयोगेन सचित्ततयाऽपि परिणमति । तत्र दृष्टान्तः सम्मूर्च्छिममनुष्योत्पत्तिस्थानान्येव, परमेतत्परिणतिस्तथाभूता केवलिगम्येति केवली तथापरिणतमेव जलं निश्चित्य नदीमुत्तरतीति कल्प्यत इति चेत्, सर्वमेतदभिनिवेशविजृम्भितम् । स्वकर्णश्रवणमात्रेण केवलिनो नद्युत्तारस्य निषेद्धुमशक्यत्वाद् । अन्ततोऽनन्तानां जलमध्येऽन्तकृत्केवलिनामपि श्रवणेन सर्वत्र जलाचित्तताकल्पनस्याप्रामाणिकत्वात् ॥ किञ्च सर्वत्र स्रोत्तरणादिकाले जलमचित्ततया परिणतं तदाश्रितपनकत्रसादिजीवाश्चापक्रान्ता इति किं तव कर्णे केवलिनोक्तम्? येनेत्थं कल्पयसि । पुष्पचूलादृष्टान्तेन तथा कल्पयामीति चेत्, तत्किं दृष्टान्तमात्रेण साध्यं साधयन्नपूर्वनैयायिकत्वमात्मनः प्रकटीकर्त्तुमुद्यतोऽसि । केवलियोगानामघातकत्वान्यथानुपपत्त्यैव तथा कल्पयामीति चेत्, तर्हि जलाचित्तताकल्पने तव का व्यग्रता? सचित्तमेव जलं केवलियोगमवेक्ष्याघात्यस्वभावं त्वया किं न कल्प्यते?, न खलु तव श्रुतपरम्पराङ्कुशरहितस्यादृष्टार्थकल्पने बाधकमस्ति, न चेदेवं तदा सचित्तवायुस्पर्शेऽपि तव केवलियोगानामघातकत्वसमर्थनं कथं स्याद्? इति । अथ वायुरपि सचित्ताचित्ततया प्रवचने द्विप्रकार उक्त इति सचित्तवायुस्पर्शमपि भगवतो नाभ्युपगच्छामः, किं त्वचित्तवायुस्पर्शमेव, अन्यथा तु भगवत्कायस्पर्शेनापि पृथिव्यादीना भयोत्पत्तिः स्याद्, न चैवं सम्भवति । यदसाकमभ्युपगमः—"पुढवीपमुहा जीवा, उप्पत्तिप्पमुहभाइणो हुंति ॥ जह केवलिजोगाओ, भयाइलेसपि ण लहंति ॥ १ ॥" (पृथिवीप्रमुखा

जीवा उत्पत्तिप्रमुखभाजो भवन्ति ॥ यथा केवलियोगाद् भयादिलेशमपि न लभन्ते ॥) इति चेत्, हन्तैवं सचित्तास्पर्श एव भगवतो-
ऽतिशयः प्राप्तः, तत्राह–सचित्तस्यास्पर्शो न पुनर्जिनातिशयः सिद्धः, भक्तिभरनम्रमनुष्यादिस्पर्शस्य भगवति सार्वजनीनत्वाद्। अथ न
सचित्तस्पर्शाभावमात्रं भगवतोऽतिशयः, किन्तु यादृशमचित्तस्पर्शः साधूनां निषिद्धस्तादृशस्पर्शाभाव एवेति सचित्तजलादिस्पर्शाभावो
भगवतोऽतिशयसिद्ध इति नानुपपत्तिरिति ॥ ७४ ॥ तत्राह–

सोऽइसओ कायकओ, जोगकओ वा हविज्ज केवलिणो ॥ दुहओ वण्णियपुत्ता-इणायओ पायडविरोहो ॥७५॥

[सोऽतिशयः कायकृतो योगकृतो वा भवेत्केवलिनः ॥ उभयतोऽप्यन्निकापुत्रादिज्ञाततः प्रकटविरोधः ॥ ७५ ॥]

व्याख्याः–'सोऽइसओ'त्ति। स जलादिस्पर्शाभावलक्षणोऽतिशयः, कायकृतः–कायनिष्ठफलविपाकप्रदर्शको, योगकृतो वा–
योगनिष्ठफलविपाकप्रदर्शको वा, केवलिनो भवेद्। उभयतोऽप्यन्निकापुत्रादिज्ञाततः प्रकटविरोध एव। नह्यन्निकापुत्र–
गजसुकुमारादीनामन्तकृत्केवलिना सयोगिनामयोगिनां वा सचित्तजलतेजस्कायिकजीवादिस्पर्शस्त्वयापि नाभ्युपगम्यते; केवलं योग-
वतामयोगवतां वा तेषामन्तकृत्केवलिनां कायस्पर्शात्तज्जीवविराधनाऽविशेषेण 'घुणाऽक्षरन्यायेन' स्वयमेव भवता स्वग्रन्थे क्वापि लिखिता;
स्वाभ्युपगमरीत्या तु त्रयोदशगुणस्थानमुल्लङ्घ्य चतुर्दशगुणस्थाने वक्तुमुचितेति विशेषः। परतन्त्रस्यैवायं जलादिस्पर्शः केवलिनो नतु
स्वतन्त्रस्येति चेद्। नेय भाषा भवतस्त्राणाय "खीणम्मि अंतराए, णो से य असक्कपरिहारो ॥त्ति॥" वाङ्मात्रेणाशक्यपरिहाराभाव-
मावेदयत आयुष्मतः केवलिनः परतन्त्रतयापि जलादिस्पर्शतज्जीवविराधनयोरभ्युपगन्तुमनुचितत्वाद्, अन्यथा केवली यत्र स्थितस्तत्रा-
गन्तुकवायोरपि सचित्तताया अनिषेधप्रसङ्गात्(ङ्गः), तस्मात् सचित्तजलादिस्पर्शेन केवलिनः सयोगस्याप्यवश्यम्भाविनी जीवविराधना

वा स्वीक्रियताम्, तद्योगाक्रान्तानामपि वा जीवानामघातपरिणाम एव (मो वा) स्वीक्रियता ननु तृतीया गतिरस्ति। तत्र च प्रथमः पक्षोऽस्मन्मतप्रवेशभयादेव त्वयानाभ्युपगन्तव्य इति द्वितीयः पक्षस्तवाभ्युपगन्तुमवशिष्यते ॥७५॥ तत्राह—

एवं सव्वजिआणं, जोगाओ च्चिय अघायपरिणामे ॥ केवलिणो उल्लंघण-पल्लंघाईण वेफल्लं ॥ ७६ ॥

[एवं सर्वजीवाना योगादेवाघातपरिणामे ॥ केवलिन उल्लङ्घनप्रलङ्घनादीनां वैफल्यम् ॥ ७६ ॥]

व्याख्या—'एवं'ति। एवं जलादिस्पर्शाभावाभ्युपगमस्य विरोधग्रस्तत्वे, सर्वजीवानां केवलिनो योगादेवाघातपरिणामे स्वीक्रियमाणे, उल्लङ्घनप्रलङ्घनादीनां व्यापाराणा, वैफल्यं प्रसज्यते। स्वावच्छिन्नप्रदेशवर्त्तिजीवेषु केवलियोगक्रियाजनितात् केवलियोगजन्यजीवघातप्रतिबन्धरूपपरिणामादेव जीवघाताभावोपपत्तौ हि जीवाकुलां भूमिं वीक्ष्य केवलिन उल्लङ्घनादिकमकर्त्तव्यमेव स्यात्, प्रत्युत तेषु स्वयोगव्यापार एव कर्त्तव्यः स्यात्, तस्य जीवरक्षाहेतुत्वादिति महदसमञ्जसमापद्यते। यदि चोल्लङ्घनादिव्यापारः शास्त्रसिद्धः केवलिनोऽप्यभ्युपगन्तव्यस्तदा केवलियोगानां न स्वरूपतो रक्षाहेतुत्वं, किन्तु नियतव्यापारद्वारेति तदविषयावश्यम्भाविजीवविराधना दुर्निवारा। यदि च केवलियोगानां स्वरूपत एव जीवरक्षाहेतुत्वम्, उल्लङ्घनादिव्यापारश्च न तस्य जीवरक्षामात्रप्रयोजनः, किन्तु स्वव्यवहारानुपातिश्रुतव्यवहारपरिपालनमात्रप्रयोजन इति विभाव्यते, तदा तादृशादपि ततो जीवानामपसरणं भवति नवेति वक्तव्यम्?। आद्ये साऽपसरणक्रिया भयपूर्विकेति 'केवलियोगात्पृथिव्यादिजीवा भयलेशमपि न प्राप्नुवन्ति' इति स्वप्रतिज्ञाव्याघातः। अन्त्ये चादृष्टपरिकल्पना, नह्युल्लङ्घनादिक्रिययोल्लङ्घ्यमानादिजीवानामनपसरणं क्वापि दृष्टमिति। किंच—एवमादिपदग्राह्यप्रतिलेखनावैफल्यं दुरुद्धरमेव, जीवसंसक्तवस्त्रादेर्विविक्तीकरणेनैव तत्साफल्यसम्भवाद्। न च तत्केवलियोगाज्जीवानामनपसरणस्वभावकल्पने निर्वहतीति ॥७६॥

एवं चापसरणादिद्वारं विना स्वरूपत एव केवलियोगानां जीवरक्षाहेतुत्वे उल्लङ्घनादिव्यापारवैफल्यापत्तौ व्यवस्थापितायां केवलियोगव्यापारकाले जीवानां स्वत एवापसरणस्वभावत्वं यत्परेण कल्पितं तदपि निरस्तमित्याह—

एएण मच्छियाई, सहावकिरिआपरायणा हुंति॥ ण हु जिणकिरियापेरिअ–किरियं जंतित्ति पडिसिद्धं ॥७७॥

[एतेन मक्षिकादयः स्वभावक्रियापरायणा भवन्ति ॥ न खलु जिनक्रियाप्रेरितक्रियां यान्तीति प्रतिषिद्धम् ॥ ७७ ॥]

व्याख्या–'**एएण मच्छिआइ**'त्ति एतेनोक्तहेतुना, **मक्षिकादयो** मक्षिकापिपीलिकादंशमशकादयः, **स्वभावक्रियापरायणाः** सहजसमुत्थगमनादिक्रियाकारिणो, **भवन्ति**, '**णहु**' नैव, **जिनस्य या क्रिया** गमनागमनादिरूपा, **तया प्रेरिता**–तन्निमित्तका **या क्रिया तां, यान्ति**–केवलियोगहेतुकस्वशरीरसङ्कोचमपि न कुर्वन्तीत्यर्थः। केवलिनो हि गमनागमनादिपरिणतौ पिपीलिकादयः क्षुद्रजन्तवः स्वत एवेतस्ततोऽपसरन्ति, अपसृता वा भवन्ति। यदि च कदाचिदसातवेदनीयकर्मोदयेन दंशमशकादयो नापसरन्ति, तदा केवली तत्कर्मक्षयनिमित्तं तत्कृतवेदनां सम्यगधिसहते, केवलज्ञानोत्पत्तिसमय एव तेनैव प्रकारेणात्मीयासातवेदनीयकर्मक्षयस्य दृष्टत्वात्। नतु केवलियोगजनितां किमपि क्रियां कुर्वन्ति ॥ **तदिदमाह**—"तेणं मच्छिअपमुहा, सहावकिरियापरायणा हुंति ॥ ण य जिणकिरियापेरिअ–किरियालेसंपि कुव्वंति" ॥१॥ (तेन मक्षिकाप्रमुखाः स्वभावक्रियापरायणा भवन्ति ॥ न च जिनक्रियाप्रेरितक्रियालेशमपि कुर्वन्ति) ॥ **इति एतत्, प्रतिषिद्धं**, स्वत एव जीवानामपसरणस्वभावत्वे केवलिन उल्लङ्घनादिव्यापारवैफल्यापत्तेर्वज्रलेपत्वाद्। यच्च केवलियोगव्यापारमपेक्ष्य जीवानां स्वतोऽपसरणस्वभावत्वकल्पनं तदपां दहनान्तिके दाहजननस्वभावकल्पनसदृशमेव। अथ केवलिनः प्रतिलेखनादिव्यापाराज्जीवानामपसरणस्य प्रमाणसिद्धत्वात् केवलिक्रियानिमित्तकं क्रियामात्रं न तेषा प्रतिषिध्यते, किन्तु भयपूर्विका क्रिया

प्रतिषिध्यते; नह्यभयदस्य भगवतः प्राणिना साक्षात्त्रासजनकव्यापाररूपं भयदानं सम्भवति; परेषा भापनस्य भयमोहनीयाश्रवत्वात्, केवलिक्रियातः प्रतिलेखनादिव्यापारकाले या प्राणिनामपसरणादिक्रिया भवति सा न भयमूलेति स्वत एवेत्युच्यत इति चेत्। न, भयं विनैव केवलियोगात् सत्त्वापसरणकल्पने हिंसा विना तन्मरणकल्पनेऽपि बाधकाभावाद्, अदृष्टकल्पनाया उभयत्र तुल्यत्वाद्। आवश्यकक्रियावश्यम्भाविना च प्राणिभयेन च यदि भयमोहनीयाश्रवभूतं भापनमुच्यते, तदा तव मतेऽपि सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहयोर्द्रव्यहिंसाऽभ्युपगमेन भापनावश्यम्भावाद् भयमोहनीयकर्मबन्धसम्भवे षड्विधबन्धकत्वमेकविधबन्धकत्वं च भज्येत। न च जानतो भयप्रयोजकव्यापाररूपमेव भापनं भयमोहनीयाश्रव इति नाय दोष इति वाच्यम्, जानतोऽपि भगवतो योगात् त्रिपृष्टवासुदेवभवविदारितसिंहजीवस्य पलायननिमित्तकभयश्रवणात्। यत्तु तस्य भयहेतवो न श्रीमद्वीरयोगाः, किंतु तदीययोगा एव, यथाऽयोगिकेवलिशरीरान्मशकादीनां व्यापत्तौ मशकादीनां योगा एव कारणमिति कल्पनं तत्तु स्फुटातिप्रसङ्गग्रस्त, शक्यं ह्येवं वक्तुं, साधुयोगादपि न केषामपि भयमुत्पद्यते, किन्तु स्वयोगादेवेति। अथ भगवत्यभयदत्वं प्रसिद्धम्, तदुक्तं शक्रस्तवे 'अभयदयाणं'ति। एतद्वृत्त्येकदेशो यथा "प्राणान्तिकोपसर्गकारिष्वपि न भयं दयन्ते, यद्वाऽभया सर्वप्राणिभयत्यागवती दया कृपा येषा तेऽभयदयास्तेभ्य इति"। तन्निर्वाहार्थं केवलियोगादन्येषा न भयोत्पत्तिरिति कल्प्यते, साधुषु च तथाकल्पने न प्रयोजनमस्तीति चेद्, न। अस्मिन्नप्यर्थे सम्यग्व्युत्पन्नोऽसि?, किं न जानासि? संयमस्यैवाभयत्वं येन संयमिना संयमप्रामाण्यादेवान्यभयाजनकयोगत्वं न कल्पयसि। न जानामीति चेत्, तर्हि "तं नो करिस्सामि समुट्ठाए मंता मइमं अभयं विदित्ता" इत्याचाराङ्गसूत्र एवाभयपदार्थं पर्यालोचय येनाज्ञाननिवृत्तिः स्याद्, "अविद्यमानं भयमस्मिन् सत्त्वानामित्यभयः संयमः" इति ह्युक्तं वृत्ताविति ॥७७॥ परमतस्यैवोपपादकान्तर निराकरोति—

जंपि मयं णारंभो, लद्धिविसेसाउ चेव केवलिणो ॥ तं पि इमीइ दिसाए, णिराकयं होइ णायव्वं ॥७८॥

[यदपि मतं नारम्भः लब्धिविशेषादेव केवलिनः ॥ तदप्यनया दिशा निराकृतं भवति ज्ञातव्यम् ॥ ७८ ॥]

व्याख्या—'ज पि मयं'ति । यदपि मतं लब्धिविशेषादेव केवलिनो नारम्भः, प्रसिद्धं खल्वेतद्–यदुत घातिकर्मक्षयोपशमावाप्तजलचारणादिनानालब्धिमतां साधूनां नदीसमुद्रादिजलज्वलनशिखोपवनवनस्पतिपत्रपुष्पफलादिकमवलम्ब्य यदृच्छया गमनागमनादिप्रगयणानामपि जलजीवादिविराधना न भवतीति। तदुक्तं 'खीरासवमहुआसव' इत्यादिचतुःशरण२४गाथावृत्तौ–"चारणेत्यादि यावत्केचित्तु पुष्पफलपत्रहिमवदादिगिरिश्रेणि–अग्निशिखानीहारावश्यायमेघवारिधारामर्कटतन्तुज्योतीरश्मिपवनलताद्यालम्बनेन गतिपरिणामकुशलाः, तथा वापीनद्यादिजले तज्जीवानविराधयन्तो भूमाविव पादोत्क्षेपनिःक्षेपकुशला जलचारणा इत्यादि"। कथं तर्हि घातिकर्मक्षयावाप्तलब्धिभाजः केवलिनो जीवविराधनासम्भवः ? एकस्या अपि क्षायिकलब्धेः सर्वक्षायोपशमिकलब्ध्यात्मकत्वेन क्षायोपशमिकलब्धिसाध्यस्य जीवरक्षादिकार्यमात्रस्य साधकत्वात् । सा च क्षायिकी लब्धिर्भगवतो जीवरक्षाहेतुरनुत्तरचारित्रान्तर्भूता द्रष्टव्या। तत्प्रभावादेव न केवलिनः कदाप्यारम्भ इति । तदपि मतमनया दिशा निराकृतं ज्ञातव्य भवति, लब्धिस्वभावादेव जीवरक्षोपपत्तौ केवलिन उल्लङ्घनादिव्यापारवैयर्थ्यापत्तेरिति भावः ॥ ७८ ॥ दिग्दर्शितमेव दूषण विकल्प्य स्फुटीकुर्वन्नाह—

तं खलु उवजीवंतो, पमायवं तुह मए जिणो हुज्जा ॥ सेलेसीए वि फलं, ण तस्स उवजीवणाभावे ॥ ७९ ॥

[तं खलूपजीवन् प्रमादवांस्तव मते जिनो भवेत् ॥ शैलेश्यामपि फलं न तस्योपजीवनाभावे ॥ ७९ ॥]

व्याख्या–'तं खलु'त्ति। तं लब्धिविशेषमुपजीवन्–जीवरक्षार्थं व्यापारयन्, खलु निश्चितं, जिनः केवली, तव मते प्रमा-
दवान् स्याद्, 'लब्ध्युपजीवनं हि प्रमत्तस्यैव भवतीति' शास्त्रमर्यादा। अस्तु तर्हि स लब्धिविशेषोऽनुपजीवित एव जीवरक्षाहेतुः,
क्षायिकीना हि लब्धीनां न प्रयुञ्जना भवति, तासामनवरतमेकस्वभावेनैव सर्वकालीनत्वात्, तासां च फलवत्त्वमपि तथैव। तदितराणां
तु कादाचित्कत्वेन फलवत्त्वात् प्रयुञ्जनेति विशेषः–इत्येव ह्यसन्मतमित्यत्राह–तस्य लब्धिविशेषस्य, उपजीवनाभावे तु शैलेश्या-
मपि फल जीवरक्षारूपं नास्ति, तदानीं तत्कायस्पर्शेन मशकादिव्यापत्तेस्त्वयापि स्वीकारात्, किं पुनः सयोगिकेवलिनि वाच्यम्;
तथा चोपजीवनानुपजीवनविकल्पव्याघातात् तादृशलब्धिविशेषकल्पनमप्रामाणिकमेवेति भावः॥ ७९॥

अथ चारित्रमोहनीयकर्मक्षयजनिता जीवरक्षाहेतुर्लब्धिर्योगगतैव कल्प्यत इति शैलेश्यवस्थाया नोक्तदोष इत्याशङ्कायामाह—

जोगगया सा लद्धी, अजोगिणो खाइगावि जइ णत्थि॥ ता तक्कम्मस्सुदओ, तस्सेव हवे पराहुत्तो ॥८०॥

[योगगता सा लब्धिः, अयोगिनः क्षायिक्यपि यदि नास्ति॥ तदा तत्कर्मण उदयः, तस्यैव भवेत्परावृत्तः॥ ८०॥]

व्याख्या–'जोगगय'त्ति। सा जीवरक्षाहेतुः, लब्धिर्योगगतेति कृत्वा, क्षायिक्यपि यदि अयोगिनोऽयोगिकेवलिनो,
नास्ति, तदा तस्यैवायोगिकेवलिन एव, तत्कर्मणश्चारित्रमोहनीयकर्मण, उदयः परावृत्तो भवेत्, चारित्रमोहक्षयकार्याभावस्य
चारित्रमोहोदयव्याप्यत्वादिति भावः॥ किंच–यदि लब्ध्युपजीविजलचारणादिषु परिदृष्टा जीवविराधनाऽभावलब्धिरनुपजीव्या यदि
केवलिनि कल्प्यते, तदा तादृशजङ्घाचारणादिषु परिदृष्टाऽतिशयचरणलब्धिरप्यनुपजीव्या केवलिनि कस्मान्न कल्प्यते?, तथा उपजी-
व्यत्वनियमान्न तत्कल्पनं केवलिनि कर्तुं शक्यत इति चेद्, तदेतदन्यत्रापि तुल्यमिति स्वयमेव विभावय। तस्मान्नियतयोगव्यापारा-

देव भगवतां जीवरक्षा, नतु स्वरूपत इत्यवश्यम्भाविन्या जीवविराधनायां न किञ्चिद्बाधकमिति स्थितम् ॥८०॥ नन्वेवमवश्यम्भाविन्याऽपि जीवविराधनया केवलिनोऽष्टादशदोषरहितत्वं न स्याद्, हिंसादोषस्य तदवस्थत्वाद्। न 'देवोऽष्टादशदोषरहित एव'—इत्यत्राप्येकान्तवादो जैनानामनिष्ट इति शङ्कनीयम्, अनेकान्तवादस्याप्यनेकान्तत्वेनात्रैकान्ताभ्युपगमेऽपि दोषाभावादित्याशङ्कायामाह—

दव्वारंभं दोसं, अट्ठारसदोसमज्झयारम्मि ॥ जो इच्छइ सो इच्छइ, णो दव्वपरिग्गहं कम्हा ॥ ८१ ॥

[द्रव्यारम्भं दोषं, अष्टादशदोषमध्ये ॥ य इच्छति स इच्छति न द्रव्यपरिग्रहं कस्मात् ॥ ८१ ॥]

'दव्वारंभ'त्ति। **अष्टादशदोषमध्ये यो द्रव्यारम्भ दोषमिच्छति, स द्रव्यपरिग्रहं दोष. कस्मान्नेच्छति?।** तथा च धर्मोपकरणसद्भावाद् द्रव्यपरिग्रहेण यथा न दोषवत्त्वं तथा द्रव्यारम्भेणापि न दोषवत्त्वम्, भावदोषविगमादेव भगवति निर्दोषत्वव्यवस्थितेरिति भावनीयम्। यच्चोक्तं निर्दोषत्वे भगवतो नानेकान्त इति, तदसद्; दोषविभागकृतानेकान्तस्य तत्राप्यविरोधाद्। यच्चानेकान्तस्यानेकान्तत्वमधिकरणानियमापेक्षयोद्भावितं तत्केनाभिप्रायेण? इति वक्तव्यम्, अन्ततः स्वपररूपापेक्षयाऽप्यनेकान्तस्य सर्वत्र सम्भवाद्, अत एवात्मानात्मापेक्षया सर्वत्रानेकान्तो वाचकपुङ्गवेनोक्त' **प्रशमरतौ** ॥ "द्रव्यात्मेत्युपचारः, सर्वद्रव्येषु नयविशेषेण ॥ आत्मादेशादात्मा, भवत्यनात्मा परादेशात् ॥२०२॥ इति। अनेकान्तस्यानेकान्तत्वं तु स्याद्वादाङ्गसप्तभङ्गीवाक्यघटकैकतरभङ्गावच्छेदकरूपाऽपेक्षया व्यवस्थितम् ॥ अत एव ॥ "भयणा वि हु भइअव्वा, जह भयणा भयइ सव्वदव्वाइं ॥ एवं भयणाणियमो वि, होइ समयाविराहणया (रोहेण)॥२७॥"त्ति [टी० **यथा भजना अनेकान्तो भजते सर्ववस्तूनि** तदतत्स्वभावतया ज्ञापयति, तथा भजनानेकान्तोऽपि भजनीयोऽनेकान्तोऽप्यनेकान्त इत्यर्थः। नयप्रमाणापेक्षया एकान्तश्चानेकान्तश्चेति। एव ज्ञापनीय एवं च भजनाऽनेकान्तः सम्भवति

नियमश्चैकान्तश्च सिद्धान्तस्य "रयणप्पभा सिय सासया सिय असासया इति" एवमनेकान्तप्रतिपादकं स्यादित्यादि तृतीयकांडे] सम्मतिगाथायां भजनाऽभजनायाः सम्यगाऽविराधना। "इमा णं भंते! रयणप्पभा पुढवी किं सासया असासया?, गोयमा! सिय सासया, सिअ असासया" इति। स्याद्वाददेशनाया द्रव्यार्थतया शाश्वत्येव, पर्यायार्थतया त्वशाश्वत्येनेत्यधिकृतभङ्गरूपनिर्द्धारणापेक्षया वृत्तौ व्याख्याता। निक्षेपादिप्रपञ्चोऽपि हि सर्वत्र स्याद्वादघटनार्थमेव, यतः "अप्रस्तुतार्थव्याकरणादप्रस्तुतार्थापाकरणाच्च निक्षेपः फलवानुच्यते" ततश्च स्याद्वादसिद्धिरिति। अत एव सर्वत्रौत्सर्गिकी स्याद्वाददेशनैवोक्तेति सम्मत्यादिग्रन्थानुसारेण सूक्ष्ममीक्षणीयम् ॥ ८१ ॥

अथ य एवमवश्यम्भाविन्याऽपि जीवविराधनया सद्भूतदोषमुत्प्रेक्ष्य भगवतोऽसद्दोषाध्यारोपणं कुर्वन्ति तेषामपायमाविष्कुर्वन्नाह—

मिच्छादोसवयणओ, संसाराडविमहाकडिल्लंमि ॥ जिणवरणिंदारसिआ, भमिहिंति अणोरपारम्मि ॥ ८२ ॥

[मिथ्यादोषवचनतः संसाराटवीमहागहने। जिनवरनिन्दारसिका, भ्रमिष्यन्ति अनर्वाक्पारे ॥ ८२ ॥]

'मिच्छादोसवयणओ'त्ति। मिथ्यादोषवचनाद्–असद्भूतदोषाभिधानाद्, जिनवरनिन्दारसिका अभव्या दूरभव्या वा जनाः, संसाराटवीमहागहनेऽनर्वाक्पारे भ्रमिष्यन्ति, तीव्राभिनिवेशेन तीर्थकराशातनाया दुरन्तानन्तसंसारहेतुत्वात्। उक्तञ्च "तित्थयरपवयणसुअ, आयरिय गणहर महिड्ढीयं॥ आसायंतो बहुसो, अणंतसंसारिओ होइ॥१॥" इत्यादि॥ अथ केवलि–छद्मस्थलिङ्गविचारणया न केवलिनोऽवश्यम्भाविनी विराधना सम्भवतीति व्यामोहोऽपि न कर्त्तव्यः, सम्यग्विचारपर्यवसानत्वात्तस्य, इत्यभिप्रायवानाह–

जोवि य जायइ मोहो, छउमत्थजिणाण लिंगवयणाओ॥ उवउत्तस्स ण चिट्ठइ, सोवि य परमत्थदिट्ठीए॥८३॥

[योऽपि च जायते मोहः, छद्मस्थजिनयोर्लिङ्गवचनात् ॥ उपयुक्तस्य न तिष्ठति सोऽपि च परमार्थदृष्टौ ॥ ८३ ॥]

'जो विय त्ति'। योऽपि च छद्मस्थजिनयोर्लिङ्गवचनात् स्थानाङ्गस्थात्, मोहो जायते दुर्व्याख्यातुर्व्याख्यां शृण्वतामिति शेषः, सोऽपि परमार्थदृष्टावुपयुक्तस्य न तिष्ठति, अपण्डितव्याख्याकृतभ्रमस्य पण्डितकृतव्याख्याऽवधारणमात्रनिवर्त्तनीयत्वादिति भावः। तत्र छद्मस्थकेवलिलिङ्गवचनमित्थं स्थानाङ्गे व्यवस्थितम्–"सत्तहि ठाणेहि छउमत्थं जाणेज्जा। तंजहा–पाणे अइवइत्ता भवति१, मुसं वदित्ता भवति२, अदिन्नमादित्ता भवति३, सद्दफरिसरसरूवगंधे आसाइत्ता भवति४, पूआसक्कारमणुवूहित्ता भवइ५, 'इमं सावज्जं'ति पण्णवेत्ता पडिसेवेत्ता भवति६, णो जहावादी तहाकारी यावि भवति७॥ सत्तहिं ठाणेहि केवली जाणिज्जा। तंजहा–णो पाणे अइवाइत्ता भवइ, जाव जहावाई तहाकारी यावि भवइ" इति। एतद्वृत्तिर्यथा–"भयं च छद्मस्थस्यैव भवति, स च यैः स्थानैर्ज्ञायते तान्याह–'सत्तहिं ठाणेहिं' इत्यादि। सप्तभिः स्थानैर्हेतुभूतैश्छद्मस्थं जानीयात्। तद् यथा–प्राणानतिपातयिता–तेषां कदाचिद् व्यापादनशीलो भवतीति। इह च प्राणातिपातनमिति वक्तव्येऽपि धर्मधर्मिणोरभेदादतिपातयितेति धर्मी निर्दिष्टः। प्राणातिपातनाच्छद्मस्थोऽयमित्यवसीयते, केवली हि क्षीणचारित्रावरणत्वान्निरतिचारसंयमत्वादप्रतिपेवित्वान्न कदाचिदपि प्राणानामतिपातयिता भवति इत्येवं सर्वत्र भावना कार्या तथा मृषा वदिता भवति। अदत्तमादाता–ग्रहीता भवति। शब्दादीनास्वादयिता भवति। पूजासत्कारौ–पुष्पार्चनवस्त्राद्यर्चने, अनुबृंहयिता–परेण स्वस्य क्रियमाणस्य तस्यानुमोदयिता तद्भावे हर्पकारीत्यर्थः। तथेदमाधाकर्मादि सावद्यं सपापमित्येवं प्रज्ञाप्य तदेव प्रतिषेविता भवति। तथा सामान्यतो नो यथावादी तथाकारी–अन्यथाऽभिधायान्यथा कर्त्ता भवति। चापीति समुच्चये। एतान्येव विपर्यस्तानि केवलिगमकानि भवन्ति। इत्येतत्प्रतिपादनपरं केवलिसूत्रं सुगममेवेति॥"

अत्रेयं परस्य प्रक्रिया—छद्मस्थसंयतः परीक्षावसरेऽप्रमत्त एव पक्षीकर्त्तव्यः, तत्रैव चक्षुःसूक्ष्मनिपातमपि सूत्रोक्तयतनया कुर्वाणे 'किमय छद्मस्थ उत केवली' इति संशये सति छद्मस्थतासाधनाय लिङ्गापेक्षोपपत्तेः, उक्तस्वरूपरहितस्य तु निद्राविकथादिप्रमादवतश्छद्मस्थत्वेन संशयाभावान्न परीक्षाया प्रवेश इति न तस्य पक्षत्वम्, आह च—"छउमत्थो पुण केवलि–कप्पो अपमत्तसंजओ णेओ ॥ सो चिअ संजमजोगे, उवउत्तो सुत्तआणाए ॥१॥" त्ति। (छद्मस्थः पुनः केवलिकल्पः अप्रमत्तसंयतो ज्ञेयः ॥ सोपि च संयमयोगे, उपयुक्तः सूत्राज्ञया ॥) लिगानि च तत्र पञ्चमहाव्रतातिक्रमापवादानाभोगविपयसप्तस्थानप्रतिपादितानि द्रव्यप्राणातिपातादिरूपाण्येव ग्राह्याणि, नतु भावप्राणातिपातादिरूपाण्यपि, तेपा छद्मस्थज्ञानागोचरत्वेन लिङ्गत्वाभावाद्। लिङ्गं हि छद्मस्थज्ञानहेतवे प्रयुज्यते, तच्च ज्ञातमेव ज्ञापकं नाज्ञातमपीति, तानि च मोहनीयाविनाभावीनि यावदुपशान्तवीतरागं भवन्ति, न परतोऽपि; तत ऊर्ध्वं मोहनीयसत्ताया अप्यभावाद्। आह च—"छउमत्थनाणहेऊ, लिगाइं दव्वओ ण भावाओ ॥ उवसंतवीयरायं, जा तावं ताणि जाणाहिं ॥२॥" ति। (छद्मस्थज्ञानहेतवो लिङ्गानि द्रव्यतो न भावतः ॥ उपशान्तवीतरागं यावत्तावत्तानि जानीहि ॥) ननु पूर्वादिपु पञ्चसु गुणस्थानकेपु चतस्रोऽपि भापा भवन्तीति कर्मग्रन्थे भणितम्, तथा च सिद्धं क्षीणमोहस्यापि मृपा भापणम्, तच्च छद्मस्थत्वावबोधकं लिङ्गमेव, तत्कथमुच्यते छद्मस्थत्वज्ञापकलिङ्गानि यावदुपशान्तवीतरागमेव भवन्ति? इति चेद्। मैवम्, छद्मस्थज्ञानगोचरस्यैव मृपाभापणस्य लिङ्गत्वेनाभिमतत्वात्। तच्च द्रव्यतो मृपाभापणं क्षीणमोहस्य न भवति, क्रोधादिजन्यत्वाद्। यदागमः—"सव्वं भंते! मुसावायं पच्चक्खामि। से कोहा वा, लोहा वा, भया वा, हासा वा" इत्यादि॥ क्षीणमोहस्य च क्रोधादयो न भवन्तीति कारणाभावाद् द्रव्यतो मृपाभापणस्याभावः, तथा च भावतो मृपाभापणस्य सुतरामभावः, तस्य मोहनीयोदयजन्यत्वात्। तथा च क्षीणमोहमात्रस्य द्रव्यतो भावतो

वा मृषाभाषणं न भवत्येव, संयतानां जीवघातादावनाभोगसहकृतमोहनीयकर्मणो हेतुत्वात्; मोहनीयाभावे चानाभोगो वास्तवमृषाभाषणं प्रत्यकारणं सन्नपि सम्भावनारूढमृषाभाषणं प्रति कारणं भवत्येव, अनाभोगस्य तथास्वभावस्यानुभवसिद्धत्वात्; तेन क्षीणमोहस्याप्यनाभोगहेतुकं सम्भावनारूढजीवविराधनावन्मृषाभाषणमपि भवत्येव; तच्च छद्मस्थज्ञानागोचरत्वेन छद्मस्थत्वावबोधकं लिङ्गं न भवति, तस्य केवलज्ञानगम्यत्वात्; न च सम्भावनारूढस्य मृषाभाषणस्य मृषाभाषणत्वव्यपदेशो न भविष्यतीति शङ्कनीयम्, सम्भावनारूढं मृषाभाषणमिति भणित्वापि मृषाभाषणव्यपदेशो न भविष्यतीति भणतो वदद्व्याघातापत्तेः। किञ्च—जैनानामलोकेऽपि कल्पितलोकस्याङ्गीकारे कल्पनाया इव सम्भावनाया अपि प्रामाण्यमेव, अत एव कालशौकरिकस्य कल्पितमहिषव्यापादनं महिषव्यापादनतया भगवता श्रीमहावीरेण भणितमिति प्रवचने प्रसिद्धिः, तस्मात् कर्मबन्धाहेतुत्वेऽपि सम्भावनारूढमृषाभाषणस्य स्नातकचारित्रप्रतिबन्धकत्वेन द्रव्यमृषाभाषणस्येव दोषत्वम्, चित्रलिखितायां नार्यां नारीत्वव्यपदेशस्येव मृषावादव्यपदेशस्य च विषयत्वं प्रतिपत्तव्यमिति न दोष इति; तस्माद् यावदुपशान्तवीतरागमेव छद्मस्थत्वज्ञापकानि लिङ्गानीति स्थितम्। तानि च प्रत्यक्षगम्यानि मिथ्याकारादिलिङ्गगम्यानि वा, 'अयं साधुः साक्षात् सम्भावनया वा प्राणातिपातादिप्रतिषेवितैव, मिथ्याकारान्यथानुपपत्तेः, अस्मदादिवद्'-इत्येवलिङ्गगम्येनापि प्राणातिपातादिना लिङ्गेन 'छद्मस्थोऽयं संयतः' इत्येवं निश्चयसम्भवात्। स च मिथ्याकारः कादाचित्क एव जीवघातादौ भवति, पुनरकरणाभिप्रायेण तस्य फलवत्त्वात्, सार्वदिकस्य तु तस्य सम्भवे सर्वविरतिपरिणामस्यैवानुपपत्तिः, प्रतिसमयमनवरतं जीवघातो भवत्येव इत्यभिप्रायस्य तत्प्रतिबन्धकत्वादिति। अत्र च छद्मस्थत्वज्ञापकलिङ्गाना सप्तानामपि मोहनीयकर्मजन्यत्वेन परस्परानुविद्धाना स्वरूपयोग्यतया निश्चयतः सर्वकालीनत्वेऽपि फलोपहितयोग्यतया व्यवहारेणानवरतं नियमाभावोऽप्याद्येषु

पञ्चस्वेव, चरमयोस्तु द्वयोर्लिङ्गयोः सामान्यतः सर्वकालीनत्वेन सूक्ष्मदृशां पुरःस्फूर्त्तिकत्वात्, ताभ्यां छद्मस्थत्वनिर्णयो विवक्षितपरीक्षाकाले सुलभ एव। तथाहि–इच्छाकारादिसाधुसामाचारीपरायणस्य छद्मस्थसंयतस्य गमनागमनस्थितिशयनागनासनप्रत्युपेक्षणादिक्रियासु चक्षुषा पुनः पुनर्निरीक्षणं, निरीक्ष्य च यथासम्भवं रजोहरणादिना प्रमार्जनं, प्रमृज्य च हस्तपादाद्यवयवानां यथास्थानेऽभ्यसनं त्वक्परावर्त्तनं, तथैव वस्त्रपात्राद्युपकरणानामादाननिक्षेपणम्, प्रमृजतश्च रजोहरणादिक्रियया मक्षिकापिपीलिकादीनां भयत्रासोत्पादनेनेतस्ततो नयनं चेत्याद्यनेकप्रकारमनुष्ठानं सम्भावितभाविजीवघातादिदोषभयजन्यं कालमधिकृत्यानियतमप्यन्यतम(र)त्किंचिदनवरतं भवत्येव, तत्रापि पिपिलीकादिजन्तूनां भयत्रासोत्पादनं सावद्यमिति प्रज्ञाप्य जीवघातवर्जनाभिप्रायवतोऽप्यशक्यपरिहारेण तत्प्रतिषेवण षष्ठलिङ्गात्मकं छद्मस्थत्वाभिव्यञ्जकं सामान्यतः सर्वकालीन सुलभमेव ॥ तत्प्रतिषेवणे च संयतो न यथावादी तथाकर्त्तेत्यपि मन्तव्यम्, अशक्यपरिहारेणापि प्रत्याख्यातस्य सावद्यस्य प्रतिषेवणादिति केवलिनोऽपि परीक्षाया विपरीतानि छद्मस्थलिङ्गानि द्रव्यरूपाण्येव ग्राह्याणि, तेषामेव छद्मस्थज्ञानगोचरत्वेनानुमितिजनकत्वात्। यथाहि–छद्मस्थसंयतोऽनाभोगसहकृतमोहनीयवशेन कदाचित्प्राणानामतिपातयिता भवति, परीक्षोपयोगिघात्यजीवानां सम्पर्कस्य तद्विषयकानाभोगस्य च कादाचित्कत्वात्; तथा केवली न भवति, इत्येवं प्राणातिपातादिविपर्ययलिङ्गैर्द्रव्यरूपैः केवलित्वं साध्यमिति ॥ स च केवली द्विविधो ग्राह्यः—सद्भूतकेवली, अन्तर्मुहूर्त्तभाविकेवलज्ञानाभिमुखः क्षीणमोहश्च। यथाहि बद्धदेवायुर्देवगत्यभिमुखत्वेन देवत्वव्यपदेशविषयः प्रवचने प्रतीतः, तथाऽन्तर्मुहूर्त्तेनोत्पत्स्यमानकेवलज्ञानः क्षीणमोहोऽपि केवलिव्यपदेशविषयो भवत्येवेति, तथा 'भाविनि भूतवदुपचारः' इति न्यायात् प्रत्यासन्नभाविपर्यायस्य भूतवद्ग्रहणं युक्तमेव। यथा गर्भस्थोप्यर्हन् शक्रेण भावार्हत्तया स्तुतः। एवं क्षीणमोहमात्रस्य छद्मस्थवीतरागस्यापि कथञ्चित्केवलित्वव्यपदेशो न

दोपावहः। किं च केवलित्वगमकानि सप्तापि लिङ्गानि मोहनीयक्षयसमुत्थान्येव, 'केवली हि क्षीणचारित्रावरणत्वान्निरतिचारसंयमत्वादप्रतिपवित्वान्न कदाचिदपि प्राणानामतिपातयिता भवति' इति वचनात्, तेन लिङ्गापेक्षया द्वयोरपि साम्यमेव। एवं च सति यदि क्षीणमोहस्य छद्मस्थवीतरागस्य कथंचित्केवलित्वं नाभ्युपगम्यते, तर्हि क्षीणमोहे छद्मस्थवीतरागे सप्तापि लिङ्गानि व्यभिचरन्ति, तत्र हेतुपु विद्यमानेपु साध्यस्य केवलित्वस्यासत्त्वात्। नन्वास्तामन्यत्, पर केवलिनः पञ्चानुत्तराणि भवन्ति। यदागमः—"केवलिस्स णं पंच अणुत्तरा पन्नत्ता। तंजहा—अणुत्तरे नाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे तवे, अणुत्तरे वीरिए"त्ति। एतानि पञ्चापि केवलिनि वर्त्तमानानि कथं केवलित्वगमकलिङ्गतया नोक्तानि? इति चेद्, उच्यते—एतेपां पञ्चानामपि छद्मस्थज्ञानागोचरत्वेनानुमितिजनकत्वाभावात् न लिङ्गानि भवितुमर्हन्ति, प्रत्युत केवलज्ञानादिपरिज्ञानार्थमेवोक्तलिङ्गानां प्रज्ञापनेति। एतेन 'सप्तापि प्राणातिपातादीनि छद्मस्थाना रागद्वेपजनितानि, तेपां तयोः सत्त्वात्। केवलिनस्तु रागद्वेपजनितानां तेपां निपेधो न पुनः सर्वथा निपेधः, चक्षुःपक्ष्मनिपातमात्रजन्याया असङ्ख्येयवायुकायजीवविराधनायाः केवलिनोऽप्यनिवृत्तेः,' इति निरस्तम्, अशक्यपरिहारस्यापि केवलिनि निरासात्। किंच—परकीयरागद्वेपयोस्तदभावस्य च निरतिशयच्छद्मस्थज्ञानागोचरत्वेन तथाभूतच्छद्मस्थमात्रानुमितिजनकलिङ्गाना विशेपणत्वासम्भवात्, सम्भवे च यो रागद्वेपवान् स छद्मस्थः, यस्तु रागद्वेपरहितः स केवलीति विशेपणज्ञानमात्रेण छद्मस्थकेवलिनोर्विवेकेन सम्यग्निर्णये जाते प्राणातिपातादीनां तन्निपेधरूपाणां च विशेष्यपदानां भणनमुन्मत्तप्रलापकल्पं सम्पद्येत, प्रयोजनाभावात्, धर्मोपदेशादिक्रियामात्रस्यापि तथात्वेन सप्तसङ्ख्याभणनस्यायुक्तत्वाच्च। किंच—अप्रसिद्धविशेपणदानेन हेतूनां सन्दिग्धस्वरूपासिद्धतापि, तथा रागद्वेपवत्त्वच्छद्मस्थत्वयोस्तद्राहित्यकेवलित्वयोश्चैक्यमेवेति हेतोः साध्यघटितत्वेन हेतुस्वरूपहानिः; तस्मादविशिष्टानामेव छद्मस्थगम्यप्राणातिपाता-

दिनिषेधरूपाणां केवलित्वगमकलिङ्गत्वं प्रतिपत्तव्यम्। यत्तु छद्मस्थत्वज्ञापकलिङ्गेषु 'कदाचिद्' इति विशेषणं टीकाकारेण दत्तं तत्सप्तानामपि लिङ्गानां स्वरूपासिद्धिवारणार्थम्, नहि छद्मस्थसाधावनवरतं प्राणातिपातादिशीलत्वं सम्भवतीति। यच्च केवलित्वज्ञापकलिङ्गेषु 'कदाचिदपि' इति विशिष्टविशेषणमुपात्तं तच्छद्मस्थसाधौ व्यभिचारवारणाय; भवति ह्येतद्विशेषणं विना छद्मस्थसाधौ प्राणातिपाताद्यभावावस्थायां हेतुषु विद्यमानेषु केवलित्वाभावेन व्यभिचार इति॥ अत्र वदन्ति 'सत्तहि ठाणेहिं छउमत्थं जाणिज्जा' इत्यत्राप्रमत्तस्य पक्षीकरणे प्राणातिपातकत्वादयः सर्वेऽपि हेतवः स्वरूपासिद्धतामाप्नुवन्ति, प्राणातिपातादिनिमित्तक्रियाभावेन तस्य प्राणातिपातकत्वाद्यभावात्। यथाहि–कर्मग्रन्थाद्यभिप्रायेण निद्रोदयस्याप्रमत्तादिगुणस्थानेषु सत्त्वेऽपि न तेन प्रमत्तत्वम्, द्रव्यतो निद्राविषयादिवत्त्वस्य प्रमत्तत्वाप्रयोजकत्वात्; तथा द्रव्यतो जीवविराधनायामप्यप्रमत्ताः प्राणातिपातका न प्रोच्यन्त इति। न चौपचारिकैरपारमार्थिकैर्द्रव्यतः प्राणातिपातकत्वादिभिस्त्वत्कल्पितैरपि पारमार्थिकं छद्मस्थत्वं साधयितुं शक्यते, द्रव्यतो विरतिमहाव्रतवत्त्वादिभिः परिव्राजकेष्वभव्यनिह्नवादिषु च पारमार्थिकविरतत्वचारित्रित्वादिसाधनप्रसक्तेः। किञ्च–औपचारिकं प्राणातिपातकत्वं 'यावज्जीवः सयोगस्तावदारभते' इत्याद्यागमवचनादेव प्रसिद्धव्यभिचारमिति सद्भूतप्राणातिपातकत्वादिभिश्छद्मस्थत्वस्य साधनात् प्रमत्त एवात्र पक्षीकार्यः, तेन न स्वरूपासिद्धिः, तत्र पारमार्थिकानां हेतूनां सत्त्वादिति। किञ्च 'व्यापादनशीलो भवति' इत्यत्र "फलनिरपेक्षा वृत्तिः शीलम्" इति शीलार्थत्वात्, तस्याश्च स्वभावनिबन्धनत्वात्प्राणातिपातादिस्वभावहेतुसिद्ध्यर्थं प्रमत्त एव पक्षीकर्त्तव्य इति। न च प्रमत्तत्वादेव तत्र छद्मस्थत्वरूपसाध्यस्यापि प्रतीतत्वात्साध्यत्वाभावः, 'अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम्' इति(प्रमाणन०लं०परि०३सू०१४)वचनादिति वाच्यम्, व्यामूढमनसां तद्व्यामोहनिवृत्त्यर्थं छद्मस्थत्वस्य साध्यमानत्वोपपत्तेः। "प्रसिद्धानां प्रमाणानां, लक्षणोक्तौ प्रयोजनम्॥ तद्व्यामोहनिवृत्तिः

स्याद्, व्यामूढमनसामिह ॥४॥'' इति न्यायावतारवचनात्। यथाहि–सास्नादिमत्त्वाद् गवि गोत्वे सिद्धेऽपि व्यामूढस्य तत्प्रतिपत्त्यर्थं प्रयोगः क्रियते–यथाऽयं गौः, सास्नादिमत्त्वात्, यत्र गोत्वाभावस्तत्र सास्नादिमत्त्वाभावो यथा महिष इत्यादि। एवमत्रापि पुरुषविशेषे प्रमत्तत्वाच्छद्मस्थत्वे सिद्धेऽपि व्यामूढस्य ज्ञापनार्थमनुमाने कर्त्तव्ये छद्मस्थत्वस्य साध्यत्वं घटत एवेति। एतेन निद्राविकथादिप्रमादवतश्छद्मस्थत्वेन संशयानुपपत्तेर्न तत्परिज्ञानाय लिङ्गापेक्षेत्यपि निरस्तम्, उक्तयुक्त्या व्यामोहनिरासार्थं तदुपपत्तेः, विप्रतिपत्त्यादिना केवलिछद्मस्थविशेषज्ञस्यापि संशये सति तत्साधनोपपत्तेश्च। न च सूत्रे प्राणातिपातकत्वादीनां सामान्येन छद्मस्थलिङ्गत्वेन प्रोक्तत्वात् प्रमत्तछद्मस्थरूपविशेषे व्याख्यायमाने सूत्राशातनेति वाच्यम्, सूत्रस्य सूत्रान्तरसम्मत्या व्याख्यानकरणे आशातनायाः परित्यागात्। किञ्च–भवतोऽप्यप्रमत्तरूपछद्मस्थविशेषमुपादायैव व्याख्यानकरणान्नैतद्विषये पर्यनुयोग एव युज्यते। ''यत्रोभयोः समो दोषः, परिहारोऽपि वा समः॥ नैकः पर्यनुयोक्तव्य–स्तादृगर्थविचारणे ॥१॥'' इति वचनात्। ननु प्रमत्तस्य पक्षत्वेऽप्रमत्तसंयते कथं छद्मस्थत्वं स्याद्?, लिङ्गाभावाद्–इति चेद्, न। लिङ्गिनि लिङ्गावश्यम्भावनियमाभावाद्, धूमं विनापि तप्तायोगोलके वह्निदर्शनात्। ननु यद्येवं प्रमत्तस्य पक्षत्वं भावतः प्राणातिपातकत्वादीनां च लिङ्गत्वं तदा छद्मस्थत्वगमकलिङ्गेषु 'कदाचिद्'–इति विशेषणं यत् टीकाकारेण दत्तं तदनुपपन्नं स्याद्, अप्रमत्तसंयतपक्षे द्रव्यप्राणातिपातादीनां लिङ्गत्वे हि तेषां सार्वदिकत्वाभावेन स्वरूपासिद्धिवारणार्थं तदुपपन्नं स्यात्। प्रमत्तसंयतपक्षे भावप्राणातिपातस्य सार्वदिकत्वेन तद्विशेषणस्यानुपपत्तिरेवेति। मैवम्, अविशेषणोक्तस्य प्राणातिपातकत्वादेः स्वरूपाऽसिद्धत्वाभावेन 'कदाचिद्'–इत्यस्योभयमतेऽपि स्वरूपविशेषणत्वात् कालिकसम्बन्धेन व्याप्तेरभिप्रेतत्वेऽपि 'कदाचित्' इत्यस्य कालान्तरोपसङ्ग्रहेऽनुपयोगाद्, यदा प्राणातिपातकत्वादिकं तदा छद्मस्थत्वमिति नियमसिद्धौ 'कदाचिद्' इत्यनेन किमुपकर्त्तव्यमेतादृश-

नियमस्फोरणं विनेति । केचित्तु 'केवली कदाचिदपि प्राणानामतिपातयिता न भवतीति' यत्केवलिनो लिङ्गमुक्त तत्सर्वाप्रमत्तानामपि समानमिति तद्व्यावृत्त्यर्थं छद्मस्थलिङ्गेषु 'कदाचिद्' इति विशेषणमुक्तम् । इत्थं चाप्रमत्तानां प्रमत्तगुणस्थानवर्त्तित्वे प्रमत्तत्वात् कदाचिदज्ञानतोऽपि यत्प्राणातिपातकरणं सम्भवति, न तु केवलिनः, तस्य देशोनपूर्वकोटीकालमप्यप्रमत्तत्वस्यैव भावादिति विशेषोऽवबुद्धो भवति । न चाप्रमत्ता अपि सर्वदा प्राणानतिपातका एव भवन्ति, प्रमत्तत्वेन प्राणातिपातकत्वे त्वप्रमत्ता एव नोच्यन्ते इत्यतिप्रसक्तमेवैतल्लक्षणमिति वाच्यम्, अप्रमत्तस्य प्रमत्तगुणस्थानवर्त्तिनो जीवघाते अहो 'अप्रमत्तोऽपि जीवघातं करोति' इति व्यपदेशसम्भवात्, चतुर्दशपूर्व्यादीना चतुर्गतिकत्वादिवचनवदेतदुपपत्तेः। यथाहि–"भगवानपि भुवनगुरुरुन्मार्गदेशनात्सागरोपमकोटाकोटीं भ्रान्तः" इति योगशास्त्रवृत्तिवचनम् । लोकेऽपि च घृतघटे घृताभावेऽपि 'घृतघट' इति व्यपदेशो भाविनि भूतवदुपचारेण दृश्यते, तथैवाप्रमत्तादिगुणस्थानवर्त्तिनोऽपि प्रमादवत्त्वे भावतः प्राणातिपातकत्वादिव्यपदेशो भवति नतु केवलिनः, तस्य कदाचिदपि प्रमादवत्त्वाभावादिति नातिव्याप्त्यादिदोष इत्याहुः ॥ तेषा यद्ययमाशयोऽप्रमत्तसंयतेषु केवलित्वगमकप्राणातिपाताभावादिलिङ्गानां व्यभिचारः, 'कदाचिदपि' इति विशेषणेन तद्योग्यताभावानां लिङ्गत्वलाभेन नार्यत इति छद्मस्थलिङ्गेषु 'कदाचिद्' इति विशेषणं योग्यतास्पष्टत्वार्थमिति; तदा सा योग्यता प्राणातिपातादिप्रागभावरूपा ग्राह्येति केवलिपरीक्षाया क्षपकश्रेणावपूर्वकरणादीनां तदभावात्तेषु व्यभिचारो दुर्वारः । छद्मस्थपरीक्षाया च प्रमत्तस्यैव पक्षत्वे योग्यताग्रहणवैफल्यम्, सर्वेषा तु छद्मस्थाना पक्षत्वे तेष्वेवासिद्धिरिति किमप्रमत्तादावौपचारिकप्राणातिपातकत्वादिविवक्षया ? इति प्रमत्ताप्रमत्तसाधारणपक्षकछद्मस्थत्वसाधने प्राणातिपातादिलिङ्गेषु 'कदाचिद्' इति विशेषणेन साध्याधिकरणकिञ्चित्कालावच्छिन्नत्व देयम्, केवलित्वगमकलिङ्गेषु च साध्याधिकरणयावत्कालावच्छिन्नत्व देयमिति नोद्देश्या-

सिद्धिर्न वा व्यभिचार इति विभावनीयम्। यत्तु भावभूतलिङ्गानां न छद्मस्थज्ञानोपयोगित्वमिति। तदसद्, भावभूतानामेव शमादिलिङ्गानां छद्मस्थानां परनिष्ठसम्यक्त्वज्ञानजनकत्वप्रतिपादनात्।तदुक्तं योगशास्त्र प्र०२ श्लो०१५वृत्तौ-"पञ्चभिर्लक्षणैर्लिङ्गैः परस्थं परोक्षमपि सम्यक्त्वं सम्यगुपलक्ष्यते, लिङ्गानि तु शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यस्वरूपाणीत्यादि"। बाह्यपरिणतिविशेषादेव तत्र शमादिभावलिङ्गज्ञानसौलभ्यमिति चेद्, अत्रापि तत एव न भावलिङ्गज्ञानदौर्लभ्यं परीक्षकाणाम्। एतेन छद्मस्थत्वगमकानि लिङ्गानि यावदुपशान्तवीतरागमेव भवन्ति। यच्च 'क्षीणमोहस्य मृषाभाषणं तच्छद्मस्थज्ञानागोचरत्वेन न लिङ्गम्, द्रव्यतो मृषाभाषणस्य क्रोधाद्यभावेन क्षीणमोहेऽभावादित्यादि यदुक्तं' तन्निरस्तम्, उक्तरीत्या द्रव्यव्यतिरिक्तस्यापि मृषावादस्य सुपरीक्षकाणां सुग्रहत्वात्। किञ्च-क्षीणमोहस्य द्रव्यतो मृषाभाषणं नास्तीति सर्वशास्त्रविरुद्धम्, यस्मात्सर्वावस्थासु कर्मबन्धोऽस्ति, कर्मबन्धानुमेया च विराधना, इष्यते चासौ द्रव्यतो वीतरागस्यापि, छद्मस्थस्य चतुर्णामपि मनोयोगादीनामभिधानादिति पञ्चाशकवृत्तौ द्रव्यत एव मृषावादस्य क्षीणमोहेऽभिधानात्। अत एव सूक्ष्मप्रमादनिमित्तविराधनयाऽऽलोचनाप्रायश्चित्तं तत्रोक्तम्। तथाहि-आलोअणा विवेगो वा, णियंठस्स दुवे भवे॥ विवेगो अ सिणायस्स, एमेया पडिवत्तिओ॥१॥"त्ति यतिजीतकल्पसूत्रे प्रोक्तम्। "आलोचनाप्रायश्चित्त विवेकप्रायश्चित्तमित्येते द्वे प्रायश्चित्ते निर्ग्रन्थस्य भवतः, स्नातकस्य केवल एको विवेकः।"इति तद्वृत्तौ। अत्र स्नातकस्य केवलविवेकप्रायश्चित्तभणनेन निर्ग्रन्थयोरुपशान्तक्षीणमोहयोरालोचनाविवेकप्रायश्चित्ते द्वे अविशेषेणैवोक्ते सम्भाव्येते; अन्यथा निर्ग्रन्थे विकल्पद्वयमकरिष्यद्; यथा-कुत्रचिन्निर्ग्रन्थे विवेकप्रायश्चित्तमेव, कुत्रचिच्चालोचनाविवेकरूपे द्वे इति; न चैवं क्वचिदुपदर्शितमिति माध्यस्थ्येन पर्यालोच्यम्। तथा चालोचनाप्रायश्चित्तशोध्या द्रव्यविराधना केवलिविलक्षणे क्षीणमोहे शास्त्रसिद्धेति द्रव्यतो मृषाभाषणं क्षीणमोहे न भवतीति

यद्वचनं तन्निरर्थकमेव । यत्तु तत्रानाभोगहेतुकं सम्भावनारूढं जीवविराधनावन्मृषाभाषणमुपपादितं तत्र दृष्टान्तासिद्धिः, द्रव्यतो जीवविराधनायास्तत्रोपपादितत्वाद्, भगवत्यामपि तत्र जीवविराधनायाः स्पष्टमुक्तत्वाच्च। तथा च तत्सूत्र १८ श० ८ उ० "अणगारस्स णं भंते! भाविअप्पणो पुरओ दुहओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोयए वा वट्टापोयए वा कुलिगच्छाए वा परियावज्जेज्जा, तस्स णं भंते! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइआ किरिया कज्जइ? गोयमा! अणगारस्स णं भाविअप्पणो जाव तस्स णं इरियावहिआ किरिया कज्जइ, णो संपराइआ किरिया कज्जइ। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ? जहा सत्तमसए संवुडुद्देसए जाव अट्ठो णिक्खित्तो"त्ति ॥ 'पुरओ'त्ति अग्रतः, 'दुहओ'त्ति द्विधा—अन्तराऽन्तरा पार्श्वतः पृष्ठतश्चेत्यर्थः, 'जुगमायाए'त्ति यूप(युग)मात्रया दृष्ट्या, 'पेहाए'त्ति प्रेक्ष्य, 'रीयं'ति गतं गमनं, 'रीयमाणस्स'त्ति कुर्वत इत्यर्थः, 'कुक्कुडपोयए'त्ति कुर्कुटादिपोतः, (टडिम्भः)'वट्टापोयए'त्ति इह वर्त्तकः पक्षिविशेषः, 'कुलिंगच्छाए व'त्ति पिपीलिकादिसदृशः, 'परियावज्जेज्ज'त्ति पर्यापद्येत—म्रियते। 'एव जहा सत्तमसए'इत्यादि। अनेन च यत्सूचितं तस्यार्थलेश एवम्—अथ केनार्थेन भदंत! एवमुच्यते? गौतम! यस्य क्रोधादयो व्यवच्छिन्ना भवन्ति, तस्यैर्यापथिक्येव क्रिया भवतीति"—इत्यादि तद्वृत्तावुक्तम्। अत्र भावितात्माऽनगार उपशान्तः क्षीणमोहश्च ग्राह्यः, अन्यस्येर्यापथिकीक्रियाऽभावात्, केवलिनश्चानाभोगप्रयुक्तोक्तविशिष्टगमनासम्भवादिति वदन्ति। तथा सम्भावनारूढं मृषाभाषणं द्रव्यभावाभ्यां भिन्नं न कुत्राप्युपदर्शितमिति क्षीणमोहे तदभिधानं भवतोऽपूर्वपाण्डित्याभिव्यञ्जकमेव, द्रव्यभावातिरिक्तस्य सम्भावनारूढस्य शशविषाणवदवस्तुत्वात्। यच्च व्यक्तिशक्तिरूप सम्भवे सम्भाव्ये च योगवीर्यमुक्तं तद्भावपरिणामरूपमेव, यथोक्तं सूत्रकृताङ्गवीर्याध्ययनवृत्तौ। "तथा मनोवाक्कायादीनां तद्भावपरिणतानां यद्वीर्यं सामर्थ्यं तद्द्विविधं—सम्भवे सम्भाव्ये

च । सम्भवे तावत्तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकानां च सुराणामतीवपटूनि मनोद्रव्याणि भवन्ति । तथाहि-तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकसुरमनःपर्यायज्ञानिप्रश्नव्याकरणस्य द्रव्यमनसैव करणाद्, अनुत्तरोपपातिकसुराणां च सर्वव्यापारस्यैव मनसा निष्पादनादिति । सम्भाव्ये तु यो हि यमर्थं पटुमतिना प्रोच्यमान न शक्नोति साम्प्रतं परिणमयितुं, सम्भाव्यते त्वेष परिकर्म्यमाणः शक्ष्यत्यमुमर्थं परिणमयितुमिति । वाग्वीर्यमपि द्विविध-सम्भवे सम्भाव्ये च । तत्र सम्भवे तीर्थकृतां योजननिर्हारिणी वाक् सर्वस्वस्वभाषानुगता च; तथाऽन्येषामपि क्षीरमध्वाश्रवादिलब्धिमतां वाचः सौभाग्यमिति । तथा हंसकोकिलादीनां सम्भवति स्वरमाधुर्यम् । सम्भाव्ये तु सम्भाव्यते श्यामायाः स्त्रियो गानमाधुर्यम् । तथा चोक्तम्-"श्या(सा)मा गायति मधुरं, काली गायति खर च रूक्षं(रुक्खं)च"इत्यादि । तथा सम्भावयाम एनं श्रावकदारकमकृतमुखसंस्कारमप्यक्षरेषु यथावदभिलप्स्यत्येष्विति, तथा सम्भावयामः-शुकसारिकादीनां वाचो मानुषभाषापरिणामः । कायवीर्यमप्यौरस्यं यद्यस्य बलम् । तदपि द्विविधं-सम्भवे सम्भाव्ये च । सम्भवे यथा चक्रवर्त्तिबलदेववासुदेवादीनां यद्बाहुबलादिकायबलम् । तद्यथा-कोटिशिला त्रिपृष्ठेन वामकरतलेनोद्धृता, यदि वा 'सोलसरायसहस्सा'इत्यादि यावदपरिमितबला जिनवरेन्द्रा इति । सम्भाव्ये तु-सम्भाव्यते तीर्थकरो लोकमलोके कन्दुकवत् प्रक्षेप्तुम्, तथा मेरुं दण्डवत् गृहीत्वा वसुधा छत्रकवद्धर्तुमिति । तथा सम्भाव्यतेऽन्यतरसुराधिपो जम्बूद्वीपं वामहस्तेन छत्रकवद्धर्तुमयत्नेनैव मन्दरमिति । तथा सम्भाव्यतेऽयं दारकः परिवर्द्धमानः शिलामेनामुद्धर्तुं हस्तिनं दमयितुमश्वं वाहयितुमित्यादि, [इन्द्रियबलमपि श्रोत्रेन्द्रियादिस्वविषयग्रहणसमर्थं पञ्चधा । एकैकमपि द्विधा सम्भवे सम्भाव्ये च । सम्भवे यथा श्रोत्रेन्द्रियस्य द्वादशयोजनानि विषयः एवं शेषाणामपि यस्य यो विषय इति । सम्भाव्ये तु यस्य कस्यचिदनुपहतेन्द्रियस्य श्रान्तस्य क्रुद्धस्य पिपासितस्य परिग्लानस्य वा अर्थग्रहणासमर्थमपि इन्द्रियं सद्यथोक्तदोषोपशमे तु सति सम्भाव्यते विष-

यग्रहणायेति]" तद्वदिह यदि क्षीणमोहे सम्भावनारूढं मृषाभाषणं सम्भवे वक्तव्यं तदा व्यक्तित एव भावरूपं सम्पन्नम्, यदि च सम्भाव्ये तदा शङ्कित इति न कथमपि पृथग् भवितुमर्हति । न च क्षीणमोहे मृषाभाषणं केवल सम्भाव्यमेव, अपूर्वादिषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु चतसृणा भाषाणां कर्मग्रन्थे द्वितीयतृतीययोग्योगौ मिथ्यादृष्टेरारब्धौ यावत् क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थस्तावल्लभ्येते । तथोपशान्तकषायस्थाने क्षीणकषायस्थाने च 'नवयोगा बन्धहेतवः' इत्यस्य चार्थस्याविशेषेणैनाभिधानाद् । अनश्यंभावित्वाभिप्रायेण च यत्सम्भाव्यत्वाभिधानं तत्तु सत्संयतमात्रस्यैव मृषाभाषणादेः स्यादिति द्रष्टव्यम् । किञ्च–सर्वमपि मृषाभाषणं क्रोधमूलकमेवेति वदतस्तव सम्भावनारूढमपि मृषाभाषणं तन्मूलकमेव स्यात्, तथा च क्षीणमोहे तस्याप्यभावः प्राप्नोति । ननूक्तं तदनाभोगहेतुकमेवेति चेत्, तर्हि तादृश द्रव्यतो मृषाभाषणमेव किमिति नाभ्युपेयते ? किं सम्भावनया ?, न च द्रव्यभूतेन तेन प्रत्याख्यानभङ्गो भवति, भावभूतस्यैव तस्य प्रत्याख्यातत्वात्, "प्रमत्तयोगादसदभिधानं मृषा" इति तत्त्वार्थवृत्तिवचनात् । न च भावतः प्राणातिपातमृषाभाषणादेर्यत्कारणं तदेव तस्य द्रव्यतोऽपीति क्षीणमोहे न तत्सम्भवतीति वाच्यम्, एवं सति भावतो ज्ञानदर्शनचारित्राणा यानि कारणानि तान्येव द्रव्यभूताना तेषा कारणानि स्युरिति, अभव्यादीनामपि द्रव्यतो ज्ञानदर्शनचारित्रवता ज्ञानावरणीय–दर्शनमोहनीय–चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमाः कारणानि स्युः । तथा चागमबाधा । किञ्च–एवं केवलिनो द्रव्येन्द्रियाणामप्यभावापत्तिः, भावेन्द्रियहेतुज्ञानावरणदर्शनावरणक्षयोपशमयोः केवलिन्यभावाद् । न च द्रव्येन्द्रियाभावः केवलिन्युक्तः, किन्तु भावेन्द्रियाभाव एवेति । किञ्च–उपशान्तमोहे यथा जीवविराधना मोहनीयकारणमन्तरेणापि भवति, तथा क्षीणमोहे मोहाभावेऽपि द्रव्यतो जीवविराधनामृषाभाषादिसद्भावे किं बाधकम् ?, अथास्त्येवागमबाधा । तथाहि—" रायगिहे जाव एव वयासी, अह भंते ! पाणाइवाए मुसावाए अदिण्णादाणे मेहुणे परिग्गहे एस

णं कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कतिफासे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचवण्णे दुगंधे पंचरसे चउफासे पण्णत्ते ॥ ” इत्यादि भगवतीसूत्रे द्वादशशते पञ्चमोद्देशके प्रोक्तम्। 'रायगिहे' इत्यादि। 'पाणाइवाए'त्ति प्राणातिपातजनितं तज्जनकं वा चारित्रमोहनीयं कर्मोपचारात् प्राणातिपात एव, एवमुत्तरत्रापि, तस्य च पुद्गलरूपत्वात् वर्णादयो भवन्ति, अत उक्तं 'पचवण्णे'इत्यादि। आह च–“पंचरस–पंचवण्णेहि, परिणय दुविहगंधचउफासं ॥ दवियमणंतपएसं, सिद्धेहि णंतगुणहीणं ॥१॥” इत्याद्येतद्वृत्तावुक्तम्। एतदनुसारेण च प्राणातिपातादीनां चारित्रमोहनीयत्वात् क्षीणमोहे तदनुपपत्तेः। उपशान्तमोहे तु मोहसद्भावात्प्राणातिपाताद्यङ्गीकारे न किञ्चिद्बाधकमिति चेद्। एतदप्यसत्, भावप्राणातिपातापेक्षयैवोक्तोपचारव्यवस्थितेः, अन्यथा द्रव्यप्राणातिपातादीनां चारित्रमोहनीयकर्मजनकत्वे सूक्ष्मसम्परायादौ षड्विधबन्धकत्वादि न स्यात्। तज्जन्यत्वे च तस्योदितस्यानुदितस्य वा जनकत्व वाच्यम्। आद्ये उपशान्तमोहे द्रव्यप्राणातिपाताद्यनुपपत्तिः। अन्त्ये च चारित्रमोहनीयसत्तामात्रादुपशान्तमोहे तत्कार्यप्राणातिपातस्वीकारे नाग्न्यादीनां सप्तानां परीषहाणामपि तत्र स्वीकारापत्तेः, तेषामपि चारित्रमोहनीयकार्यत्वप्रतिपादनात्। तदुक्तं भगवत्यां श० ८ उ० ८ “चरित्तमोहणिज्जे णं भंते! कम्मे कति परीसहा समोअरंति ?, गोयमा सत्त परीसहा समोअरति। तजहा–“अरती अचेल इत्थी, णिसीहिआ जायणा य अक्कोसा ॥ सक्कारपुरक्कारे, चरित्तमोहंमि सत्तेते ॥१॥” तत्त्वार्थभाष्येऽप्युक्तम् अ० ९ सू० १५ “चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ परीषहा उक्ताः।” इति। एतद्वृत्तिर्यथा–“दर्शनमोहवर्जं शेषं चारित्रमोहनीयं–चारित्रं मूलोत्तरगुणसम्पन्नान्मोहनात्पराङ्मुखत्वाच्चारित्रमोहनीयम्, तदुदये सत्येते नाग्न्यादयः सप्त परीषहा भवन्ति। नाग्न्यं जुगुप्सोदयाद्१, अरत्युदयादरतिः२, स्त्रीवेदोदयात् स्त्रीपरिषहः३, निषद्या स्थानासेवित्वं भयोदयात्४, क्रोधोदयादाक्रोशपरीषहः५, मानोदयाद् याच्ञापरीषहः६, लोभोदया-

त्सत्कारपुरस्कारपरीषहः७, इति। अथ चारित्रमोहोदये सत्येते परीषहाः प्रोक्ता, तस्मादुपशान्ते न भवन्तीति चेत्, तर्हि चारित्रमोहनीयकर्मोदये सति प्राणातिपातादयः प्रोक्ताः, अतस्तेऽपि तत्र मा भूवन्। अथ भावत एव प्राणातिपातादयश्चारित्रमोहनीयोदयसमुत्थाः, द्रव्यतस्तु चारित्रमोहनीयस्य सत्तायामपि तत्र ते भवन्तीति चेत्, तर्हि भावत एव चारित्रमोहनीयोदयसमुत्थाः सप्त परीषहाः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानं यावद्भवन्ति, द्रव्यतस्तु त एवोपशान्तमोहेऽपि चारित्रमोहसत्तानिमित्तका भवन्तु, युक्तेरुभयत्र तौल्यादिति। यच्च सम्भावनारूढमृषाभाषणनिषेधव्याघातेनैव तत्सिद्धिसमर्थनं कृतं तत्तु शशशृङ्गस्यापि निषेधव्याघातात्तत्सिद्धिसमर्थनप्रायम्। या चाऽलोके लोककल्पनातुल्या सम्भावना प्रोक्ता, सा तु प्रकृतार्थस्यातिशयितत्वमेव प्रतिपादयेद्। अलोके लोकप्रमाणासंख्येयखण्डप्रमाणावधिज्ञानविषयकल्पना हि वैज्ञानिकसम्बन्धेन तद्विषयविशिष्टतामवधिज्ञानस्यैव ज्ञापयतीति। आह च (विशे०) भाष्यकारः॥ "वड्ढंतो पुण बाहिं, लोगत्थं चेव पासई दव्व॥ सुहुमयरं सुहुमयरं, परमोही जावपरमाणु॥६०६॥" (वर्धमानः पुनर्बहिर्लोकस्थमेव पश्यति द्रव्यं। सूक्ष्मतर सूक्ष्मतरं परमावधिर्यावत् परमाणुम्॥) इति। तद्वदिहापि सम्भावनया विशिष्टमेव मृषाभाषणं प्रसज्येतेति विपरीतैवेयं कल्पना भवत इति। यच्च अत एव 'कालशौकरिकस्य' इत्याद्युक्तं, तत्तु तं प्रत्येव लगति, यतः कालशौकरिकस्य महिषव्यापादनं महिषव्यापादनत्वेन भगवतोक्त तद्भावमाश्रित्य, तेन तत्र तत्कल्पनायाः प्रामाण्यम्, सम्भावनारूढमृषाभाषणादेर्मृषाभाषात्वादिकं तु भावतो नोच्यत इति कथं तत्कल्पना स्याद्? न ह्यसतः सम्भावनापि सम्भवति, नहि क्षीणमोहे मैथुनादीनां भवतापि सम्भावना क्रियते; अत एव क्षीणमोहे सम्भावनारूढमृषाभाषादेः स्नातकचारित्रप्रतिबन्धकत्वेन दोषत्वमित्यपि निरस्तम्, असतो दोषत्वायोगात्। अत एव चित्रलिखितनारीदृष्टान्तोऽपि निरस्तः, असत आकारमात्रताया अप्यभावादिति न किञ्चिदेतत्। यच्च छद्मस्थलिङ्गानां द्रव्यभूतानां मिथ्या-

कारादिलिङ्गगम्यत्वस्यापि सम्भवान्मिथ्याकारस्य चाऽनवरतप्रवृत्तावसम्भवात् संयतानां द्रव्यहिंसादिकं कादाचित्कत्वेनानाभोगप्रयुक्तमेवेत्यभिधानं तदयुक्तम्, प्रत्याख्यातभावहिंसादेरेवानाभोगप्रयुक्तकादाचित्कभङ्गपरिणतिवतो मिथ्याकारविषयत्वाद्, द्रव्यहिंसामात्रे तदभावाद्, अन्यथाऽपवादपदजिनपूजाऽऽहारविहारादिक्रियाणामपि मिथ्याकारविषयत्वापत्तेः। यच्च षष्ठसप्तमलिङ्गयोश्छद्मस्थमात्रे सुलभत्वमुक्तम्, तत्प्रतिलेखनाप्रमार्जनादिक्रियाणां पिपीलिकादिक्षुद्रजन्तुभयोत्पादकत्वेन सावद्यत्वे स्यात्, तदेव तु नास्ति, कायादिनियताचाररूपाणां तासामौत्सर्गिकीणां क्रियाणामत्यन्तनिरवद्यत्वाद्। अपवादकल्पत्वादासां कथञ्चित्सावद्यत्वमिति चेद्, न। अपवादस्यापि विधिशुद्धस्य सावद्यत्वाभावे तत्कल्पत्वेनाभिमते तदभावाद्। न चोत्सर्गापवादव्यतिरिक्तोऽपवादकल्पो राशित्रयकल्पनारसिकं भवन्तं विनाऽन्येन केनापीष्यत इति तत्सद्भावे प्रमाणमस्ति। शक्याशक्यपरिहारविषयभेदेनापवादापवादकल्पयोर्भेदाभ्युपगमे च दुष्करसुकरत्वादिभेदेनानशनयुक्ताहारादिक्रियाणामुत्सर्गोत्सर्गकल्पभेदकल्पनाया अप्यापत्तेरिति न किञ्चिदेतत्। तस्मात् षष्ठसप्तमलिगयोः सौलभ्यमपि प्रमत्तस्यैव प्रतिषेवणदशायां ज्ञेयम्, अप्रमत्तस्य तु सत्तामात्रेणैव तद् द्रष्टव्यम्। यत्तु केवलिनोऽपि परीक्षायां छद्मस्थज्ञानगोचरत्वेन द्रव्यरूपाण्येव लिङ्गानि ग्राह्याणीत्युक्तम्, तन्न चतुरचेतश्चमत्कारकारि, द्रव्यरूपाणामपि प्राणातिपातादीनामभावस्य सर्वकालीनत्वस्य हेतुघटकस्य दुर्ग्रहत्वात्। सूक्ष्मदृष्ट्या तद्ग्रहे च भावरूपलिङ्गानामपि न दुर्ग्रहत्वमिति। यच्चोक्त 'स च केवली द्विविधो ग्राह्य इत्यादि,' तदसत्। क्षीणमोहे केवलित्वस्यागमबाधितत्वात्, आगमे छद्मस्थवीतरागमध्य एव क्षीणमोहस्य परिगणितत्वात्। उक्त च प्रज्ञापनायां "से किं तं खीणकसायवीयरायचरित्तायरिआ?, खीणकसायवीयरागचरित्तायरिआ दुविहा पन्नत्ता। तंजहा छउमत्थखीणकसायवीयरायचरित्तायरिया य, केवली खीणकसायवीयरागचरित्तायरिया य" इत्यादि। यदि चैतामागमबाधामुल्लङ्घ्यापि 'भाविनि भूतवदुपचारः' इति

न्यायाद् द्वादशे गुणस्थाने कथञ्चित्केवलित्वमभ्युपगम्यते, तर्हि चरमशरीरिणि प्रथमादिगुणस्थानवर्त्तिनि क्षपकश्रेण्यारूढे वा मत्तमादिगुणस्थानवर्त्तिनि तदभ्युपगन्तव्य स्यात्। किञ्च-क्षीणमोहस्य केवलित्वविवक्षा केनापि न कृतेति कथं भवता कर्त्तव्या ? नहि स्वल्पकालभाविकेवलज्ञानस्यापि छद्मस्थस्य केवलित्वविवक्षा कर्त्तुं युज्यते। अत एव "छ ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं ण जाणइ, ण पासइ। तंजहा धम्मत्थिकायं१ अधम्मत्थिकायं२ आगासं३ जीवं असरीरपडिबद्धं४ परमाणुपोग्गलं५ सद्दं६। एताणि चेव उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे जाव सव्वभावेणं जाणति पासति तंजहा-धम्मत्थिकायं जाव सद्दं जाणति'इत्यादि स्थानाङ्गसूत्रे। "इह छद्मस्थो विशिष्टावध्यादिविकलो न त्वकेवली, यतो यद्यपि धर्माधर्माकाशान्यशरीरजीवं च परमावधिर्न जानाति, तथापि परमाणुशब्दौ जानात्येव, रूपित्वात् तयोः, रूपिद्रव्यविषयत्वाच्चावधेः।" इत्यादि वृत्तावुक्तम्। अत्र परमावधेरन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वमुत्पत्स्यमानकेवलज्ञानस्यापि केवलित्वविवक्षा न कृता। यदि च परमावधिमतः केवलित्वविवक्षामकरिष्यत् तदा व्यभिचारशङ्कैव नास्तीति छद्मस्थपदस्य विशेषपरत्वं नावक्ष्यद् वृत्तिकारः। तस्मात् क्षीणमोहस्याप्यन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वमुत्पत्स्यमानकेवलज्ञानस्य कथञ्चित्केवलित्वविवक्षा शास्त्रबाधितैवेति। यदि च क्षीणचारित्रावरणत्वाद्धेतोः क्षीणमोहे केवलित्वं दुर्निवारं, तदा निरतिचारसंयमत्वादप्रतिसेवित्वाच्चोपशान्तमोहे कषायकुशीले च तद् दुर्निवारं स्यादिति बोध्यम्। यच्च रागद्वेषवत्त्वच्छद्मस्थत्वादीनामैक्योद्भावनेन दूषणं दत्तं, तत्तु न किञ्चिद्; एवं सति समनियतधर्ममात्रव्याप्त्युच्छेदप्रसङ्गादिति दिग्॥ इद त्विहास्माकमाभाति-यदालोचनायोग्यविराधनादिकं छद्मस्थमात्रलिङ्गं, तदभावश्च केवलिनो लिङ्गम्, 'कदाचिद्' इत्यनेन 'न कदाचिदपि' इत्यनेन चैतदर्थस्यैव स्फोरणात्। आलोचनायोग्यताया अनाभोगप्रयुक्तकादाचित्कतानियतत्वाद्, इतरत्र च तदभावाद्। इत्थं च केवली न कदाचिदपि प्राणानामतिपातयिता भवति, क्षीणचारित्रावरणत्वाद्-इत्यादौ विशिष्टो

हेतुरनुसन्धेयः, अन्यथा केवलित्वगमकानि लिङ्गानि क्षीणमोहे न सन्ति, किन्तु स्वरूपतः सन्ति। यथा—वह्निरनुष्णः, कृतकत्वाद्—इत्यनुमाने कृतकत्वं वह्नौ स्वरूपतः सदप्यनुष्णत्वगमकलिङ्गत्वेन नास्तीति प्रत्यक्षबाधितपक्षत्वादगमकं प्रोच्यते, तद्वत् 'क्षीणमोहे सप्तापि स्थानानि' इत्युक्तावपि न निस्तारः, तद्वदेवाप्रयोजकत्वेन प्रकृतलिङ्गव्यभिचारानुद्धारात्। नह्ययः पिण्डो धूमवान्, वह्निमत्त्वाद्—इत्यत्र पक्षदोषमात्रेण हेतुदोषो निराकर्त्तुं शक्यते, इत्यनुमानहेतुत्वे उक्तप्रकार आश्रयणीयः, सम्भावनाहेतुत्वे तु न किमप्युपपादनीय मित्युपयुक्तैर्विभावनीयमिति दिक्॥ ८३॥ 'तदेवं केवलिनोऽवश्यम्भाविनी जीवविराधना न भवति' इति स्वमतिविकल्पनमनर्थहेतुरित्येतादृशाः कुविकल्पा मोक्षार्थिना त्याज्या इत्याह—

तिव्वासग्गहदोसा, एयारिसया हवंति कुविगप्पा॥ ते उच्छिंदिय सम्मं, आणाइ मुणी पयट्टिज्जा॥८४॥

[तीव्रासद्ग्रहदोषा(दभिनिवेशा)देतादृशका भवन्ति कुविकल्पाः॥ तानुच्छिद्य सम्यग् आज्ञायां मुनिः प्रवर्तेत॥ ८४॥]

तीव्रात्—सम्यग्वक्तृवचनानिवर्त्तनीयत्वेनोत्कटाद्, अभिनिवेशाद्विपर्ययग्रहादेतादृशकाः कुविकल्पा भवन्ति, तानुच्छिद्य सम्यगाज्ञायां गुरुशास्त्रपारतन्त्र्यलक्षणायां मुनिः प्रवर्तेत, न तु बहुश्रुतत्वादिख्यातिमात्रेण स्वमतिविकल्पजालग्रथनरसिको भवेदिति 'एतादृशकाः'-इत्यतिदेशेन यः परस्यायं कुविकल्पोऽस्ति—'यो मांसमश्नाति तस्य सम्यक्त्वं न भवत्येवेति', सोऽप्यपास्तो बोद्धव्यः, केवलसम्यक्त्वधारिणोऽविरतेरेव माहात्म्यादितराभक्ष्यभक्षणस्येव मांसभक्षणादपि निवृत्तेरनियमात्। यदि च "सद्यः सम्मूर्च्छितानन्त-जन्तुसन्तानदूषितम्॥ तद् ज्ञात्वा भुञ्जानस्य सर्वांशानुकम्पाराहित्यान्न सम्यक्त्वमित्यभ्युपगमः, तदाऽनन्तजन्तुमयं ज्ञात्वा मूलकादिकं भक्षयतोऽपि सम्यक्त्वक्षतिरभ्युपगन्तव्या स्याद्। यदि च मांसभक्षणस्यातिनिन्द्यत्वात्तस्य सम्यक्त्वनाशकत्वं तदा परदार-

गमनस्य तत्सुतरां स्यादिति तद्व्यसनवतः सत्यकिप्रभृतेः सम्यक्त्वमुच्छिद्येत। एतेन 'विलवासिनामपि मनुजानां तथाविधकर्मक्षयोपशमेन यदि मांसपरिहारनियन्तृत्वं तदा सम्यग्दृशां तत्सुतरा स्यादिति मांसभक्षणे सम्यक्त्वक्षतिरेव'इति निरस्तम्, सम्यक्त्वस्य भावधर्मत्वेन कुलधर्ममात्रत्वाभावात्, तथाविधकर्मपरिणतेरनुचितप्रवृत्तिमतोऽपि श्रद्धानगुणेन तदनपगमात्। अन्यथा स्तेनानामपि केषाञ्चित्परदारगमनपरिहारनियन्तृत्वात्, ततोऽनिवृत्तस्य सत्यकिप्रभृतेः सम्यक्त्वमुच्छिद्येतैवेति ॥ न च मांसाहारस्य नरकायुर्बन्धस्थानत्वादेव तदनिवृत्तौ न सम्यक्त्वमिति शङ्कनीयम्, महारम्भमहापरिग्रहादीनामपि तथात्वात्, तदनिवृत्तौ कृष्णवासुदेवादीनामपि सम्यक्त्वापगमापत्तेः॥ किञ्च-सम्यक्त्वधारिणां कृष्णप्रभृतीनां मांसभक्षणेऽपि सम्यक्त्वानपगमः शास्त्रेऽपि श्रूयते। तदुक्तं षष्ठाङ्गे (अ०१६) तएणं से दुवए राया कंपिल्लपुर णगर अणुपविसइ, अणुपविसित्ता विउलं असणं ४ उवक्खडावेइ, उवक्खडावित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावित्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया विउलं असण ४ सुरं च मज्जं च मंसं च सीधुं च पसन्नं च सुबहुपुप्फफलवत्थगंधमल्लालंकारं च वासुदेवप्पामोक्खाणं रायसहस्साणं आवासेसु साहरह तेवि साहरंति तएण ते वासुदेवप्पामोक्खा तं विउलं असणं ४ जाव पसन्नं च आसाएमाणा विहरंति"त्ति। न चात्र मांसभक्षणादिकं स्वपरिवारभूतमिथ्यादृशामेव 'तदाज्ञानिमित्तकत्वात् तत्कर्तृकं' व्यपदिष्टमिति शङ्कनीयम्, 'वासुदेवप्रमुखा'इत्यत्र सर्वेषामेकक्रियायोगात् सम्यक्त्वनाशके तत्र तदाज्ञापनस्याप्यनुपपत्तेश्च ॥ यत्तु वर्णनमात्रत्वेनैतत्सूत्रस्याकिञ्चित्करत्वं परेणोद्भाव्यते, तस्य महानेव कृतान्तकोपः। एवं सति स्वर्गदुर्गत्यादिप्रतिपादकसूत्राणामपि वर्णनमात्रत्वेनाकिञ्चित्करताया वावदूकेन वक्तुं शक्यत्वाद्, लोकनिन्द्यविषयमात्रेणापि यथास्थितार्थप्रतिपादकसूत्रविलोपे नास्तिकत्वस्यानिवारितप्रसरतया सर्वविलोपप्रसङ्गादिति ॥ किञ्च-यद्यनन्तकायादिमांसादिभक्षणे सम्यक्त्वस्य मूलोच्छेदः स्यात् तदा तत्र तपः प्रायश्चित्तं नोपदिष्टं स्यात्,

उक्तश्च तत्त्र। तदुक्तं श्राद्धजीतसूत्रवृत्त्योः–"चउगुरु णंते, चउलहु, परित्तभोगे सचित्तवज्जिस्स। मंसासववयभंगे, छग्गुरु चउगुरु अणाभोगे ॥९१॥" व्याख्या—"सचित्तवर्जकस्य श्रावकादेः 'अनन्त'त्ति अनन्तकायानां मूलकार्द्रकादीनां भक्षणे चतुर्गुरु प्रायश्चित्तं भवति। यदागमः–"सो उण जिणपडिकुट्ठो, अणंतजीवाण गायणिप्फण्णो ॥ गेही पसंगदोसो, अणंतकाओ अओ गुरुगा ॥१॥" तथा सचित्तवर्जकस्यैव श्राद्धादेः, 'परित्त'त्ति प्रत्येकपरिभोगे–प्रत्येकाम्रादिपुष्पफलादिभोगे चतुर्लघु प्रायश्चित्तम्। तथा मांसासवयोरुपलक्षणान्मधुनवनीतयोश्च 'वयभंगे'त्ति अनाभोगतः पृथग्वक्ष्यमाणत्वादत्राभोगतो ज्ञेयम्। ततश्चाभोगे सति व्रतस्य नियमस्य भङ्गे षड्गुरु, 'चउगुरु'त्ति अनाभोगे सति मासासवमधुनवनीतानां व्रतभङ्गे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त भवतीति गाथाक्षरार्थ इति ॥" ततो 'मांसभक्षणे सम्यक्त्व नश्यत्येव' इत्ययमपि कुविकल्प एवेति बोध्यम् ॥८४॥ ननु विकल्पोच्छेदेनाज्ञया प्रवृत्तिर्हितावहोक्ता। न चाज्ञामात्रानुसरण हितावहं सम्भवति, सर्वत्र सौलभ्याद्, दृश्यन्ते हि सर्वेऽपि निजनिजगुर्वाद्याज्ञायत्ता इत्युपादेयाज्ञाविशेषमाह—

आणा पुण जगगुरुणो, एगतसुहावहा सुपरिसुद्धा ॥ अपरिक्खिआ ण गिज्झा, सा सव्वा णाममित्तेणं ॥८५॥

[आज्ञा पुनर्जगद्गुरोरेकान्तसुखावहा सुपरिशुद्धा ॥ अपरीक्षिता न ग्राह्या सा सर्वा नाममात्रेण ॥ ८५ ॥]

व्याख्या—'आणा पुण'त्ति आज्ञा पुनर्जगद्गुरोस्त्रिभुवनधर्मगुरोर्भगवतो वीतरागस्य, सुपरिशुद्धा सम्यक्परीक्षाप्राप्ता, एकान्तसुखावहा नियमेन स्वर्गापवर्गादिसुखहेतुर्ग्राह्येति योगः। माऽऽज्ञा सर्वा नाममात्रेणापरीक्षिता सती न ग्राह्या, प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः परीक्षानियतत्वादिति भावः ॥ ८५ ॥ एतत्परीक्षोपायमाह—

कस-छेय-तावजोगा, परिक्खियव्वा य सा सुवण्णं व ॥ एसा धम्मपरिक्खा, णायव्वा बुद्धिमंतेणं ॥८६॥

[कपच्छेदतापयोगात् परीक्षितव्या च सा सुवर्णमिव ॥ एषा धर्मपरीक्षा ज्ञातव्या बुद्धिमता ॥ ८६ ॥]

व्याख्या—**सा आज्ञा, कपच्छेदतापयोगात् सुवर्णमिव परीक्षणीया।** यथाहि–युक्तिस्वर्णं जात्यस्वर्णं च सुवर्णमात्रसाम्येन मुग्धलोकैरभेदेन प्रतीयमाने कपच्छेदतापैर्विचक्षणास्तत्परीक्षणं कर्तुमुत्सहन्ते, तथाऽऽज्ञायामपि मुग्धैः सर्वत्र नाममात्रादिकत्वेन प्रतीयमानायां विचक्षणास्तत्परीक्षां कपच्छेदतापैः कर्तुमुत्सहन्त इति बुद्धिमतैषा धर्मपरीक्षा ज्ञातव्या। येन ह्याज्ञा सा सर्व एव धर्म इत्याज्ञापरीक्षैव धर्मपरीक्षेति भावः ॥ ८६ ॥ कषादीनेवात्र योजयितुमाह—

विहिपडिसेहा उ कसो, तज्जोगक्खेमकारिणी किरीया ॥ छेओ तावो य इहं, वाओ जीवाइतत्ताणं ८७ ॥

[विधिप्रतिषेधौ तु कषः तद्योगक्षेमकारिणी क्रिया ॥ छेदः तापश्च इह वादो जीवादितत्त्वानाम् ॥ ८७ ॥]

व्याख्या—'विहिपडिसेहाउ' त्ति। विधिः—अनिरुद्धकर्त्तव्यार्थोपदेशकं वाक्यम्। यथा–स्वर्ग–केवलार्थिना तपोध्यानादि कर्त्तव्यमित्यादि। प्रतिषेधः पुनर्न हिंस्यात् सर्वभूतानीत्यादि। एतौ द्वाविह धर्मपरीक्षायां कष एव, सुवर्णपरीक्षायां कषपट्टकरेखेव। इदमुक्तं भवति–यत्र धर्मे उक्तलक्षणौ विधिप्रतिषेधौ पुष्कलावुपलभ्येते स धर्मः कषशुद्धः, न पुनः–"अन्यधर्मस्थिताः सत्त्वा, असुरा इव विष्णुना ॥ उच्छेदनीयास्तेषां हि, वधे दोषो न विद्यते ॥१॥" इत्यादिवाक्यगर्भ इति ॥ तयोर्विधिप्रतिषेधयोर्योगोऽनाविर्भूतयोः सम्भवः, क्षेमं चाविर्भूतयोः पालना, तत्कारिणी क्रिया भिक्षाटनादिबाह्यव्यापाररूपा छेदः। यथा कषशुद्धावप्यन्तर्गतामशुद्धिमाशङ्कमानाः सौवर्णिकाः सुवर्णगुलिकादेश्छेदमाद्रियन्ते, तथा कषशुद्धावपि धर्मस्य छेदमपेक्षन्ते प्रेक्षावन्तः। स च छेदो विशुद्धबाह्यचेष्टारूपः, विशुद्धा च चेष्टा सा यत्रासन्तावपि विधिप्रतिषेधावबाधितरूपौ स्वात्मानं लभेते, लब्धात्मानौ चातिचारविरहितावुत्तरोत्तरं वृद्धिमनुभ-

वतः, ईदृशी यत्र धर्मे चेष्टा सप्रपञ्चा प्रोच्यते स धर्मश्छेदशुद्ध इति ॥ तापश्च जीवादितत्त्वानां वाद —स्याद्वादरीत्योपन्यासः । यथाहि–कपच्छेदशुद्धमपि सुवर्णं तापमसहमानं कालिकोन्मीलनदोषान्न सुवर्णभावमश्नुते, एवं धर्मोऽपि सत्यामपि कपच्छेदशुद्धौ तापपरीक्षायामनिर्वहमाणो न स्वभावमासादयति, अतो जीवादितत्त्वानां स्याद्वादप्ररूपणया तापशुद्धिरन्वेपणीया। यत्र हि शास्त्रे द्रव्यरूपतयाऽप्रच्युतानुत्पन्नः, पर्यायात्मकतया च प्रतिस्वमपरापरस्वभावास्कन्दनेनानित्यस्वभावो जीवादिरवस्थाप्यते, स्यात्तत्र तापशुद्धिः । यतः परिणामिन्येवात्मादौ तथाविधाशुद्धपर्यायप्रादुर्भावादुक्तलक्षणः कपो बाह्यचेष्टाशुद्धिलक्षणश्च छेद उपपद्यते न पुनरन्यथेति। अत्र च तापपरीक्षा बलवती, कपच्छेदभावेऽपि तापाभावे परीक्षाऽसिद्धः, नहि तापे विघटमान हेम कपच्छेदयोः सतोरपि स्वं स्वरूपं प्रतिपत्तुमलम्, युक्तिस्वर्णत्वात्तस्येति ॥ ८७ ॥ एताभिः परीक्षाभिर्धर्मे परीक्षिते, धर्मवान् गुरुरपि परीक्षित एव भवतीत्यभिप्रायवानाह—

एयाहिं परिक्खाहिं, सुद्धे धम्ममि परिणया जे उ ॥ गुरुणो गुणजलणिहिणो, ते वि विसुद्धा सुवण्णं व ॥८८॥

[एताभिः परीक्षाभिः शुद्धे धर्मे परिणता ये तु ॥ गुरवो गुणजलनिधयः, तेपि विशुद्धाः सुवर्णमिव ॥ ८८ ॥]

व्याख्या—एताभिः कपादिपरीक्षाभिः शुद्धे धर्मे ये परिणता एव ते गुरवोऽपि गुणजलनिधयः सुवर्णमिव विशुद्धा द्रष्टव्याः, यद्द्रव्यं यदा यद्रूपेण परिणमते तत् तदा तन्मयमेवेति शुद्धधर्मपरिणता गुरवोऽपि शुद्धधर्मरूपत्वेनैवादरणीया इति भावः ॥ ८८ ॥ सुवर्णसदृशत्वमेव गुरूणां भावयन्नाह—

सत्थोइयगुणजुत्तो, सुवन्नसरिसो गुरू विणिद्दिट्ठो ॥ ता तत्थ भणंति इमे, विसघायाई सुवन्नगुणे ॥ ८९ ॥

[शास्त्रोदितगुणयुक्तः सुवर्णसदृशो गुरुर्विनिर्दिष्टः ॥ तस्मात्तत्र भणन्ति विपघातादीन्सुवर्णगुणान् ॥ ८९ ॥]

व्याख्या—'सत्थोइय'त्ति। शास्त्रे दशवैकालिकादावुदिताः प्रतिपादिता ये गुणाः मा.गुगुणास्तैर्युक्तः सहितः, सुवर्णसदृशो गुरुर्विनिर्दिष्टः, तत्तस्मात्कारणात्, तत्र गुरौ विषघातादीन् इमाननन्तरमेव वक्ष्यमाणान्, सुवर्णगुणान् योजयन्ति॥८९॥

अत्रार्थेऽष्टसुवर्णगुणप्रतिपादनाय भावसाधौ गुरौ तद्योजनाय च पूर्वाचार्य(श्रीहरिभद्रसूरि)कृता एव तिस्रो गाथा उपन्यस्यति—

विसघाइ-रसायण-मं-गलत्थ-विणए-पयाहिणावत्ते ॥ गुरुए-अडज्झ-ऽकुच्छे, अट्ठ सुवन्ने गुणा हुंति ॥ ९० ॥

[विषघाति रसायनमङ्गलार्थविनतं प्रदक्षिणावर्तं ॥ गुरुकमदाह्याकुत्स्यमष्टौ सुवर्णे गुणा भवन्ति ॥ ९० ॥]

व्याख्या—'विसघाइ'इत्यादि। विषघाति-गरदोपहननशीलं सुवर्णं भवति। रसायनमङ्गलार्थविनीतमिति कर्मधारयपदम्। रसायनं-वयःस्तम्भनम्, मङ्गलार्थं-मङ्गलप्रयोजनम्, विनीतमिव विनीतम्, कटककेयूरादीष्टविशेषैः परिणमनात्। तथा प्रदक्षिणावर्त्तमतितापने प्रदक्षिणावृत्ति, तथा गुरुकम्, अलघुसारत्वात्। अदाह्याकुत्स्यमिति कर्मधारयपदम्, तत्रादाह्यमग्नेरदहनीयम्, सारत्वादेव; अकुत्स्यमकुत्सनीयम्, अकुथितगन्धत्वादिति। एवमष्टौ सुवर्णे हेम्नि, गुणा असाधारणधर्मा, भवन्ति स्युरिति गाथार्थः ॥ ९० ॥ एतत्समानान् साधुगुणानाह—

इय मोहविसं घायइ १, सिवोवएसा रसायणं होइ २ ॥ गुणओ य मंगलत्थ३, कुणइ विणीओ अ जोग्गोत्ति४ ॥

[इति मोहविषं घातयति शिवोपदेशाद्रसायनं भवति ॥ गुणतश्च मङ्गलार्थं करोति विनीतश्च योग्य इति ॥ ९१ ॥]

व्याख्या—'इय'त्ति। इत्येवं सुवर्णवदित्यर्थः, १मोहविष-विवेकचैतन्यापहारि, घातयति-नाशयति केषाञ्चित्, साधुरिति प्रक्रमः। कुतः? इत्याह-शिवोपदेशान्मोक्षमार्गप्ररूपणात्॥ तथा स एव २ रसायनमिव रसायन भवति जायते, शिवोपदेशा-

देवाऽजरामररक्षाहेतुत्वात् ॥ तथा गुणतश्च स्वगुणमाहात्म्येन च, ३ मङ्गलार्थं मङ्गलप्रयोजनदुरितोपशममित्यर्थः, करोति विधत्ते ॥ ४ विनीतश्च प्रकृत्यैव भवत्यसौ, योग्य इति कृत्वा ॥ ९१ ॥ तथा—

मग्गणुसारि पयाहिण५, गंभीरो गरुअओ तहा होइ६ ॥ कोहग्गिणा अडज्झो७, अकुच्छो सइ सीलभावेणं८॥

[मार्गानुसारित्वं प्रदक्षिणत्वं गंभीरः गुरुककस्तथा भवति ॥ क्रोधाग्निनाऽदाह्यः अकुत्स्यः सदा शीलभावेन ॥ ९२ ॥]

व्याख्या—'मग्गणुसारि'त्ति । ५ मार्गानुसारित्व सर्वत्र यत्साधोस्तत्प्रदक्षिणावर्त्तत्वमुच्यते ॥ ६ गम्भीरोऽतुच्छचेताः गुरुकको गुरुक इत्यर्थः॥ 'तथा' इति समुच्चये, भवति स्यात् । तथा ७ क्रोधाग्निना अदाह्यः, सुवर्णवत् ॥ ८तथाऽकुत्स्यः सदा शीलभावेन शीललक्षणसौगन्ध्यसद्भावेनेति ॥ ९२ ॥ निगमयन्नाह—

एवं सुवन्नसरिसो, पडिपुन्नाहिअगुणो गुरू णेओ ॥ इयरो वि समुचियगुणो, ण उ मूलगुणेहि परिहीणो ॥९३॥

[एवं सुवर्णसदृशः प्रतिपूर्णाधिकगुणो गुरुर्ज्ञेयः ॥ इतरोपि समुचितगुणो न तु मूलगुणैः परिहीनः ॥ ९३ ॥]

'एवं'ति एवमुक्तप्रकारेण सुवर्णसदृशः, सामान्यतो भावसाधुगुणयोगात् । तथा प्रतिपूर्णा अन्यूनाः अधिकगुणाः प्रतिरूपादिविशेषगुणा यस्य स तथा, गुरुर्ज्ञेयः । अपवादाभिप्रायेणाह—इतरोऽपि कालादिवैगुण्यादेकादिगुणहीनोऽपि समुचितगुणः पादार्द्धहीनगुणो गुरुर्ज्ञेयः, नतु मूलगुणैः परिहीनः, तद्रहितस्य गुरुलक्षणवैकल्यप्रतिपादनाद् । उक्त च (पंचाशक ११ मुं) गुरुगुणरहिओ वि इहं, दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो जो"त्ति । मूलगुणसाहित्ये तु समुचितगुणलाभाद् न किञ्चिद्गुणवैकल्येनाऽगुरुत्वमुद्भावनीयमिति भावः ॥ उक्तं च—"ण उ गुणमित्तविहूणोत्ति, चंडरुद्दो उदाहरणं ॥ ३५ ॥" ति ॥ ९३ ॥

उचितगुणश्च गुरुर्न परित्याज्यः, किन्तु तदाज्ञायामेव वर्तितव्यमित्याह—

एयारिसो खलु गुरू, कुलवहुणाएण णेव मोत्तव्वो ॥ एयस्स उ आणाए, जइणा धम्मंमि जइअव्वं ॥९४॥

[एतादृशः खलु गुरुः कुलवधूज्ञातेन नैव मोक्तव्यः ॥ एतस्य त्वाज्ञया यतिना धर्मे यतितव्यम् ॥ ९४ ॥]

व्याख्या—एतादृश उचितगुणः, खलु निश्चये, गुरुः कुलवधूज्ञातेन नैव मोक्तव्यः। यथाहि-कुलवधूर्भर्त्रा भर्त्सिताऽपि तच्चरणौ न परित्यजति, तथा सुशिष्येण भर्त्सितेनाप्युचितगुणस्य गुरोश्चरणसेवा न परित्याज्येति भावः। 'तु' पुनः, एतस्योचितगुणस्य, गुरोराज्ञया यतिना धर्मे यतितव्यम् ॥९४॥ तदाज्ञास्थितस्य च यो गुणः सम्पद्यते तमाह—

गुरुआणाइ ठियस्स य, बज्झाणुट्ठाणसुद्धचित्तस्स ॥ अज्झप्पज्झाणम्मि वि, एगग्गत्तं समुल्लसइ ॥ ९५ ॥

[गुर्वाज्ञायां च स्थितस्य च बाह्यानुष्ठानशुद्धचित्तस्य ॥ अध्यात्मध्यानेपि एकाग्रत्वं समुल्लसति ॥ ९५ ॥]

व्याख्या—'गुरुआणाइ'त्ति। गुर्वाज्ञास्थितस्य च परिणतव्यवहारस्य सतो, बाह्यानुष्ठानेन-विहितावश्यकादिक्रियायोगरूपेण शुद्धचित्तस्य ज्ञानयोगप्रतिबन्धककर्ममलविगमविशदीकृतहृदयस्य निश्चयावलम्बनदशायां शुद्धात्मस्वभावपरिणतौ प्रकटीभूतायाम्, अध्यात्मध्यानेऽपि एकाग्रत्वं समुल्लसति ॥ ९५ ॥ ततः किं भवति? इत्याह—

तंमि य आयसरूवं, विसयकसायाइदोसमलरहिअं ॥ विन्नाणाणंदघणं, परिसुद्धं होइ पच्चक्खं ॥ ९६ ॥

[तस्मिंश्चात्मस्वरूपं विषयकषायादिदोषमलरहितं ॥ विज्ञानानन्दघनं परिशुद्धं भवति प्रत्यक्षम् ॥ ९६ ॥]

व्याख्या—'तंमि य'त्ति। तस्मिंश्चाध्यात्मध्यानैकाग्रत्वे समुल्लसिते, विषयाः शब्दादय इन्द्रियार्थाः, कषायाः क्रोधमानमायालोभास्तदादयो ये दोषमला जीवगुणमालिन्यहेतवस्तद्रहितं, तथा विज्ञानानन्दघनं स्वरूपप्रतिभासप्रशमसुखैकरसतामापन्नं, परिशुद्धमनुपहितस्फटिकरत्नवत् प्रकृत्यैव निर्मलमात्मस्वरूपम्, प्रत्यक्षं भवति ॥ ९६ ॥

ततश्चात्मन्येव रतस्य तत्रैव तृप्तस्य तत्रैव च सन्तुष्टस्य स्वात्ममात्रप्रतिबन्धविश्रान्ततया विकल्पोपरमः स्यादित्याह—

जलहिम्मि असंखोभे, पवणाभावे जहा जलतरंगा ॥ परपरिणामाभावे, णेव वियप्पा तया हुंति ॥९७॥

[जलधावसंक्षोभे पवनाभावे यथा जलतरङ्गाः ॥ परपरिणामाभावे नैव विकल्पास्तदा भवन्ति ॥ ९७ ॥]

'जलहिम्मि'त्ति। असंक्षोभे संक्षोभपरिणामरहिते, जलधौ समुद्रे, पवनाभावे यथा जलतरङ्गा नैव भवन्ति, तथा तदा आत्मस्वरूपप्रत्यक्षतादशायां, परपरिणामस्य पुद्गलग्रहणमोचनपरिणामस्याभावे, नैव विकल्पाः शुभाशुभरूपाश्चित्तविप्लवा, भवन्ति ॥९७॥ अध्यात्मध्यानजनितायामात्मस्वरूपप्रत्यक्षतादशाया संहृतसकलविकल्पावस्थायां सूक्ष्मविकल्पोपरमेणैव स्थूलविकल्पोपरमदार्ढ्यमाह

का अरती आणंदे, केवत्ति वियप्पणं ण जत्थुत्तं ॥ अण्णे तत्थ वियप्पा, पुग्गलसंजोगजा कत्तो ॥ ९८॥

[का अरतिः आनन्दः कोवेति विकल्पनं न यत्रोक्तम् ॥ अन्ये तत्र विकल्पाः पुद्गलसंयोगजाः कुतः ॥ ९८ ॥]

व्याख्या—'का अरति'त्ति। का अरतिः? को वा आनन्दः? इति विकल्पनमपि न, यत्र—आत्मस्वरूपप्रत्यक्षतायाम्, उक्तम्, अध्यात्मशास्त्रे स्वरूपानुभवमग्नतया सन्निहितसुखदुःखविकल्पस्य सूक्ष्मस्याप्यनवकाशात्, तत्रान्ये विकल्पाः स्थूलाः पुद्गलसंयोगजा गृहधनस्वजनभोजनादिपुद्गलसंसर्गजनिताः, कुतो भवन्ति? अपि तु न कुतश्चित्; स्वाभाविकधर्मज्ञानसामग्र्या

औपाधिकधर्मज्ञानमात्रं प्रति प्रतिबन्धकत्वादिति भावः । तदयं शुद्धात्मस्वभावानुभवनामा सन्मात्रार्थनिर्भासो धर्मशुक्लध्यानफलं विगलितवेद्यान्तरचिदानन्दनिष्यन्दभूतोऽविकल्पः **समाधिरुपगीयते** ॥ ९८ ॥ अस्यैवाविकल्पसमाधेरुपायभूतं शुद्धं विकल्पमुपदर्शयति—

अण्णे पुग्गलभावा, अण्णो एगो य नाणमित्तोहं॥ सुद्धो एस वियप्पो, अविअप्पसमाहिसंजणओ ॥९९॥

[अन्ये पुद्गलभावा अन्य एकश्च ज्ञानमात्रमह ॥ शुद्ध एष विकल्पः अविकल्पसमाधिसंजनकः ॥ ९९ ॥]

व्याख्या—'अण्णे'त्ति। **पुद्गलभावाः** पुद्गलपरिणामाः-कायमनोवागानप्राणकर्मवर्गणाधनगृहक्षेत्रारामादिसंस्थानभाजोऽविद्याप्रपञ्चोपरचितममकारविषयीभूताः, **अन्ये**—मदात्मद्रव्यादेकान्तेन पृथग्भूताः, कालत्रयेऽप्युपयोगलक्षणासंस्पर्शादिति भावः । **अहं च ज्ञानमात्रमु**पयोगमात्रस्वभाव इति हेतोः पुद्गलभावेभ्योऽन्य एकश्च, कालत्रयेऽप्यन्यद्रव्यसंसर्गेऽपि तत्स्वभावापरिग्रहाद् अनन्तपर्यायाविर्भावतिरोभावाभ्यामप्यविचलितशुद्धात्मद्रव्यैकशक्तिमत्त्वाच्च । न च ज्ञानदर्शनचारित्ररूपरत्नत्रयस्वभावशालित्वेनापि शुद्धात्मद्रव्यस्यैकत्वक्षतिः सम्भवति प्रभानैर्मल्यदोषहरणशक्तिगुणयोगाज्जात्यरत्नस्येवेति । **एष** शुद्धात्मद्रव्यविषयत्वेन **शुद्धो विकल्पः, अविकल्पसमाधेः सम्यक् प्रकारेण जनकः**, एतज्जनितसंस्कारस्य विकल्पान्तरसंस्कारविरोधित्वेन ततस्तदनुत्थानाद्, एतस्य च वह्वेर्दाह्यं नाशयान् विनाशवदशुभविकल्पजालमुच्छेद्य स्वत एवोपरमादिति ॥ ९९ ॥

तदेतदध्यात्मध्यानमविकल्पसमाधिसम्बन्धबन्धुरमित्येतदेवाभिष्टुवन्नाह—

एयं परम नाणं, परमो धम्मो इमो च्चिय पसिद्धो ॥ एयं परमरहस्सं, णिच्छयसुद्धं जिणा विंति ॥१००॥

[एतत्परमं ज्ञान परमो धर्मोयमेव प्रसिद्धः ॥ एतत्परमरहस्यं निश्चयशुद्ध जिना ब्रुवते ॥ १०० ॥]

व्याख्या—'एय परमं'ति । एतदध्यात्मध्यानं परमं ज्ञानं, ज्ञानस्य विरतिफलत्वाद्, विरतेश्च समतासारत्वात्, समतायाश्चैतदायत्तत्वादिति भावः। परमो धर्मोऽयमेव प्रसिद्धः, दुर्गतौ पततो जन्तोर्धरणात्, सिद्धिगतौ नियमेन धारणाच्च ॥ एतच्च परमरहस्यमुत्कृष्टोपनिपद्भूतं, निश्चयशुद्ध पारमार्थिकनयविशदीकृतं, जिनास्तीर्थंकरा, ब्रुवते । यदागमः-(ओघनिर्युक्तौ)

"परमरहस्समिसी(मी)णं, समत्तगणिपिडगझरिअसाराणं ॥ परिणामियं पमाणं, णिच्छयमवलंबमाणाणं ॥७६०॥" [परमरहस्यमृपीणां (मेपां) समस्तगणिपिटकस्मृतसाराणां ॥ परिणामः प्रमाणं निश्चयमवलम्बमानानाम्] पञ्चवस्तु गाथा ६०२ ॥ १०० ॥

अध्यात्मस्य प्रवचने परमरहस्यत्वादेव परीक्षकैः सर्वत्र तदनुल्लङ्घनेनैव प्रवृत्तिः कर्त्तव्येत्यभिप्रायवानाह—

अज्झप्पाबाहेण, विसयविवेग अओ मुणी बिंति ॥ जुत्तो हु(हि)धम्मवाओ, ण सुक्कवाओ विवाओ वा॥१०१॥

[अध्यात्माबाधेन विपयविवेकमतो मुनयो ब्रुवन्ति ॥ युक्तः खलु (हि) धर्मवादः न शुष्कवादो विवादो वा ॥ १०१ ॥]

व्याख्या—'अज्झप्पाबाहेण'त्ति । अतोऽध्यात्मस्य परमरहस्यत्वादध्यात्माबाधेन-स्वपरगतमैत्र्यादिसमन्वितशुभाशयाविच्छेदेन, विषयविवेकं निर्णिनीपितार्थनिर्णयं, ब्रुवते मुनयो विगलितरागद्वेपाः साधवः, कर्त्तव्यमिति शेपः । हि यतो धर्मवाद एव मध्यस्थेन पापभीरुणा च समं तत्त्वनिर्णयार्थमपक्षपातेन कथाप्रारम्भलक्षणो युक्त', तत्त्वज्ञानफलत्वात् तस्य(स्याः), न शुष्कवादः, जये पराजये वा परस्य स्वस्य चानर्थलघुत्वापत्तेः कण्ठशोपमात्रफलः, विवादो वा-दुःस्थितेनार्थिना सह छलजातिप्रधानो जल्पः, युक्तः, साधूना माध्यस्थ्यप्रधानत्वात्, शुभानुबन्धित्वाच्च साधूनां प्रयत्नस्य ॥ १०१ ॥

तदेवं धर्मवादेनैवाध्यात्माबाधेन तत्त्वनिर्णयस्य कर्त्तव्यत्वाच्छिष्टाचारानुरोधेन तथोद्देशेनैव प्रारब्धस्य स्वग्रन्थफलोपहितत्वं प्रदर्श-

यन्नन्यैरपि तत्त्वनिर्णयसिद्ध्यर्थमित्थमेव भणितव्यमित्युपदेशमाह—

भणियं किंचि फुडमिण, दिसाइ इय धम्मवायमग्गस्स॥ अण्णेहि वि एवं चिय, सुआणुसारेण भणियव्वं॥१०२॥

[भणितं किञ्चित्स्फुटमिदं दिशेति धर्मवादमार्गस्य ॥ अन्यैरप्येवमेव श्रुतानुसारेण भणितव्यम् ॥ १०२ ॥]

व्याख्या—'भणिय'त्ति । इत्युक्तहेतोः, धर्मवादमार्गस्य दिशैव स्फुटमिद किञ्चित्प्रकृतार्थगोचरं, भणितं मया, तेन च तात्पर्यार्थदृष्ट्या तत्त्वनिर्णयसिद्धिरपि कृतैवेति भावः ॥ अन्यैरपि धर्मपरीक्षकैः, एवमेव श्रुतानुसारेण भणितव्यम् । इत्थमेव प्रकृतार्थभ्रमनिवृत्त्या तत्त्वज्ञानसिद्धे रागद्वेषपरिणामाभावेन कल्याणवीजसम्पत्तेश्चेति भावनीयम् ॥ १०२ ॥ सर्वस्वोपदेशमाह—

किं बहुणा इह जह जह, रागद्दोसा लहुं विलिज्जंति ॥ तह तह पयट्टियव्वं, एसा आणा जिणिंदाणं ॥१०३॥

[किं बहुनेह यथा यथा रागद्वेषौ लघु विलीयेते ॥ तथा तथा प्रवर्तितव्य एषा आज्ञा जिनेन्द्राणाम् ॥] स्पष्टा ॥ १०३ ॥

एसा धम्मपरिक्खा, रइआ भविआण तत्तबोहट्ठा ॥ सोहिंतु पसायपरा, तं गीयत्था विसेसविऊ ॥१०४॥

[एषा धर्मपरीक्षा रचिता भव्यानां तत्त्वबोधार्थाय ॥ शोधयन्तु प्रसादपराः तां गीतार्थाः विशेषविदः ॥] स्पष्टा ॥ १०४ ॥

सूरिश्रीविजयादिदेवसुगुरोः पट्टाम्बराहर्मणौ, सूरिश्रीविजयादिसिंहसुगुरौ शक्रासन भेजुषि ॥
सूरिश्रीविजयप्रभे श्रितवति प्राज्यं च राज्य कृतो, ग्रन्थोऽय वितनोतु कोविदकुले मोद विनोदं तथा ॥ १ ॥

महोपाध्यायश्रीविनयविजयैश्चारुमतिभिः, प्रचक्रे साहाय्यं तदिह घटनासौष्ठवमभूत् ॥
प्रसर्पत्कस्तूरीपरिमलविशेषाद्भवति हि, प्रसिद्धः शृङ्गारस्त्रिभुवनजनानन्दजननः ॥ २ ॥
सन्तः सन्तु प्रसन्ना मे, ग्रन्थश्रमविदो भृशम् ॥ येषामनुग्रहादस्य, सौभाग्य प्रथितं भवेत् ॥ ३ ॥

॥ इति जगद्गुरुबिरुदधारिभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यपट्टकीविद्याविशारदमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणि-
शिष्यावतंसशास्त्रज्ञतिलकपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यरत्नगुणगणगरिष्ठपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यतिलक-
विपुलयशःप्रतापसौभाग्यनिधिपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलसेविना पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण
पण्डितयशोविजयेन कृतोऽक्षय्यतृतीयायां धर्मपरीक्षानामा ग्रन्थः सम्पूर्णः ॥

संवद्रसाक्षिससेन्दु-नभे च सितपक्षके ॥ अष्टमीविधुवारे (१७२६ [१] श्रावण शुक्ल ८ सोम) हि, लिखिता पत्तने पुरे ॥ १ ॥

न्यायविशारद-न्यायाचार्य-निजप्रतिभाप्राग्भारोद्बोधितातीतपूर्वश्रुतकेवलिभगवत्-कूर्चालसरस्वती-पूर्वधरासन्नकालवर्ति-
चतुश्चत्वारिंशदुत्तरचतुर्दशशतग्रन्थप्रासादसूत्रणसूत्रधारायमाणसूरिकुलोत्तंसश्रीहरिभद्रसूरिलघुबान्धवप्रभृतिविशद-
विरुदावलीविभूपित-महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिप्रणीता स्वोपज्ञविवरणसमेता धर्मपरीक्षा सम्पूर्णा ॥

॥ श्री जैनग्रन्थप्रकाशकसभा प्रकाशित ग्रन्थाः ॥

१ हारिभद्राष्टकवृत्ति ३३१ संवादपाठयुक्त-		जैनन्याय मुक्तावली समु० भेगा	१-४	२६ १२५-१५०-३५० स्तवनो, योग-	
वृत्ति ढ्रोइगपेपर .	२-८	१० नवतत्व विस्तरार्थ	३-०	दृष्टिसज्झाय द्रव्यगुणपर्यायरासंसंयमश्रे-	
,, ,, ग्लेझपेपर	२-०	११ दडक विस्तरार्थ .	१-०	णिविचार-सज्झायादि संग्रह	०-८
२ संबोध प्रकरण	३-०	१२ थी १७ धातुरत्नाकर भा १ थी ६	×	२७ पारमर्षस्वाध्याय ग्रन्थसग्रह (बुक)	०-६
३ हरिभद्रसूरिग्रन्थसग्रह	३-०	१८ खडखाद्यलघुवृत्ति	×	२८ ,, ,, ,, (पत्राकार)	०-८
४ हारिभद्राष्टक प्रकरण (मूल)	०-४	१९ हैमधातुमाला	४-०	२९ सम्मतितर्कप्रकरण सटीक प्र० भा०	५-०
५ स्याद्वादरहस्य पत्र सटीक	. ०-१२	२० जैनतत्त्वपरीक्षा	०-४	३० योगदृष्ट्यादिनवग्रन्थपर्यानुक्रम	०-६
६ न्यायालोक सटीक	५-०	२१ स्तोत्र भानु .	०-२	३१-३२-३३-३४ भाषारहस्य प्रकरण सटीक	
७ अष्टसहस्री ता पर्यविवरण	१०-०	२२ स्याद्वाद बिन्दु.	×	योगविंशिका व्याख्या-तत्वविवेकविवरणसमे	
८ समुद्घाततत्त्व	०-६	२३ द्रव्यलोकप्रकाश भाषान्तर प्रथम भाग	×	तकूपदृष्टान्तविशदीकरणप्रकरण-निगाभक्ते-	
९ जैनन्याय मुक्तावली सटीक	१-०	२४-२५ योगदृष्टि स योगबिन्दु सटीक	२-८	स्वरुपतो दूषितत्वविचारप्रकरण	.२-०

॥ मुद्रयमाणा मुद्रयिष्यमाणाश्च शासनप्रभावका ग्रन्थाः ॥

१ सम्मतितर्कप्रकरण सटीक द्वि० भाग २ धर्मपरीक्षा सटीक ३ प्रतिमाशतक बृहट्टीका

प्राप्तिस्थानं—शेठ ईश्वरदास मूलचद, कीका भटपोल-अमदावाद.